प्राच्यदर्शनसमीक्षा

अर्थात्

सर्वसिद्धान्तसमालोचना

साधु शान्तिनाथ

विरचित

मूल्य—निष्पक्ष विचार

1940

लेखक और प्रकाशक:—साधु शान्तिनाथ

ठिकाना:— Sadhu Santinath
C/o ORIENTAL BOOK AGENCY
15 SHUKRAWAR
POONA 2

यह ग्रन्थ बिना मूल्य केवल डाक महसूल (६ छः आना) लेकर वितरण किया जाता है। दर्शनशास्त्र में प्रविष्ट या दार्शनिक विचार-प्रेमियों के लिए ही यह ग्रन्थ उपयोगी है, अतएव अन्य सज्जन इसको मंगाने का परिश्रम न करें। यह ग्रन्थ निम्नलिखित पते पर मिलता है।

ठिकाना :— *The Manager,*
Oriental Book Agency
15 Shukrawar, **POONA 2**

: मुद्रक :
क्षेमशंकर मोहनलाल द्विवेदी
प्रभात प्रेस, जेन्सोहोल,
कराची.

❁ निवेदन ❁

विचारशील पाठकवृन्द !

इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व, मैंने दीर्घकाल तक भक्ति, योग और ज्ञान के अभ्यास में अपना समय व्यतीत किया है। इस साधनाभ्यास के पश्चात् मैं अनेक वर्षों तक विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के विचार में प्रवृत्त रहा हूं। अपने अध्ययन काल में मैंने एक निष्पक्ष सरल जिज्ञासु के भाव से प्राच्य और पाश्चात्य सभी सम्प्रदायों के प्रौढ प्रक्रिया ग्रन्थों को पक्षपातरहित दृष्टि से श्रवण और मनन किया है। इस जिज्ञासा की अवस्था में मैंने भारतीय दर्शनसम्बन्धी समस्त प्रकाशित ग्रन्थ और सहस्र से भी अधिक अप्रकाशित प्रक्रिया ग्रन्थों को देख डाला। पश्चात् प्रत्येक सिद्धान्त की परीक्षा करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर मैं जिस अन्तिम निर्णय में पहुंचा हूं (मूलतत्त्व का स्वरूप निर्णययोग्य नहीं, कोई भी सिद्धान्त दोषशून्य नहीं, जगत्-समस्या समाधान के अयोग्य रहस्यमय और "बेअन्त" है), वह निष्कपट भाव से मैंने इस ग्रन्थ में प्रकट किया है। इसीलिए इस ग्रन्थ में समस्त सिद्धान्तों का मण्डन और साथ ही उनका खण्डन भी है।

प्रायः हमारे देश में यही प्रथा प्रचलित है कि, युक्तितर्क द्वारा जब किसी निश्चित सिद्धान्त में नहीं पहुंचते, तब किसी अनुभवी कहे जाने वाले आचार्य के वचन को या अपने समाज में प्रचलित साम्प्रदायिक शास्त्र के तत्त्वविषयक सिद्धान्तों को यथार्थ मानने लगते हैं और दूसरे आचार्य और साम्प्रदायिक शास्त्रों को मिथ्या समझते हैं। परन्तु यह अन्धश्रद्धा और साम्प्रदायिकता का परिचय देना है। इस प्रकार से अपने सिद्धान्त में दुराग्रह और स्वगृहमान्यवाद में निष्ठा तत्त्वजिज्ञासुओं को शोभा नहीं देती। अतएव इस ग्रन्थ में इन दो विषयों का विस्तृतरूप से विवेचन किया गया है। (१) एक तो, भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अनुभवी पुरुषों में तत्त्व-विषयक मतभेद क्यों है? और (२) दूसरे, शास्त्र को प्रमाण मानने में क्या हेतु है? अब विचारवान पाठकों से प्रार्थना है कि, वे थोड़ी देर के लिए साम्प्रदायिक दुराग्रह को त्यागकर सरल जिज्ञासुभाव से, पक्षपातरहित स्वतन्त्र विचार वाले इस ग्रन्थ को एकबार आद्योपान्त अवलोकन करें। —ग्रन्थकार

एक सरल जिज्ञासु के रूप में निरन्तर तीस वर्ष के उत्साहपूर्ण अनुसन्धान के पश्चात् मैं मूलतत्त्व के विषय में जिस निर्णय पर पहुंचा तथा इस लम्बे गवेषणापूर्ण समय में मेरे विश्वास और सिद्धान्तों में जिस प्रकार परिवर्त्तन होते रहे, उनके संक्षिप्त वर्णन को पढकर—सत्य का अन्वेषण करने वाले साधक लोग—नवीन दृष्टिकोण से धार्मिक और दार्शनिक समस्या पर विचार कर सकें, इस अभिप्राय से मैं अपना तत्त्वान्वेषण और दार्शनिक गवेषणा सम्बन्धी कुछ घटनाओं को पाठकों के निकट उपस्थित करता हूं।

अपने साम्प्रदायिक शास्त्रों का श्रवण करके जैसी धारणा प्रायः लोगों की हो जाया करती है, उसी के अनुसार मैं भी अपनी बाल्यावस्था में भगवद्-भक्ति में अधिक रुचिवाला था। फलतः अपने यौवन के आरम्भ में ही म साधन में प्रवृत्त हो गया। भगवन्नाम का जप और भगवान् की मूर्ति का ध्यान ही मेरी भक्ति-साधना का स्वरूप था और इसी का अभ्यास करने हुए मैंने दश वर्ष व्यतीत किये। इस अभ्यास के समय नाम-जप और ध्यान करते करते जब मेरा मन स्थिर हो जाता था, तब जप भी अपने आप बन्द हो जाता था, स्थिरता के कारण जप करने की शक्ति नहीं रहती थी। मैंने ईश्वर के दर्शन की अभिलाषा से कभी भगवत्-प्रार्थना नहीं की, मेरी प्रार्थना केवल भक्ति-प्राप्ति के लिए थी, अतएव दर्शन होता है या नहीं, यह मैं अपने अनुभव से नहीं कह सकता, यद्यपि उस समय मेरी यह धारणा थी कि, ईश्वर-दर्शन सम्भव है। उसके पश्चात् योगाभ्यास अर्थात् दीर्घ प्रणव का उच्चारण और अजपाजप में श्रद्धा उत्पन्न हुई। दीर्घप्रणव उच्चारण के फलरूप 'घन्टानाद' आदि नानाप्रकार के नादों का श्रवण होता था, जिसमें मन लगाने पर मन की स्थिरता में सहायता मिलती थी। अजपा के फलरूप मन क्रमशः स्थिर होता

जाता था और अन्त में शान्त शून्य स्थिति का अनुभव होता था जिसमें चित्त को विश्राम मिलता था। इस अभ्यास-काल में कभी कभी ज्योति-दर्शन भी होता था। इसी प्रकार निरन्तर ३ वर्ष पर्यन्त ध्यान सहित प्राणायाम का अभ्यास करने से कुछ काल के लिए कुम्भक भी होने लग गया था। उसके पश्चात् जब ज्ञान-मार्ग में रुचि होने लगी और वेदान्त-साधन का अभ्यास करने लगा, तब उक्त ध्येय विषय का अवलम्बन न लेकर केवल यही भावना करता रहता था कि, मेरे 'अहं' का स्वरूप अखण्ड आकाश है, ऐसा ध्यान करते समय स्वप्रकाश तत्त्व के साथ एक होने की भी भावना करता रहता था। उन दिनों कभी कभी केवल निदिध्यासन ही करता रहता था, कभी चञ्चल अवस्था में दीर्घ प्रणव का उच्चारण, अधिक स्थिरता में अजपा और चित्त के अधिकतर स्थिर होने पर फिर निदिध्यासन में लग जाया करता था। इस प्रकार द्वादशवर्ष से भी अधिक काल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास के फलरूप मैं सविकल्प समाधि का अनुभव करने लग गया था, कभी कभी निर्विकल्प समाधि में भी स्थिति हो जाती थी, जो पश्चात् व्युत्थित होने पर स्मरण या अनुमान द्वारा ज्ञात होता था। निर्विकल्प में स्थिति अधिक देर तक न रहने पर भी सविकल्प और ध्यानावस्था में दीर्घकाल पर्यन्त स्थिति रहा करती थी। गम्भीर ध्यान और सविकल्प समाधि में अपने 'अहं' को अखण्ड अद्वितीय सत्ता के साथ सम्मिलित एक रूप अनुभव करके मेरी यह धारणा हो गई थी कि, मैंने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है।

उन दिनों साधनाभ्यास के समय मेरा सदैव यही प्रयत्न रहता था कि, नित्य निरन्तर ध्येय का ध्यान बना रहे। इसलिए चलते फिरते उठते बैठते मैं अपने चित्त को ध्येयाकार बनाये रखने के प्रयत्न में लगा रहता था। पहले भक्ति और योगाभ्यास के समय नित्य १५।१६ घन्टे नियमित रूप से अभ्यास किया करता था, परन्तु अब वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार निदिध्यासन करने लगा, तब मेरा वह अभ्यास बढ़कर १९।२० घन्टे तक पहुंच गया था। इसी क्रम से यह अभ्यास कई वर्षों तक लगातार चलता रहा। उन दिनों मैं अपने ध्यान को अटूट बनाये रखने के लिए

प्रायः दिनरात एक ही आसन पर पड़ा रहता था, निद्रा या विश्राम भी बहुत ही कम लेता था। कई महिनों तक तो दिन रात एक ही आसन पर बैठा ही बैठा एक दो घन्टे सो जाया करता था। (पहले पहल तो नींद को कम करने का अभ्यास करता रहा, परन्तु बाद में ध्यानात्मिका वृत्ति के अत्यधिक दृढ हो जाने पर निद्रात्मिका वृत्ति को आने के लिये अवसर ही नहीं रह गया)। व्यायाम करता नहीं था। शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर बहुत ही कम ध्यान देता था। इस प्रकार दीर्घकाल तक विश्राम न लेते हुये मानसिक तरङ्गों को बलपूर्वक दबाने का प्रयास करते रहने से तथा अनिद्रा के कारण मेरे मस्तिष्क में आघात पहुँचा। शारीरिक आवश्यकताओं से सर्वथा उदासीन रहने के कारण तथा मस्तिष्क का अत्यल्प विश्राम और अत्यधिक परिश्रम होने से मेरे शिर में तीव्र पीडा होने लगी।* इस असह्य वेदना से छुटकारा पाने के लिए मैं सुशिक्षित वैद्यों के पास गया और उनके उपदेशानुसार अपने मन को दूसरे

*योगीराज बाबा गम्भीरनाथ जी (गोरक्षनाथ, गोरखपुर) के पास मन्त्रदीक्षा ग्रहण करने के चार वर्ष पश्चात् उनके पास सन्यास लेते समय (सन् १९१३ई०) योगविषयक शिक्षा प्राप्त हुई थी। पश्चात् उनके आदेशानुसार एक साल ऋषिकेश और एक साल बद्रीनारायण (हिमालय—कल्पेश्वर, कार्नेरी, श्रीनगर) में निवास करके श्री श्री गुरुदेव के पास पहुँचा। उस समय (सन् १९१५ ई०) उन्होंने मेरे को वेदान्तानुसार साधन का उपदेश देकर भक्ति-मार्ग को त्यागने की आज्ञा दी। ऋषिकेश में रहते समय श्री मङ्गलनाथ जी, विरमदास जी, तुरीयानन्द जी (सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द जी के गुरुभ्राता) आदि कतिपय उच्चकोटि के साधक महात्माओं के सत्सङ्ग से मैंने विशेष लाभ उठाया तथा उत्तरकाशी (हिमालय) में रहते समय योगीवर श्री सियाराम जी के पास योगविषयक शिक्षा प्राप्त हुई थी। उसके पश्चात् उत्तराखण्ड को छोडकर गुजरात की तरफ चला गया। वहा आबु, गिरनार, प्रभासपत्तन, नर्मदातट (भरोच, मनार) आदि अनेक एकान्त और रमणीय स्थलों में ध्यानाभ्यास करने के पश्चात् पुन. आबु लौट आया। वहां पर दश वर्ष पर्यन्त मौनी रहने का संकल्प लेकर गहन वन में स्थित एक गुफा में (मौनी गुफा में) रहने लगा। पश्चात् उक्त तीव्र शिरपीडा के कारण, इस संकल्प को छोडकर (दो वर्ष मौनी रहा था) चिकित्सा के लिए नाना स्थलों में जाना पडा।

विषयों में लगाने लगा। अब मैं अपनी रुचि के अनुसार दर्शनशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ।

विचारप्रधान दर्शनशास्त्रों के अध्ययन के फलरूप मेरी धार्मिक कट्टरता जाती रही * और सुप्त विवेक-शक्ति जागृत हो उठी। अब मेरे में यह विचार उत्पन्न हुआ कि, मैं तो समझता था कि, मेरी मूलाविद्या निवृत्त हो गई, मैं जीवन्मुक्त हूं और मृत्यु के पश्चात् विदेहमुक्त हूंगा; परन्तु दूसरे सम्प्रदाय के साधक लोग न तो इस मूलविद्या को मानते हैं और न इसके निवृत्त होने से वे जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति को ही स्वीकार करते हैं। इसमें क्या कारण है, क्या समाधिकाल में उनको भी इसी प्रकार का अनुभव नहीं होता, अथवा वे ऐसी धारणा ही नहीं रखते? जबकि सभी सम्प्रदाय के साधक तत्त्व का साक्षात् अनुभव करते हैं, तब उनमें इस प्रकार का मत-भेद क्यों है? अब इस समस्या के समाधान के लिए मैंने निम्न तीन रीतियों से विचार करना आरम्भ किया (१) पहले, युक्ति तर्क द्वारा तत्त्व के स्वरूप पर विचार करते हुए, (२) दूसरे, साधकों के अनुभव की अवस्थाओं का विवेचन करके और (३) तीसरे, अपने समाधिकालीन अनुभव की क्रमिक अवस्थाओं के अनुसन्धान द्वारा।

*उन दिनों जब कि मैं भक्ति-साधन में तत्पर था, ज्ञान और योग-सम्बन्धी विचारो को भगवान् के चतुःषष्ठि (६४) नामापराध के अन्तर्गत मानकर उनको भगवद्भक्ति की प्राप्ति में विघ्न रूप समझता था। जब मैं योगविषयक शिक्षा को लेकर योग-साधन में परायण हुआ, तब भगवान् में प्रेमभाव की वृद्धि का प्रयत्न न करते हुए केवल एकाग्रता प्राप्ति को ही सर्वार्थ-साधक समझता था और इस एकाग्रता की सिद्धि में ज्ञानविचार को विषवत् त्याज्य मानता था। इसीप्रकार जब वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार निदिध्यासन में प्रवृत्त हुआ, तब भक्ति और योगाभ्यास को भ्रान्त सिद्धान्त समझ कर उनका निरादर करता था और वेदान्तविचार में भी रुचि नहीं थी। इस प्रकार जैसी कट्टरता साधन-परायण व्यक्तियों में स्वाभाविक ही हुआ करती है, उसी प्रकार मैं भी जिस समय जिसको सिद्धान्तरूप नहीं समझता था, उसके अनुसार साधन में प्रवृत्त होने से संकुचित होता था।

(१) इनमें से प्रथम यौक्तिक रीति से विचार करने पर मुझको निम्नलिखित कई विषय प्राप्त हुए, जोकि ध्यान देने योग्य थे। प्रथमतः, एक समाधिनिष्ठ व्यक्ति समाधिकाल में जिस विषय का साक्षात्कार करके उसे मूलतत्त्वरूप से मानता है, तत्त्व के विषय में किसी और प्रकार की धारणावाला दूसरा साधक उसे तत्त्व का अनुभव नहीं मानता, यद्यपि दोनों ही साधकों को समाधि अवस्था में तत्त्व का अनुभव हो चुका है। द्वितीयतः, एक साधक अपने सम्प्रदाय में प्रचलित शास्त्र का श्रवण करके तत्त्व के विषय में जैसी धारणावाला होता है, वह उसी के अनुसार तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ समाधिकाल में भी वैसे ही स्वरूप का साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदाय के साधक-लोग भी तत्त्व के विषय में जिसकी जैसी धारणा होती है, वह समाधि में भी उसी रूप का अनुभव करता है; अतएव ध्येयविषय (तत्त्व) की धारणा में भिन्नता होने के कारण उनके अनुभव में भी परस्पर भिन्नता पाई जाती है। तृतीयतः, प्रत्येक साधक ध्यान की प्रथम अवस्था (प्रत्याहार) से लेकर गम्भीरध्यान (समाधि) पर्यन्त अपने कल्पित स्वरूप के ध्यान में ही एकाग्र होने का प्रयत्न करता रहता है, अतएव समाधिकाल में भी अपने कल्पित मानसिक पदार्थ से भिन्न किसी स्वतन्त्र पदार्थ (तत्त्व) का अस्तित्व नहीं रहता, जिसके अनुभव को हम 'तत्त्व का अनुभव' कह सकें। चतुर्थतः, जिस निर्विकल्प समाधि में अनुभव करने वाले 'अहं'-भाव की ही प्रतीति नहीं रहती, उस अवस्था में किसी विषय (तत्त्व) का अनुभव भी नहीं हो सकता। पञ्चमतः, यदि समाधिकाल में वास्तव में ही तत्त्व का साक्षात्कार होता, तो क्या कारण है जो विभिन्न सम्प्रदायों के समाधिनिष्ठ सरलहृदय वाले साधकलोग तत्त्व के विषय में अपनी २ व्यक्तिगत धारणावाले पाये जाते हैं और प्रयत्न करने पर भी वे आपस में एक मत नहीं होते? (एक जैन मतावलम्बी साधक समाधि से उठकर जैन सिद्धान्त को ही सत्य मानता है, नकि अन्य किसी सिद्धान्त को तथा एक बौद्धवादी भी समाधि से व्युत्थित होकर बौद्धसिद्धान्त को सत्य समझता है, जैन अथवा किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। इसीप्रकार

सभी वादी लोग तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, परन्तु तत्त्व के स्वरूप विषय में उनका आजन्म मतभेद ही बना रहता है)।

अब मैं इन अनुभवी पुरुषों में मतभेद का कारण विचारने लगा कि (क) क्या तत्त्व भिन्नभिन्न हैं, इसीलिए इनके अनुभव में भी भिन्नता होती है अथवा (ख) एक ही तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं? यदि ये दोनों ही पक्ष न हों, तो यातो (ग) तत्त्व में ही उच्चता और नीचता होगी अथवा (घ) उसके अनुभव करने में श्रेष्ठता और कनिष्ठता होगी। यदि यह भी नहीं, तो यातो (ङ) तत्त्व का पूर्ण स्वरूप अज्ञात ही रह जाता होगा और केवल उसके भिन्न अंशों का अनुभव करके ही लोग अपने आपको तत्त्वसाक्षात्कारवान् समझते होंगे अथवा (च) साधकों की दृष्टि-भेद से एकही तत्त्व भिन्नभिन्नरूप से अनुभूत होता होगा। परन्तु इन सब विकल्पों के असम्भव सिद्ध होने पर (देखिए पृष्ठ ६०-६३) अन्त में इसी निर्णय में पहुंचना पड़ा कि, जो जैसी भावना को लेकर समाधि का अभ्यास करता है, वह समाधिकाल में केवल उसीका साक्षात्कार करता है, उसकी भावना या साक्षात्कार का स्वतन्त्रतत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) अब मैं द्वितीय रीति के अनुसार विचार करने लगा। संसार का कोई भी बाह्य या स्वतन्त्र पदार्थ ध्यान के समय मन के अन्दर स्वयं नहीं प्रवेश कर जाता, किन्तु मन के अन्दर प्रतीत होने वाला विषय केवल मन की वृत्ति हुआ करती है (देखिए पृष्ठ २३५-२३६, ३४१, ३४८-३४९, ३६५-३६६), अतएव ध्यान या सविकल्प समाधि में जिस वस्तु का भी अनुभव होगा, वह परिच्छिन्न, ससीम और विषय-विषयी भेदयुक्त भी अवश्य होगा। फलतः अखण्ड सीमारहित अद्वैततत्त्व, दृश्यरूप से ध्यान का विषय कभी नहीं हो सकता। सविकल्प समाधि में जिस विषय का साक्षात्कार किया जाता है, वह स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ नहीं, किन्तु मन की वृत्तिविशेष का— क्रमशः अस्पष्ट, स्पष्ट, स्पष्टतर, स्पष्टतम उल्लास या अभिव्यक्ति मात्र होता है। अतएव किसी वस्तु विषयक ध्यान द्वारा स्वतन्त्र अस्तित्व वाले पदार्थ (तत्त्व) के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। सविकल्प समाधि में भी जबतक अहंभाव रहता है तब तक

तत्त्व विषयक पूर्व संस्कार भी अवश्य रहेंगे और वह ध्येय विषय उन संस्कारों से अनुरञ्जित भी अवश्य होगा जिससे विभिन्न साधकों में मतभेद का होना अवश्यम्भावी है । और जब 'अहं' की प्रतीति नहीं रहती (अर्थात् निर्विकल्प समाधि में) तब किसी स्वरूप के निश्चय का सामर्थ्य नहीं रहता । वहां से व्युत्थित होने पर फिर वही अपने पिछले तत्त्व विषयक संस्कार जागृत हो जाते हैं, जिससे भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के संस्कार वाले विभिन्न साधक लोग विभिन्न रूप से उस अवस्था के अनुभव का वर्णन करते हैं ।

(३) इस प्रकार उक्त रीति से विचार करने पर जब विभिन्न सम्प्रदाय के अनुभवी साधकों में मतभेद का कारण स्पष्ट हो गया, तब मैं स्वयं भी अपनी ध्यानावस्था की परीक्षा करने लगा । इसमें मैंने यह पाया कि, जब मैं पहले पहल ध्येय में मन लगाने का प्रयत्न करता था, तब बाह्य विषयों से मन हटाकर केवल अपने व्यक्तिगत ध्येय का ही चिन्तन (प्रत्याहार) करता रहता था, जिससे वह ध्येय केवल व्यक्तिगत कल्पना मात्र होता था । उस अभ्यास के फलरूप जब ध्येय में चित्त की स्थिरता (धारणा) होती थी, तब भी वही अपना पूर्व-कल्पित विषय ही सामने रहता था । उसके पश्चात् जब दीर्घकाल के अभ्यास से मन उस ध्येय विषय में दृढ़तापूर्वक स्थिर (ध्यान) होता था तथा उसके स्वरूप का स्पष्टरूप से अनुभव होने लगता था, तब भी उक्त भावना का विषय ही स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी । उसके बाद जब विषय मात्र की प्रतीति (सविकल्प समाधि) रहती थी, उस समय भी सूक्ष्म अहंबोध अपनी भावना के अनुसार ही उस विषय का अनुभव करता था । बाद में एक ऐसी अवस्था होती थी, जिसमें अपने और पराये का भान ही नहीं रहता था और न उस ध्येय विषय का या अवस्था का ही ज्ञान रहता था (निर्विकल्प समाधि), वहां से उठने के पश्चात् उस अवस्था का अनुमान या स्मरण होता था । इस प्रकार अपने अनुभव की परीक्षा करने पर मैं इस सिद्धान्त में पहुंचा कि, जो तत्त्व का साक्षात्कार कहा जाता है, वह वास्तव में जगत् के मूल कारण

का स्वरूपतः साक्षात्कार नहीं, किन्तु अपने कल्पित ध्येय या मन की वृत्ति विशेष का साक्षात्कार है (यदि कोई साधक ध्यान के समय अपने ध्येय को विषय करने वाले मानस-तरङ्गों पर ध्यान दे, कि बाह्य विषयों के चिन्तन को दबाते हुए अपने कल्पित ध्येय में मन कैसे लगने लगता है तथा इस अभ्यास के परिपक्व होने पर कैसे अपना कल्पित ध्येय क्रमशः स्पष्ट होता हुआ साक्षात् और स्वतन्त्र वस्तु के समान भान होने लगता है, तो साधक स्वयं जान सकता है कि उसके ध्यान का सम्बन्ध किसी स्वतन्त्र वस्तु के साथ नहीं है, किन्तु बारम्बार अभ्यास करने से केवल अपनी कल्पना का चित्र स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रहा है) और उक्त मत-भेद की सबसे सुन्दर उपपत्ति भी यही हो सकती है।

इस प्रकार उक्त समस्या का सन्तोषप्रद उत्तर पाकर मैं इस निर्णय में पहुंचा कि, समाधि द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। मैं जो पहले यह समझता था कि, मैंने तत्त्व का अनुभव किया है, वह साम्प्रदायिक कल्पना प्रसूत एक भ्रान्त धारणा मात्र थी। अतएव मैंने जो धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों के शास्त्रों का श्रवण कर उनमें श्रद्धा रखी थी, वह मेरी एक महान भूल थी। जो साधन (समाधि या चित्तनिरोध) मन को नियमित रखने के लिए एक उपाय (Regulative principle) मात्र था, उसे मैं यथार्थ वस्तु के साथ सम्बन्ध वाला (Constitutive principle) मानता था। जो गम्भीर ध्यानावस्था में अनुभूत होता था, वह अपनी मानसिक भावना का आकार मात्र होता था; जिसे मैंने आज तक तत्त्व का अनुभव समझ रखा था, वह मेरी मानसिक भावना का स्पष्टतम अनुभव मात्र था।

उक्त रीति से विवेचन करने पर मैं इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए विवश हुआ कि, ध्यान या समाधिरूप उपाय द्वारा तत्त्व का साक्षात् अनुभव सम्भव नहीं है। फिर भी उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि, यद्यपि तत्त्व साक्षात् (अपरोक्ष) रूप से नहीं जाना जा सकता, तथापि युक्ति तर्क द्वारा परोक्ष रूप से उसके स्वरूप का निश्चय हो सकता है। अब मैं अद्वैत वेदान्तियों से प्राप्त तत्त्व विषयक परोक्ष ज्ञान को यथार्थ

मान कर उसमें श्रद्धा रखने लगा।*

*यह वेदान्तविचार मेरे को निम्नलिखित कई स्थलों से प्राप्त हुआ। ऋषिकेश-निवासी वेदान्त-मननशील सुप्रसिद्ध महात्मा श्री श्री साधु मङ्गलनाथ जी के दीर्घकाल के घनिष्ट संसर्ग से तथा कुछ काल सहवास के फलरूप मैंने उन महानुभाव से वेदान्तविषयक अनेक प्रक्रिया की शिक्षा प्राप्त की। पश्चात् ऋषिकेशस्थ कैलासमठ-निवासी पण्डित-प्रवर श्रीमत् स्वामी प्रकाशानन्द जी (बाबाज्ञा के छात्र) के पास वेदान्त प्रक्रिया ग्रन्थों का (सभाष्य सटीक गौडपादीय कारिका) अध्ययन किया। उत्तरकाशी-निवासी श्रीमत् स्वामी रामाश्रम जी और कर्णाटक (हुबली)-निवासी श्रीमत् स्वामी सिद्धारूढ जी के पास वेदान्त के अनेक प्रक्रिया जानने का सुअवसर मिला। पश्चात् स्वामी मुनिनारायण जी के पास "वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली" और "भेदधिक्कार" का पाठ किया। उसके पश्चात् नव्यन्याय-नव्य वेदान्त-कुशल श्रीयुत् आत्माराम जी शास्त्री (काशी के सुप्रसिद्ध तार्किक वामाचरण जी के छात्र) के पास बाबाज्ञा कृत "गूढार्थदीपिकातत्त्वालोक" (नव्य-न्याय-के प्रौढ पूर्वपक्ष सहित वेदान्तसिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया ग्रन्थ), मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैतरत्नरक्षण (शङ्करमिश्रकृत भेदोज्जीवनी ग्रन्थ का खण्डनात्मक) और नृसिंह आश्रम कृत अद्वैतदीपिका आदि सर्वश्रेष्ठ वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसी अवसर में सटीक खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, और अद्वैतसिद्धि आदि अनेक प्रखर प्रक्रिया ग्रन्थो का भी श्रवण मनन किया। उसके पश्चात् बम्बई के सुवृहत् पुस्तकालय (रायल एशियाटिक सोसाइटि) में प्राप्त समस्त वेदान्त (मुद्रित) ग्रन्थों का पाठ किया और पश्चात् वहा के हस्तलिखित अमुद्रित ग्रन्थो का पाठ करने लगा। अब अमुद्रित ग्रन्थो के अवलोकन की रुचि जागी। वहा के वेदान्त विषयक समस्त अमुद्रित ग्रन्थो का अध्ययन कर लेने के पश्चात् पूना (भाण्डारकर पुस्तकालय तथा आनन्दाश्रम) में वेदान्त विषयक अशेष अमुद्रित प्रक्रिया ग्रन्थों का पाठ किया। पश्चात्, 'बडोदा हस्तलिखित पुस्तकागार' के अशेष वेदान्त ग्रन्थो का अध्ययन कर लेने के बाद, अमुद्रित ग्रन्थों का सर्वश्रेष्ठ संग्रहालय मद्रास गवरमेण्ट पुस्तकालय में अनेक प्रक्रिया ग्रन्थों का चारमास पर्यन्त अध्ययन किया। उसके पश्चात् वहां के थियोसोफिकल पुस्तकालय में प्राप्त ग्रन्थो का अध्ययन करके पश्चात्, टेनजोर, मैसूर शृंगेरीमठ, कलकत्ता, (बंगाल एशियाटिक पुस्तकालय में छः मास पर्यन्त तथा संस्कृत कालेज पुस्तकालय) में अमुद्रित ग्रन्थों का पाठ करता रहा। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त विषयक अशेष मुद्रित ग्रन्थ तथा ६ शौ (६००) से भी अधिक अमुद्रित ग्रन्थों का अध्ययन किया।

दार्शनिक विचार में प्रवृत्त होते हुए जब मैं वेदान्त शास्त्र में अत्यधिक श्रद्धालु होकर केवल उसी सम्प्रदाय के ग्रन्थों को ही सादर अध्ययन करता था, तब मेरी धारणा ऐसी हो गई थी कि, केवल वेदान्त ही एकमात्र यथार्थ सिद्धान्त है और अन्य सब त्याज्य हैं। अतएव मैं यह मानता था कि, मेरी सत्यानुसन्धान की इच्छा सम्पूर्ण हुई। अब अन्य जिज्ञासु लोग भी इस तत्त्वविषयक यथार्थ ज्ञान से लाभ उठा सके ऐसा विचार कर मैंने स्वतन्त्र युक्ति तर्क के आधार पर वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए संस्कृत में दो, हिन्दी में दो, बंगला में दो और पश्चात् अंगरेजी (Mayavada) में एक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि उस समय भी मैं तत्त्वानुभूति और उसके फलरूप मुक्ति को साम्प्रदायिक कल्पना मात्र मानता था, तथापि अद्वैत-सिद्धान्त की यथार्थता में मुझे कोई सन्देह नहीं था। कुछ काल के पश्चात् मेरे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि, जिस अद्वैत-सिद्धान्त की विचार पद्धति को मैं एकमात्र सन्तोषप्रद और युक्तिसंगत समझता हूं, वही सिद्धान्त अन्य सम्प्रदाय वाले विद्वानों को क्यों नहीं सन्तुष्ट कर सका? अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों को भी सत्यानुसन्धान की तीव्र अभिलाषा थी, और इस विषय में उन्होंने पर्याप्त गवेषणा भी की है, परन्तु इस अद्वैत सिद्धान्त को उन सभी विद्वानों ने एकमति और एक वाक्य से दृढता पूर्वक तिरस्कार किया है। अतएव वेदान्त के प्रति उनके ऐसे असन्तोष का कारण क्या है?

अब मैं यह विचार करने लगा कि, तत्त्व के विषय में एक से अधिक मत सत्य नहीं हो सकता। जो स्वतःसिद्ध वस्तु (बनावटी नहीं) है, उसका यथार्थ स्वरूप एक ही हो सकता है, अधिक नहीं। पुरुष-भेद से क्रिया में भेद हो सकता है, क्योंकि क्रिया या प्रयत्न पुरुष के आधीन हुआ करती है। परन्तु वस्तु स्वतन्त्र है वह किसी के आधीन नहीं, अतएव उसको अनुभव या निरूपण करने वाले पुरुष एक हों या अनेक, वह अपने स्वतःसिद्ध स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकता। अग्नि किसी के दृष्टि-भेद या निरूपण-भेद से जल नहीं हो सकता। अतएव तत्त्व भी एक ही प्रकार का होगा, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का निश्चय तभी

हो सकता है, जब कि सभी विद्वानों के तत्त्व विषयक निदर्शनों को भली प्रकार हृदयङ्गम करके उनमें से युक्तिसङ्गत और यथार्थ सिद्धान्त का निर्णय किया जाय।

अतएव मैंने विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न दृष्टिकोण, विभिन्न विचारपद्धति और विभिन्न सिद्धान्तों से उत्तम रीति से परिचित होने के लिए उनके प्रौढ प्रक्रिया ग्रन्थों का (अनेक मुद्रित और लगभग ४०० अमुद्रित ग्रन्थों का) अध्ययन किया। इस तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) से मैंने यह पाया कि, प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रकाण्डपण्डित रचित प्रखर प्रकरण ग्रन्थ में पर पक्ष को खण्डन करने में अतिशय कुशलता दिखाई जाती है, पर अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के समय उनके विचार शिथिल होते हैं। अनेक स्थलों में केवल अपने साम्प्रदायिक गुरु या साम्प्रदायिक शास्त्र का कथन ही अन्तिम सर्वमान्य निर्णय समझा जाता है। अतएव वास्तव में होता यह है कि, प्रत्येक वादी अन्य सब सिद्धान्तों का खण्डन करता है (यदि ऐसा न करें तो अपने मत की प्रतिष्ठा नहीं होगी) और अन्य सब के द्वारा वह स्वयं भी खण्डित होता है। (यहां पर ऐसे समझना चाहिए कि, दश सिद्धान्त-वादी हैं, वे सभी परस्पर विरुद्ध होने से प्रत्येक वादी नौ सिद्धान्तों का खण्डन करता है और नौ के द्वारा खण्डित भी होता है; किन्तु एक ग्यारहवें तटस्थ व्यक्ति के लिए वे दशों सिद्धान्त खण्डित हैं)। परन्तु यदि हम इन परस्पर प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों में से प्रत्येक की समालोचना दृष्टि से परीक्षा करें, तो उनकी प्रतिपादन-शैली में प्रतिद्वन्द्वी द्वारा प्रदर्शित दोषों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक दोष प्राप्त हो सकते हैं (जैसा कि इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त मत खण्डन के प्रसङ्ग में प्रदर्शित किया है)। अतएव साम्प्रदायिक पक्षपात तथा संकीर्ण मनोभाव का परित्याग करके यदि हमलोग स्वतन्त्र निरीक्षक बनकर प्रत्येक मत की-सरलता और गम्भीरता पूर्वक-परीक्षा करें, तो उनमें से कोई एक भी ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं पाते, जो नानाप्रकार के यौक्तिक दोषों से निर्मुक्त हो। (विभिन्न दार्शनिक मतों में मौलिक भेद होने से तथा प्रत्येक मत के दूषित होने से, उनका समन्वय भी सम्भव नहीं है)।

अब मेरे लिये दो मार्ग उन्मुक्त हैं, या तो मैं किसी ऐसे सिद्धान्त को आलिङ्गन करूं, जिसके विषय में मुझको ध्रुव निश्चय हो चुका है कि यह किसी प्रकार भी (विचार या अनुभव द्वारा) सिद्ध नहीं हो सकता; अथवा एकाएक समस्त सिद्धान्तों का परित्याग करूं। अर्थात् या तो मैं अपनी विवेकबुद्धि को प्रतारित करके किसी ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार करूं, जिसको मैं दोषयुक्त और विचाररहित समझता हूं अथवा साहस पूर्वक समस्त मतों को अस्वीकार करके अपनी विवेकबुद्धि को स्वयं धोखा न दूं। विचारशीलता और सरलता यही चाहती है कि, मैं द्वितीय पक्ष को आलिंगन करूं। दार्शनिक विचार का यही उद्देश्य होता है कि, दोषयुक्त सिद्धान्तों का तिरस्कार करते हुए निर्दोष सिद्धान्त में उपनीत होवे। परन्तु यदि सरलता और उत्साह के साथ यथासाध्य प्रयत्न करने के पश्चात् भी ऐसा निर्दोष सिद्धान्त प्राप्त न होता हो, तो हमको अपनी अप्राप्ति को छिपाना नहीं चाहिए और न किसी सिद्धान्तविशेष को ही अन्तिम मानकर उसे स्वीकार करने के लिए विवश होना चाहिए। हमलोगों को चाहिए कि हम अपनी निष्कपटता को वैसा ही बनाये रखें, जैसा कि एक सत्य के अन्वेषक को उचित है। जब हम दार्शनिक विचार में प्रवृत्त हुए, तब हमको सत्य से पराङ्मुख कभी नहीं होना चाहिए, चाहे इसके लिये हमको मूल्यवान रूप से प्रतिभासमान पदार्थों से वञ्चित क्यों न होना पड़े। श्रद्धा अति हीन पदार्थ है, यदि वह हमको सत्य के प्रति सन्मुखीन होने में संकुचित कर दे।

किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार न करने का मेरा यह निर्णय, यद्यपि मूलतत्त्व की प्राप्ति की असमर्थता को सूचित करता है, तथापि इससे मेरे हृदय में कोई भी विषाद या अशान्ति का भाव उत्पन्न नहीं होने पाया, क्योंकि मैं इस निश्चित धारणा को प्राप्त हो चुका हूं कि, प्रत्येक सरल और पक्षपात रहित दार्शनिक अनुसन्धान का यह अवश्यम्भावी फल है। तत्त्वविषयक जितने भी साम्प्रदायिक संकीर्णतामूलक भ्रान्त धारणायें हैं, उन सबसे अपने हृदय को मुक्त करके; तथा विचारबुद्धि का यह चिर दुराग्रह कि, वह इस दृश्यप्रपञ्च के मूल में तत्त्वविषयक

किसी न किसी अखण्डनीय और सर्वसम्मत सिद्धान्त में अवश्य पहुंच सकती है, उसे भी परित्याग करके; और इस जगत्-समस्या को समाधान के अयोग्य रहस्यरूप से निश्चय करने वाले सरल मनोभाव को उत्पादन करके—मेरा दार्शनिक विचार अपने गन्तव्य सीमा को प्राप्त हो गया है और मैं अपने इस दार्शनिक अनुसन्धान के फल से सर्वथा सन्तुष्ट हूं। मानवबुद्धि ने तत्त्व के विषय में तर्कशास्त्र के मौलिक नियमानुसार—आजतक जितने भी विकल्प उठाये हैं अथवा उठा सकती है (सत्, असत्, सदसत्, सदसद्विलक्षण अथवा भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न और भिन्नाभिन्नविलक्षण) उन सबके सदोष सिद्ध होने पर अन्त में यही निर्णय करना होगा कि, जगद्रहस्य हमारे लिए रहस्य ही रह गया, मानव-बुद्धि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह इसका उद्घाटन कर सके। इसी निर्णय के अन्तिम होने से और इसके पश्चात् आगे विचार के लिए अवसर न रहने से, विचारबुद्धि को यहीं पर विश्राम करना होगा।

मेरे इस ग्रन्थ के पाठ से प्राच्य दार्शनिक सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में प्रयोग किये जाने वाले जितने भी प्रधान प्रधान युक्तितर्क हैं उनका ज्ञान होने पर, विचारशील पाठकों को स्वाधीनता पूर्वक विचार करने में सहायता मिले तथा संकीर्ण साम्प्रदायिकता का तिरस्कार होकर उनके हृदय में पक्षपातरहित उदारभाव उत्पन्न हों एवं जगत्-समस्या को समाधान के अयोग्य रहस्यरूप जानकर धर्मान्ध लोगों की कट्टरता दूर हो तथा देश में धार्मिक कलह की निवृत्ति होकर लोग संगठित शक्तिशाली बन कर स्वाधीनता प्राप्त करने में उत्साही हों तथा पिछले कर्तव्याकर्तव्य विषयक भयदायक संस्कारों से मुक्त होकर लोग पुरुषार्थ द्वारा मनोबल का उपार्जन करते हुए निर्भीक और स्वस्थचित्त वाले बन सकें और हमारी परलोक-परायणता मन्द होकर देश-सेवारूप कार्य में प्रवृत्ति और उत्साह हो—ऐसा विचार कर मैंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में परिश्रम किया है; और यदि उक्त अभीप्सित फल न भी हों, तथापि मैंने सुदीर्घकाल तक सरल हृदय से तत्त्वानुसन्धान में प्रवृत्त होकर जो कुछ प्राप्त किया है, उसे विचारशील सत्यानुसन्धित्सु पाठकों के निकट अकपटरूप से प्रकट करना ही मेरे इस ग्रन्थ-प्रणयन का उद्देश्य है।

उपकृति–स्मृति

यह ग्रन्थ विशाल सिन्धु नदी के निर्जन तट में (निकटवर्त्ती डेपारचा नामक ग्राम से ३ मील दूर—जिला नवाबशाह, सिन्धुदेश में) ४ मास निवास करके प्रणयन किया गया। विचारकुशल दो व्यक्ति — श्रीमत् साधु निवृत्तिनाथजी और श्रीयुत हेमनदास आलुमलजी— के सहवास से, उनकी वेदान्तानुकूल प्रखर आपत्तियों का समाधान या खण्डन की युक्ति विचारते हुए, मैं लाभवान हुआ हूं, इसलिए मैं उनको अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करता हू। मेरी मातृभाषा बंगाली है, मेरी हिन्दीभाषा का संशोधन श्रीमत् स्वामी विशुद्धानन्दजी (ज्वालामुखी निवासी) ने किया है। उनकी सहायता के बिना मैं अनेक स्थलों में परिमार्जित भाषा पाठकों के निकट उपस्थित नहीं कर सकता था: इसके लिए मैं स्वामी जी के प्रति चिरकृतज्ञ रहूंगा।

प्राच्यदर्शनसमीक्षा

(सर्वसिद्धान्तसमालोचना)

विषय-सूची

भूमिका

प्रथम अध्याय

शास्त्र-प्रमाण

द्वितीय अध्याय

ईश्वर

है, इस पक्ष में कार्यकारणभाव (भेदाभेदवाद) ८७:— उक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन की रीति ८८(टि);—अचिन्त्य भेदाभेदवाद ८८-८९:—अचिन्त्यवाद और अनिर्वचनीयवाद में तुलना ८९(टि);— विशिष्टाद्वैतवादीसम्मत कार्यकारणभाव ९०.— अद्वैतवादीसम्मत कार्यकारणभाव ९१-९२;—अद्वैतवाद के प्रतिपादन की रीति ९२-९४(टि)।

समालोचना — जगद्रूप कार्य के कारणरूप से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ९५-१००.-जगत् के नियामकरूप से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती १००-१०३;-न्यायवैशेषिकसम्मत ईश्वर (कार्य जगत् का निमित्त कारण) का अनुमान १०४.-अनुमान प्रमाण के विषय में संक्षिप्त विचार १०५-१०६, १०६-१०७(टि); उक्त ईश्वरवाद का खण्डन १०७-११०; लाघव तर्क विषयक विवेचन ११२-११६,११३-११४ (टि): ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की समालोचना ११९-१३१;-प्रसंगवश प्रलय की प्रमाणासिद्धता का प्रदर्शन १२७-१२८ (टि),- महामति केन्ट (Kant) का ईश्वरवाद-समालोचनात्मक वचन (अंगरेजी) १३१ (टि):-परमाणुवाद के खण्डन में असत्कार्यवाद, समवाय, अवयव-अवयवी-भेद की समालोचना १३२-१३८:-माध्वसम्मत ईश्वरवाद और उसकी समालोचना १३८-१४१;-पातञ्जलसम्मत ईश्वर का अनुमान और उसकी समालोचना १४१-१४३;— प्रकृतिवादखण्डन में सत्कार्यवाद, त्रिगुणवाद, परिणामवाद और भेदाभेदवाद की समालोचना १४३-१५९;-जैनसम्मत सदसत्कार्यवाद और जगदुपादन (पुद्गल) की समालोचना १५९-१६१;-ब्रह्मपरिणामवाद १६१-१६२,-वैदान्तिक ब्रह्मवाद का प्रकारभेद १६२-१६३ (टि);- ब्रह्मपरिणामवाद की समालोचना १६३-१६६:- प्रसंगवश ईश्वराभिन्न श्रीविग्रह के मण्डन और खण्डन में अनुमान-प्रदर्शन १६६-१६७ (टि):-शब्दब्रह्मवाद और उसकी समालोचना १६७-१६८:-विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन १६८-१६९,१७१-१७२; -प्रसंगवश ईश्वर और जीव के विषय में वैष्णवों के मतभेद का प्रदर्शन १६९-१७१ (टि);-विशिष्टाद्वैतवाद की समालोचना १७२-१७६।

विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद में मत-भेद का प्रदर्शन १७६-१७८(टि); अद्वैतवाद का प्रतिपादन:-सत्चित्स्वरूप स्वप्रकाश अद्वैत ब्रह्म १७८-१७९; मृत्तिका-घट की न्याईं ब्रह्म जगदुपादन है १७९;

तृतीय अध्याय

आत्मा

उपपत्ति २५१-५६;–सांख्य और अद्वैतवादी में मतभेद का प्रदर्शन २५७ (टि);–प्रसंगवश अद्वैतवाद और न्यायवैशेषिक मत के सिद्धान्तभेद का कथन २५७–२५८(टि);–सांख्ययोगसम्मत साक्षी की सिद्धि २५५–५६:–

अद्वितीय साक्षी की सिद्धि में पांच युक्तिः-

२५६–२५८: (१) मनोवृत्ति की उत्पत्ति और विनाश, उनमें भेद और उनकी स्मृति के सिद्धिप्रदरूप से साक्षी–आत्मा (निर्विकार प्रकाशक) सिद्ध होता है। (मन के परिणामरूप अवस्थाओं के साथ तादात्म्यरूप से अनुगत मन उन अवस्थाओं को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक अवस्था की उत्पत्ति और नाश के साथ साथ वह भी विकारप्राप्त होता रहता है)। (२) दृग्ज्ञान और उसके अव्यवहित परभावी सुख इन दोनों में कार्यकारणभाव के ज्ञातारूप से साक्षीचेतन सिद्ध होता है (देखिए २७१)। (३) धाराज्ञानस्थलीय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की स्मृति के उपपादकरूप से साक्षी सिद्ध होता है (देखिए पृष्ठ २७२टि; जब कि क्रमभावी एक ज्ञान अपर ज्ञान का ज्ञाता नहीं हो सकता, तब साक्षी बिना परंपरा की सन्तति का ज्ञान असम्भव होगा)। (४) प्रत्यक्ष के पूर्वकाल में विद्यमान (अज्ञात सत्तावान) घटादि बाह्य पदार्थों के ग्राहकरूप से वृत्तिभिन्न ज्ञान (आत्मस्वरूप साक्षीचेतन) सिद्ध होता है। [जब कि घटादि बाह्यविषय स्वप्रकाश नहीं है, और न इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध बिना वे मन द्वारा ज्ञात (प्रकाशित) हो सकते हैं, जब अज्ञात विषय के ज्ञान बिना अज्ञात से ज्ञात का भेद नहीं उपपादित हो सकता तथा जब यह भी नहीं जान सकते कि विषय ज्ञानोत्पत्ति का कारण है और न विषय को जानने की इच्छा ही उपपादित हो सकती है (ऐसी इच्छा तब सम्भव होती जब कि विषय ज्ञात और अज्ञात दोनों होता); तब बाह्य पदार्थ के प्रकाशित करने के लिए एक मनोतीत (देखिए पृष्ठ २४६टि) चेतन की आवश्यकता होगी]। (५) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप व्यभिचारी अवस्थाओं के अनुभवितारूप से अव्यभिचारी अवस्थारहित साक्षी सिद्ध होता है (देखिए पृष्ठ २९२टि; जिसकी उपस्थिति से जाग्रतादि अवस्थायें आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होते रहते हैं और जिससे वे प्रकाशित होकर परस्पर

एकीभूत होते हैं ऐसे साक्षीचेतन को यदि एक न माना जाय, तो अवस्थाओं का आविर्भाव और तिरोभाव एक ही पदार्थगतरूप से नहीं जाना जा सकता) । अद्वैतवाद का खण्डनः—(१) २६७–२७१; (२) २७१–२७४; (३) २७२–२७३टि); (४) २७६–२९६,२८८–२९१(टि); (५) २९२–२९३(टि) ।

क्रोडपत्रः–दृष्टिसृष्टिवाद की समालोचना २५९–२६६;– मनोवृत्ति का निराकरण २६७–२६८,२६८(टि), २९२–२९३(टि);–साक्षी और मन के सम्बन्ध की समालोचना २७४–२७६ (टि);— बाह्यपदार्थगत अज्ञातत्त्व प्रमाणसिद्ध नहीं २७९(टि);— सुषुप्तिकालीन अज्ञान के प्रकाशक रूप साक्षी के खण्डन में वादीसम्मत व्युत्थितकालीन स्मरणज्ञान की अनुपपत्ति का प्रदर्शन २८८–२९१(टि);–सुषुप्तिकालीन अज्ञातत्व के प्रकाशकरूप से स्वप्रकाश चेतन की असिद्धि २९६–२९७(टि); वादीसम्मत अद्वितीय आत्म-पक्ष में सुखादिज्ञान की अव्यवस्था २९७–२९९;—साक्षी का बहुत्ववादी सांख्यपातञ्जलमत और उसका खण्डन ३००-३०२;–साक्षी-अमान्यकारी न्यायवैशेषिक-सम्मत ज्ञान-गुणवाला आत्मवाद ३०३–३०४;—सांख्यपातञ्जल और न्यायवैशेषिकों में सिद्धान्तभेद का प्रदर्शन ३०४–३०५ (टि);— न्यायवैशेषिकसम्मत आत्मवाद के खण्डन में समवायसम्बन्ध, स्वरूपसम्बन्ध, सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव (टि), आत्ममनःसंयोग और अनुव्यवसाय (टि) की समालोचना ३०५–३१२;— व्यापक बहु आत्मवाद में सुखादिज्ञान की अव्यवस्था ३१२–३१३;— साक्षी-अमान्यकारी जैनसम्मत ज्ञान-परिणामवाला आत्मवाद ३१३–३१४; साक्षीवादी और जैनियों में आत्मविषयक मतभेद का प्रदर्शन ३१४(टि);— जैनसम्मत आत्मवाद की समालोचना ३१५–३२१;— भट्टसम्मत आत्मवाद के खण्डन का उल्लेख ३१७ (टि);— उक्त वादीयों से पृथक् वैष्णवसम्मत आत्मवाद और उसकी समालोचना ३२१–३२४;–बौद्धकर्तृक स्थिरात्मवाद का खण्डन और क्षणिकात्मवाद की प्रतिष्ठा ३२५–३२७;–बौद्धसम्मत क्षणिकवाद और कार्यकारणभाव ३२७–३२८(टि);–बौद्धसम्मत आत्मवाद की समालोचना ३२८–३३३; क्षणिकवाद के खण्डन का दिग्दर्शन ३३०(टि);—प्रसंगवश भौतिक (मस्तिष्कक्रिया) आत्मवादमें स्मरणकी अनुपपत्ति का प्रदर्शन३३३(टि)।

चतुर्थ अध्याय

साधन

भक्ति—भक्ति-साधकों में भगवद्-विषय में चार प्रकार की धारणाएं ३३४-३३५;—निराकार स्वर्गवासी या निराकार व्यापक भगवान का स्वरूपतः ध्यान या भजन सम्भव नहीं ३३५-३३६,—सर्वव्यापक भगवान की प्राप्ति के लिए साधन की व्यर्थता तथा उसका अनुभव असम्भव है ३३६-३३७ (टि);—स्वेच्छानिर्मित या स्वाभाविक शरीरवाले भगवान के भजन की समालोचना ३३७-३३९,—भगवान का शरीर मानना विचारसह नहीं ३३९-३४०;—भगवद्-दर्शन को समालोचना ३४०-३४३;—योग—योग की क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन ३४३-३४७,—योगशास्त्रोक्त संप्रज्ञात समाधि के चार भेद का तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा का खण्डन ३४५-३४६ (टि);—योग के द्वारा आत्मदर्शन की समालोचना ३४७-३५१;—निर्विकल्प समाधि में द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान होता है, इस योगशास्त्रोक्त मतवाद का निरास ३५१-३५२;—देहचक्र में आत्मदर्शन का खण्डन ३५२-३५३,—ब्रह्मज्ञानः—अद्वैतवादी के सिद्धान्त का वर्णन ३५३-३५४,—"तत्त्वमस्यादि" महावाक्य के श्रवण से ब्रह्म का अपरोक्ष बोध होता है, इस मत का खण्डन ३५४-३६२,—'तत्त्वमसि' वाक्य की विभिन्न व्याख्याएं ३६०-३६१ (टि),—महावाक्य प्रथम परोक्ष बोध को उत्पन्न करता है पश्चात् अपरोक्ष बोध का जनक होता है इस मत का खण्डन ३६२-३६३,—वेदान्तार्थ के मनन से ब्रह्मानुभूति नहीं हो सकती ३६३-३६४,—ध्यान या निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं ३६४-३६६;—अद्वैतवेदान्तियों के ध्यान का प्रकार, तज्जनित अनुभव और उसकी समालोचना ३६६-३७४;—निर्विकल्प समाधि अनुभव विषय में विभिन्न वादियों का मतभेद ३७३-३७४ (टि),—उक्त समाधि और सुषुप्ति की तुलना ३७४-३७६ (टि);—ब्रह्माकारवृत्ति का तीन प्रकार का अर्थ और उसकी समालोचना ३७६-३८१ ।

पञ्चम अध्याय

मुक्ति

तत्त्वविषयक अन्तिम निर्णय

उपसंहार

हमारा कर्तव्य

(ईश्वरवाद और कर्मवाद), अनुभव और पारलौकिक अभीष्ट फल-प्राप्ति विषयक धार्मिक सिद्धान्त का निराकरण और कर्तव्य का कथन ४१९-४४०—दूरदर्शन (Telepathy) विषयक विवेचन ४३८-४३९ (टि);—शास्त्रप्रमाण के खण्डन प्रसंग में हमारे देश में प्रचलित गीताशास्त्र की समालोचना ४४१-४४५;— व्यक्तिगत सुखशान्ति की प्राप्ति की दृष्टि से कर्तव्य का विवेचन प्रसंग में दुःख के मूलकारण विषय में ग्रन्थकार का अभिमत और उसकी निवृत्ति (तिरस्कार) का उपाय प्रदर्शन ४४६-४५४,—ग्रन्थकार के नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ४४७-४४८ (टि), ४५२-४५३ (टि); भगवत्प्रार्थना में हानि ४५४-४५५: गुरुवाद और साम्प्रदायिकता का तिरस्कार ४५५-४५६ (टि); ग्रन्थकार क्या नहीं जानता और क्या जानता है इसका स्पष्ट कथन पूर्वक कर्तव्य विषयक विचार की समाप्ति ४५६-४५७।

❋ शुद्धिपत्र ❋

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९	२८	भूलस्वरूप	मूलस्वरूप
,,	,,	कानर्द्धारण	का निर्द्धारण
२३	१३	अतचेतन	अद्वैतचेतन
६४	५	पूर्वाधीन	पूवाधीत
७९	१६	उपद्वैप के	उपपत्ति के
१९०	१८	कार्य-पद	कार्य-पदार्थ
२२८	२	एकादृश	एतादृश
२४७	२३	नोत्तवृत्ति	उक्त वृत्ति
२५७	१७	अतद्रप	अतद्रूप
२५८	१७	पूर्वाकल	पूर्वकाल
२९६	२६	ज्ञातारूप (२)	ज्ञेयरूप
३०४	७	प्रकृति	प्रभृति
३०७	१	प्रत्यक्ष)	प्रत्यक्ष
४०५	९	शीलतारूप	शीतलतारूप
४१६	१६	अविस्कार	आविस्कार

प्राच्यदर्शनसमीक्षा
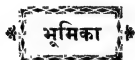
हमारा देश (भारतवर्ष) दार्शनिक तथा धार्मिक कलह की लीलाभूमि है। यहां प्रत्येक दार्शनिक एवं धार्मिक समाज, अपने अपने साम्प्रदायिक शास्त्रों में श्रद्धावान होकर उन्हें तत्त्वनिर्णय में प्रमाण मानते हैं और अपर सम्प्रदायों के शास्त्रों का तिरस्कार करते रहते हैं। परस्पर कलह करने वाले सम्प्रदायों में बहुतों का यह मत है कि, वेदशास्त्र ही एक मात्र प्रामाणिक है तथा अपर शास्त्र अप्रामाणिक हैं। इसके विपरीत कितने ही साम्प्रदायिकों का मत है कि, वेद अप्रामाणिक है तथा वेद-विरुद्ध उनके शास्त्र ही प्रामाणिक हैं। वेद की प्रमाणता की सिद्धि के निमित्त वैदिक सम्प्रदायवाले उसे सर्वज्ञ ईश्वररचित मानते हैं, एवं वेदविरोधी सम्प्रदायों में से कितने ही अपने शास्त्र की प्रामाणिकता बनाए रखने के लिए उसे सर्वज्ञ जीवरचित मानते हैं। एक सुप्रसिद्ध प्राचीन सम्प्रदाय ऐसा भी है, जो वेद की प्रामाणिकता बनाए रखने के लिए ही ईश्वर और सर्वज्ञता का निषेध कर, वेद को नित्य अथवा अरचित (अपौरुषेय) कहता है। आधुनिक वेदश्रद्धालु कतिपय विद्वान्, वेद को तत्त्वदर्शी ऋषिरचित मानने लगे हैं। इस प्रकार शास्त्रप्रमाण के सम्बन्ध में विभिन्न साम्प्रदायिकों के परस्पर विरुद्ध विविध मत पाए जाते हैं। तथा वेदवादियों का भी वेद के विषय में तत्त्ववेत्तारचित, सर्वज्ञजीवरचित, ईश्वर (अशरीरि अथवा शरीरि) द्वारा रचित, प्रेरित अथवा शिक्षित एवं अरचित (जीव या ईश्वरकृत नहीं), इत्यादि नाना मत विकल्प हैं।

ईश्वर और आत्मा के विषय मे मतभेद

ईश्वर के विषय में भी उक्त सम्प्रदायों में परस्पर विरुद्ध अनेक मत पाये जाते हैं। कितने ही लोगों का कहना है कि ईश्वर है ही नहीं, तथा कतिपय लोग उसे मानते हैं। ईश्वर मानने वालों में भी उसके स्वरूप विषय में विरुद्ध मत उपलब्ध होता है। एक सम्प्रदाय मानता है कि ईश्वर तटस्थ या निर्लिप्त पुरुषविशेष है, वह जगत् का कारण नहीं; अपर कितने ही साम्प्रदायिकों ने उसे जगत् का कारण माना है। जगत्कारणरूप ईश्वर मानने वालों में भी परस्पर विरुद्ध मत है। उनमें से कितने ही कहते हैं कि ईश्वर केवल निमित्तकारण है, न कि उपादान। कितने ही साम्प्रदायिकों का कथन है कि ईश्वर जगदुपादान से सर्वथा भिन्न है ऐसा नहीं, किन्तु अद्वैत ईश्वर ही (ब्रह्म) जगद्रूप से अभिव्यक्त हो रहा है, वह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान है। इन (अभिन्ननिमित्तोपादानवादी) सम्प्रदायों में भी पुनः मतविरोध है। कोई कहता है कि, वह परिणामी है तथा किसी के मत में वह परिणामरहित है। कोई सम्प्रदाय मानता है कि, ईश्वर न तो वस्तुतः निमित्तकारण है और न वस्तुतः उपादान ही है, किन्तु वह अवास्तव (माया या अज्ञानकृत) अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

आत्मा के स्वरूपविषय में भी परस्पर विरोधी सिद्धान्त उक्त सम्प्रदायों में पाये जाते हैं। प्रथमतः, समस्त दैहिक एवं मानसिक अवस्था तथा क्रियाओं का आश्रयरूप स्थिर आत्मा है, अथवा वह आश्रयरहित ज्ञान-सन्तानरूप है। द्वितीयतः, आत्मा का ज्ञान भौतिक देह की एक विशेष क्रिया या फल है, अथवा वह देह से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। तृतीयतः, आत्मा देह के साथ उत्पन्न और देह के साथ नाश को प्राप्त होता है, अथवा आत्मा उत्पत्तिरहित और ध्वंसरहित है, सुतरां वह शरीरि या अशरीरि अवस्था में रह सकता है। चतुर्थतः, आत्मा वस्तुतः स्वभाव से ही चेतनावान अथवा वह अपने से पृथक् मन के सम्बन्ध से चेतनावान होता है। पञ्चमतः, आत्मा स्वरूपतः

तत्त्वभेद के अनुसारी साधनामें तथा मुक्ति की धारणा में भेद ।
जगत् के उपादान विषय में त्रिविध मत ।

ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवान है, अथवा आत्मा स्वतः क्रियारहित स्वयं-प्रकाश पदार्थ है, जिसकी उपस्थिति से मन और उसकी क्रिया प्रकाशित होते हैं। षष्ठत., आत्मा सर्वथा विकाररहित पदार्थ है, अथवा वह परिणामों के मध्य में उसका एकत्व रखता है। सप्तमतः, वह अणुपरिमाण (ईश्वर द्वारा सृष्ट या ईश्वर का अंश अथवा ईश्वर की चेतनाशक्ति की अभिव्यक्ति या ईश्वर का तात्त्विक शरीर किंवा ईश्वर के अनुभव का ससीम केन्द्र अथवा ईश्वर की ससीम अभिव्यक्ति या ईश्वर का विशेषण), अथवा शरीरपरिमाण, अथवा सर्वव्यापक है। अष्टमत, भिन्न २ जीवों की वस्तुतः भिन्न २ आत्मा है, अथवा एकही विश्वात्मा विभिन्न व्यक्तियों के मध्य विभिन्न आत्मारूप से प्रतिभासित होता है।

तत्त्वविषयक उक्त विरोधी सिद्धान्तों के अनुसार कर्तव्य की धारणायें या साधनायें भी भिन्न भिन्न होती हैं। हमारे देश में भगवद्भक्ति, योगाभ्यास के द्वारा आत्मध्यान और ब्रह्मज्ञान, ये त्रिविध साधनाएं ही विशेष प्रचलित हैं। इन साधनाओं के फलरूप से मृत्युपश्चात्कालीन भिन्न २ गति अथवा मुक्ति कल्पित हुई है।

जगत् के उपादानकारण के विषय में भारतीय दार्शनिकों के संक्षेपत. तीन ही प्रस्थानभेद प्रसिद्ध हैं —आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद। पार्थिव, आप्य, तैजस और वायवीय (पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के) ये चार प्रकार के परमाणु ही द्व्यणुकादिक्रम से जगत् की रचना आरम्भ करते हैं तथा असत्कार्य ही कारण के व्यापार के प्रयोग से उत्पन्न होता है; यह न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसकों को अभिमत है। परमाणुवाद, जैन तथा बौद्धों के एक संघातवादी सम्प्रदाय विशेष को भी स्वीकृत है। सत्त्व, रजः और तमः गुणवाली प्रकृति (जगत्शक्ति) ही महत् (महत्तत्त्व), अहकारादिक्रम से जगद्रूप परिणाम को प्राप्त होती है; जगद्रूप कार्य अपनी उत्पत्ति के

पूर्व भी सत्रूप से अपने कारण में स्थित था और सत् ही कार्य, कारण के व्यापार द्वारा अभिव्यक्त हुवा है; असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश सम्भव नहीं है, अतएव उत्पत्ति और विनाश शब्द का तात्पर्य केवल आविर्भाव और तिरोभाव मात्र से है— यह परिणामवाद नामक द्वितीय प्रस्थानभेद सांख्य, पातञ्जल, पाशुपत तथा माध्व मतवादियों को अभिप्रेत है। ब्रह्म का परिणाम ही जगत है, ऐसा भी अनेक वैष्णवों को अभिमत है। स्वप्रकाश, अद्वितीय ब्रह्म अपनी माया के वश से मिथ्या ही जगदाकार से कल्पित होता है; यह तृतीय (विवर्तवाद नामक) प्रस्थान, शाङ्करमतानुयायी अद्वैतवादियों को मान्य है। कार्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त होते हुए कार्य से विषमसत्ताक होना अथवा परिणामशील अज्ञान का आश्रय होकर कार्य के साथ तादात्म्ययुक्त होना विवर्त है।

दार्शनिकों में अनुभवभेद और उपपत्तिभेद रहने के कारण उनके सिद्धान्तों का भेद भी अवश्यम्भावी है। उपरोक्त सिद्धान्त-भेद होने का हेतु क्या है ? इसका विवेचन करने पर यह प्रतिपन्न होता है कि कार्यकारण विषय में विचार करते हुए भिन्न भिन्न वादी विभिन्न सिद्धान्तों में पहुंचे हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र में इस विषय में षट् प्रकार के मत हैं। (१) आकस्मिकवाद, (२) असत्कार्यवाद, (३) सत्कार्यवाद, (४) सदसत्कार्यवाद, (५) अनिर्वचनीयवाद, (६) चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तवाद। (१) चार्वाकसम्मत आकस्मिकवाद के भी षट् भेद हैं — स्वभाववाद, अहेतुवाद, अभूतिवाद, स्वत उत्पादवाद, अनुपाख्योत्पादवाद और यदृच्छावाद। (२) असत्कार्यवाद के दो भेद हैं। उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है, पश्चात् उत्पन्न होकर सत्ताधर्मयुक्त होता है — यह असत्कार्यवाद, नैयायिक, वैशेषिक और प्रभाकर मीमांसक को अभिमत है। बौद्ध लोग भी असत्कार्यवादी हैं। न्यायादिमत में असत् की उत्पत्ति, सत्तासमवाय या स्वकारणसमवायरूप होती है,

परन्तु बौद्धमत में एसा नहीं है । उसमे असत् नाम से कुछ नहीं है जो उत्पत्ति को प्राप्त हो किन्तु यह काल्पनिक व्यवहार मात्र है कि असत् उत्पन्न होता है । इस मत में वस्तुओं का पूर्वापरकोटिशून्य क्षणमात्रावस्थायी स्वभाव ही उत्पाद कहा जाता है (धर्मवाद या प्रतीत्यसमुत्पाद) । (३) सत्कार्यवाद के अनुसार पहले से ही सूक्ष्मरूप से स्थित सत् कार्य कारणव्यापार से अभिव्यक्त होता है । असत्कार्यवादीयों के मत में कार्य और उपादानकारण सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु सत्कार्यवादियों के मत में ऐसा नहीं है । सत्कार्यवादी सांख्य-पातञ्जल कार्य और कारण का अभेद (किञ्चित् भेद सहित) मानते हैं । भाट्ट और वैष्णव दार्शनिक लोग कार्य और कारण का सर्वथा भेद तथा अभेद मानते हैं । भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ हैं एसा मानने वाले कोई २ सम्प्रदायविशेष कार्य और कारण के भेद (अभेदाभाव) को इनका (कार्य और कारण का) स्वरूप और अभेद को तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध मानते हैं । कोई भेद को कार्य और कारण का धर्मरूप एवं अभेद को उसका अभावरूप मानते हैं । किसी ने भेद और अभेद दोनों को ही वस्तु का धर्म एवं रूपरस के समान भावरूप माना है । भेदाभेदवादियों में किसी वैष्णवाचार्य (निम्बार्क) ने भेद और अभेद को स्वाभाविक अर्थात् वास्तव माना है । कोई (भास्कर) स्वाभाविक अभेद और औपाधिक (सत्य, अनिर्वचनीय नहीं) भेद या औपचारिक भेदाभेद स्वीकार करते हैं । शैवों के मत में भी भेदाभेद ही मान्य है । गौडीय वैष्णवों को (जीव गोस्वामी जी को) अचिन्त्य भेदाभेदवाद सम्मत है । कार्यकारण प्रकरण में, रामानुजमत में भेद, अभेद और भेदाभेद इन तीनों को स्वीकार किया गया है अथवा एकरूप से भेद अन्यरूप से अभेद मान्य है । (४) जैनियों को सदसत्कार्यवाद अभिप्रेत है । वे सर्वत्र निरवच्छिन्न (प्रदेशभेद से नहीं) अप्रतिहत सत्त्व और असत्त्व को मानते हैं । यदि घटादि कार्यपदार्थ सद्रूप ही होता तो उसकी उत्पत्ति आदि के

लिए व्यापार निरर्थक ही होता । यदि असत् ही होता तो वह कारणव्यापार द्वारा भी सत् नहीं हो सकता । अतएव, कारण-व्यापार के सार्थक होने के लिए एक ही घट को "कथञ्चित्" असत् मानना होगा । (एकान्त सत्त्व होने पर वस्तु का वैस्वरूप्य-कार्यरूपता का अभाव-होगा तथा एकान्त असत्त्व से निःस्वभावता होगी। अतएव स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व होनेके कारण वस्तु, सदसदात्मक सिद्ध होता है । स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव भेद से विभक्त घट, स्वद्रव्यादिरूप से है और वही परद्रव्यादिरूप से नहीं है । अतः स्वकीय द्रव्यादिरूप से होने के कारण एवं परकीय द्रव्यादिरूप से न होने के कारण, सब पदार्थ भावाभावात्मक, अनैकान्तिक हैं) । (५) अनिर्वचनीयवादी अद्वैत-वेदान्ती के मत में कार्य सत् से, असत् से और सदसत् से विलक्षण मान्य होता है । (६) माध्यमिक बौद्धमत में (नागार्जुन) कार्य, उक्त चार कोटि के— सत्, असत्, सदसत् और सदसद्-विलक्षण— अन्तर्भूत नहीं; अथच पञ्चमकोटि भी नहीं (क्योंकि सत् आदि चार कोटि से अतीत, निर्दिष्ट पञ्चम कोटि सम्भव नहीं) । अतएव, इस मत में कार्यकारणभाव अनिर्वचनीय है । (परन्तु जैनसम्मत सतादि अन्यतररूप से अनिर्वाच्य या अद्वैत-वेदान्तीसम्मत ब्रह्मरूप सत् की तुलना से अनिर्वचनीय नहीं) ।

उपरोक्त षट्प्रकार के कार्यकारणविषयक मतभेदस्थल में एक क्षणिकवाद है तथा अपर सब स्थिरवाद है (घटादि पदार्थ का स्थिरत्व मान्य है) । स्थिरवाद में चार्वाकसम्मत स्वभाववाद, अपर स्थिरवादी या क्षणिकवादीयों को मान्य नहीं है । असत्-कार्यवाद मानने से जगत् का मूलकारण (मूल उपादान) परमाणु सिद्ध होगा, सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति (न कि परमाणु) सिद्ध होगी (प्रकृति स्वतन्त्र है अथवा भिन्न चेतन से नियमित या अद्वितीय चेतन की शक्ति या गुण है), सदसत्कार्यवाद में (जैनमत के अनुसार) जगत् को पुद्गल (स्पर्श, रस, गन्ध और रूपयुक्त एकजातीय परमाणु) का अवस्थान्तर या परिणाम मान्य

होगा, अनिर्वचनीयवाद के अनुसार ब्रह्माधिष्ठानगत मूल परिणामी कारण, अज्ञान या माया (अवास्तव) सिद्ध होगा। चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तवाद के अनुसार उक्त सब मत खण्डित होगा तथा जगतकारण का स्वरूप अनिर्णीत ही रहेगा। अतएव उपरोक्त षट्प्रकार के मतों में से किसी एक मत सिद्ध होने पर अपर सब मत अवश्य खण्डित होंगे, अर्थात् वे मत परस्पर ऐसे विरोधी हैं कि यदि हम लोग उनमेंसे एक को ग्रहण करें तो अवशिष्ट सब मतों का निषेध करना ही पड़ेगा। स्वभाववाद, क्षणिकवाद, असत्कार्यवाद (नैयायिकादिसम्मत), सत्कार्यवाद (बहु भेदसहित), सदसत्कार्यवाद, अनिर्वचनीयवाद और चतुष्कोटिविनिर्मुक्तवाद— इनमें से प्रत्येक की सिद्धि अवशिष्ट षट् की असिद्धि के उपर निर्भर होने से प्रत्येक अवशिष्ट छः का खण्डन करता है और छः के द्वारा खण्डित भी होता है। फलत इन परस्पर विरोधी मतों के समन्वय का कोई अवसर या प्रश्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव कार्य कारण के विषय में उपरोक्त विभिन्न विरोधी वादों के होनेसे, तन्मूलक तत्त्वविषयक सिद्धान्त में भी भेद अवश्य होगा। उनका समन्वय कदापि सम्भव नहीं है, तथापि समन्वय के कई प्रयत्न पाये जाते हैं, सो वर्णन और उनकी समालोचना करता हूं।

उक्त साम्प्रदायिक कलह की निवृत्ति होकर तत्त्वनिर्णय हो सके इसलिए कितने ही आचार्य तर्क की अप्रतिष्ठा ("तर्का-प्रतिष्ठानात") कहकर श्रुति की प्रतिष्ठा कहते हैं। कारण, प्रथम एक तार्किक तर्क द्वारा जो निर्णय करता है, पश्चात् उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् अपर तार्किक अन्यरूप तर्क द्वारा उसको खण्डन कर अन्यमत का स्थापन करता है, पुन: अन्य तार्किक अपनी प्रबल तर्कशक्ति द्वारा उसको भी खण्डन करके अन्यरूप मत समर्थन करता हुआ सर्वत्र देखा जाता है। सुतरां, तर्क की कहीं भी प्रतिष्ठा अथवा परिसमाप्ति नहीं देखी जाती है। एक ही समय में तथा एक ही स्थान में भूत, भविष्यत्

नर्ककी अप्रतिष्ठा कहकर श्रुतिकी प्रतिष्ठा मानना अयौक्तिक तथा साम्प्रदायिकता का परिचय।

एवं वर्त्तमानकालीन समस्त तार्किकों को उपस्थित करके तर्क द्वारा सबकी एकमति से कोई तत्त्वनिर्णय हो सकना भी सर्वथा असम्भव है। सुतरां, अलौकिक अचिन्त्य तत्त्वका निर्णय करना हो, तो एकमात्र श्रुतिका ही आश्रय लेना होगा। परन्तु वैदिक किसी सम्प्रदाय की यह पद्धति भी समीचीन नहीं। जिस कारण से तर्क की अप्रतिष्ठा है उसी कारण से वस्तुतः श्रुति की भी अप्रतिष्ठा कही जा सकती है। श्रुति द्वारा तत्त्व के निर्णय करने के लिए भी श्रुतिवाक्यों के अर्थ को निश्चित कर लेना आवश्यक है। वह अर्थ, भिन्न २ व्याख्याकर्त्ताओं के बुद्धिभेद के कारण भिन्न २ हुआ है और होगा। यदि केवल शास्त्र के पाठ मात्र से ही उसके अर्थ का निर्णय सम्भव होता तो सब एकही अर्थ करते, विचार की आवश्यकता ही नहीं रहती। विचार बिना वेदार्थ-निर्णय नहीं हो सकता। तर्क बिना भी वेदार्थ-विचार नहीं हो सकता। श्रुतिका तात्पर्य षड्लिंग से निर्णय करना होगा। उनमें से उपपत्ति भी एक लिङ्ग है: जिसके कि भिन्न २ बुद्धि के आधीन होने के कारण, निर्णय की विभिन्नता भी अवश्यम्भावी है। वेदार्थ में विवाद होने पर तर्कविशेष के द्वारा ही प्रकृतार्थ निर्द्धारण करना होगा। जब विभिन्न तात्पर्य प्रसिद्ध हैं तब यही श्रुतिका तात्पर्य है, यह केवल शब्द द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। सुतरां वेदार्थ-निर्णय में तर्क, जब सर्वथा ही अपरिहार्य है, तब तर्क के भेद से वेदार्थ में भी मतभेद अवश्य ही होगा। फलतः श्रुति के द्वारा भी सर्वसम्मत एक तत्त्व का निर्णय होना कठिन है। और भी, विचारवानों को यह विस्मयकारक प्रतीत होता है कि, "तर्काप्रतिष्ठानात्" कथन करनेवाले उक्त वैदिक सम्प्रदाय, --ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में— परपक्षका खण्डन करते समय, स्वयं तो स्वतन्त्र युक्तितर्क का पूर्ण उपयोग करते हैं, परन्तु स्वाभिमत सिद्धान्त को तर्क द्वारा परीक्षण करने में संकुचित होते हैं! यदि एक के तर्क को अपर तार्किक खण्डन कर सकेगा, केवल इसी कारण से ही युक्तितर्क का अवलम्बन करना अनुचित है,

तो श्रुतिव्याख्याकारों का, तर्क द्वारा श्रुति का अर्थ लगाना भी संगत नहीं, क्योंकि अधिक तर्ककुशल व्यक्ति उनके तर्कजाल को काट सकेंगे । फलतः श्रुतिवाक्य की व्याख्या भी अप्रतिष्ठित ही है । अतएव तर्क द्वारा सिद्धान्त निर्णय करने में प्रवृत्त होने से, जिस प्रकार तार्किकों के बुद्धिभेदमूलक तर्क के विभिन्न होने से सिद्धान्त में भी नाना मतभेद अवश्यम्भावी है; इसी प्रकार वेद की व्याख्या द्वारा सिद्धान्त निर्णय करने के समयमें भी तो, व्याख्याभेद से नाना मतभेद अवश्यम्भावी है । वेदार्थ-निर्णय के पूर्व कोई भी तार्किक, किसी अपर तार्किक के तर्क को, वेदविरुद्ध अथवा वेदानुकूल प्रतिपन्न नहीं कर सकेगा । किञ्च, वह निर्णय जब बुद्धिभेद के कारण भिन्न हो सकता है तब श्रुति-अनुसारी तर्क भी निर्णय के योग्य नहीं । यह सत्य है कि, एक ही समय एक ही स्थान में भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमानकालीन समस्त तार्किकों को उपस्थित करके तर्क के द्वारा सबकी एक मति से कोई सिद्धान्त-निर्णय होना सर्वथाही असम्भव है; किन्तु इस प्रकार से भूत, भविष्यत और वर्त्तमान-कालीन समस्त वेदव्याख्यासमर्थ पण्डितों को एकत्र उपस्थित करके, सबकी एक मति से प्रकृत वेदार्थनिर्णय हो सकना भी तो सर्वथा ही असम्भव है ! सुतरां, अलौकिक अचिन्त्य तत्त्व-निर्णय के निमित्त श्रुतिदेवी का आश्रय लेने से समस्त विवादों की निवृत्ति हो सकेगी, ऐसी आशा कहां है ?

उक्त साम्प्रदायिक कलह की निवृत्ति के लिए कितने ही दार्शनिकों ने तथा धर्माचार्यों ने समन्वय प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया है । दार्शनिकों में प्राचीन नैयायिक उदयन, नव्यसांख्य विज्ञानभिक्षु, नवीन वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती तथा काश्मीरी सदानन्द यति का नाम उल्लेखयोग्य है । मधुसूदन तथा सदानन्द का मत है कि अद्वैतसिद्धान्त में ही सब शास्त्रों का तात्पर्य है, परन्तु प्रथम ही अद्वैतमार्ग में सब का प्रवेश असम्भव है इसी कारण, अधिकारिविशेष के निमित्त नाना

शास्त्रों में नाना मत का उपदेश हुआ है। परन्तु, इसप्रकार की समन्वय-व्याख्या के द्वारा समस्त सम्प्रदायों के चिरविवाद की निवृत्ति की आशा कभी नहीं की जा सकती। कारण, सभी सम्प्रदाय अपने अभिमत मत को ही चरम सिद्धान्त कहकर, अपर मतों के सिद्धान्तों को पूर्वोक्तरूप अधिकारिविशेष के लिए उपयोगी एक उद्देश्यमात्र कह सकते हैं। मधुसूदन और सदानन्द यति के पूर्व, नैयायिकाचार्य उदयन एवं सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी अपने अपने मतको ही प्रकृत सिद्धान्त कहकर, उनके विरुद्ध अपर शास्त्रोक्त मतों को पूर्वोक्त उद्देश्यरूप व्याख्या कर चुके हैं। किन्तु उनकी ऐसी समन्वय-व्याख्या को क्या अपर सम्प्रदायों ने ग्रहण किया है? अथवा कभी करेंगे? मधुसूदन तथा सदानन्दयति ने उदयन और विज्ञानभिक्षु के अभिमत समन्वयव्याख्या को ग्रहण नहीं किया: कारण, उदयन और विज्ञानभिक्षु ने मधुसूदन और सदानन्द के अभिमत अद्वैतमत को प्रकृत सिद्धान्तरूप स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने उक्त मत का खण्डन ही किया है। यदि यह कहा जाय कि "द्वैताचार्य सर्वज्ञ ऋषिलोग—अधिकारिविशेष के निमित्त नानारूप द्वैतमत का प्रकाश करते हुए भी—वे सब थे अद्वैतवादी ही, क्योंकि अद्वैतवाद ही प्रकृत सिद्धान्त है।" किन्तु ऐसा अनुमान करने पर जिनके मत में द्वैतवाद प्रकृत सिद्धान्त है, वे भी तो ऐसा ही कथन कर सकते हैं तथा सब ऋषियों को द्वैतवादी रूप से अनुमान कर सकते हैं तथा अर्थसङ्गति के निमित्त उनका यह कहना भी उचित हो सकता है कि, शंकराचार्य ने उसकाल के बौद्धभावापन्न मनुष्यों के नास्तिक्यकी निवृत्ति के उद्देश्य से ही उनके संस्कारानुसार बौद्धभाव से ही अद्वैत-ब्रह्मवाद का प्रचार किया था, किन्तु वस्तुतः आप भी थे—द्वैतवादी ही; जैसा कि आधुनिक किसी ग्रन्थकार का भी मत है। अतएव उस रीति से अपने अपने मत के अनुसार अनुमान कर उक्त विषय में कोई सिद्धान्त

निर्णय नहीं किया जा सकता । यथार्थ अनुमान करने के लिये प्रथम प्रकृत हेतु सिद्ध करना आवश्यक है । हेतु और हेत्वाभास के तत्त्वज्ञान विना किसी विषय का भी यथार्थ अनुमान नहीं हो सकता । फलतः, जब सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अपने अपने आचार्योंके मत को ही प्रकृत सिद्धान्तरूप विश्वास करते हैं, तथा कोई भी सम्प्रदाय अपने को निम्नाधिकारिरूप स्वीकार नहीं करता तब उपरोक्तरूप से समन्वय-व्याख्या व्यर्थ ही है ।*

धर्माचार्यों के समन्वय-प्रयत्न में पांच प्रकार पाये जाते हैं।

*शंकराचार्य ने भी उस रीति से समन्वय-व्याख्या नहीं किया । आपने सब ऋषियों को अपने ही समान अद्वैतवादी कहकर अपने मत का समर्थन नहीं किया है । परन्तु आपने वेदान्तदर्शन के प्रथमसूत्र के भाष्य में आत्मा के स्वरूपविषय में नाना मतभेद प्रकाशित करते हुए द्वैतवादी ऋषियोंके मत को भी प्रकाशित किया है; तथा पश्चात् भी उक्त विषय मे कपिल एवं कणाद प्रभृति आचार्यों के द्वैतमत का स्पष्ट प्रकाशित करते हुए, अद्वैतमत की प्रतिष्ठा के निमित्त उन सब आर्षमतो का भी प्रतिवाद किया है । भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने भी कणाद तथा गौतम के मत की व्याख्या करते समय, उनके अभीष्ट द्वैतमत का ही व्याख्या किया है । परन्तु आपने "न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका" ग्रन्थ मे गौतम के किसी किसी सूत्र के द्वारा अद्वैतमत का खण्डन भी किया है (न्यायदर्शन चतुर्थ अः १म आ १९ श, २०श और ४१ श सूत्र और तात्पर्यटीका द्रष्टव्य) । गौतम अद्वैतवादी नहीं, परन्तु अद्वैतमत के विरोधी थे, यह प्रतिपादन करना ही वहापर वाचस्पति मिश्र का उद्देश्य है । नहीं तो वहापर उनका उसरूप से गौतम की तात्पर्यव्याख्या का कोई प्रयोजन ही नही जाना जाता । वेदान्तदर्शन के चतुर्थ सूत्र के भाष्य की टीकामें वाचस्पतिमिश्र ने कहा है कि गौतमसम्मत तत्त्वज्ञान, आचार्य शंकर को अभिमत नहीं । अर्थात् तत्त्वज्ञान के स्वरूपविषय में आचार्य शंकर ने गौतम के मत को ग्रहण नहीं किया है । कारण, गौतम द्वैतवादी हैं । सुतरा, उनके मत में अद्वैतब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता ।

धर्माचार्यके समन्वय का पांच प्रयत्न। ऐतिहासिक दृष्टि से वे प्रयत्न निष्फल हैं। यौक्तिक दृष्टि से प्रथम प्रयत्न का निष्फलता प्रदर्शन।

(१) किसी ने ऐसा कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करने का यत्न किया है, जो अपर सब सिद्धान्तों को अन्तर्भूत कर सके और उनके अन्तिम एकता के मूल को निर्देश कर सके; (२) किसी ने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के शास्त्रों में ग्रथित धार्मिक एवं दार्शनिक मतों को तथा उन सम्प्रदायगत महात्माओं के वचनों का विश्लेषण तथा तुलना किया है, और उनके सादृश्य और मौलिक एकता के आविष्कार का प्रयत्न किया है; (३) किसीने ऐसा निरूपण करने का यत्न किया है कि, प्रत्येक सिद्धान्त अद्वैत तत्त्व के प्रति सन्मुखीन होने का एक विशेष प्रकार है और वह विशेष दृष्टिकोण से दृष्ट उस तत्त्व का एक विशेष स्वरूप है; (४) किसी ने ऐसा कहा है कि प्रत्येक सिद्धान्त अद्वैततत्त्व के मार्ग में एक विशेष स्तर हैं; (५) किसी ने कहा है कि अद्वैततत्त्व अनुभवगम्य है, उसी अनुभव का भिन्न २ प्रकार से अनुवाद होने से भिन्न २ सिद्धान्त होता है।

अब यदि ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त प्रयत्न के फल का विवेचन करें तो यह पाया जाता है कि, उनमें एक भी सफल नहीं है। प्रत्येक युग तथा देश में अनेक विरोधी मत थे और हैं, और उन विभिन्न मत को मानने वालों में न्यून या अधिक वैरभाव सदा ही रहा है। यौक्तिक दृष्टि से विवेचन करने पर भी ऐसे (समन्वय) प्रयत्न की सर्वथा सफल होने की सम्भावना नहीं दृष्टिगत होती।

(१) प्रथम प्रयत्न के सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि, प्रत्येक मतवाले यह सिद्ध करने का यथासाध्य यत्न करते हैं कि उनका अपना मतही ऐसा है जो सब मत का समन्वय कर सकता है। इन लोगों की धारणा यह है कि अपर सब मत यातो मिथ्या हैं अथवा उनके अपने मत के आंशिकस्वरूप हैं। यदि कोई नवीन दर्शन आविर्भूत हो और यह घोषणा करे कि यह पूर्वप्रचलित विरोधी समस्त मतों का समन्वय कर सकता है,

तो हम लोग यह पाते हैं कि उन सब प्राचीन मतों में से कोई भी मतवादी इस नवीन मत की श्रेष्ठता को नहीं स्वीकार करता । इसका फल यह होता है कि विरोधी मत की संख्या वृद्धि को ही प्राप्त होती है

(२) सब मतों के समन्वय-सम्पादन का द्वितीय प्रयास भी सफल नहीं हो सकता । धार्मिक तथा दार्शनिक शास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन से हम लोग यह पाते हैं कि, प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय अपर सम्प्रदाय के साथ कुछ विषयों में सहमत होता है और अन्य अनेक विषयों में विरुद्धमतवादी होता है । जिन विषयों में एक सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायवालों से विरुद्धमतवाला होता है तथा जिसके कारण अपर के साथ उसका संघर्ष होता है, वे सिद्धान्त उसकी अपनी दृष्टिकोण से उन सब विषयों (सिद्धान्तों) से कम महत्त्व का नहीं होता, जिनसे कि वह सहमत है । एक सम्प्रदाय अपर सम्प्रदाय के विशेष मतों के खण्डन के लिए जिन तर्कों को प्रदान करता है वे उसकी दृष्टि में उतने ही मुख्य होते हैं, जितने कि वे सब तर्क जो उसके अपने विशेष मतों की अनुकूलता में प्रदान किये जाते हैं । अतएव, सब विशेष सम्प्रदायों के साधारण एवं सार्वजनिक मतवादों से निर्मित साधारण सम्प्रदाय, उन सबको अन्तर्भूत करने में समर्थ नहीं होगा । फल यह होता है कि, विशेष सम्प्रदाय साधारण सम्प्रदाय के प्रति अपने व्यक्तित्व को समर्पण नहीं करता, किन्तु ऐसा होता है कि यह साधारण सम्प्रदाय स्वतः अपर एक विशेष सम्प्रदाय हो जाता है ।

(३) उक्त प्रयत्न का तृतीय प्रकार भी समानरूप से ही निष्फल है । प्रत्येक सिद्धान्तवादी घोषणा करता है कि वह अद्वैततत्त्व के यथार्थ स्वरूप की पूर्ण-धारणा को प्राप्त हुआ है । वह अपने सिद्धान्त को प्रमाण और युक्तितर्क के बल से सिद्ध करने को यत्न करता है । अपर कोई वादी जिस समय वह प्रदर्शन करने

को अग्रसर होगा कि, ये सभी प्राचीन मत उनके आंशिक दृष्टिकोण के अनुसार केवल इस तत्त्व के आंशिक स्वरूप हैं, उस समय अवश्य ही उसके साथ विरोध होगा और उनके साथ युक्ति से तर्क करना होगा, इस प्रकार यह भी प्रतिद्वन्दीमतों में से एक होगा ।

(४) समन्वय की चतुर्थ पद्धति भी उक्त कारण से अवश्य निष्फल होने वाली है । कारण, प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी अपनी रीति से, अद्वैततत्त्व और जीवन के अन्तिम गन्तव्यस्थल के विषय में उनकी अपनी २ धारणा को ही यथार्थ तत्त्व मानकर अपर सब धारणाओं को खण्डित करने का प्रयत्न करता है तथा अपने पक्ष का ही अन्त तक समर्थन करता रहता है । जो एक सम्प्रदाय द्वारा तत्त्व के मार्ग में विशेष स्तररूप से मान्य होता है, वही अपर सम्प्रदाय द्वारा स्वत तत्त्व की अनुभूतिरूप से प्रमाणित करने का यत्न किया जाता ह । अतएव फल वही होता है, विरोध और विवाद ।

(५) यदि समन्वय की पञ्चम पद्धति गृहीत हो, तो भी सफलता की आशा नहीं कर सकते । पञ्चम प्रकार यह प्रचार करता है कि अद्वैततत्त्व, आध्यात्मिक साक्षात्कार या अनुभूति का विषय है, तर्क का नहीं । यदि हम लोग ऐसे अनुभव की यथार्थता स्वीकार करें तो अभीष्ट सिद्धान्त में पहुंच नहीं सकते । इन मतावलम्बियों का कथन है कि जो आध्यात्मिक अनुभूति तत्त्वरूप से अभिहित होता है, उसका अन्तिम स्वरूप विषयरूप से आना नहीं जा सकता और न किसी को अपनी यौक्तिक बुद्धि से उसका परिचय प्रदान किया जा सकता है । दूसरों के प्रति बोध को उत्पन्न करने के योग्य प्रकार से उसके परिचय प्रदान करने का तो कहना ही क्या है । अब यदि आध्यात्मिक अनुभूति की अवस्था में जो अनुभूत होता है वह चिन्तन और वाक्य का विषय नहीं किया जा सकता, तो दार्शनिक विचार की दृष्टि से

समन्वय सम्भव न होने से परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तो मे एक मात्र सत्य होगा या सभी असत्य होगा। शेषोक्त पक्षका प्रदर्शन इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

वह कुछ भी नहीं के समान है। ऐसा होने पर उस अनिर्णीत और परिचयप्रदान के अयोग्य तत्त्व का उल्लेखकर और उसकी दृष्टि से कोई भी विचारमूलक सिद्धान्त अपर मतों के ऊपर लाद नहीं सकते। तथा इस बात का परीक्षण करना भी असम्भव हो जायगा कि, अन्य मतावलम्बी उक्त तत्त्व का अनुवाद यथार्थरूप से कर रहे हैं या अयथार्थरूप से अथवा पूर्णरूप से या आंशिकरूप से? अतएव, यह कथन निरर्थक होता है कि विभिन्न मत, एक ही तत्त्व के अनुवाद करने का केवल विभिन्न प्रकार है।

पूर्वोक्त दार्शनिक दृष्टि से समन्वयस्थल में, दार्शनिकों में जैसे स्वसंस्कारशक्ति परमतासहिष्णुता, स्वसम्प्रदायाग्रह आदि पाये जाते हैं वैसे ही धर्माचार्यों के समन्वय में भी उक्त दोष उपलब्ध होता है। उनमें विशेषता यह पाई जाती है कि वे लोग तत्त्वानुभूति का विश्लेषण न कर, उसे सीधे ही मान लेते है। तथाकथित तत्त्वानुभूतिवान पुरुषों में तत्त्वविषयक सिद्धान्त-विरोध का हेतु क्या है? इस महान् समस्या को सम्मुख रखकर उसका उत्तमरूप से समाधान करने का यत्न उन लोगों ने नहीं किया है। हमलोग (लेखक) इस ग्रन्थ में उक्त बुद्धिदोष के यथासम्भव त्याग पूर्वक न्यायानुगत युक्तिप्रणाली के प्रयोग द्वारा विचार प्रगट करेंगे तथा अनुभवावस्था का विशेषरूप से विवेचन कर उक्त समस्या का समाधान प्रदान करेंगे। यह प्रणिधानयोग्य विषय है कि तत्त्वविषयक मतविरोधस्थल में सभी मत, तत्त्व के परिचायक अथवा एकाधिक मत तत्त्वपरिचायक नहीं हो सकता, यातो एक मत परिचायक होगा, अपर सब अपरिचायक होंगे अथवा सभी अपरिचायक होंगे। शेषोक्त पक्ष प्रदर्शित करने का यत्न इस ग्रन्थ में पाया जायगा। इससे यह तात्पर्य प्राप्त होगा कि सभी विचारकों ने अपनी अपनी शिक्षा, प्रकृति या रुचि के अनुसार जगत् का भिन्न भिन्न रूप से पाठ किया है; और भिन्न भिन्न विचारपद्धति का प्रदर्शन करते हुए मूलतत्त्वविषयक सिद्धान्त में पहुंचने का प्रयत्न किया है; परन्तु,

ग्रन्थकारका निर्णय साम्प्रदायिक कलह को निवृत्त करने में समर्थ है ।
इस अन्तिम सिद्धान्त का फलवर्णन ।

किसी का सिद्धान्त तत्त्व का परिचायक है तथा अपर अपरिचायक है ऐसा नहीं कहा जा सकता, किम्वा कोई तत्त्व के प्रति अधिक-तर अग्रसर हुआ तथा अपर नहीं हो सका, ऐसा भी निर्णय नहीं हो सकता। यहां तत्त्व का स्वरूप पूर्वसिद्ध न होने से तथा विचार द्वारा विभिन्न तत्त्व सिद्धान्तित होने से तथा सब सिद्धान्त सदोष प्रतिपन्न होने से, किसी का सिद्धान्त अन्तिम तत्त्व को पहुंचा और अपर नहीं, किम्वा न्यूनाधिक तत्त्व-परिचायक हुआ, ऐसा मान्य नहीं हो सकता। सुतरां तुलनामूलक अन्यतर की श्रेष्ठता के विदित होने का उपाय न रहने से, इस स्थल में कलह का कारण नहीं रहता। मानवबुद्धि जितनी कल्पना कर सकती है, उसे यथासाध्य उत्थापन कर उसकी असमीचीनता प्रदर्शित होनेपर, इस अन्तिम सिद्धान्त में बुद्धि की स्थिति और तज्जनित स्वस्थता उत्पन्न होगी कि, बुद्धि अपनी स्वाभाविक ससीम अल्प स्वरूप को विज्ञापित कर जगद्रहस्य को रहस्यरूप से निश्चय करेगी। अनुभव के विवेचन करने से यह प्रतिपादित होगा कि कुछ अनुभवीपुरुष तत्त्व के साक्षात् परिचय को प्राप्त हुए तथा अपर नहीं हो सके ऐसा नहीं; किम्वा यह भी नहीं कि, तत्त्व के अनुभव में विभिन्न ऊच्चनीच स्तर हैं; अथवा यह भी नहीं कि, भिन्न भिन्न तत्त्ववेत्ताओं ने एक ही तत्त्व को भिन्नभिन्नरूप से या आंशिकस्वरूप से अनुभव किया और किसी ने भी सम्पूर्ण तत्त्व का अनुभव नहीं किया; परन्तु वस्तुतः तथ्य यह होता है कि, जो साधक जैसी भावना करता है वह उसी के अनुसार अनुभव करता है, इसके साथ तत्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह अनुभव, भावनाभ्यास का फल है तथा शुद्ध व्यक्तिगत है। ऐसी वस्तुस्थिति होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि, क्यों भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अनुभवीपुरुषों में तत्त्वविषयक मतभेद होता है। सुतरां हमारे आचार्य तत्त्वदर्शी, अपर अतत्त्वदर्शी या न्यूनदर्शी ऐसा मानकर जो धार्मिक सम्प्रदायों में कलह होता है, उसका कारण नहीं रहा जाता।

इस ग्रन्थ की विचारपद्धति ।

अब पक्षपातरहित स्वतन्त्र विचार द्वारा प्रत्येक सिद्धान्त की समालोचना करने में प्रवृत्त होता हूं। यहां पर किसी एक सिद्धान्तविशेष की सत्यता की घोषणा करते हुए उसके साथ तुलनामूलक विचार द्वारा परपक्ष की असमीचीनता का प्रदर्शन नहीं किया जायगा (विचार के पूर्व केवल श्रवणमात्र से कोई भी सिद्धान्त सत्यरूप से निर्द्धारित नहीं हो सकता), परन्तु निष्पक्ष विचार के द्वारा यह प्रदर्शित करने का यत्न करेंगे कि प्रत्येक वादीसम्मत सिद्धान्त उसी के नियमों के अनुसार सिद्ध नहीं हो सकता। यथा कोई एक व्यक्ति पूर्व में एक वचन कहकर पश्चात् स्वयं उसके विरुद्ध कोई वचन कहता है, यहां पर उस व्यक्ति की असत्यवादिता को प्रमाणित करने के लिये उन वचनों का परस्पर विरोध प्रदर्शित होना आवश्यक है नकि प्रदर्शनकारीका सत्यवादित्व बतलाकर। परीक्षा द्वारा जिस निर्णय में पहुंचेंगे उसके अनुसार कर्त्तव्य विषयक विचार उपसंहार में प्रथित करेंगे।

क्रोड़पत्र

किसी महानुभाव (रामकृष्ण परमहंसदेव) की समन्वय-व्याख्या इसप्रकार है कि, अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व एक ही है; वही निराकार होते हुए भी साकार है तथा निर्गुण होते हुए भी समस्त गुणों का आगार है। विभिन्न सम्प्रदायों में पृथक २ रूप से उसी एक देव की ही उपासना होती है तथा समस्त दर्शनों के द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्व भी वही एक है। संसार के समस्त सम्प्रदाय और शास्त्र अपनी २ रुचि तथा भाव के अनुसार उस एक परम तत्त्व का ही वर्णन करते हैं। किन्तु उस अद्वितीय तत्त्व की स्वरूप-धारणा के विषय में जो मतभेद पाया जाता है, उसके निम्नलिखित चार हेतु हैं। क्योंकि (१) उस एक ही तत्त्व का वर्णन, नाना शास्त्रों में अनेक रूप से हुआ है। (२) वही एक, अनेक महात्माओं के द्वारा नानारूप से अनुभूत होता है। (३) कभी विभिन्नरूप से वह स्वयं अभिव्यक्त होता है। (४) विभिन्न रुचिवाले लोग अपनी २ दृष्टिकोण से उस एक ही तत्त्व को नाना रूप से समझते तथा ध्यान करते हैं। उक्त महापुरुष, अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए निम्न दृष्टान्तों का उपयोग करते थे। (१) प्रथम हेतु का दृष्टान्त जल है। अर्थात् जिस प्रकार एक ही जलतत्त्व को, विभिन्न देशीय लोग विभिन्न नाम से कथन करते हैं (यथा, पानी, आब, जल, water, aqua आदि); इसीप्रकार एक ब्रह्मतत्त्व, ईश्वर, अल्लाह, God आदि नामों से पुकारा जाता है। (२) द्वितीय हेतु का स्पष्टीकरण करते हुए आप, अन्धे और हाथी का दृष्टान्त दिया करते थे। यथाः- किसी समय चार अन्धों ने एक ही हाथी को चार विभिन्न स्थलों में स्पर्श करके, हाथी के स्वरूप के विषय में अपनी भिन्न धारणा बनाली थी। जिसने पैर का स्पर्श किया था, उसने हाथी को

स्तम्भरूप से समझा; जिसने पेट पर हाथ रक्खा था, उसने हाथी को दीवार के समान पाया तथा जिसके हाथ में सूंड आया वह हाथी को अजगररूप मान बैठा और जिसने पूंछ पकड़ी थी उसने रस्सीरूप से समझा । वहां पर हाथी एक ही था चार नहीं, किन्तु हाथी के भिन्न २ अवयवों के स्पर्श से उन चारों की धारणाओं में अन्तर हुआ यद्यपि वे चारोंरूप उक्त हाथी के ही हैं । (अथच एक ही हाथी वस्तुतः विभिन्नरूप धारण नहीं करता) । इसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप विषयक धारणा भी है । विभिन्न अन्धेरूपी अज्ञानी जीवों ने, एकही हाथीरूपी ब्रह्म के विभिन्न धर्मों का अनुभव किया, फलतः विभिन्न धारणा को प्राप्त हुए । (३) तृतीय हेतु में गिरगिट का दृष्टान्त है । यथा एक ही गिरगिट (एक प्रकार का जन्तुविशेष, जो एक ही दिन में अपने रूप को रक्त, हरित, पीत आदि अनेक वर्णों में परिवर्त्तित करता रहता है) भिन्न २ समय में भिन्नरूप से दिखाई पड़ता है, किन्तु वह अपने स्वरूप से वैसा ही बना रहता है । प्राय दर्शक भूल से केवल उसके प्रातीतिक स्वरूप (रक्त, हरित वा पीत) का दर्शनकर, उसके मूल स्वरूप को भी वैसा ही समझ लेते हैं ।। इसीप्रकार ब्रह्मस्वरूप विषयक धारणा भी है । विभिन्न काल और देश में दर्शन करने वाले लोग, उसके विभिन्न प्रातिभासिक स्वरूप का दर्शन कर (क्योंकि वह सर्वरूप है), उसके पूर्णस्वरूप को भी तत्वत उसी प्रकार का मान लेते हैं । (४) चतुर्थ हेतु के लिए उक्त महानुभाव, स्त्री का दृष्टान्त देते थे । यथा एक ही स्त्री, पुत्र की दृष्टि में मातास्वरूप, भाई की दृष्टि में भगिनी स्वरूप, पिता के लिए पुत्री स्वरूप तथा पति को पत्नी रूप से दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म ही, आत्मा, ईश्वर, रक्षक, पालक, संहारक आदि, भक्तों तथा उपासकों के दृष्टि भेद से, विभिन्नरूप से परिचित होता है । इनमें से किसी एक के दृष्टिकोणानुसार ब्रह्म के प्रकृत मूलस्वरूप तथा स्वभाव कानवधारण करना भूल है ।

अब उपर्युक्त समन्वयवाद की भी समालोचना कर लेनी चाहिए । सर्व प्रथम निर्गुण और साथ ही सगुण इसके अर्थ का

विवेचन करना उचित है । इससे क्या यह तात्पर्य है कि, गुण ब्रह्मतत्त्व के अन्तर्भूत भी है अथ च बहिर्भूत भी है? यदि सर्वथा बहिर्भूत हो, तो ब्रह्म अद्वैत नहीं होगा । ब्रह्म में गुण के अन्तर्भाव की सम्भावना तीन प्रकार से हो सकती है, यातो वह ब्रह्म की शक्ति होगी अथवा विशेषण होगा वा उसमें अध्यस्त होगा । यदि वह (गुण) शक्ति है, तो ब्रह्म को किसी भी अवस्था (अभिव्यक्त वा अनभिव्यक्त) में निर्गुण नहीं कह सकते । यदि वह गुण ब्रह्म से भिन्न होगा तथा विशेषणरूप से उसके साथ संयुक्त होगा, तो भी वह निर्गुण नहीं हो सकता, तथा अध्यस्त होने पर भी, सत्यरूप निर्गुण के साथ असत्यरूप अध्यस्तगुण का अभेद नहीं हो सकता । इसी प्रकार ब्रह्म, यातो परिणामी होगा अथवा परिणाम रहित । सगुण होकर भी यदि वह परिणाम रहित हो, तो उसको निर्गुण कभी नहीं कह सकते । यदि निर्गुण होकर परिणाम रहित हो, तो सगुणत्व उसका स्वरूपभूत नहीं हो सकताः और ब्रह्म, यदि परिणामी हो, तो निर्गुण कहना निरर्थक है । अतएव, ब्रह्म को निर्गुण और सगुण मानकर समन्वय की व्यवस्था का प्रयत्न, निष्फल है, तथा परस्पर विरोधी दो धर्मों का एकत्र समावेश भी अर्थशून्य और उपपत्तिरहित है । उल्लिखित दृष्टान्त के द्वारा वस्तुसिद्धि का प्रयत्न भी व्यर्थ है, क्योंकि युक्तिरहित दृष्टान्त मात्र से वस्तुसिद्धि नहीं होती । दृष्टान्त के द्वारा केवल असम्भावना की निवृत्ति होती है, स्वरूप की सिद्धि तो युक्तियुक्त तर्क के द्वारा ही होगी । अस्तु, अब उपरोक्त दृष्टान्त भी समालोचनीय हैं कि इनको, ब्रह्म के प्रकृत स्वरूप निर्द्धारण के लिए प्रयोग करना कहां तक उचित है ।

(१) इस विषय में जलका दृष्टान्त देना विषम है । क्योंकि, यहां पर वस्तुरूप जल एक ही है जो सबको प्रत्यक्ष है, अतएव जल-सम्बन्धी धारणा भी सबकी समान है । एक ही जल-धारणा को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न शब्दों के द्वारा सूचित करते हैं । किन्तु, ब्रह्म (मूलतत्त्व) के विषय में यह दृष्टान्त नहीं घटता ।

ब्रह्म किसी को प्रत्यक्ष नहीं है, अतएव तत्सम्बन्धी धारणाएं भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं । विभिन्न सम्प्रदायों में मूलतत्त्व-विषयक जो मतभेद हैं वह जल के समान एक वस्तुविषयक विभिन्न कथन नहीं हैं, किन्तु उनकी धारणा में मूलतः भेद हैं ।

(२) अन्धे और हाथी का दृष्टान्त भी समीचीन नहीं है । क्योंकि, वह दृष्टान्त इस कल्पना के आधार पर है कि, हाथी के समान मूल तत्त्व भी विभिन्न धर्मोंवाला होगा । दृष्टान्त में हाथी एक सावयव पदार्थ है, जिसके अनुभवकर्ता भी अन्धे हैं तथा पृथक् पृथक् स्थान में स्थित होकर अपनी अपनी पृथक् धारणा बना लेते हैं । अनुभव के समय एक दूसरे से विचार-विनिमय करके हाथी के स्वरूप का निर्णय नहीं करते, अतएव धारणा में भिन्नता होती है । किन्तु प्रकृत स्थल में, मूलतत्त्व को निरवयव तथा निर्गुण मानने वालों के लिए उक्त दृष्टान्त ही निरर्थक है । सावयव तथा सगुण तत्त्व को स्वीकार करने वाले भी इस दृष्टान्त से कुछ लाभ नहीं उठा सकते । कारण, प्रत्येक मतवादी अपर के सयुक्तिक पक्ष का भली प्रकार विवेचन कर, पश्चात् उसके मत की असमीचीनता को प्रमाणित करते हुए अपने पक्ष का स्थापन करता है । दृष्टान्त में एक अन्धे के स्पर्श ज्ञान से अपर अन्धा अपरिचित है, किन्तु दार्ष्टान्त में सभी सम्प्रदायवादी एक दूसरे के दृष्टिकोण से परिचित हैं । अतएव इस दृष्टान्त के द्वारा समन्वय का प्रतिपादन नहीं हो सकता । केवल यही नहीं, किन्तु इस प्रकार के तत्त्व की धारणा, विचारवानों के लिये सन्तोषप्रदायक नहीं हो सकते, यह आगे प्रतिपादन करेंगे ।

(३) गिरगिट का तृतीय दृष्टान्त भी असंगत है । यह इस धारणा के आधार पर है कि, मूल तत्त्व या ब्रह्म वस्तुतः विभिन्न रूप धारण करता है तथा विभिन्न तत्त्वान्वेषकों के प्रति विभिन्न रूप से अपने को प्रकट करता है । प्रथम यह प्रमाणित किये

बिना कि, मूलतत्त्व विभिन्न विशेष रूप भी धारण कर सकता है, दृष्टान्त देना निष्फल है । केवल धारणा से ही यह प्रमाणित नहीं होसकता कि, मूल तत्त्व भी गिरगिट के समान अपने स्वरूप को परिवर्तित करता रहता है, इसके निमित्त यथार्थ युक्तियों का होना आवश्यक है । इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह भी ज्ञात होता है कि, यातो तत्त्व का कोई निर्दिष्ट मौलिक या वास्तव स्वरूप नहीं है अथवा इसका मूल वास्तविक स्वरूप, अज्ञात या अज्ञेय वा अनिश्चित है । फिर भी (अनिश्चित होने पर भी) उसके स्वरूप धारण करने के सामर्थ्य को निश्चित रूप से कथन किया जा रहा है । यह सिद्धान्त न तो किसी यौक्तिक परीक्षा को सहन कर सकता है; अथवा न उन वादियों को सम्मत हो सकता है, जो मूल तत्त्व के वास्तव स्वरूप को दार्शनिकरीति से सिद्ध करने में यत्नपरायण हैं ।

(४) स्त्री का चतुर्थ दृष्टान्त भी इस विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकता । एक ही स्त्री विभिन्न व्यक्तियों के दृष्टि भेद से विभिन्न रूप से परिचित होती है यहां तक तो यथार्थ है । किन्तु, अब यह प्रश्न होती है कि, क्या उस स्त्री का अपना वास्तव स्वरूप भी है ? यदि है तो क्या उसका निर्णय भी हो सकता है ? अथवा वह केवल विभिन्न व्यक्तियों के दृष्टि-कोण से ही निर्मित है ? बाध्य होकर प्रथम पक्ष को अङ्गीकार करना होगा, क्योंकि द्वितीय पक्ष अनुभवविरुद्ध है । फलतः स्त्री के दो स्वरूप सिद्ध हुए, प्रथम अपना वास्तव मूल स्वरूप तथा द्वितीय, विभिन्न सम्बन्धियों का आरोपित स्वरूप । विभिन्न दार्शनिकों का प्रयत्न, उक्त प्रथम मूलस्वरूप की सिद्धि के लिये ही होता है, आरोपित स्वरूप के लिए नहीं । इस दृष्टान्त के द्वारा तो (प्रमाण के बिनाही) ब्रह्म का अस्तित्व मान लिया गया तथा उसका एकत्व भी स्वीकार कर लिया गया, तथापि उसका मूलस्वरूप और स्वभाव का निर्णय नहीं हो सका । इसके द्वारा वस्तुसिद्धि तो हुई नहीं, किन्तु प्रमाणपूर्वक अन्वेषण

में प्रवृत्त होनेवाले दार्शनिकों का तिरस्कार अवश्य हो गया कि, वे मूर्खतापूर्वक केवल उसके आपेक्षिक गुण तथा आंशिक धर्म को प्राप्त होकर संतुष्ट हो गए हैं । इस प्रकार के युक्ति तथा प्रमाणरहित दृष्टान्तों के द्वारा, सर्वधर्म-समन्वय की आशा किस प्रकार हो सकती है, यह हमारे समझ के बाहर है ।*

*उक्त तथाकथित समन्वयवाद, जैनसिद्धान्त के साथ समन्वित नहीं हो सकता क्योंकि जैनलोग द्वैतवादी हैं, वे जगत् का जीव और अजीव पदार्थ रूप से विभाग मानते हैं । उनके मत के अनुसार जगत् ईश्वररचित नहीं है, कर्मनियम के अतिरिक्त अपर कोई जगन्नियामक नहीं है । वे लोग शक्तियुक्त या गुणयुक्त वा अधिष्ठानरूप किसी अद्वैतचेतनतत्त्व को स्वीकार नहीं करते । इसी प्रकार उक्त समन्वयवाद, मीमासक के मत से भी समन्वित नहीं हो सकता । क्योंकि वे भी जैनियो के समान जगत् को अनादि मानकर केवल अदृष्ट से ही कार्यनियम की सिद्धि मानते हैं तथा अद्वैतचेतन को अस्वीकार करते हैं । उक्त वाद बौद्ध से भी समन्वित नहीं हो सकता । बौद्धमत में मानसिक तथा भौतिक पदार्थ क्षणिक है; पदार्थमात्र का क्षणिकत्व के अनुसार पदार्थ को ईश्वरेच्छाप्रयुक्त नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा कोई स्थिर अह नहीं है जो क्रिया करेगा, नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता । अतएव इस मत के अनुसार ईश्वर या ब्रह्म माननीय नहीं हो सकता । उक्तवाद शून्यवादी (चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तवाद अर्थात् सत्-असत्-सदसत्-अनिर्वचनीय, इन चारों से विलक्षण) बौद्धमत से समन्वित नहीं हो सकता । क्योंकि उनके मत में पदार्थ की उत्पत्ति स्वतः या परतः नहीं हो सकती । सुतरां वे जगदनुस्यूत वा जगदतीत ब्रह्म को नहीं मानते । इनके मत में ज्ञान और ज्ञेय दोनो के मिथ्या होनेसे, अध्यस्तजगत का अधिष्ठानरूप किसी चेतन को अङ्गीकार करने की आवश्यकता नहीं होती । उक्त समन्वयवाद सांख्य के साथ भी समन्वित नहीं हो सकता । सांख्य मत में प्रकृति (जगत् का मूलकारण शक्ति) की क्रिया स्वाभाविक है, किन्तु बुद्धिपूर्वक नहीं, प्रकृति स्वतः परिणामिनी है । वह रचना करती है किन्तु इच्छापूर्वक नहीं, क्योंकि उसका स्वभाव ही विकारशील है, अतएव वह विकृत होती रहती है । यह परिणाम-क्रिया (रज.) उसमें, स्वाभाविक है, अतएव उसको क्रिया में प्रवृत्त करने के लिए, उसके अतिरिक्त अपर क्रियाकारी

समन्वयवाद पातञ्जल–न्याय–वैशेषिक–वैष्णव–शैव–तान्त्रिक–अभारतीय उपासक सम्प्रदाय तथा शंकर के मतों से समञ्जस नहीं है।

यहांपर यह प्रणिधानयोग्य है कि, केवल दृष्टान्त के द्वारा किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकती। जिसको तत्त्व, सांख्यमत में मान्य नहीं होता। प्रकृति स्वाभाविक ही नियमितरूप से परिणत होती रहती है। प्रकृति की परिणामरूप किया किसी बाधकर्ता के प्रभाव से नहीं हाती, क्योंकि पुरुष (आत्मा) किया का साक्षी होनेसे निष्क्रिय है तथा अहं (प्रकृति का कार्य बुद्धि और बुद्धि का कार्य अह) परभावी है। बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ को ही पुरुष जान सकता है। बुद्धिसंयोग के पूर्व वह अज्ञ होता है तथा उसको कोई पदार्थ ज्ञात नहीं होता। अविज्ञात पदार्थ को कोई उत्पन्न वा प्रेरणा नहीं कर सकता, अतएव पुरुष अकर्ता है तथा प्रकृति का आदि परिणाम भी, प्रकृतिपुरुष सयोगजनित ज्ञानेच्छादि के द्वारा नही होता, किन्तु स्वाभाविक ही होता है। साख्यवादी पुरुष को अद्वितीय नहीं मानते। उनके मत मे पुरुष प्रकृति का अधिष्ठान नही किम्बा प्रकृति भी पुरुष की शक्ति वा गुणरूप नही है। अतएव सगुण वा निर्गुण ब्रह्म साख्यसम्मत नही हो सकता। पातञ्जलमत (योग) के साथ भी उक्तवाद का समन्वय नही हो सकता। क्योंकि उक्तमत मे सगुण वा निर्गुण ब्रह्म (अद्वितीय तत्त्व) मान्य नही है। न्याय वैशेषिक के साथ भी उक्तवाद का समन्वय होना दुर्लभ है। क्योंकि, उनके मत में ऐसा कोई अद्वितीय निर्गुणचेतन नही है तथा जगत् का उपादान कारण (परमाणु) निमित्तकारण (ईश्वर) से अभिन्न नहीं है। उक्त समन्वयवाद को, पाशुपतशैव तथा माध्वर्वैष्णवों के साथ भी समन्वित नहीं कर सकते, क्योंकि वे भी मूलनिमित्तकारण (ईश्वर) और उपादानकारण (ईश्वरनियमित प्रकृति) का भेद स्वीकार करते हैं। उक्तवाद, रामानुज, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ, श्रीकण्ठ–नीलकण्ठ–श्रीकर–वीरशैव–प्रत्यभिज्ञाशैव, तान्त्रिक तथा भारतीय अपर उपासक सम्प्रदायों को सम्मत नहीं हो सकता; और न तो पारसी, यहूदी, इसाई, मुसलमान आदि अभारतीय आस्तिक वादी के सम्प्रदाय उसे स्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि इनके मत में ईश्वर एक स्वात्मचेतनावान पुरुष है, न कि, निर्विशेष चेतन (निर्गुण ब्रह्म)। उक्त वाद का समन्वय शङ्कर मत के साथ भी नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मत मे सगुणत्व अवास्तव हैं। सुतरां सत्य और मिथ्या की यथार्थ एकता नहीं हो सकती। अतएव, यह निश्चय करना कठिन है कि, उक्त महापुरुष का तथाकथित समन्वयवाद, किस प्रकार उपरोक्त मतों का समन्वय कर सकता है। फलतः पूर्वीय अनेक प्रचलित विरोधी मतों में उक्त समन्वयवाद भी एक विशेष मत बन जाता है।

दृष्टान्त प्रत्यक्षगोचर होता, परन्तु साध्यतत्त्व प्रत्यक्षका अगोचर है, सुतरा यहां दृष्टान्त प्रयुक्त नहीं हो सकता । गल्प की सहायता से तत्त्वोपदेश का कुफल ।

प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना चाहिए, उसे दृष्टान्त के द्वारा प्रथम ही मान लिया जाता है ।* यह अवश्य है कि, दृष्टान्त में उस वस्तु का उल्लेख होता है जिसको हम प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जान सकते हैं: किन्तु उसके द्वारा जो अन्तिम साध्य होता है वह कोई ऐसा अज्ञातविषयक होता है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता । उसका (साध्यका) अस्तित्व-यदि सम्भव हो-तो अनुमान अथवा अन्य किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना होगा । दृष्टान्त का प्रयोग करना उस समय उचित है जब कि प्रथम, प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के द्वारा वह सिद्धान्त सिद्ध हो चुका हो । पश्चात् उक्त सिद्धान्त में असम्भावना की निवृत्ति तथा 'स्थूणानिखनन' न्याय से उसकी पुष्टि के निमित्त दृष्टान्त प्रदान करना उपयोगी होता है । प्रमाण के द्वारा साध्य अन्तिम ज्ञेय पदार्थ, अवश्य ही अप्रत्यक्ष होगा, किन्तु वह किसी ऐसे अखण्डनीय हेतु पर प्रतिष्ठित होगा जो (हेतु) हमारे साक्षात् अनुभवराज्य के भीतर है तथा जिसके बल पर साध्य विषय का अस्तित्व और स्वरूप, सयुक्तिक प्रमाणित किया जा सकता है । परन्तु, उल्लिखित दृष्टान्त

*इसी प्रकार गल्प (कहानी) की सहायता से तत्त्व-उपदेश की प्रथा भी पाई जाती है । इसमे भी जिसका निश्चय बिचार द्वारा होना चाहिए, उसको प्रथम ही श्रद्धा के बल से मान लिया जाता है । उसकी (साध्यतत्त्व की) सत्यासत्यता के विषय मे परीक्षा नहीं की जाती । इन गल्पों के द्वारा जिज्ञासुओं को स्वतन्त्ररूप से तत्त्वानुसन्धान की शिक्षा न देकर, उनको अपने अपने सम्प्रदाय मे परम्परा से माने हुए सिद्धान्तों में दृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता है । गल्प के आधार पर मनमानी कल्पना करली जाती है । उसका माधुर्य विचारशक्ति को कुण्ठित करता है, इससे धारणा का प्रयत्न शिथिल होता है । शक्ति के परिचालन से शक्ति बढती है । पुनः पुनः प्रयत्न करते रहने से सञ्चित संस्कार शक्तिरूप होकर प्रयत्न को कुशलता पूर्वक सिद्ध करती है । अतएव गल्प में बुद्धि को तीक्ष्ण होने का अवकाश नहीं मिलता । वह रुचिवर्द्धक होने पर भी बोधवर्द्धक नहीं, प्रत्युत बुद्धिजडतावर्द्धक है ।

में किसी हेतु का प्रदान नहीं है। दृष्टान्त स्वय हेतु नहीं होता, वह कभी किसो पदार्थ को साक्षात् सिद्ध नहीं कर सकता। पदार्थ की सिद्धि यथार्थ हेतु से ही होती है। पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त ये चार, वस्तुसिद्धि के पृथक् २ अवयव होते हैं। दृष्टान्तगत कार्यकारणभाव साधारणतः स्वीकृत होता है, किन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं हो सकता कि इसका प्रयोग मूलतत्व के विषय में भी हो सकता है। क्योंकि उन दोनों में न तो कोई सम्पर्क है, अथवा न कोई प्रमाण है जिससे सिद्ध कर सकें कि, दोनों स्थलों में सदृश कार्यकारणसम्बन्ध है। यह भी नहीं कह सकते कि, यथार्थरूप से प्रत्यक्षपूर्वक अनुभूत दृष्टान्त में अनुगत जो धर्म है, वह अनुभवातीत साध्य वस्तु के धर्म के सदृश होगा। यथा किसी ने दृष्टान्त दिया कि, जैसे बीज बृहत् वृक्षरूप से परिणत होता है, उसी प्रकार मूलतत्त्व भी जगदाकार से परिणाम को प्राप्त होता है। इस प्रकार के बीज-परिणाम के दृष्टान्त को जगत् के मूलकारण में प्रयोग नहीं कर सकते। यदि मूल कारण भी बीज के समान परिणत होता हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वह भी स्वयं नष्ट होकर कार्यरूप से परिवर्त्तित होता है तथा भौतिकरूपवाला है जो कार्य परम्परा में परिवर्त्तनशील है। परन्तु ऐसा मत दृष्टान्त देने वाले को स्वीकृत नहीं हो सकता। और भी, उक्त दृष्टान्त के अनुसार यह सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि, मूल तत्त्व के अस्तित्व का अब लोप हो चुका है; क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि, बीज के वृक्षरूप से परिणत होने पर बीज का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु यह भी दृष्टान्तदाता को सम्मत नहीं है। यदि उक्त दृष्टान्त से केवल यह अभिप्राय हो कि जगत् का उपादान कारण सूक्ष्म है, तो भी यह निर्णीत नहीं हो सकता कि, दृष्टान्त प्रदानकारी व्यक्ति के द्वारा कल्पित तत्त्व से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे वह निर्णय भी नहीं होता कि उक्त सूक्ष्मतम पदार्थ क्या परमाणु है (क्षुद्रतम परिमाण वाला या परिमाण रहित, एक जातीय या अनेक जातीय) अथवा शक्ति (रूपादि रहित अव्यक्त)

विरोधी दृष्टान्त सम्भव होनेसे दृष्टान्त से सिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती।

या ब्रह्म (यथार्थ उपादान या अधिष्ठान) या अपर कोई पदार्थविशेष है? यह स्पष्ट है कि ये सब सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। और भी, दृष्टान्त के बल से किसी पदार्थ की कल्पना अवश्य हो सकती है, किन्तु जबतक उसके अनुकूल सिद्धिप्रद प्रमाण नहीं प्रदान किया जाता, तबतक उसका निर्णय कभी नहीं हो सकता। अतएव दृष्टान्त, असम्भावना बुद्धि को निवृत्त करने में उपयोगी हो सकती है, किन्तु इससे किसी सिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती। निर्दिष्ट प्रमाण के बिना केवल दृष्टान्त के बल पर किसी सिद्धान्त को सयुक्तिक सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि विपरीत सिद्धान्त में लेजाने वाला विरोधी दृष्टान्त भी सम्भव है। हेतुप्रदर्शन के बिना केवल दृष्टान्त से कुछ भी सिद्ध या निषिद्ध नहीं कर सकते, और न विरोधी दृष्टान्त का ही बाध हो सकता है। और भी, उपमा या दृष्टान्त के द्वारा जो कथन किया जाता है उसके अस्तित्व का, बाद में अनुभव हो भी सकता है अथवा नहीं भी हो सकता (यद्यपि उसका अस्तित्व है) या उसके अस्तित्व का सर्वथा अभाव भी हो सकता है। अतएव केवल उपमा या दृष्टान्त के द्वारा कुछ सिद्ध नहीं हो सकता।

प्राच्यदर्शनसमीक्षा

प्रथम अध्याय

शास्त्र-प्रमाण

वेदशास्त्र को (मन्त्र और ब्राह्मण नामक शब्दराशि को) प्रमाणभूत मानते हुए वैदिक सम्प्रदायवाले कहीं उसे (१) स्वतः प्रमाण, कहीं (२) अलौकिक पदार्थ का बोधक, कहीं (३) त्रिकाला-बाध्य तत्त्व का ज्ञापक, कहीं (४) निराकार ईश्वररचित तथा कहीं (५) ईश्वर के शरीर द्वारा कृत कहते हैं। अब ये सभी पक्ष समालोचनीय हैं।

(१) शास्त्र को स्वतःप्रमाण नहीं मान सकते। विभिन्न शास्त्र परस्पर विरोधी हैं, एक ही शास्त्र विभिन्नरूप से व्याख्यात होता है और प्रत्येक शास्त्र में अपर शास्त्रों का विश्वास स्थापन करने का यत्न किया जाता है, सुतरां शास्त्र को स्वतःप्रमाण नहीं मान सकते। शास्त्र प्रमाणभूत है, यह सिद्ध करना पड़ेगा इस स्थल में उसको स्वतःप्रमाण कहकर उत्तर देना उचित नहीं। क्योंकि साध्य को साधनरूप से नहीं कथन कर सकते। यदि यह प्रमाणित करना हो कि, नानाप्रकार के विरुद्ध दार्शनिक और धर्मसम्बन्धी शास्त्रों में केवल एक ही शास्त्र प्रमाणभूत है, यदि यह सिद्ध करना हो कि उक्त शास्त्र अन्धपरम्पराप्राप्त साम्प्रदायिक शास्त्र नहीं, यदि प्रदर्शन करना हो कि उक्त शास्त्र विचारविरुद्ध तत्त्व को नहीं प्रतिपादन करता, तो एकमात्र युक्तितर्क के ऊपर निर्भर होना पड़ेगा।

(२) यह अनुमान कि "शास्त्र प्रमाणभूत है क्योंकि, उसमें अलौकिक तत्त्व का समाचार पाया जाता है" संगत नहीं। जबतक ये अलौकिक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते या अन्यप्रकार से सयुक्तिक प्रमाणित नहीं होते, तबतक उनकी सत्यता स्थापित नहीं हो

अलौकिक पदार्थ के ज्ञापक होनेसे शास्त्र प्रमाण है यह पक्ष निर्णययोग्य नहीं।
त्रिकालाबाध्य तत्व के ज्ञापकरूप से शास्त्रका प्रामाण्य मानना संगत नहीं।

सकती। उन शास्त्रों में ग्रथित वे सब कथन कल्पनामूलक हो सकते हैं। ये सब शास्त्रीय कथन, कल्पना और चामत्कारिक सिद्धान्तों के फल से अतिरिक्त और भी कुछ हैं, यह समीचीन युक्तितर्क से प्रथम प्रमाणित कर लेना आवश्यक है। अतएव यौक्तिक प्रमाण बिना ही शास्त्ररूप से स्वीकृत मानी हुई पोथी के कथन को स्वीकार करना समुचित नहीं।

(३) यह तर्क किया जाता है कि शास्त्र हम लोगों में नित्य जगदतीत तत्त्व के ज्ञान को उत्पादन करता है, जो तत्व त्रिकालाबाध्य है। परन्तु, यह कोई युक्तिसंगत तर्करूप से मान्य नहीं हो सकता। शास्त्रकी यथार्थता स्थापित होने के पूर्व तथा उसमें कथित विषय अथवा विषयों की सत्यता यौक्तिकरीति से प्रमाणित होने के पूर्व, यह तर्क प्रदान नहीं किया जा सकता। और भी, प्रश्न हो सकता है कि स्वत शास्त्र से अतिरिक्त क्या कोई और भी प्रमाण है, जिससे प्रमाणित कर सकें कि शास्त्रोक्त वे सब तत्त्व, नित्य अविकारी तथा अबाध्य तत्त्व है? यदि ऐसा कोई प्रमाण स्वीकृत हो, तो उन सब तत्त्वों के ज्ञान के लिए मूलप्रमाणरूप से शास्त्र का प्रमाणत्व माना जाना आवश्यक नहीं, और वादियों को ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण के हेतु पर उन तत्त्वों को स्थापित करना होगा। यदि पक्षान्तर में ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता, तो शास्त्र का प्रमाणत्व स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष है। शास्त्र के प्रमाण द्वारा शास्त्र-प्रतिपाद्य-विषय का नित्यत्व और अविकारित्व प्रमाणित होना, तथा प्रतिपाद्य विषयक नित्यत्व और अविकारित्व हेतु से शास्त्र का प्रमाणत्व सिद्ध होता है।

अब यह तर्क उठाया जाता है कि जब शास्त्रवाक्य जिज्ञासु अधिकारी के मन में ज्ञान उत्पादन करता है, तब तत्त्व उसके प्रति नित्य अविकारिरूप से स्वतः अभिव्यक्त होता है और इस निश्चय को उत्पादन करता है कि, यह कभी भी बाधित नहीं हो सकता। अतएव, वर्त्तमान काल में नित्यत्व और अविकारित्व का यह निश्चय, ज्ञेयविषय के नित्यत्व और अविकारित्व के

लिये प्रमाण है, और यह ज्ञान जब शास्त्र व्यतिरिक्त अपर कोई प्रमाण से प्राप्त नहीं हो सकता, तब शास्त्र का प्रमाणत्व भी स्थापित होता है । अब शास्त्रीय तत्त्व का नित्यत्व और अविकारित्वरूप कैसा है, सो समालोचनीय है । इसका अर्थ क्या यह है कि, जब ऐसा तत्त्व का ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह विषय, अनादिकालीन अतीत के साथ तथा अनन्तकालीन भविष्यत् के साथ सम्बद्ध अनुभूत होता है और अतीत या भविष्यत् के कोई ज्ञान द्वारा अबाधित पाया जाता है? अथवा यह अर्थ है कि जब शास्त्र से ज्ञान प्राप्त होता है तब वह विषय उस समय, वर्त्तमान मुहूर्त्त में अबाधित रूप से अनुभूत होता है और इसीसे यह अनुमित होता है कि वह सब काल में अबाधित है ! किम्वा क्या यह अर्थ है कि नित्यत्व या अविकारित्व, शास्त्रीय ज्ञान के विषय का परिचायक गुण है और उन गुणों का ज्ञान, विषय के ज्ञान का अंशरूप है? प्रथम कल्प समीचीन नहीं । कारण, ऐसा होनेपर अतीत और भविष्यत् के सब ज्ञाताओं के सब सम्भावित ज्ञान तथा सब ऐसे ज्ञान के समस्त सम्भावित विषय, इस ज्ञान की उत्पत्ति के मुहूर्त्त में तथाकथित शास्त्रीय तत्त्व का ज्ञान के साथ युगपत् उपस्थित होना चाहिये, जिससे कि इस तत्त्व को सब सम्भावित ज्ञान के अपर सब विषयों के साथ तुलना किया जा सके । यह सर्वथा असम्भव है, और शास्त्रप्रमाणवादी ऐसी घोषणा भी नहीं कर सकते । द्वितीय कल्प भी संगत नहीं । क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर अनुमान प्रमाण भी स्पष्टतः निर्हेतुक सिद्ध होगा । कारण, भ्रान्ति, संमोहन, स्वप्न आदि स्थलों में भी ज्ञान का विषय उस काल के लिए अबाधितरूप से ही प्रतिभात होता है । अतएव अनुभवकाल में अबाध्यत्व का यह निश्चय, व्यावहारिक ज्ञान की यथार्थता का साधक प्रमाणरूप भी नहीं हो सकता, ज्ञान के विषय का नित्यत्व और अविकारित्व का कहना ही क्या है । तृतीय कल्प भी अनुपपन्न है । इस पक्ष में भी, यह, शास्त्रीय ज्ञान के विषय के उन गुणों की

सत्यता का प्रमाणरूप नहीं हो सकता। क्योंकि प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस ज्ञानका स्वरूप क्या है? यह क्या प्रत्यक्षज्ञान है या अनुमान ज्ञान है अथवा शास्त्र प्रमाण से उत्पन्न होने वाला अपर प्रकारका ज्ञान है? यदि प्रत्यक्ष ज्ञान कहें तो, तथाकथित नित्य और अविकारी तत्त्व, इन्द्रिय-प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता, और प्रत्यक्ष के किसी भी विषय को ऐसा धर्मवाला नहीं मान सकते। यह ज्ञान अनुमानरूप भी मान्य नही हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय-प्रत्यक्षगोचर जगत् में ऐसा कोई नियत सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता, जो ऐसे तत्त्व के अनुमान में हेतु हो सके। यदि यह शास्त्रप्रमाण से उत्पादित एक विशेष प्रकार का ज्ञान हो, तो वे शास्त्र ही ऐसे ज्ञान की सत्यता स्वीकार करने में एकमात्र हेतु होते हैं और शास्त्र की सत्यता ऐसे ज्ञान के हेतु से स्थापित होती है, सुतरां अन्योन्याश्रयदोष उत्पन्न होता है।

इस प्रसंग में और भी प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक शास्त्रीय वाक्य, प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक ही प्रकार के निश्चय के साथ ठीक एक ही ज्ञान को उत्पादन करता है? अनेक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि, ऐसा नहीं होता। यदि शास्त्रजन्य-ज्ञान विभिन्न व्यक्तियों में एक ही प्रकार का होता, तो शास्त्र में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों की मूलतत्त्व विषयक धारणाभी एक ही प्रकार की होती और परस्पर विरोधी मतों का सर्वथा अभाव होता। परन्तु, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विभिन्न प्रामाणिक व्याख्याकारों ने स्वाभिमत शास्त्रीय वाक्यों से भिन्न-अन्य वाक्यों को, प्रकृतार्थ को ज्ञात करानेवाला नहीं स्वीकार किया है। जब कोई विशेष अनुवादक उसकी अपनी व्याख्या को स्वीकार करने के लिए आग्रह करता है, तो उसको अपनी विचार-बुद्धि के ऊपर निर्भर होना पड़ता है, अतएव, शास्त्रप्रमाण में विश्वास करने वालों के द्वारा भी–किसी मत की समीचीनता के विषय में विचार करते समय–यथार्थ युक्ति ही, सत्य की अन्तिम परिचायिका रूप से स्वीकृत होती है। सुतरां शास्त्र को प्रमाण

साधनसम्पन्न के प्रति शास्त्र सत्यार्थ के बोधक होता है ऐसा वचन शास्त्रप्रामाण्य सिद्धि के लिए निष्फल है। ईश्वररचित कहने पर शास्त्र (वेद) की निर्दोषता सिद्ध नहीं होती।

मानने का कथन भी निष्प्रयोजन ही सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में कतिपय लोगों का यह भी कथन है कि शास्त्रीय वाक्यों के सत्य अर्थ के बोधगम्य होने के लिये नैतिक और धार्मिक साधन का अभ्यास आवश्यक है, जिससे कि यथार्थ मनोभाव उत्पन्न हो और मन उनको यथार्थभाव से ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो। मन की इस प्राथमिक शिक्षा का अर्थ यह प्रतीत होता है कि, मानसिक दृष्टि के भेद से शास्त्रीय वाक्य भी मूलतत्त्वविषयक विभिन्न धारणा को उत्पादन करेगा और पूर्वकाल में प्राप्त ऐकान्तिक श्रद्धा के बिना वह उत्पन्न (ऐकान्तिक श्रद्धारहित) ज्ञान इस निश्चय को उत्पन्न नहीं कर सकता कि, तत्त्व नित्य और अविकारी है। अतएव, उनकी प्रमाणता शास्त्रवाक्य में उतनी नहीं रहती जितनी कि मन के विश्वास (ऐकान्तिक श्रद्धा) में। सुतरां उनका कथन भी मूलतत्त्वविषयक यथार्थज्ञान के निमित्त सार्वजनीन प्रमाण रूप से स्वीकृत नहीं हो सकता। जो मूलतः सत्य है वह अवश्य स्वतन्त्र प्रमाण और आवश्यक विचारनियम के ऊपर दण्डायमान होगा, वह कोई मानसिक भाव या किसी विशेष प्रकार की नैतिक और धार्मिक शिक्षाप्रणाली द्वारा सृष्ट, किसी विशेष दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर नहीं होगा। फलतः प्रतिपन्न हुआ कि त्रिकालाबाध्य तत्त्व के ज्ञापकरूप से, शास्त्र को प्रमाणभूत नहीं मान सकते।

(४) अब वेद ईश्वररचित है, यह पक्ष समालोचनीय है। जगत् ईश्वररचित है, यह मान्य होने पर भी जैसे नाना प्रकार के दोष और अपूर्णतापूर्ण सृष्टि होती रहती है, वैसे ही शास्त्र के ईश्वर-रचित पक्ष में भी उसका दोष-रहितत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। और भी, किसी भी सिद्धान्त को स्थापन करने के लिए यह आवश्यक है कि, उसके अनुकूल कोई प्रमाण प्राप्त हो। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हम लोग यह नहीं जान सकते कि वेद, सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर द्वारा सृष्ट हुआ है। उक्त काल के साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव उक्त कालसम्बन्धी

प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद का ईश्वररचितत्व सिद्ध नहीं होता। वेद के ईश्वररचितत्व विषय में अनुमान दोषदुष्ट है।

वेद के साथ भी उनका सम्बन्ध नहीं है। अतएव विषय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष, वेद के तथाकथित सृष्ट्याद्यकालीन अस्तित्व को विषय नहीं कर सकता। और भी, वेदशास्त्र प्रत्यक्ष है, परन्तु वह उसके रचयिता ईश्वर के साथ सम्बद्ध है, ऐसा किसी को प्रत्यक्षगोचर नहीं होता। ईश्वर परोक्ष है, ऐसा मान्य होने से उसके साथ शास्त्र का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष होने के लिए दो सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।

अनुमान द्वारा भी उक्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यह जो हेतु कहा जाता है कि वेद का रचयिता कोई मनुष्य वर्त्तमानकाल में ज्ञात न होने से वेद ईश्वररचित है, सो समीचीन नहीं: क्योंकि ऐसा ही तर्क अपर अनेक ग्रन्थों के विषय में भी समानरूप से प्रदान कर सकते हैं, जिनके रचनाकाल और रचयिता अज्ञात हैं। मान लीजिए कि कोई अपरिचित पुरुष या अज्ञात पिता-माता के द्वारा परित्यक्त शिशु आपके निकट आता है; उस स्थल में क्या आपके लिए यह सिद्धान्त करना समीचीन होगा कि वह मनुष्यजनित नहीं किम्वा वह सृष्टि के आदिकाल में भी विद्यमान था? और भी, किसी पुस्तक का किसी समाज में बहुत काल से अध्ययन होता आ रहा है और ग्रन्थकर्त्ता अज्ञात है, केवल इस हेतु से उसका सृष्ट्याद्यकाल में ईश्वररचितत्व होना नहीं अनुमान किया जा सकता। यह भी नहीं कह सकते कि वेद का मनुष्यकर्तृकत्व स्मरण में नहीं आता, इसलिए वह ईश्वर-रचित है। अनेक प्राचीन पदार्थ ऐसे हैं जिनके निर्माणकर्त्ता स्मृतिगोचर नहीं हैं, उस हेतु से क्या उन्हें सृष्ट्याद्यकाल में सृष्ट या ईश्वरकृत मानेंगे? ऐसे ही और भी अनेक वचन पाये जाते हैं जिनके रचयिता ज्ञात नहीं, किन्तु स्मरणातीत काल से लोगों में वे अखण्डरूप से प्रचलित हो रहे हैं, परन्तु यह कोई हेतु नहीं है कि जिससे हम यह सिद्धान्त कर सकें कि वे सृष्ट्याद्यकाल से ईश्वररचित हैं। और भी, वैदिक शब्द को, हम लोग साधारणतः

लौकिक और वैदिक शब्दों में स्वरूपभेद नहीं होने से वेद को ईश्वररचित नहीं कह सकते । शब्द और अर्थ की संकेत जनित भाषा सृष्ट्याद्यकाल में नहीं हो सकती ।

जो शब्द व्यवहार करते हैं, उनसे पृथक् स्वरूपवाला नहीं मान सकते । यदि लौकिक शब्द और वैदिक शब्दों में स्वरूपभेद स्वीकृत हो, तो मनुष्यों को वेदार्थ बोधगम्य नहीं हो सकेगा । स्वयं वेद हमारे प्रति वेदार्थ को प्रतिपादन नहीं करते । उनके अर्थ की अवगति के लिए कोई अपौरुषेय (ईश्वररचित) व्याख्या भी नहीं है, जिससे कि वेद बोधगम्य हो । अतएव वैदिक और लौकिक शब्दों में भेद स्वीकार करना संगत नहीं । जब लौकिक शब्द और वैदिक शब्दों में उनकी स्वाभाविक अवस्था में कोई प्रकृतिगत (शब्दस्वरूप में) भेद नहीं है, जब दोनों का एक ही शब्दसंकेत है, जब दोनों, प्रयुक्त संकेत और उच्चारण के अनुसार ज्ञान को उत्पादन करते हैं, जब वैदिक और लौकिक शब्द दोनों ही उच्चारित न होने पर श्रुतिगोचर नहीं होते और जब वैदिक अक्षरों में दूसरी कोई विशिष्टता नहीं; तब उत्पत्तिविषय में भी वे विभेदयुक्त नहीं हो सकते और ईश्वररचितरूप से अनुमित नहीं हो सकते । अतएव प्रमाणित हुआ कि वैदिक शब्द को भी लौकिक शब्द के समान, मनुष्यरचित मानना होगा । जब वैदिक शब्द, हम लोग जो शब्द साधारणतः व्यवहार करते हैं उनके साथ समस्वभाव वाला है, तब क्या प्रमाण प्रदान कर सकते हैं जिससे यह प्रदर्शित हो सकें कि, वैदिक शब्द की आनुपूर्वी (पौर्वापर्य) और उसमें संलग्न अर्थ ऐसा विलक्षणस्वभाववाला है कि, वह किसी मनुष्य-रचयिता का फल नहीं हो सकता किम्बा साधारणरीति से साधारण मनुष्यबुद्धि को बोधगम्य नहीं हो सकता ।

परस्पर अपने भावों को प्रकट करने के उद्देश्य से भाषा की रचना होती है । सांकेतिक भाषा प्रचलित होने के पश्चात् संशोधितरूप से (संस्कृत) ग्रन्थ की भाषा, सृष्टि के आदिकाल में नहीं हो सकती । और भी, (१) विज्ञान की दृष्टि से, (२) ऐतिहासिक दृष्टि से तथा (३) वेद के अन्तर्गत विषयों की दृष्टि से विवेचन करने पर, उसे "सृष्टि के आदिकाल में निराकार ईश्वर के द्वारा

रचित है" ऐसा अनुमान नहीं कर सकते। (१) वर्त्तमान उन्नत वैज्ञानिक गवेषणा के फलसे यह सिद्धान्तित हुआ है कि, पृथिवी में अति प्राचीन अवस्था में मनुष्य के वासयोग्य जलवायु और भूमि नहीं थे। प्रथम खनिज पश्चात उद्भिज्ज पश्चात् प्राणीजगत् तदनन्तर मनुष्य का आविर्भाव हुआ है। एक एक के पश्चात् दूसरी अवस्था के आने में बहुत काल व्यतीत हुआ है। (२) वेदों में पाए जानेवाले तत्कालीन नदीयों के नाम और ग्रामादिकों के विवरण से तथा अन्य अनेक कारणों से यह अनुमान किया जाता है कि, आर्यों के उत्तरीय देशों में निवास करते समय वेदोंकी रचना हुई है। इतिहासज्ञलोग वेदोंकी रचना के समय का भी निर्देश करते हैं।* (३) वेदों में

*"The date of their (Aryans') immigration into India is a matter of dispute, but the period 2000—1500 B.C. may be regarded as the most probable Some scholars would, however, push it further back, while others would bring it much lower down At first the Aryans settled in the Punjab and this stage is reflected in the **Rig Veda Samhita**. But gradually they pushed further to the east and south. By the time the Brahmanas and the Upanishads were composed......The civilization of the Aryans and particularly their philosophical thought and religious practices during the first thousand years are known to us from sacred books collectively known as the Vedas. This term denotes not any particular book, but the whole mass of literature produced by the Aryans during the first thousand years or more of their settlement in India Although definite dates cannot be assigned to the different texts, it is possible to give a general idea of their chronological sequence. The Samhitas, Brahmanas, Aranyakas and Upanishads represent the four successive stages in the development of Vedic literature. The **Reg-Veda Samhita,** the earliest text, may be referred to about 1500 B C., while the principal Upanishads were composed by 600 B C. Between these two extreme dates we have to put all the Samhitas, Brahmanas, Aranyakas and the principal Upanishads"

(RAMESH CHANDRA MAZUMDAR'S
"Evolution of Religio-Philosophic Culture in India"—"
The Cultural Heritage of India"—Vol III.)

प्रमाणसिद्ध ऐसी कोई वस्तु नहीं पाई जाती जिसको मनुष्य नहीं कह सकते हों तथा जिसके वर्णन के लिए सृष्टि का आदिकाल किम्वा हस्तमुख रहित लेखक और वक्ताकी आवश्यकता हो । अतएव प्रतिपन्न हुआ कि वेदका ईश्वररचितत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता ।

अब शब्द प्रमाण से वेद का ईश्वररचितत्व सिद्ध नहीं होता सो प्रदर्शन करते हैं। शतपथ ब्राह्मण का "अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यदृग्वेदो" आदि वचन वेद के ईश्वररचितत्व सिद्धान्त को स्थापित नहीं करता, क्योंकि मनुष्यरचित रूप से प्रसिद्ध शास्त्रों को भी उक्त श्लोक में, ईश्वर के निःश्वास से उत्पन्न होने वाला माना है । पूर्ण श्लोक इस प्रकार है " अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि सर्वाणि नि:श्वसितानि" । इस में उन इतिहास और पुराणों का भी उल्लेख है, जिनकी रचना—इतिहास में वर्णित राजर्षि और महर्षियों के—पश्चात् काल में हुई थी । अतएव, इसकी यह व्याख्या सर्वथा असङ्गत और स्वकपोलकल्पित है कि, ईश्वर ने श्वास लिया और यावत् वेदादि शास्त्र उत्पन्न हो गए । वस्तुत उक्त श्रुति में रूपकालङ्कार है, जिसका यह अर्थ होता है कि संसार के यावत् वेदादि शास्त्र, उस महान पञ्चभूतात्मक विराट रूप ब्रह्म के निश्वास रूप हैं । निम्न श्रुति से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है । यथा ईशोपनिषद् में कहा है, 'इति शुश्रुम धीराणाम् ये न स्तद्व्याचचक्षिरे' इस श्रुति से भी यह ज्ञात होता है कि, इसके रचियता ने किसी पूर्वकालीन ऋषि से तत्त्व-ज्ञान को श्रवण कर, पश्चात् इसकी रचना की है । अतएव, श्रुति प्रमाण से ही यह सिद्ध होता है कि, श्रुति मनुष्य के द्वारा रचित है । और भी, वेद का ईश्वररचितत्व पक्ष, वेद में वर्णित ऋषियों के नाम और क्रियाओं के ऐतिहासिक वर्णन के साथ सुसमञ्जस नहीं होता । और भी, वेदभिन्न अपरशास्त्रों की प्रमाणता

वेद का ईश्वररचितत्व पक्ष असमञ्जस और दोषदुष्ट है । वेद की ईश्वररचितता में उपमान प्रमाण नहीं हो सकता ।

—वेदानुकूल होने पर ही—मान्य होती है, इस कारण, वेद की प्रमाणता के लिए वेद को ही प्रमाण मानना पड़ता है; ऐसा कथन विचारसंगत नहीं । और भी, अनुमान प्रमाण से सिद्ध ईश्वर का स्वरूप उक्त वैदिक-सम्प्रदायों को मान्य न होने से ("पत्युरसामञ्जस्यात्"— ब्रह्मसूत्र २ अध्याय २ पाद ३७-४१ सूत्र द्रष्टव्य), शास्त्र से ही ईश्वर की सिद्धि माननी पड़ेगी, फलतः यहां पर अन्योन्याश्रय दोष भी होगा । क्योंकि ईश्वर शास्त्र से प्रमाणित होता है और ईश्वर को शास्त्र का रचियता माना जाता है; तथा शास्त्र का यथार्थत्व इस हेतु से स्वीकृत होता है कि वह ईश्वर की रचना है । अर्थात् जब शास्त्र के रचयिता ईश्वर की विश्वस्तता से शास्त्र की यथार्थता निर्णीत होगी, तब उस शास्त्र के द्वारा ईश्वर सिद्ध होगा और जब उस शास्त्र के द्वारा अत्यन्त विश्वास के योग्य ईश्वरत्व प्रमाणित होगा, तब उसके रचयिता रूप से शास्त्र की यथार्थता ज्ञात होगी; अतएव अन्योन्याश्रयदोष होने से शास्त्र से ईश्वर प्रमाणित नहीं हो सकता, किम्वा ईश्वर के रचयितृत्व (निर्माण कर्तृत्व) से शास्त्र की यथार्थता प्रमाणित नहीं हो सकती । (ईश्वरविषयक अनुमान असिद्ध है सो आगे प्रतिपादित करेंगे; सुतरां शास्त्र उसके द्वारा रचित हैं, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता) ।

प्रकृतविषय में उपमान प्रमाण भी नहीं हो सकता । यदि वेदभिन्न कोई वाक्य ईश्वररचित पाया जाता, तब उसके साथ वेद के सादृश्यज्ञान से उपमान के द्वारा वेद का ईश्वररचितत्व प्रतिष्ठित हो सकता था । परन्तु ऐसा कोई वाक्य वेदवादियों को सम्मत नहीं ।

अर्थापत्ति के द्वारा भी ईश्वररचितत्व सिद्ध नहीं हो सकता । अर्थापत्ति से हम लोग किसी अप्रत्यक्ष पदार्थ की कल्पना करते हैं, जिसको माने बिना प्रत्यक्षगोचर कोई घटना उपपादित न हो सकता हो; परन्तु वर्तमान स्थल में वेदसम्बन्धी किसी प्रत्यक्षगोचर

घटना की उपपत्ति के लिये वेद का ईश्वररचितत्व कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। और भी, यदि अर्थापत्ति के अतिरिक्त अपर किसी प्रमाण से वेद का ईश्वररचितत्व जाना गया हो, तब वादी के मतानुसार अर्थापत्ति प्रदान करना समुचित नहीं। अर्थापत्ति से यह कभी जाना नहीं जा सकता; क्योंकि यह अन्योन्याश्रयदोष से युक्त होगा। वेद का मनुष्यरचयितृत्व का अभाव, उसकी अयथार्थता के अभाव के उपपादन के लिए स्वीकार किया जाता है और पुनः उसकी अयथार्थता का अभाव, मनुष्यरचितत्व के अभाव के हेतु से पाया जाता है। और भी, यदि वादी स्वतन्त्र हेतु से यह प्रमाणित कर सके कि वेद के सब वाक्य अभ्रान्त हैं और जो ग्रन्थ मनुष्यरचित होता है वह नियमपूर्वक भ्रान्ति से दूषित होता है, तब उनका ईश्वररचितत्वपक्ष बलशाली हो सकता था। परन्तु वे लोग ऐसा सिद्ध करने में कहीं भी समर्थ नहीं हुए हैं। सुतरां उनके सिद्धान्त असंगत हैं।

अतएव यह प्रमाणित हुआ कि वेद के ईश्वररचितत्व पक्ष के अनुकूल कोई भी प्रमाण, साक्षात् या असाक्षात्, नहीं है।

पुनश्च, शास्त्र वर्णात्मक है और वर्णों की—तालु आदि व्यापारजन्य होने के कारण—शरीर से ही उत्पत्ति हो सकती है, शरीररहित ईश्वर से नहीं। शरीररहित का प्रयत्न आज तक कहीं देखा नहीं गया और न उसकी सम्भावना ही हो सकती है। ईश्वर स्वेच्छानिर्मित शरीर के द्वारा शास्त्र की रचना करता है, ऐसी कल्पना भी सुसंगत नहीं होती। इच्छा रूपी निमित्त के द्वारा देहेन्द्रियादि परिग्रह को स्वीकार करने पर परस्पराश्रय का प्रसङ्ग होगा। देहेन्द्रिय के होने पर ही इच्छा उत्पन्न होगी एवं इच्छा के उदित होने पर ही देहादि प्राप्त हो सकेंगे, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष होगा। और भी, ईश्वर के शरीर को यदि कार्य रूप माना जाय तो उसका कर्त्ता कौन होगा? यदि कर्त्ता के न होते हुए भी ईश्वर का

शरीर कार्यरूप स्वीकृत हो, तो कार्यत्वलक्षण व्यभिचारी होगा अर्थात् जगत्-कार्य भी कर्त्ता के बिना ही उत्पन्न हो सकेगा और ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यदि उक्त विरोध के परिहार के लिए ईश्वर के शरीर को नित्य कहा जाय, तो जिस प्रकार ईश्वर का शरीर शारीरिक धर्म का अतिक्रमण करके भी नित्य रूप स्वीकृत हो सकता है, उसी प्रकार घटादि से विलक्षण वृक्षादि के कार्यत्व होने पर भी अकर्तृपूर्वकत्व (कर्त्ता से जनित नहीं) स्वीकृत हो सकता है। किञ्च, यदि ईश्वर को शरीरवान कहना हो तो उसके शरीर को नित्य अनादि अथवा नित्य सादि या शरीरान्तर के सम्बन्ध से सशरीर कहना होगा। परन्तु उक्त तीनों ही पक्ष असङ्गत हैं। क्योंकि हमारे शरीर के समान ईश्वर-शरीर के भी सावयव होने के कारण, उसे नित्य-अनादि नहीं कह सकते तथा नित्यसादि मानने पर भी उस शरीर की उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर को अशरीर ही कहना होगा। इसी प्रकार शरीरान्तर के द्वारा ईश्वर के सशरीर होने पर अनवस्था का प्रसङ्ग होगा। अतएव ईश्वर के शरीरवान सिद्ध न होने पर, कण्ठ तालु आदि स्थानों से उच्चारण के योग्य वर्णात्मक वेदादि शास्त्रों की रचना भी उसके द्वारा नहीं हो सकती; फलत. शास्त्र को ईश्वर रचित नहीं कह सकते।*

*जैमिनि के मत में वेद नित्य है। वेदके नित्यत्व को (अपौरुषेयत्व) अव्याहत रखने के लिए वे लोग (मीमांसक), जगत् की आदि सृष्टि, महाप्रलय ईश्वर, और सर्वज्ञता को अस्वीकार करते हैं। (सर्वज्ञ पुरुष को स्वीकार करने पर धर्मविषय में उसके भी वाक्य प्रमाण हो सकेंगे, इससे मीमांसकों के वेद का प्रामाणिकत्व निष्फल होगा, अतएव किसी सर्वज्ञ पुरुष को मानना उचित नहीं। सर्वज्ञता का अति विस्तारपूर्वक खण्डन, भामतीकारकृत विधिविवेकटीका न्यायकणिका में उपलब्ध होता है पृष्ठ ११०-२२७)। वे लोग वेदाध्ययन में वर्तमान गुरुशिष्यपरपरा को, अविच्छिन्न और अनादि गुरुशिष्यपरपरा से प्रचलित स्वीकार करते हैं। इस मत में वर्ण नित्य और विभु है, उसकी अभिव्यक्ति या ज्ञान का जो आनुपूर्वी अर्थात् पौर्वापर्य है, वही वर्णसमष्टि के ऊपर आरोपित

मीमांसक-सम्मत वेद का नित्यत्व विचारसह नहीं-अपौरुषेयवादखण्डन ।

होने से वह वर्ण पदरूप से व्यवहृत होता है । इस क्रमिक अभिव्यक्ति के अनित्य होने पर भी वर्ण नित्य हैं । उक्त मीमांसकमत की समालोचना में वक्तव्य यह है कि, आपको किस प्रमाण से उक्त अपौरुषेयत्व विदित हुआ है ? (इस पक्ष का खण्डन भी उपरोक्त प्रकार से जानना चाहिए) । और भी, "अग्नि-पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत" इत्यादि वैदिक शब्दसमूह अनादिकाल से हैं, यह कल्पना शोभनीय नहीं है । और भी, मीमांसकलोग वेद को निर्दोष और नित्य मानते हैं । यहा पर भी प्रश्न होता है कि, वेद निर्दोष कैसे है ? क्या वर्ण का नित्यत्व ही वेद की निर्दोषता में हेतु है ? या आनुपूर्वी-विशिष्ट वेदनित्यत्व वेद की निर्दोषता मे हेतु है ? परन्तु दोनों ही पक्ष संगत नहीं हैं । आद्यपक्ष को मानने पर अन्य लौकिक वाक्य भी निर्दोष हो जायगे, क्योंकि वर्णमात्र के नित्य होने के कारण, वर्णात्मक समस्त लौकिक शास्त्र भी नित्य होगे और इसी हेतु से निर्दोष भी होंगे । फलतः वर्णात्मक होने से वेद निर्दोष है और अन्य सब शास्त्र सदोष हे, इस प्रकार का विभागपूर्वक कथन भी नहीं हो सकेगा तथा कोई भी वाक्य अप्रमाण नहीं रहेगा । इसी प्रकार अन्तिम पक्ष भी समीचीन नहीं है । कारण आद्यपक्ष के अनुसार वर्णो का नित्यत्व सदोष सिद्ध होने पर उसे त्यागकर वर्णो का अनित्यत्व स्वीकार करना होगा । अतएव वर्णों के अनित्य होने से वर्ण समुदायरूप पद और पदसमुदायरूप वाक्य भी अनित्य होंगे, फलतः वाक्य समुदायरूप वेद भी अनित्य हो जायगा । यदि वर्णात्मक शब्द को नित्य स्वीकार कर लिया जाय, तो भी वेद का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता । कारण, अनेक शब्दों की योजना से वाक्य और अनेक वाक्यों की योजना से शास्त्र निष्पन्न होता है । अतएव वहीं पूर्वोक्त दोष होगा अर्थात् नित्य शब्द प्रयुक्त वेद की नित्यता के साथ ही साथ अन्य लौकिक शास्त्र भी नित्य होंगे अथवा शब्द का नित्यत्व सम्भव होगा परन्तु शब्द समुदायरूप वाक्यात्मक वेदादि शास्त्र तो किसी प्रकार भी नित्य सिद्ध नहीं होंगे । सुतरां वर्ण यदि नित्य भी हो तो भी वर्णसमूहात्मक वाक्य अनित्य होगे । किञ्च, वर्ण के नित्यत्वपक्ष में भी पदवाक्यादि विभाग क्रमकृत (क्रम से किया हुआ) होता है, और क्रम (उच्चारणरूप या उपलब्धिरूप) स्वाभिव्यक्तिकारित (वर्णों की अभिव्यक्ति से उत्पादित) होता है, अतएव वेद को भी सकर्तृक (पौरुषेय) मानना उचित है । तात्पर्य यह कि वर्णो के नित्य होने पर भी वर्णसमूहमात्र वेद

भगवान अपने स्वभावगत स्वरूप को परिवर्तन कर शरीरधारण वा अवतारग्रहण नहीं कर सकते।

निराकार ईश्वर, शरीरधारण करके अथवा अवतारग्रहण करके शास्त्र (वेद) की रचना करते हैं, अब इस पक्ष की समालोचना करता हूं। हम लोग पाते हैं कि, भगवद्भक्त लोग भगवान को कभी व्यक्तिविशेष (उनके अपने विशिष्टरूप के सहित) मानते हैं, और कभी निराकार पुरुषरूप से। अब प्रश्न यह होता है कि अवतारवाद, क्या भगवान के सम्बन्ध में ऐसी प्रकार की धारणाओं से समञ्जस है? यदि किसी एक विशिष्ट आकार को भगवान का नित्य स्वरूपगतरूप माना जावे, तो इस आकार में किसी विकार की कल्पना ही नहीं कर सकते; क्योंकि आकार में ऐसा कोई विकार भगवान की मृत्यु को तथा नवीन पुरुष की उत्पत्ति को बोधित करेगा। अतएव भगवान से सृष्ट व्यावहारिक जगत् में विभिन्न दैहिक आकार में भगवान का अवतार, उनके अपने एक विशिष्ट रूपसहित भगवान की धारणा से सर्वथा असमञ्जस है। यह कैसे धारणा कर सकते हैं कि भगवान उनके स्वभावगत नित्य अच्युत स्वरूप को (चाहे ऐन्द्रिय हो अथवा अतीन्द्रिय) कभी कभी परित्याग किया करते हैं और जन्म-वृद्धि-रोग-अपक्षय-मृत्यु के अधीन नवीन नवीन व्यावहारिक आकार को ग्रहण किया करते हैं? उनकी सर्वशक्तिमत्ता के आधार पर भी ऐसी धारणा नहीं कर सकते कि, वह अपने स्वभावगत स्वरूप को परिवर्त्तन करने में समर्थ हैं। यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि भगवान अपने नित्य

नहीं, किन्तु क्रमविशेष और स्वरविशेष से विशिष्ट ही वेद होता है। नित्य और विभु वर्णों का देश और काल से क्रम का होना सम्भव नहीं है एवं कण्ठ तालु आदि स्थानविशेष से सम्पादित होने के कारण, अनित्य स्वर का नित्यवर्ण में होना सम्भव नहीं है; किन्तु स्वर को प्रकट करने वाली ध्वनि को ही स्वरादिरूप (ध्वनि-उपाधिक ही स्वरादि) स्वीकार करना होगा। अतएव, वर्णों के विशेषणरूप क्रम और उपाधिरूप स्वर (ध्वनि) के अनित्य होने पर तद्विशिष्ट वेद कैसे नित्य हो सकता है? फलतः मीमांसक-सम्मत वेद का नित्यत्व विचारसह नहीं है, अतएव वेद अपौरुषेय नहीं है।

रूप के साथ जगत् में अवतरण करते हैं, क्योंकि अवतारों के आकार परस्पर भिन्न तथा अपक्षय और मृत्यु के अधीन पाये जाते हैं। यहां पर यह प्रणिधान के योग्य है कि हम लोग, इस समय जगत्प्रपञ्च के मूलकारण को, विशिष्ट आकार के सहित व्यक्तरूप धारण करने की सम्भावना के विषय में कोई प्रश्न उत्थापन नहीं कर रहे हैं, ऐसी धारणा की अयौक्तिकता अपर स्थल में प्रदर्शित करेंगे।

अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में भगवान निराकार पुरुष रूप से मान्य होता है, क्योंकि निर्दिष्ट दैहिक आकार की धारणा के साथ—ईश्वर की नित्यता, अनन्तता, अद्वितीयता और सब आकारों के मूल की धारणा—सुसमञ्जस नहीं होता। क्या ऐसा निराकार पुरुष, जो कि सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञरूप से माना जाता है, व्यावहारिक जगत् में शरीरी जीवरूप से स्वयं अवतीर्ण हो सकता है? इस सम्भावना की यदि विवेचना की जाय तो इस निराकार भगवान को ऐसा मानना होगा कि, (क) वह शरीरी जीवरूप से स्वयं परिणाम को प्राप्त होता है, अथवा (ख) वह एक विशिष्ट मानस-भौतिक देह की सृष्टि करता है और उसमें स्वयं आत्मारूप से प्रवेश करता है, किम्वा (ग) वह अपनी विशेषशक्ति और ज्ञान को किसी विशेष शरीरधारी के जीवन में अभिव्यक्त करता है, जिससे कि वह उसके साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होता है।

(क) प्रथम कल्प के विषय में यह धारणा करना कठिन है कि, देशकालातीत, समस्त विकार और सीमा से अतीत पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष किस प्रकार स्वयं देशकालसीमायुक्त और विभिन्न विकाराधीन किसी शरीरविशेष के परिणाम को प्राप्त होता है? यदि निराकारता आकार रूप से परिणाम को प्राप्त हो सके अथच भगवत्ता भी सुरक्षित रह सके, तो निराकारता को भगवत्स्वरूपके प्रति नित्य और स्वरूपगत रूपसे माना नहीं जा

सकता, फिरतो उसके स्वरूपका प्रकार कोई अनित्य, विकारी आकारवाला होगा । और भी, ऐसे परिणाम की सम्भावना से ही ऐसा ज्ञान होगा कि अनन्तस्वरूप, अन्तवाले रूपमें स्वयं परिणाम को प्राप्त हो सकता है और साथ ही उसकी अनन्तता भी बनी रह सकती है । नित्यस्वरूप अचिरकालस्थायी पुरुषरूप से जन्मग्रहण कर सकता है तथा साथही अपने नित्य स्वरूप को भी अक्षुण्ण बनाए रख सकता है । पूर्णस्वरूप अपूर्ण पुरुष का जीवन यापन कर सकता है फिरभी अपने पूर्णस्वरूप में ही स्थिर रह सकता है । ऐसी समस्त धारणायें स्पष्ट विरुद्ध और अमाननीय हैं ।

ऐसे विरोधों के होते हुए भी यदि नित्य और स्वरूपगत निराकार भगवान का, शरीरी भगवान या अवताररूपमें परिणाम की सम्भावना स्वीकृत हो, तो यह प्रष्टव्य होगा कि क्या भगवान प्रत्येक विशेष अवतार में स्वयं सम्पूर्णरूप से परिणाम को प्राप्त होता है या आंशिकरूप से परिणाम को प्राप्त होता है ? यदि प्रथम कल्प स्वीकृत हो तो यह स्वीकार करना होगा कि, जबतक एक अवतार जगत् में जीवित रहता है तबतक निराकार भगवान नहीं रहता (और इसी कारण से मृतकरूप से भी गण्य हो सकेगा), और भगवान जगत् के एक विशेष स्थल में आबद्ध रहता है । ऐसा होने पर, यद्यपि अवतरित भगवान का ज्ञान और शक्ति आन्तरिकरूप से अनन्त (यद्यपि बाहर से अन्तवाला अभिव्यक्त होता है) और जगत्प्रपञ्च के शासन और रक्षण में समर्थ माना जाता है, तथापि उसका अस्तित्व सर्वव्यापकरूप से नहीं माना जा सकता और वह जगत् में ओतप्रोत (अनुस्यूत) है यह भी मान्य नहीं हो सकता; उसका और जगत् का सम्बन्ध केवल बाह्यरूप से मानना होगा । फलतः इस प्रकार का सिद्धान्त उस धारणा के साथ असमञ्जस होगा कि, भगवान व्यावहारिक जगत् का उपादानकारण या द्रव्य या आश्रय है । और भी, जब विशेषरूप से अवतरित भगवान मृत्यु को प्राप्त होता है या

इसका शरीर व्यावहारिक जीवन से तिरोभाव को प्राप्त होता है, तब निराकार भगवान पुन: जन्म को प्राप्त होता है यह भी मानना होगा और उसका निराकार स्वरूप, उसके शरीरी आकार के परिणाम से उत्पन्न होता है यह भी स्वीकार करना होगा । फलतः निराकार भगवान इसप्रकार से पुनः पुनः मृत्यु और जन्म को प्राप्त होता रहता है । भगवान का अवतार माननेवाले धार्मिक लोग क्या ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत होंगे ?

यदि ऐसे अग्राह्य सिद्धान्त से (जिस सिद्धान्त में निराकार भगवान के सम्पूर्ण अस्तित्व के परिणाम की धारणा, उनको जन्म और मरण के चक्कर में डालती है) छुटकारा पानेके लिए भगवान को ऐसा माना जावे कि, वह स्वयं आंशिकरूप से अवतार में परिणाम को प्राप्त होता है, तो पूर्ण-अवतार की धारणा (भक्तों के किसी किसी सम्प्रदायमें प्रसिद्ध) का त्याग करना होगा । किन्तु यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि, निराकार भगवान के आंशिक परिणाम का अर्थ क्या है ? स्पष्टतः इसका अर्थ यह होगा कि, उसके निराकार अस्तित्व का एक अंश शरीरी पुरुषरूप से परिणामको प्राप्त होता है और अपर अंश निराकार ही बना रहता है । इससे यह बोधित होगा कि अनन्त और नित्य निराकार आत्मा, अंशरूप से विभाग के योग्य है तथा आत्मा के यथार्थ स्वरूपको क्षति न पहुंचाते हुए कोई विशेष अंश किसी विशेष देहधारी रूप से विकार को प्राप्त हो सकता है; जोकि स्पष्ट ही विरुद्ध है । परम-आत्मा निराकार, साथ ही अंशयुक्त, और अंश में विभाग के योग्य, नहीं माना जा सकता । यदि ऐसी धारणा सम्भव हो तो किसी अंशमें कोई परिणाम होने पर, आत्मा विकार को प्राप्त होगा और इससे यह एक विकारी, अस्थायी और व्यावहारिक पुरुष होगा । यदि इस आपत्तिको त्याग भी करें तो प्रश्न उपस्थित होगा कि, अवतार-शरीर में परिणत भगवद् अंश, पूर्ण भागवत-चेतना सम्पन्न है, अथवा वह चेतना विशेषित या सीमायुक्त होती है ? अवतार क्या स्वयं भगवान

के समान अनन्त ज्ञान और शक्ति को धारण करता है या भगवान के अंश से परिणाम को प्राप्त (आकारवान) होने के कारण, उसका ज्ञान और शक्ति अन्तयुक्त होता है ? यह स्पष्ट है कि आंशिक अवतार, स्वयं भगवान के समान सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथा, अंश और सम्पूर्ण में पृथक्ता का लोप होगा अथवा एकही कालमें दो प्रतिद्वन्द्वी भगवान होंगे, एक रूपयुक्त अपर रूपरहित । भगवान की आंशिक अभिव्यक्ति की धारणा, उनकी शक्ति और ज्ञान के आंशिक अभिव्यक्ति को बोधित करता है । ऐसा होनेपर, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अज्ञानका आवरण, अवतारी चेतन के ऊपर विद्यमान है तथा उसका ज्ञान और शक्ति, चाहे उसके समकालीन व्यक्तियों की तुलना में कैसा भी उच्च क्यों न हो, सीमायुक्त है तथा उसकी सम्पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति नहीं है । तब व्यावहारिक जगत् का असाधारण सामर्थ्ययुक्त किसी मनुष्य और अवताररूप से मान्य व्यक्ति में, वस्तुगत भेद ही क्या रह गया? सब मनुष्य या प्राणी भगवान की आंशिक अभिव्यक्ति हैं जो सब व्यावहारिक पदार्थों का एकमात्र आश्रय, कारण और द्रव्य माना जाता है ।

(ख) अब द्वितीय कल्पका विवेचन करते हैं । अर्थात् भगवान् एक विशेष मानस-भौतिक देह की सृष्टि करते हैं और आत्मारूप से इसमें प्रवेश करते हैं । जब सभी मानस-भौतिक देह भगवान की ही सृष्टि हैं, तो फिर इस कथन का क्या अर्थ है कि, अवतार-देह एक विशेषरूप से सृष्ट देह है । यह क्या, अपर देह जिस नियम और पद्धति से उत्पादित होते हैं उसके अनुसार उत्पन्न नहीं हुआ ? यह क्या विशेष काल और देश में मातापिताजनित व्यावहारिक देह नहीं है ? यह क्या अपर देह की न्याई वयोवृद्ध होकर तथा नानाविकार को प्राप्त होकर मृत्युग्रस्त नहीं होता ? फिर कैसे हमलोग अवतार-देह और अपर किसी जीवित देह में कोई भेद कर सकते हैं ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि, अवतार-देह में जितने विशेष लक्षण रहते हैं उतने अपर किसी

साधारणरीति से उत्पन्न जीवित देह में नहीं पाए जाते । कदाचित् यह सत्य हो, परन्तु फिर भी यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता कि ऐसा विशेष लक्षणयुक्त देह, पूर्ण भगवद्-आत्मा द्वारा अधिष्ठित होने के उद्देश्य से, विशेषरूप से सृष्ट हुआ है । इस वैचित्र्यमय विश्वजगत में असंख्य प्रकार के विशेष लक्षणसहित असंख्य प्रकार वाले जीवदेह पाये जाते हैं । एक मनुष्यजाति में ही विभिन्न जाति के मनुष्य विभिन्न प्रकार के भेदसहित स्व-स्व जातीय-लक्षणयुक्त होते हैं और एकही जाति के अन्तर्भूत अनेक व्यक्तियों में भी परस्पर अत्यन्त भेद पाया जाता है । यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ व्यक्ति किन्हीं विशेष लक्षणों के सहित जन्म लेते हैं, जो उस जाति के अन्य व्यक्तियों में साधारणत. नहीं पाये जाते । कैसे ऐसे सन्दिग्ध लक्षणों के आधार पर —जब कि वे ऐकान्तिक सर्वसाधारण विलक्षण महत्त्ववाले प्रमाणित नहीं हो सकते— किसी शरीरविशेष को भगवद्-आत्मा के अवतरण का चिन्हरूप मान सकते हैं ? इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है कि, आवरणरहित भगवद्-आत्मा की क्रीड़ा के विशेष उद्देश्य से कोई विशेष जीवित देह, विशेषरूप से सृष्ट होता है ।

और भी, प्रश्न यह है कि किसी विशेष देह में भगवान का आत्मारूप से प्रवेश करने का अर्थ क्या है ? क्या भगवान उस देह में स्वयं बद्ध या सीमायुक्त होता है ? अथवा भगवत्-चेतना क्या उस देह में क्रियाकारी मानस-ऐन्द्रियक देह द्वारा विशेषित या सीमाबद्ध होता है ? भगवद्-आत्मा और विशेष देह में क्या किसी प्रकार का अभेदाभिमान है ? यदि ऐसा विकार भगवत्-चेतना में संघटित हो, तो भगवान पुन भगवान ही नहीं रहेगा, वह अपर जीवों के समान एक जीवमात्र होगा, यद्यपि श्रेणी उसकी उच्च होगी । तब तो अवतार के जीवनकाल तक अवशिष्ट जगत् को भगवद्-रहित मानना होगा । यदि अवतार-देह की मृत्यु होने से भगवान उस शरीर के बन्धन से मुक्त होय, तो भगवान को बन्ध (यद्यपि स्वारोपित) और मुक्ति के

अवतार-देह को अपर जीवदेहों से भिन्न श्रेणीगतरूप से मानने का कोई हेतु नहीं है। "अवतारदेह, अपर जीवदेहों के समान कर्म का फल नहीं है"— यह कथन विचारशून्य है।

अधीन मानना होगा। विशेष (अवतार) देहों में भगवान के बन्ध और सीमाबद्धपना को ऐसा मानना होगा कि, वह जगत्प्रपञ्चकी विपत्तियुक्त अवस्था के कारण, आवश्यकरूप से उत्पन्न होता है और उस बद्धावस्था से वे उसे साधारण अवस्था में ला सकते हैं, नकि उनकी जगदतीत महिमा और पूर्णता की अवस्था से। ऐसी कल्पना स्पष्टतः विचारहीन है।

यदि भगवत्-चेतना मानस-भौतिक देह से विशेषित या सीमाबद्ध नहीं है, यदि भगवान किसी प्रकार से देह या मन के साथ स्वयं अभेदाभिमानयुक्त नहीं है, यदि भगवान देश-काल-शक्ति और ज्ञान की सब सीमाओं से अतीत रहता है, जिससे कि किसी विशेष देह का सम्बन्ध उनके ऊपर आरोपित न किया जा सके, तब उनका अवतरण और देह में प्रवेश निरर्थक ही होता है। भगवदस्तित्ववादियों की धारणा के अनुसार भगवान विश्वात्मा है, वे सब आत्माओं के आत्मा हैं, सब व्यावहारिक चेतनाओं के मूल चेतन हैं, वे जगत् में सब जीवों के जन्म, मृत्यु और जीवन के अन्तिम नियामक हैं। यदि वे इस उपर्युक्त साधारण अर्थानुसार अवतार-देहों के आत्मारूप से मान्य हों तो इस धारणा में कोई विशेष अर्थ नहीं उपलब्ध होता और अवतार-देह को अपर जीवदेहों से भिन्न श्रेणीगतरूप से मानने का कोई हेतु नहीं है।

यह कहा जाता है कि अवतार-देह, अपर जीवदेहों के समान कर्म का फल नहीं है तथा उन अवतार-देहों के द्वारा किए हुए कर्मों के फलरूप से वे नवीन देहों की (स्थूल या सूक्ष्म) उत्पत्ति के कारण नहीं होते। यह कथन तब स्वीकार कर सकते थे जब कि भगवान का अवतारत्व, अपर लौकिक हेतुसे प्रमाणित होता। परन्तु ऐसे प्रमाण के अप्राप्त होने पर, कुछ विशेष व्यक्तियों को, जो अन्यप्रकार से जीवों के समान साधारण स्वभावयुक्त पाये जाते हैं, ऐसा मानना कि वे कर्मनियम के अतीत हैं और व्यावहारिक

जगत् के साधारण नियमों से अनियमित हैं, असमीचीन कल्पना है।

(ग) अब उपरोक्त तृतीय कल्प का विवेचन करते हैं। इस मत के अनुसार भगवान स्वयं इस जगत् में विशेष व्यक्तिरूप से अवतीर्ण नहीं होते, किन्तु उनकी शक्ति और ज्ञान विशेष व्यक्ति में अवतरण करते हैं। परन्तु क्या अनन्त शक्ति और ज्ञान, सम्पूर्ण रूप से उस व्यक्ति में अभिव्यक्त होते हैं या वे आंशिकरूप से अभिव्यक्त होते हैं? इसमें कोई प्रमाण नहीं ह कि ऐसा कोई व्यक्ति अनन्त शक्ति और ज्ञानवाला है। भगवान के अवताररूप से मान्य प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और ज्ञान, सीमायुक्त और आपेक्षिक विशिष्टतायुक्त पाये जाते हैं, और उनमें अभिव्यक्त ज्ञान और शक्ति का परिमाण, अपर व्यक्तियों के समान ही सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और अन्य प्रभावों के अनुकूल सुनियमित प्रयत्न के द्वारा तथा विरोधी प्रभाव के विरोध में तदुपयोगी उद्यम के द्वारा प्राप्त होते हुए पाया जाता है। इसमें कोई उपयुक्त हेतु नहीं है जिससे अनुमान कर सकें कि तथाकथित अवतारों के ज्ञान और शक्ति, भगवान से साक्षात् अवतरण करते हैं और उनके प्रति स्वतः प्रकटित होते हैं, परन्तु अन्य सब व्यक्तियों के ज्ञान और शक्ति उन्हीं के द्वारा अर्जित और उनके अपने प्रयत्नके फलरूप हैं। प्रत्युत सार्वजनीन दृष्टिकोण से हम ऐसा मान सकते हैं कि उच्च या नीच, वृहत् या क्षुद्र, प्रत्येक व्यक्ति में अभिव्यक्त ज्ञान और शक्ति भगवान से अवतरण करते हैं और उत्पन्न होते हैं, जोकि समस्त ज्ञान और शक्ति का एक मात्र मूल है, और इसी हेतु से ऐसा मान सकते हैं कि वे (अवतार) भगवत्-ज्ञान और शक्ति के आंशिक अभिव्यक्तिरूप हैं। इस अर्थ से तथाकथित अवतारों के ज्ञान और शक्ति तथा अपर व्यक्तियों के ज्ञान और शक्ति में कोई मौलिक भेद मानने का अवकाश नहीं रह जाता। तथाहि, सर्वसाधारण की दृष्टि में सब व्यक्तियों के सब ज्ञान और शक्ति (भगवद्-अवतार रूप से मान्य व्यक्तियों के भी) व्यावहारिक, अनित्य, प्रयत्न से-साध्य और

उन्नति प्राप्त हैं, वे भिन्न भिन्न स्थलों में केवल आपेक्षिक 'तर' और 'तम' भाव से भेदयुक्त प्रतीत होते हैं । अतएव किसी विशेष व्यक्ति में किसी विशेष अर्थ से भगवत्-ज्ञान और शक्ति का अवतरण, युक्तियुक्तरूप से सिद्ध नहीं हो सकता।

उल्लिखित विचारस्थल में स्वात्मचेतनावान भगवान का अस्तित्व और सृष्टिकर्तृत्व मानकर प्रदर्शित किया है कि, उसका शरीरग्रहण या अवतार सिद्ध नहीं हो सकता । दृश्यमान जगत् का परममूल (चरम-तत्त्व) विषयक सिद्धान्त, नानाप्रकार की यौक्तिक कठिनाइयों से ग्रस्त है, सो परवर्त्ती अध्याय में प्रदर्शित करेंगे । अस्तु, ईश्वर का शरीरधारण सम्भावित नहीं हो सकने से, ईश्वर ने शरीर धारण करके वेद की रचना की है, सो भी मान्य नहीं हो सकता । प्रथम ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि वेद निराकार ईश्वररचित है इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है । अतएव वैदिक सम्प्रदायों का यह सिद्धान्त कि वेद ईश्वररचित है, यह विचाररहित मात्र नहीं किन्तु कल्पनामात्र है ।

"निराकार भगवान किसी व्यक्तिविशेष को शास्त्ररचना करने में प्रेरणा करते हैं" यह पक्ष भी विचारसह नहीं । क्योंकि इस पक्ष का निर्णय हम लोगों को अनुमान के द्वारा करना पड़ेगा, और अनुमान, हेतु और साध्य का नियत साहचर्य दर्शनमूलक होता है । अतएव वह (अनुमान) दृष्टसाधर्म्य की अवश्य अपेक्षा करेगा, सुतरां ज्ञात पदार्थ का विधर्मी या विरोधी किसी पदार्थ का अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव दृष्टान्त की सहायता के बिना अनुमान, किसी अतीन्द्रिय पदार्थ को प्रमाणित नहीं कर सकता । प्रकृतस्थल में निराकार ईश्वर किसी को प्रेरणा करता है, यह प्रमाणित करने के लिए हम लोगों को अपने साधारण अनुभव की सीमा के भीतर अनुभूत किसी दृष्टान्त का निर्देश करना आवश्यक है, जहां निराकार पुरुष किसी अन्य पुरुषविशेष को प्रेरणा करता हो । परन्तु ऐसा

कोई दृष्टान्त पाया नहीं जाता। सुतरां निराकार भगवान किसी को शास्त्र की रचना में प्रेरणा करता या शिक्षा देता या शिक्षा देने के लिए किसी को कहीं भेजता है, यह विचारविहीन स्वकपोलकल्पना है। ईश्वर का शरीरधारण सम्भव न होने से, वह स्वयं शरीरधारण कर शिक्षा नहीं दे सकता।

अब वेदशास्त्र ऋषिरचित हैं, इस पक्ष की विवेचना करता हूं। यहांपर प्रश्न होता है कि, ऋषि शब्द से क्या अर्थ अभिमत है? यदि वादी कहे कि ऋषियों को हमलोग सर्वज्ञ मानते हैं और इसी से उनके प्रणीत शास्त्र को यथार्थ मानते हैं, तब समालोचकका कहना है कि, ऐसा कथन विचारविरुद्ध है। क्योंकि कोई भी देहधारी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए (१) नतो इन्द्रियज प्रत्यक्ष, (२) न मानस प्रत्यक्ष, (३) न भावना, (४) न प्रतिभा, (५) और न यौगिक ज्ञान ही समर्थ हैं।

(१) चक्षु और अपर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान सर्वविषयक नहीं हो सकता। इन्द्रियप्रत्यक्ष स्वरूपत कुछ सीमाके भीतर अवश्य होता है। विशेष इन्द्रिय केवल विशेष प्रकारके पदार्थों को अपने प्रत्यक्षका विषय कर सकता है और उन पदार्थों का, प्रत्यक्ष होने के लिए, उन उन इन्द्रियों की शक्ति की सीमा के भीतर वर्त्तमानकाल में विद्यमान होना आवश्यक है। दृष्टान्त-स्वरूप, चक्षु केवल रूपयुक्त विषय को ही प्रत्यक्ष कर सकता है, परन्तु यहां भी उसकी शक्ति संकुचित है। चक्षुरिन्द्रिय केवल ऐसे रूपवाले विषय प्रत्यक्ष कर सकता है, जो वर्त्तमानकाल में उसकी शक्ति की सीमा के भीतर है तथा उसमें और विषय में कोई व्यवधान नहीं है। इन्द्रिय और उसके विषय के साथ सम्बन्ध, जिसके ऊपर प्रत्यक्षज्ञान निर्भर करता है, साधारणतः दो प्रकार से उपपादित होता है:—यातो इन्द्रियां विषय को प्राप्त होते हैं जिससे कि उनमें सन्निकर्ष हो, अथवा विषयों के

इन्द्रियज प्रत्यक्षज्ञान केवल वर्त्तमानकाल में अस्तित्ववाले विषय में सीमित है
(न कि अतीत अनागत में)।

शब्दादिगुण इन्द्रियों की ग्राहकता की सीमा के अन्दर स्वयं उपस्थित हों, अर्थात् दूर से 'छाप' का उत्पादन करें। दोनों स्थलों में हमलोग यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि, विषयों का वर्त्तमान काल में विद्यमान होना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि, यदि इन्द्रियां बाहर दूर जाकर विषय को प्राप्त हों, तो विषयों और इन्द्रियो में परस्पर संयोग रहेगा और जब कि विषय वर्त्तमान नहीं और इसी कारण संयोग का आश्रय भी न बन सकें, तो इन्द्रियां उनको प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव, इन्द्रियां विषय को प्राप्त हों इसलिए यह आवश्यक है कि, इन्द्रियों के विषय वर्त्तमान काल में रहें। यदि इन्द्रियां विषयों में नहीं जाती किन्तु विषय ही दूर से इन्द्रियगोलक में "छाप" उत्पादन करते हों, तब यह आवश्यक नहीं कि, पदार्थ स्वत संयोग के आश्रय बनेंगे. तथापि जब कि इन्द्रियगोलक वर्त्तमानकाल में अनस्तित्ववाले पदार्थों से 'छाप' ग्रहण नहीं कर सकता, तब प्रत्यक्षज्ञान वर्त्तमान काल में अस्तित्ववाले विषय में सीमित अवश्य होगा। अतएव यहां पर भी यह प्रमाणित होता है कि, इन्द्रिय के द्वारा विषय प्रत्यक्ष होने के लिए उनका वर्त्तमानकाल में रहना आवश्यक है। अब, इस नियम के सिद्ध होने पर (अर्थात्, इन्द्रियां केवल वर्त्तमान विषय को ही जान सकती हैं) यह प्रमाणित होता है कि, यद्यपि चक्षु और अपर इन्द्रियां, कुछ अभ्यासबल से अपने सामर्थ्य की उन्नति होने के कारण, अधिक से अधिक संख्यक विषयों को, सूक्ष्म से सूक्ष्म आकार वाले विषय को या दूरसे दूरवर्त्ती विषयों को जान सकेंगे जो साधारणत प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तथापि वे कभी भी उन विषयों को अनुभव करने को समर्थ नहीं होंगी जो भविष्यद् अस्तित्ववाले होंगे या अतीत में रहे होंगे। और भी, जब कि कार्यकारणसम्बन्ध की प्रतिष्ठा पूर्व में हो चुकी है, तब यह सर्वथा सम्भव है कि कारण में परिमाणगत विकार, कार्य में परिमाणगत विकार को उत्पन्न करेगा; परन्तु कारणगत कोई भी विकार, किसी पदार्थ में कुछ भी

विकार उत्पन्न नहीं कर सकेगा जो उसका कार्य नहीं है। ऐसा होने पर, विशेष इन्द्रिय जो कि किसी विशेष प्रकार के विषय के ज्ञान का कारण है, अपने सामर्थ्य की उन्नति से, केवल उसी प्रकार के विषय के ज्ञान में ही वृद्धि उत्पादन कर सकेगा, परन्तु इससे वह भिन्नजातीय किसी विषय को नहीं जान सकता, जिसके ज्ञान के साथ उसका कोई कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है। दृष्टान्तस्वरूप, चक्षु का वर्तमानकालीन विशेष रूपवाले विषय के ज्ञान के साथ कार्यकारणसम्बन्ध है, और यह ज्ञान, उसकी शक्ति की उन्नति से वर्द्धित किया जा सकता है। अतएव वह दूर देशस्थ अत्यधिक सूक्ष्म आकार वाले वर्तमान विषय को जान सकेगा जो साधारण अवस्था में प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकता। किन्तु जब कि चक्षु, अतीत या भविष्यत् विषय को प्रत्यक्ष करने में स्वभावतः असमर्थ है तब उसके शक्ति की कितनी भी उन्नति क्यों न की जाय, परन्तु उन विषयों को प्रत्यक्ष करने के योग्य उसको कदापि नहीं बनाया जा सकता। यह प्रकार जैसे चक्षु के विषय में है ऐसे ही अपर सब इन्द्रियों के विषय में जान लेना चाहिए। फलतः किसी अवर्तमान विषय को जानने का प्रश्न, उन्नत इन्द्रिय द्वारा भी नहीं उत्थापित किया जा सकता है। और भी, जब दो कारणों के साहचर्य के फल से एक कार्य उत्पन्न होता है किम्वा एक क्रिया सम्पन्न होता है, तब उनमें से एक की अनुपस्थिति में वह कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। प्रत्यक्षज्ञान, इन्द्रिय और विषयों के साहचर्य का फल है। अतीत और भविष्यत् के ज्ञान भी तब सम्भव हो सकता था, जब कि इन्द्रिय अपने विषयों के साहचर्य के बिना ही ज्ञान उत्पादन कर सकता। किन्तु यह सम्भव नहीं। अतएव प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति के लिए ज्ञातव्य विषय की वर्त्तमानता अत्यावश्यक है। यह तर्क किसी व्यक्ति के अतीत और भविष्यत् के ज्ञातापन का और उनके प्रत्यक्षदर्शी रूप से सर्वज्ञ होने को भी असम्भव प्रमाणित करता है। इसी प्रकार अद्भुत क्रियाकारी औषधि का सेवन,

मन्त्रजपादि के द्वारा सर्वज्ञताप्राप्ति सम्भव नहीं । केवल मन द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती ।

मन्त्रजप, तपस्या और समाधि-अभ्यास के द्वारा भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि इन्द्रिय अपने स्वभावगत सीमा को अतिक्रमण या स्वविषय को अतिलंघन नहीं कर सकेगा।

(२) अब इन्द्रियप्रत्यक्ष से स्वतन्त्र मन समस्त विषयों को जानता है यह पक्ष समालोचनीय है । इन्द्रिय से स्वतन्त्र मन केवल अपनी (मन की) अवस्थाओं और क्रियाओं को (जैसे कि आन्तर सुख दुःख आदि) जानता है, ऐसा अनुभव होता है । सुतरां केवल सुखादि ही मानसप्रत्यक्ष का विषय पाया जाता है । अतएव, केवल मानसिक अवस्थाओं और क्रियाओं को विषय करने वाला मानस प्रत्यक्ष, बाह्य पदार्थ को विषय नहीं कर सकता । अनुभव में हमलोग यह नहीं पाते कि मन, इन्द्रियों की मध्यस्थता के बिना, बाह्य विषयों के साथ साक्षात् सन्निकृष्ट होता है । यदि मन, इन्द्रियों की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्ररूप से ही बाह्यपदार्थ को (रूप, रस आदि को) जान सकता तो अन्धता या बधिरता कोई वस्तु नहीं होती । अन्ध और बधिर प्राणी मनःशून्य (निर्मनस्क) नहीं होता, किन्तु इन्द्रिय के अभाव होने के कारण वह देख नहीं सकता । यह कह सकते हैं कि यद्यपि मन बाह्य विषयों को साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं कर सकता तथापि वह उनका स्मरण कर सकता है और इस स्मरणविषय में मन स्वतन्त्र है । परन्तु यह ठीक नहीं । स्मरण के स्वरूप का विश्लेषण करने पर हम लोग पाते हैं कि मन, अपर प्रमाणों से लभ्य अतीत अनुभूत विषयों के संस्कार से युक्त होकर स्मरण का कारण होता है (निरपेक्ष नहीं) । इसीसे यह स्मरण को स्वतन्त्ररूप से उत्पादन नहीं कर सकता । अनुमान और अपर ज्ञान में भी, मन स्वतन्त्र नहीं है । क्योंकि अनुमान के हेतु का तथा अपर सामग्री के ज्ञान के बिना, ऐसा ज्ञान हो नहीं सकता । जब कि बाह्यविषयों के साथ मन का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि चक्षु और अपर इन्द्रियों के स्थल में पाया जाता है, और जब कि मन प्रमाणों से लभ्य ज्ञान के आधीन है, तब मन के द्वारा उसके अविषयभूत

बाह्यपदार्थों के विषय में कोई नवीन या अधिक ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। अतएव मनके लिए यह असम्भव है कि वह सब पदार्थों को जान सके।

(३) भावना द्वारा भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि भावना सर्वदा प्रत्यक्ष या श्रुत या अनुमित या कल्पित विषय-सम्बन्धी होती है। अतएव भावना की उन्नति का (प्रकर्षका) फल यह होता है कि, वह पूर्व में प्रत्यक्ष या श्रुत या अनुमित या कल्पित विषय के सम्बन्ध में अधिक से अधिक स्पष्ट संस्कार को प्रदान करता है न कि उसका अविषय में। परन्तु वह किसी प्रकार से भी किसी नवीन विषय के किसी नवीन ज्ञान को हम लोगों को प्रदान नहीं कर सकता। रूपविषयक भावना का प्रकर्ष कभी भी रसविषयक विज्ञान को विशद नहीं कर सकेगा। अतएव भावना को कोई प्रमाणरूप नहीं कह सकते, क्योंकि यह पूर्वकालीन ज्ञान के आधीन होता है, अथच प्रमाण स्वतन्त्रस्वभाववाला होता है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि भावना के फल से कोई भी सर्वज्ञता को प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु भावना को प्रमाण माननेवाले वादी लोग यह कहते हैं कि, भावनाकाल में विचित्र और नवीन अनुभव उपलब्ध होते हैं। यह यथार्थ घटना का अशुद्ध अनुवाद है। पूर्वकालीन अनुभवजनित विचित्र संस्कारों की उपस्थिति के कारण, भावना के काल में उन संस्कारों में से कतिपय उत्थित होकर स्पष्टरूप से ज्ञात होने लगते हैं। इस हेतु से भावना के द्वारा ज्ञान में कोई नवीन वृद्धि हो सकती है, यह मान्य नहीं हो सकता।

(४) यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञता प्रतिभा द्वारा प्राप्त होती है, यह प्रतिभा प्रत्यक्ष और अनुमान से स्पष्टत पृथक् है। इस ज्ञान से मन, प्रत्यक्ष के समान विषयों के साथ सन्निकृष्ट न होकर या अनुमान के समान व्याप्तिज्ञान (हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध का ज्ञान) की अपेक्षा न रखकर विषयों को जानता

है। दृष्टान्तस्वरूप, जब कोई व्यक्ति जानता है कि उसका भाई आगामी कल को आयगा, यद्यपि ऐसी आशा को पुष्ट करने में उसके पास कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है तथापि यदि वह ज्ञान सत्य हो जाता है तो वह व्यक्ति, प्रतिभाप्राप्त कहा जाता है। यह सर्वथा सम्भव ह कि ऐसी प्रतिभा के द्वारा कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो सके। परन्तु ऐसा कथन समीचीन नहीं। तथाकथित प्रतिभा साधारण अनुभव का विषय नहीं, किन्तु यह कदाचित् घटित हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि, अनेक स्थलों में ज्ञातापुरुष के प्रति प्रिय या द्वेष्य व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में ऐसी घटना घटित होती देखी जाती है। ऐसी प्रतिभा में, मन उस विषय के (रागद्वेष) प्रभाव से स्वतन्त्र है ऐसा नहीं कहा जा सकता। विशेष विषय के लिए हृदय की तीव्र इच्छा तथा तत्सम्बन्धी घटनाओं में गंभीर अनुराग का भाव होने के कारण, ऐसे विषय में ऐसा विशेष ज्ञान मन में कभी २ हो सकता है, और इसी प्रकार द्वेष्य विषय के लिए तीव्र द्वेष तथा तत्सम्बन्धी व्यापारों में गम्भीर अनुराग होने के कारण, द्वेष्य के विषय में भी ऐसा ज्ञान कभी कभी अनुभूत होता है। अतएव मनका विशेष भाव तथा मन और विषय में विशेष भावमूलक सम्बन्ध, प्रिय और द्वेष्य विषय में तथाकथित ज्ञान का कारण है। राग द्वेष को भी वस्तुतः ऐसे ज्ञान का कारणरूप नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कुछ निश्चय नहीं है कि, सब स्थलों में यह ज्ञान समरूप से ही घटित होगा। अतएव यह पाया जाता है कि विशेष विषयसम्बन्धी मनका विशेष भाव, उक्त ज्ञानका कारण कभी कभी होता है, किन्तु यह इसका यथार्थ या नियत कारण नहीं है। अतएव यह अनिश्चित है कि अपर स्थलों में भी समरूप से ही घटित होगा या नहीं। दृष्टान्तस्वरूप, किसी के भाई की उपस्थितिविषयक प्रतिभा सत्यही होगी यह नियम नहीं। प्रथम यह मानकर कि भाई आता है पश्चात् यह कल्पना करना कि कल ही व आजायगा, यह वस्तुगत घटना के साथ उसकी आशा

की घटनाका एक मिलापमात्र होता है, जो वस्तुतः अपर कुछ कारणों के नियमों के अनुसार होगा । यदि घटना के साथ इस ज्ञानका मिलाप इसके स्वरूपगत यथार्थता के कारण होता, तो ऐसा ज्ञान प्रत्येकस्थल में समरूप से सत्य होता । जब यह ऐसा नहीं है (अनिश्चयफल है), तो इस प्रकार के ज्ञानकी कादाचित्क यथार्थताको, उसके अतिरिक्त अपर कारणों का सापेक्ष अवश्य स्वीकार करना होगा । सुतरां इस प्रकार, प्रतिभा को स्वतन्त्र प्रमाणरूप नहीं मान सकते । अतएव यह प्रदर्शित हुआ कि, प्रतिभा की यथार्थता के हेतु से मनकी सबप्रकारके-पदार्थको जान सकने की स्वतन्त्र शक्ति भी प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाणरूपसे स्वत. प्रतिभाज्ञान को यथार्थता प्रतिष्ठित नहीं हो सकी ।

(५) अब योगसे सर्वज्ञता होती है, यह पक्ष समालोचनीय है । योगाभ्यासी प्रथम अवस्था में नाना विषयों से चित्तको निवृत्त कर ध्येय विषय में लगाने का यत्न करता है । चित्त की इस अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं । द्वितीय अवस्था में चित्त ध्येयविषय में लगता है अथच दीर्घकाल पर्यन्त नहीं लगता, इसे धारणा कहते हैं । धारणाभ्यास के फलसे ध्येय में जो चित्तकी एकतानता है उसे ध्यान कहते हैं, इसी ध्यान की गम्भीर अवस्था को सविकल्पसमाधि कहते हैं । प्रत्याहार से लेकर ध्यान की प्रथम अवस्थातक, चित्तगत वासना का तिरस्कार करते हुए स्वकल्पित ध्येयमें स्थिर होने का प्रयास रहता है । सुतरां इस अवस्था में साधक के ज्ञान का, सबविषयों के साथ सम्बन्ध होने का अवसर नहीं है । उक्त अभ्यास के फल से जब चित्तकी ध्येय में मग्नता होती है, तब उक्त प्रयास नहीं रहता । इस गंभीर ध्यान और सविकल्पसमाधि में चित्त को बाह्य किसी पदार्थ का भान नहीं रहता, आन्तर पदार्थों में भी अपर कुछ भासित नहीं होता, केवल ध्येयमात्र ही स्फुटरूप से भासित होता है । अतएव इस अवस्था में सर्वज्ञता नहीं हो

सकती । इस अवस्था में सर्व विषय के साथ ज्ञानरूप चित्तवृत्ति का सम्बन्ध मानने से उक्त एकाग्रताका लोप हो जायगा, सुतरां उक्त अवस्था से विच्युति होगी । और भी, इस एकाग्र अवस्था में भी सूक्ष्म अहं का बोध रहता है, ऐसा बोध तभी सम्भव हो सकता है जब कि परिच्छिन्न पदार्थ के साथ तादात्म्याभिमान रहे (ऐसे अवस्था वाले व्यक्तिके बिना उस अवस्थाका ज्ञान नहीं हो सकता), सुतरां इस अवस्था में ज्ञानका सर्वविषय के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । सविकल्पसमाधि-अभ्यास के फलसे निर्विकल्पसमाधि होती है । इस अवस्था में अपर अवस्था के समान परिच्छिन्न देह या अहं के साथ तादात्म्य-प्रतीति नहीं रहती, साथ ही साथ उस अप्रतीति की भी अप्रतीति हो जाती है । इस ज्ञातृज्ञान के भावनारहित अवस्था में यदि ज्ञान सर्वविषयक हो, तो उक्त अवस्था से विच्युति होगी । अतएव प्रतिपन्न हुआ कि, योगकी किसी भी अवस्था में योगाभ्यासी व्यक्ति के ज्ञान के साथ, सर्व पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता, सुतरां योग द्वारा सर्वज्ञता की प्राप्ति असंभव है । यदि किसी अज्ञात कारण से किसी योगाभ्यासी में कुछ असाधारण सामर्थ्य दृष्टिगोचर हो भी जाय, तथापि इसमें कुछ हेतु नहीं है जिससे प्रमाणित कर सकें कि उक्त योगीका ज्ञान जगत्के सब पदार्थ और नियमों को विषय करता है और इसीसे वह सर्वज्ञता को पहुंच सकता है ।

उल्लिखित विचार द्वारा प्रतिपन्न हुआ कि सर्वज्ञता की सम्भावना को किसी भी प्रकार से प्रमाणित होने के योग्य नहीं पाया जाता । सुतरां सर्वज्ञरचित होने से शास्त्र प्रमाण है यह पक्ष विचारसह नहीं ।

और भी, यदि उन ग्रन्थकारों के ग्रन्थ से ही यह विदित हो कि वे सर्वज्ञ थे, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा । ऐसा होने पर, यह मानना पड़ेगा कि सर्वज्ञ ऋषिप्रणीत होने से शास्त्र प्रमाण और शास्त्र के प्रमाणत्व होने से उनके प्रणेता की सर्वज्ञता

की सिद्धि होगी। अर्थात् जब शास्त्र की यथार्थता निर्णीत होगी तब यह निर्णय होगा कि उन शास्त्र के लेखक सर्वज्ञ हैं, और जब उनकी सर्वज्ञता निर्णीत होगी तब शास्त्र की यथार्थता निःसन्देह निर्णीत होगी। अतएव शास्त्र की यथार्थता और उनके रचियता की सर्वज्ञता दोनों ही अप्रतिष्ठित होते हैं। और भी, यह मनुष्य सर्वज्ञ है, इसके जानने के लिए यह आवश्यक है कि, जो व्यक्ति इस सर्वज्ञता को कथन करता है वह भी सर्वज्ञ हो। इस व्यक्ति के ज्ञान ने प्रत्येक पदार्थ को विषय किया है इस ज्ञान के निमित्त, ज्ञाता के लिए यह आवश्यक है कि वह उक्त व्यक्ति के ज्ञान को और उस ज्ञान से सम्बन्धित समस्त विषयों को, अपने ज्ञान का विषय करे। परन्तु जब यह सम्भव नहीं, तब किसी को सर्वज्ञ रूप से मान लेना भी विचारसंगत नहीं। और भी, जिनका ज्ञान सीमाबद्ध है, जो लोग सर्वपदार्थविषयक ज्ञान के स्वरूप को स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकते और न ही वे जानते हैं कि कौनसा पदार्थ ऐसे ज्ञान का विषय है, तो वे कैसे और किस हेतु के द्वारा अपर की सर्वज्ञता का अनुमान कर सकते हैं? ऐसा कोई हेतु उनसे निर्णीत नहीं हो सकता जो दूसरे की सर्वज्ञता को सिद्ध कर सकें। यदि वह सम्भव हो तो जो लोग ऐसा अनुमान करेंगे वे स्वयं सर्वज्ञ हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह निश्चित कर सके कि, अपर को इसके विषय में ज्ञान है या नहीं, जो विषय स्वयं उसके, अपने ज्ञान के अतीत है। (ज्ञान का तर-तम-भाव अनुभव कर उसकी अवधिरूप से सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता सो आगे प्रदर्शित करेंगे)। अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि कोई व्यक्ति जो स्वयं सर्वज्ञता को अनुभव नहीं कर सकता वह ऐसी घोषणा के ऊपर विश्वास स्थापन नहीं कर सकता। अतएव उसके लिए यह असम्भव है कि वह उसको निःसन्दिग्ध होकर विश्वास करे, जो ऐसी सर्वज्ञता की घोषणाकरनेवाला कोई व्यक्ति अलौकिक विषय में कुछ कह रहा हो तथा जिसको वह अपर किसी स्वतन्त्र प्रमाण के बलसे जानने को असमर्थ है।

सर्वज्ञों में परस्पर मतभेद होने से सर्वज्ञरचित मानकर किसी भी शास्त्र का प्रामाण्य निर्णय करना सम्भव नहीं है। ऋषियो को तत्त्वदर्शी मान कर ऋषिप्रणीत शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयास निस्फल है।

उल्लिखित विचार द्वारा यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञता के विषय में न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान और न शब्द ही। इस उपर्युक्त तर्क के द्वारा अन्य भी कितने ही अवैदिक (जैन बौद्ध आदि) शास्त्रों का खण्डन होता है; जिनके सम्बन्ध में उनका भी यह मत है कि उनके शास्त्र, सर्वज्ञ महापुरुष द्वारा रचित अथवा कथित हैं। यदि सभी सम्प्रदायकों के प्रवर्त्तक, जो कि उनके अनुयायियों के द्वारा सर्वज्ञ माने जाते हैं, वास्तविकरूप से ही सर्वज्ञ होते तो उन सभी सर्वज्ञों में एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर मतविरोध नहीं होना चाहिए था। परन्तु अधिकांश सिद्धान्तों में उनका आपस में मतभेद प्रसिद्ध ही है। अतएव शास्त्ररूप से प्रचलित उनके कथन या लेखन के बलपर किसी भी विषय में किसी निर्णीत सिद्धान्त को पहुंचना, पक्षपातरहित व्यक्तियों के लिए सर्वथा असम्भव है।

अब यदि उल्लिखित पक्ष का सदोष विवेचन कर कोई वादी ऐसा कहे कि ऋषि शब्द से तत्त्वदर्शी महापुरुष अभिमत है, तो शास्त्रों में मूलतत्त्व के अतिरिक्त अपर जिन सब विषयों का (सृष्टिक्रम, जीव की गति आदि) उल्लेख पाया जाता है उसे अप्रामाणिक मानना होगा। और भी, विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि कोई भी पुरुष चाहे उसे महान या हीन कहो, तत्त्वदर्शी नहीं हो सकता। अनुभव का विवेचन करके प्रदर्शित किया जा चुका है कि ध्येयाकार मनोवृत्ति सूक्ष्म होते हुए किञ्चिद्रूप से ज्ञायमान होगी अथवा कभी अज्ञायमान भी होगी। ध्यानावस्था में मनकी क्रिया अनुभूत होती है, सुतरां उस मनोमिश्रित अनुभव के द्वारा वस्तुका तात्त्विक स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता, सविकल्प समाधि में विभिन्न भावनानुसार अनुभवभेद होता है, निर्विकल्पसमाधि में तत्त्वका निश्चय सम्भव नहीं हो सकता, अतएव तत्त्वदर्शन असम्भव है।

समाधि में तत्त्वानुभूति मानने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि, उक्त समाधि-सम्पन्न पुरुषों में तत्त्वविषयक मतभेद होने का

क्या कारण है ? इस महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान करने में प्रवृत्त होने पर पाँच विकल्प उपस्थित होते हैं। प्रथम तो यह कि, उनमें से किसी एक ने तत्त्व का अनुभव किया है तथा अपर सब लोग तत्त्वानुभूति के बिना ही मिथ्या प्रचार करते हैं। द्वितीय, उनमें से केवल एक ने सर्वोच्चकोटि के तत्त्व का अनुभव किया, किन्तु अन्य लोग उसके निम्नभाग तक ही पहुंच सके हैं। तृतीय, उनमें से केवल एक ने उच्चतम अनुभव को प्राप्त किया तथा अपर लोगों ने निम्न श्रेणी का अनुभव किया। चतुर्थ, सब लोगों ने एक ही तत्त्व का भिन्न २ प्रकार से अनुभव किया है। पञ्चम, तत्त्व का अनुभव किसी को नहीं हुआ, किन्तु अपने २ कल्पित ध्येय के अनुभव को ही तत्त्व का अनुभव समझते हैं। इनमें से प्रथम कल्प को स्वीकार करने पर यथार्थ तत्त्वदर्शी का निर्णय होना कठिन है तथा सभी साधकों के समानरूप से सविकल्प और निर्विकल्प समाधि सम्पन्न होते हुए भी उनमें से किसी एक को तत्त्व का लाभ होता है किन्तु अन्य सब उससे वञ्चित रह जाते हैं, इसको प्रमाणित करने के लिये हमारे पास कोई योग्य हेतु भी नहीं है। प्रत्येक साम्प्रदायिकों का यह दावा है कि हमारे ही आचार्य यथार्थ तत्त्वदर्शी थे, अन्य सब भ्रान्त अथवा मिथ्यावादी थे। इस प्रकार के दुराग्रहपूर्ण साम्प्रदायिक कलह में यथार्थ तत्त्वदर्शी का निर्णय होना ही कठिन है, तत्त्व के स्वरूप की तो आशा ही व्यर्थ है। द्वितीय कल्प का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि जबतक तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निर्णय नहीं हुआ है तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि तत्त्व का अमुक स्वरूप सर्वोच्चश्रेणी का है तथा अमुक स्वरूप निम्न श्रेणी का। इसी प्रकार तृतीय कल्प भी अनिर्णीत ही रह जाता है, क्योंकि उच्च और नीच का विभाग किसी विद्यमान पदार्थ (वस्तुतत्त्व) की तुलना से होता है, परन्तु प्रकृत स्थल में ऐसा कोई तत्त्व का अनुभव विद्यमान नहीं है जिसकी अपेक्षा से हम एक को उच्च और अपर को निम्नरूप से कह सकें। और भी,

उक्त प्रश्न के मीमांसा में तृतीय कल्प (समाधि-अनुभव में नीच उच्च स्तर का कथन) नहीं हो सकता ।

अनुभव की उच्चता और नीचता का विभाग तभी हो सकता है जब कि अनुभाव्य-पदार्थ (ध्येय) की श्रेष्ठता और कनिष्ठता के ज्ञात होने का कोई साधन हो। यदि किसी साधक के साधनाक्रम के अनुसार उक्त विभाग किया जाय कि, यह सर्वप्रथम कनिष्ठ कोटि के ध्येय का अवलम्बन करता हुआ क्रमशः सर्वोच्च कोटि के ध्यान में अवस्थित होता है, तो भी इससे यह निर्द्धारित नहीं हो सकता कि अमुक साधक के द्वारा प्रथम-अवलम्बित ध्येय सर्वापेक्षा कनिष्ठ है तथा अन्तिम सर्वश्रेष्ठ है। साधक लोग अपने जीवनकाल में भिन्न २ ध्येय का अवलम्बन अवश्य लेते हैं, किन्तु इससे ध्येय का नियत क्रम सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक साधक लोग अपने प्रथमाभ्यास के लिए एकही पदार्थ को अवलम्बन रूप से ग्रहण करते हुए नहीं पाए जाते। एक साधक के द्वारा अन्तिम रूप से जिस ध्येय का अवलम्बन किया जाता है वही अपर साधक के द्वारा प्रथमाभ्यास के निमित्त ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अन्य साधक लोग भी अपनी २ रुचि के अनुसार किसी ध्येय को प्रथम काल में, किसी को मध्य काल में तथा किसी को अन्तिम काल में अवलम्बनरूप से ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं। सुतरां साधकों के ध्यान-क्रम के अनुसार ध्येय पदार्थ की उच्चता और नीचता का विभाग नहीं हो सकता जिससे किसी के अनुभव को उच्चरूप तथा किसी के अनुभव को नीचरूप समझा जाय। अतएव यही मानना पड़ता है कि, विभिन्न अनुभवकर्त्ताओं को-अपनी २ रुचि और भावना के अनुसार-विभिन्न ध्येय की प्रतीति होती है; जो सभी (ध्येय) परस्पर समश्रेणी के होते हुए भी अनुभवकर्त्ता के पूर्व और पश्चात्कालीन अवलम्बन के भेद से मूल-तत्त्व और विकृततत्त्व रूप से वर्णन किए जाते हैं।

चतुर्थ कल्प भी विचारसङ्गत नहीं है। कारण, निर्विकार तथा निरंश वस्तु को विभिन्नरूप से भान होनेवाला नहीं मान सकते। यदि तत्त्व, देश और काल के भेद से भिन्नरूपसे प्रतिभात होता हो तो उसे सावयव और विकारी मानना होगा, क्योंकि

उक्त प्रश्न के मीमांसा में चतुर्थ कल्प (एक ही तत्त्व के भिन्न प्रकार से अनुभव) विचारदृष्टि से संगत नहीं ।

देशकालादि-परिच्छेदयुक्त पदार्थ में ही विकार की सम्भावना हो सकती है, जिसके फलस्वरूप एकही वस्तुका अनेकरूप से दर्शन हो सकता है । किन्तु प्रकृत स्थलमें मूलतत्त्व के स्वरूपकी जिज्ञासा हो रही है । मूलतत्त्व का स्वरूप उसे कहते हैं जो आद्यविकृतस्वरूप का पूर्वकालानुवर्त्ती हो' अर्थात् प्रथम विकार के पूर्व जो तत्त्वकी निर्विकारावस्था है उसे मूलतत्त्व का स्वरूप कहते हैं । अतएव. निर्विकार तत्त्व का भिन्नरूपसे भान होना सम्भव नहीं है । और भी, यहां पर प्रश्न होता है कि, उक्त विभिन्नस्वरूप क्या हैं ? वे उक्त तत्त्व से भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? यदि भिन्न हों तो यह कहना होगा कि उक्त विभिन्नता उस अद्वैत तत्त्व में प्रातिभासिक रूपसे रहती है, सुतरां उनमें से केवल एक के साथ परिचय होने से तत्त्व का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकेगा, अतएव तत्त्व उक्त प्रातिभासिक पदार्थों से अतीत तथा अज्ञेय रह जायगा । यदि विभिन्नता उक्त तत्त्व से भिन्न नहीं होगी (अभिन्न होगी) तो विभिन्नस्वभावकी अनुभूति से विभिन्न तत्त्वों की अनुभूति होती है, यह कहना होगा । अर्थात् उस अनुभूति को आंशिक मानना होगा जिससे-मूलतत्त्व के विभिन्न स्वरूपवान होने के कारण-पूर्णस्वरूप का निर्द्धारण नहीं हो सकता तथा यह भी निर्णय नहीं हो सकता कि अनुभूयमान विभिन्न स्वरूपोंमें से सभी मूलकारण हैं अथवा सभी कार्यरूप हैं या इनमें से केवल इतने ही उस मूलतत्त्व के विभिन्न स्वरूपमेंसे हैं । और भी, यदि उक्त विभिन्नता अद्वैततत्त्व की स्वरूपभूत होगी तो वह विकृत होगा और यदि स्वरूपभूत नहीं होगी तो एक ही तत्त्व विभिन्न रूप से प्रतीत होता है ऐसा कथन अनुचित है । और भी, उक्त कल्प तब उपपन्न हो सकता है जबकि सभी अनुभवकर्त्ताओं को अनुभाव्य (तत्त्व) विषय के मूलस्वरूपके अनुभवकालमें अपर लोगों के ध्येय का मूलस्वरूप तथा उनका ध्यान भी प्रत्यक्षगोचर होता हो । परन्तु ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता । ध्येयविषयक अनुभव अपनी एकाग्रता का फलरूप होने से, अनुभवकाल में साधक को

उक्त चतुर्थ कल्प अनुभवदृष्टि से विसंगत है। अवशेष पूर्वोक्त पञ्चम कल्प (तत्त्व का अनुभव किसी को नहीं हुआ, किन्तु अपने २ कल्पित ध्येय के अनुभव को ही तत्त्व का अनुभव माना जाना) सिद्धान्तरूप से मान्य होगा।

केवल अपना कल्पितस्वरूप ही अनुभवगोचर होता है, उसका मूलस्वरूप, अपर साधकों का ध्येयस्वरूप तथा मूलस्वरूप तथा दोनों मूलस्वरूपों की एकता का अनुभव होना तो अतिदूर रहा। और भी, जिज्ञासा विकल्पात्मक मनोवृत्तिविशेष है जो एकाग्रता में बाधक है। अतएव, जिज्ञासापूर्वक समाधि में स्थिति नहीं हो सकती और समाधि के बिना तत्त्व के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार चतुर्थ कल्प भी विचार और अनुभव दोनों दृष्टि से असंगत है। अतएव बाध्य होकर अवशिष्ट (इसके उपरान्त अपर किसी कल्प के सम्भव न होने से) पञ्चम कल्प को स्वीकार करना होगा कि, वास्तविक तत्त्व का अनुभव किसी को नहीं हुआ किन्तु अपने अपने साम्प्रदायिक शास्त्रों की वासना के अनुसार स्व-स्वकल्पित ध्येयके अनुभवको ही तत्त्वका अनुभव समझते हैं।

उपरोक्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि लोकप्रसिद्ध 'तत्त्वदर्शन' का अर्थ स्व-ध्येय दर्शन मात्र है, उक्त दर्शन का स्वतन्त्र तत्त्व के साथ कोई सम्पर्क नहीं है। साधक जिस वासना को लेकर प्रवृत्त होता है, गम्भीर ध्यानावस्था में वही वासना उसको अधिक स्पष्ट और स्थिर रूप में दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में दृश्यमान मानस-नगर स्वकल्पित होता हुआ भी सत्य-नगर के समान स्वतन्त्र सत्तावत् प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह अपनी वासना के अनुसार ही निर्मित और नियमित होता है, उसी प्रकार सविकल्प समाधि अवस्था में अनुभूत तत्त्व भी, साधक की चित्त-सत्ता के आधीन तथा उसकी वासना के अनुसार रचित और नियमित होता है। अतएव लोगप्रसिद्ध तत्त्वानुभूति शुद्ध व्यक्तिगत और वास्तविक तत्त्वानुभूति से अतिदूर है। यही उपरोक्त समस्या का एकमात्र सन्तोषप्रद

समाधि के अनुभव का विवेचन करने पर सिद्ध होता है कि तत्त्वदर्शन सम्भव नहीं। अतएव तत्त्वदर्शी ऋषिप्रणीत मानकर शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान हो सकता है*। सविकल्पसमाधि की अवस्था तक साधक लोग अपनी अपनी कल्पना का अनुभव किया करते हैं, निर्विकल्प में प्रवेश करने पर उन्हें कुछ नहीं भान होता अतएव उस अवस्था में किसी स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। पश्चात् समाधि से व्युत्थित होकर पूर्वकालीन विश्वास या पूर्वाधीन सिद्धान्तों का स्मृति जाग्रत होने पर अपनी अपनी धारणा के अनुसार उस निर्विकल्पावस्था की व्याख्या प्रदान करते हैं। सुतरां, मानवीय मन की सूक्ष्मता या एकाग्रता (सविकल्प) या निरोध प्राप्तिरूप (निर्विकल्प) इन दोनों अवस्थाओं का (इसमें भिन्न तीसरी अवस्था सम्भव नहीं है) विवेचन करने पर इस सिद्धान्त

*प्राय लोग इस समस्या का समाधान निम्नलिखित किसी कवि की लोकप्रसिद्ध-उक्ति से करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। वह उक्ति यह है, "जाकी रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन तैसी॥" यहा पर हरि शब्द का अर्थ 'मूलतत्त्व' किया जाता है तथा 'मूरति' शब्द से-भिन्न भिन्न साधकों के द्वारा अनुमूत विभिन्न स्वरूप-समझते हैं। परन्तु, दार्शनिक पद्धति से विचार करने वालों के लिए यह समाधान निरर्थक है, क्योंकि 'मूलतत्त्व' का अर्थ जगत् का वह आदि कारण है जो अपने आद्यविकार या अभिव्यक्ति के पूर्व में स्वत.सिद्ध रूप से था। यदि वही (मूलतत्त्व) विभिन्न स्वरूपोंवाला हो तो उसको एक 'हरि' शब्द से सम्बोधन नहीं कर सकते। यदि अनेक स्वरूपों के समुदाय को 'हरि' कहें तो यह मानना पड़ेगा कि उसका सर्वाङ्गीन पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता, केवल आंशिक रूप में हो सकता है, अतएव यह पक्ष भी उपरोक्त चतुर्थ कल्प के अन्तर्गत होगा जिसपर विचार किया जा चुका है। कवि के शब्दों से ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक की अपनी भावना के अनुसार ही दर्शन होता है, किन्तु कविने उस भावित मूर्ति को मूलतत्त्व रूप से कथन करने की जो धृष्टता की है, वह दार्शनिकों के लिए दयनीय है। किसी के मानसिक सङ्कल्प को मूलतत्त्व का स्वरूप नहीं कह सकते। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो 'ब्रह्मपरिणामवाद' का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जिसकी असमीचीनता का प्रतिपादन अन्यत्र किया गया है।

में पहुंचना पड़ता है कि, तत्त्वसाक्षात्कार अथवा तत्त्वानुभूति सम्भव नहीं है अतएव, तत्त्वदर्शी ऋषिप्रणीत होने के कारण शास्त्रप्रामाण्य हैं, यह कथन विचाररहित हैं ।

अब यदि ऋषि शब्द से अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति (तत्त्वदर्शी नहीं) अभिमत हो, (यद्यपि उनके रचित वेदशास्त्र में प्रौढ विचार या विद्वत्ता का परिचय नहीं पाया जाता,* तथापि) वह चाहे कैसा भी बुद्धिमान हो, उसका ज्ञान भी दर्शन (प्रत्यक्ष) और अनुमान-मूलक अवश्य होगा । हम आगे प्रदर्शित करेंगे कि दर्शन और अनुमान द्वारा मूलतत्त्व का स्वरूपनिर्णय नाना दोषों से दूषित है, तब उसे केवल उन व्यक्तियों की महत्त्वरक्षा के लिए केवल श्रद्धा के बल से स्वीकार नहीं कर सकते ।

अतएव सिद्ध हुआ कि वेदशास्त्र को या अपर शास्त्र को प्रमाणभूत मानने का समीचीन हेतु प्राप्त नहीं होता । वेदादि-शास्त्र नतो ईश्वररचित, नवा सर्वज्ञजीवरचित और न तत्त्वदर्शी-रचित हैं, किन्तु वे अवैज्ञानिक-अदार्शनिक युग में (समकाल में नहीं किन्तु भिन्न भिन्न काल में) भ्रमप्रमादपूर्ण कवियों के द्वारा

* ऋषियोकी भौतिकविज्ञान विषयक अज्ञता अतिप्रसिद्ध है और वेदशास्त्र से भी प्रमाणित होता है । इसको स्वदेशप्रेमी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जे. सी. बोसने मुक्तकण्ठ मे स्वीकार किया है । वर्त्तमान उन्नत विज्ञानशास्त्र और उसके इतिहास के विषय में अनभिज्ञ जो लोग कहते फिरते हैं कि, ऋषिलोगो को भी उक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त का परिचय था, उनका उन्होंने (जे. सि. बोस ने) "अव्यक्त" नामक ग्रन्थ में उपहास किया है । हमारे देश ने दर्शन, चिकित्सा, गणित और ज्योतिष शास्त्रो मे कथञ्चित् उन्नति किया था, सो भी वैदिकयुग के बहु पश्चात् । भौतिकविज्ञान से आविष्कृत पदार्थ लोकोपयोगी हैं, ऐसी उपयोगी विद्या के लोप का कोई कारण नहीं मिलता । ऐसे पदार्थ ऋषियों द्वारा आविष्कृत थे, इसमें कोई प्रामाणिक इतिहास भी नहीं है तथा भौतिकविज्ञानविषयक कोई भी ग्रन्थ किसी अमुद्रित ग्रन्थागार में उपलब्ध नहीं होता।

रचित हैं । उनमें जो अलौकिक विषयों के वर्णन पाये जाते हैं, वे किंवदन्तीमूलक या स्वकपोलकल्पित है । ऐसा होने पर भी कितने ही विद्वान उनको प्रमाणरूप मानते आये हैं, यह उनके स्वतन्त्रविचार का अभाव या सम्प्रदाय वृद्धि करने की वासनामूलक है; ऐसे ही अपर सम्प्रदाय वाले भी उक्त शास्त्र का तिरस्कार कर अपने अपने शास्त्र को मानते आये हैं । अतएव विभिन्नवादी, जिन्होंने शास्त्र को प्रमाणभूत मानकर तत्त्व का निश्चय किया है, वह उनका केवल अन्धपरम्पराप्राप्त साम्प्रदायिक मोह का परिचय है ।

द्वितीय अध्याय

* ईश्वर *

भूमिका

ईश्वर के विषय में भी हमारे दार्शनिकों तथा धार्मिक समाजों में नानाविध मतभेद हैं। बौद्ध, जैन, पूर्वमीमांसक, सांख्य और पातञ्जल किसी ईश्वरविशेष को जगत्कर्त्ता रूप से स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार ईश्वर को मानने वालों में भी परस्पर मतभेद है। न्याय तथा वैशेषिक-सिद्धान्तवादी के मत में ईश्वर, जगत्रूप कार्य का निमित्त कारण मात्र है। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र का निर्माणकर्त्ता जुलाहा वस्त्र के उपादान कारण सूत्रों का परस्पर संयोजक मात्र है तथा स्वयं उससे भिन्न और स्वतन्त्र है, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् के उपादानभूत परमाणुओं का परस्पर संयोजक मात्र है। परन्तु, पाशुपत तथा माध्व मतवादी, प्रकृति (जड़ शक्ति) को जगत् का उपादान कारण मानते हुए ईश्वर को निमित्तकारण मानते हैं। अर्थात् इनके मत में नैयायिकों के समान नाना परमाणुओं के संयोग से कार्यजगत् की रचना नहीं होती, किन्तु एक मूल कारण प्रकृति से ही नानाविध संसार की उत्पत्ति होती है। भास्कर, निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभाचार्यों के मत में प्रकृति, ईश्वर (अद्वैत ब्रह्म) की शक्ति है (शक्ति और ब्रह्मचैतन्य अविनाभूत) तथा उस शक्तियुक्त अद्वैत चैतन्य का परिणाम रूप जगत् भी सत्य है। जिस प्रकार जीव सुख-दुःखादिकों का निमित्तकारण होता हुआ भी स्वयं अभिन्न रहकर उनका उपादान रूप से भोक्ता है; उसी प्रकार ईश्वर भी अपने परिणाम जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। काश्मीरी शैवाचार्यों ने जगत् को अद्वैतचैतन्य का विलास माना है; जिसको

वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से (जीव के सङ्कल्पनगर के समान जो सत्य भी नहीं और मिथ्या भी नहीं) उत्पन्न कर, अपने अभिन्न स्वरूप में भिन्नता का दर्शन करता है। वीरशैव, श्रीकर-श्रीकण्ठ शैव तथा रामानुज के मत में जगत् प्रकृति का कार्य है, अतएव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है; तथापि जगत् और प्रकृति ब्रह्म से अपृथक्-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। इसी कारण इस मत में जगत् अद्वैत-ब्रह्म का परिणाम, विलास अथवा अध्यास (मिथ्या) नहीं है, किन्तु जिस प्रकार आत्मा बाल्य, यौवनादि विभिन्न अवस्थाओं से विशेषणयुक्त होता है, उसी प्रकार अपरिणामी ब्रह्म भी जडचेतनात्मक जगद्रूप विशेषण से युक्त है। शङ्कराचार्य के मत में सत्स्वरूप अधिष्ठान ब्रह्म का अज्ञान ही मिथ्या जगत् की प्रतीति (उत्पत्ति) का कारण है, यथा स्वप्नद्रष्टा का अज्ञान ही मिथ्या स्वप्नप्रपञ्च का कारण होता है।*

*अद्वैतवेदान्तियों (शांकर सम्प्रदाय) के मतमें भ्रान्तिदर्शन (जैसे रज्जु में सर्पदर्शन) के समान स्वप्न-दृश्य भी अनिर्वचनीय (सत्, असत् और सदसत् से विलक्षण) है, जो अज्ञानरूप उपादान से उत्पन्न होता है। यहापर प्रसंगवश स्वप्नविषयक मतभेद को भी प्रदर्शित करते हैं। स्वप्नावस्थामें जिन विषयों की उपलब्धि होती है वे सब असत् हैं, यह बौद्धोंको मान्य है। परन्तु रामानुज के मतमे नहीं स्वाप्न-विषय -ईश्वर के द्वारा रचित होने के कारण-सत्य है। अख्यातिवादीके मतमें स्मर्यमाण पदार्थोंका असंसर्गग्रहमात्र होता है, संसर्गानुभव नहीं होता। अतएव स्वप्नज्ञान भ्रम नहीं है तथा उसका विषय असत् या पुरोवर्त्ती सत् भी नहीं, किन्तु दूरवर्त्ती सत् है। न्यायवैशेषिकमतमें स्वप्ननामक भ्रमज्ञान पूर्वानुभूत पदार्थविषयक है। सुतरां जागरितावस्थामें जो विषय दृष्ट या अनुभूत होते हैं स्वप्नावस्था मे भी उन्हीं सत्पदार्थों स्वप्नज्ञान का विषय होनेके कारण, स्वप्नज्ञान सर्वथा असत् या अलीक नहीं है। इस मतमें अविद्यमान विषयमें ही उक्त ज्ञान होने से विशिष्टज्ञानरूप स्वप्नज्ञान मान्य है। वैशेषिकाचार्य प्रसस्तपादने चतुर्विध भ्रमको स्वीकार किया है, जिन में से चतुर्थ भ्रमरूप स्वप्न को, आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कारविशेष से उत्पन्न जो अविद्यमान विषय हैं उनका मानस प्रत्यक्षविशेषरूप कथन

❀ ईश्वरसिद्धि ❀

अब ईश्वर की सिद्धि और उसके स्वरूप विषयक विभिन्न धारणाओं का वर्णन करते हैं। देश, काल और सीमायुक्त पदार्थों का अवलोकन कर, उनके कारण के सम्बन्ध में जिज्ञासा की उत्पत्ति होनी स्वभाविक ही है। जगत् में अस्तित्ववान् समस्त पदार्थ कार्यरूप हैं, इसी से यह अनुमान होता है कि ये किन्हीं उपादान कारणों से अवश्य उत्पन्न हुए होंगे। जिस कार्य का जो उपादान कारण उपलब्ध होता है, वह (उपादान) भी कार्यरूप होने के कारण उत्पत्तिशील पाया जाता है और अन्य किसी उपादान के सम्बन्ध से युक्त होता है। इस प्रकार से प्रवाहित इस कार्य-कारण की अवधि या अन्त, अवश्य होना चाहिए। हमारी

किया है। न्यायाचार्योंके मतमें भी स्वप्नज्ञान, अलौकिक मानस प्रत्यक्षविशेष है, स्मृति नहीं। नैयायिक और वैशेषिक सम्प्रदाय का सिद्धान्त यह है कि, स्वप्नके पश्चात् जाग्रत होने पर "मैंने हस्ती देखा था" "मैंने पर्वत देखा था" इत्यादिरूप से उस स्वप्नदर्शनका मानसज्ञान स्मृतिरूप से उत्पन्न होता है, इससे यह ज्ञान होता है कि वह स्वप्नज्ञान प्रत्यक्षविशेष ही है। यदि वह (स्वप्न) स्मृति होता तो "मैंने हस्तीका स्मरण किया था" इत्याकारक ज्ञान होना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतएव स्वप्नज्ञान को एक विशेष कोटिका प्रत्यक्षज्ञान मानना ही उचित है। प्रशस्तपादने उस स्वप्न को त्रिविध रूप से कथन किया है :–(१) संस्कारकी पटुता या आधिक्यजन्य, (२) धातुदोषजन्य (वात, पित्त और श्लेष्मादोषसे उत्पन्न) और (३) अदृष्टविशेषजन्य। इनके मतमें सर्वथा अननुभूत अप्रसिद्ध पदार्थ में संस्कारके न रहने से अदृष्टविशेषके प्रभावसे ही स्वप्नज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु न्यायमतमें स्वप्नज्ञान सर्वत्र संस्कारविशेष से उत्पन्न होता है, सुतरां सर्वत्र ही पूर्वानुभूतविषयक है। मीमांसाचार्य कुमारिल भट्टने भी विज्ञानवादी बौद्धमत का खण्डन करते समय स्वप्नज्ञानको पूर्वानुभूत बाह्य पदार्थविषयक रूप से ही विचारपूर्वक समर्थन किया है। विवर्त्तवादी वेदान्त-सम्प्रदायवाले (अद्वैतवेदान्ती) स्वप्नज्ञानको स्मृतिरूप नहीं मानते, किन्तु अनुभवरूप ही मानते हैं। वे लोग स्वप्नस्थलमें मिथ्या विषय की सृष्टि और उसकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

कार्यकारणप्रवाह की अवधिरूपसे ईश्वरके अस्तित्वका अनुमान। जगत् की क्रम और सामञ्जस्य देखकर नियामकरूपसे ईश्वर का अनुमान।

विचारबुद्धि इसको स्वीकार कर सन्तुष्ट नहीं होती कि, इस कारणपरम्परा का अन्त ही नहीं अथवा जगत् ही निष्कारण है। कार्य यदि निष्कारण हो तो कार्यों की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि निष्कारणता (कारण का अभाव) निर्विशेष होती है। निर्विशेष कारण से कार्यों में विषमता का होना समुचित नहीं। इस विषमता की सिद्धि के लिये यह स्वीकार करना आवश्यक है कि यातो कारण अनेक हैं अथवा एकही कारण नाना शक्तिसमन्वित होगा; तभी उक्त कार्य-वैचित्र्य की सिद्धि हो सकेगी। यदि कार्य निष्कारण हो तो उसका कादाचित्कत्व (अर्थात् कभी होना और कभी न होना) सम्भव नहीं; यातो सदैव होता ही रहेगा अथवा कभी भी नहीं होगा। सुतरां, सापेक्ष होने के कारण, कार्य का कारण होना आवश्यक है। अतएव 'जगत् निष्कारण ही उत्पन्न है' ऐसा निश्चय होना कठिन है। 'जगत् के कारण-परम्परा का कहीं अन्त नहीं है' इस कथन में भी अनवस्थादोष होगा। जगत् के कारणधारा की परम्परा का अवसान न होनेसे हमारी उक्त (कार्य को देख कर कारण की) जिज्ञासा अपूर्ण रह जाती है; तथा इस पक्ष को भी बुद्धि स्वीकार नहीं करती।

अब यदि कारण-परम्परा का अन्त मान लिया जाय तो यह विचार उत्पन्न होता है कि वह अन्तिम कारण चेतन है अथवा अचेतन? केवल अचेतन (जड) कारण में क्रिया की स्फूर्ति न होने से क्रिया का नियमन भी नहीं हो सकेगा, तथा सांसारिक क्रम और सामञ्जस्य का सन्तोषजनक हेतु भी प्राप्त नहीं होगा। अतएव, सांसारिक क्रियाओं के क्रम को नियमबद्ध देखकर हमको अनुमान करना पड़ता है कि कारण में अवश्य ही कोई उद्देश्य, क्रियाकारी होता है, जिससे कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा सांसारिक पदार्थों में साम्य और सामञ्जस्य सुरक्षित रहते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जगत् का कारण केवल अचेतन नहीं है; किन्तु 'जड संसार का उपादान कारण भी जड ही

होना चाहिए' इस नियम को मानते हुए ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि उक्त अन्तिम कारण किसी चेतनावान पुरुष के द्वारा नियमित है । उस चेतनावान कारण को भी एक ही मानना होगा, नहीं तो सृष्टि आदि में अव्यवस्था होगी। एक चैतन्य मान लेने से उसे सर्वशक्तिमान (सर्वविषयक ज्ञानवान और इच्छावान) भी अवश्य कह सकते हैं, परन्तु यदि कारण अनेक हों तो उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी निष्फल ही होगी, कारण, एक सर्वशक्तिमान या तो दूसरे सर्वशक्तिमान की शक्ति का तिरस्कार कर सकेगा नहीं तो उसको सर्वशक्तिमान मानना भी असङ्गत होगा । सीमित शक्ति और प्रयत्नवान होने के कारण, वे इस असंख्य वैचित्र्यमय विश्व के सृष्टिकर्त्ता और नियामक नहीं हो सकेंगे। फलतः जगत् का कारण ईश्वर एक है, यही बुद्धि को समीचीन प्रतीत होता है।

ईश्वरस्वरूप विषय में विवेचन

उपर्युक्त विचारधारा के द्वारा यह सिद्ध होने के पश्चात् कि जगत् का मूलकारण (ईश्वर) सचेतन है, अब उसके स्वरूप की विवेचना में मानवबुद्धि प्रवृत्त होती है । शाङ्करमतानुयायीलोग कार्यप्रपञ्च में जडांश को देख कर अनुमान करते हैं कि, कारण में भी जडांश है तथा उसके अवधिरूप होने से मूलकारणगत चेतन को वे लोग स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश मानते हैं। मूलकारणगत चेतनांश और जडांश में से, चेतन के स्वप्रकाश होने से तथा जडांश को अपने प्रकाश के निमित्त चेतन की अपेक्षा होने से, दोनों ही अंश स्वतन्त्र कारण नहीं हैं किन्तु केवल चेतनांशमात्र स्वतन्त्र है । जड पदार्थ, चेतन का स्वरूपगत नहीं हो सकता, अतएव चेतन निर्विशेष है और उससे प्रकाशित जडकारण एक है (जडत्व के सर्वत्र समरूप से प्रतिभात होने के कारण, जड कारण एक है)। चेतन स्वरूपतः (अखण्ड) भासमान न होकर जड़ कार्यों

में विभक्त रूप से प्रतिभासित होता है । सुतरां, उस अवधि रूप निर्विकार चेतन तत्त्व के इस प्रकार भान होने के लिए, आवरण-विक्षेपात्मक शक्ति (कार्यदृष्टि से) आवश्यक है । वह अज्ञान है, जिससे उक्त तत्त्व आवृत (स्वरूपतः प्रतिभात नहीं) होकर अन्यरूप से भासमान (विक्षिप्त) होता है । वह जड़कारण (अज्ञान) चेतन से भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न तीनों ही नहीं है अतएव उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है । अद्वैतवादी लोग उपर्युक्त प्रकार से ईश्वर के स्वरूप का विश्लेषण कर, एक स्वप्रकाश निर्विशेष चैतन्यस्वरूप अधिष्ठान (सत्तास्फूर्तिप्रद कारण) और अनिर्वचनीय अज्ञान को जगत् का कारण मानते हैं । अतएव इस मत में, निर्विशेष अधिष्ठान चेतन सहित अज्ञान ही ईश्वर है तथा वही मायावी और जगत् का नियामक है जैसे जीव अपने मनोराज्य (मिथ्या) का स्वतन्त्र नियामक होता है ।

रामानुज के मत में जगत् के चेतन कारण को, निर्विशेष मान कर, उसकी निर्विशेषता बनाए रखने के निमित्त जो आवरण-विक्षेपात्मक जडकारण अज्ञान को मानना पड़ा है सो सब व्यर्थ है । कारण, इस विषय में प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है । श्रुति के द्वारा भी उक्त निर्विशेषता की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि श्रुति के शब्द केवल गुणादियुक्त पदार्थों का ही बोध करा सकते हैं, निर्विशेष का नहीं। अतएव रामानुज के मतानुसार जगत का चेतन कारण निर्विशेष अधिष्ठान रूप चेतन मात्र नहीं किन्तु वह सविशेष तथा चेतनायुक्त है । चेतन कारण का निर्विशेष होना उचित नहीं तथा जड का कारण (उपादान) भी जड ही होना चाहिए और जड, चेतन, परस्पर सर्वथा भिन्न होंगे ही; अतएव यह स्वीकार करना होगा कि, जगत् का मूल कारण चेतनायुक्त है तथा उससे भिन्न जडशक्ति (प्रकृति) भी कारण है । ये जड कार्य और जड कारण, उस चेतनायुक्त सविशेष ब्रह्म से सर्वथा भिन्न होते हुए भी उस अद्वैत चैतन्य से अपृथक् सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, जो उस अद्वैत तत्त्व के विशेषण रूप हैं । फलतः जिस

प्रकार शरीररूप विशेषण से युक्त जीवात्मा शरीर का नियामक है, उसी प्रकार जीव और जगद् रूप विशेषण से युक्त अद्वैत ईश्वर (ब्रह्म) भी, अपने से अपृथक्सिद्ध वास्तव (सत्य) जगत् का नियामक है।

'दृश्यमान जगत् ब्रह्म का परिणाम है' इस मत के अनुयायी भास्कर, निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभाचार्यों का कथन है कि ब्रह्म से जगत् का भेद स्वीकार कर पुनः जगत् को उसका विशेषण मानना समीचीन नहीं, इसमें गौरव होता है। सुतरां यह मानना उचित है कि ब्रह्म से जगत् स्वभावतः भिन्नाभिन्न (भिन्न और अभिन्न दोनों ही) है, क्योंकि इसमें लाघव है। अतएव जिसे जड़ कारण कहते हैं वह (प्रकृति), ब्रह्म का विशेषण रूप (सर्वथा भिन्न) नहीं, किन्तु शक्तिरूप है। उस शक्ति के सहित चेतनावान अद्वितीय ब्रह्म ही जड रूप से परिणाम को प्राप्त होता है और वही ईश्वर है। जिस प्रकार सुखदुःखादियों का नियामक जीव, उन से भिन्न होता हुआ भी अभिन्न रूप से उनका अनुभवकर्त्ता है, उसी प्रकार ईश्वर भी स्वात्मान्तर्गत जगत्प्रपञ्च का नियामक है।

द्वैतवेदान्ती मध्वाचार्य के मतवादियों का कहना है कि, निर्विकार ब्रह्म को केवल निमित्त कारण मात्र मानना चाहिए, उपादान कारण भी मानने से उसकी निर्विकारता नहीं रहेगी। सत्कार्यवाद के अनुसार उक्त मत में जो जड जगत् का उपादान कारण जड प्रकृति है, उसे ब्रह्म की शक्ति नहीं, किन्तु ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानना उचित है। अतएव इनके मतमें चेतन कारण (ईश्वर), जड़ कारण (प्रकृति) से सर्वथा भिन्न और जड़ शक्ति का नियामक है तथा स्वयं निमित्तकारण मात्र है। नैयायिक तथा वैशेषिकों का कथन है कि, एक अव्यक्त (रूपादि रहित) शक्ति, जगद् रूप से परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्त चार प्रकार के परमाणु ही कार्यजगत् के

आरम्भक हैं । कार्यजगत् का मूल उपादान प्रकृति नहीं, किन्तु परमाणु हैं* । परमाणुवाद के प्रतिष्ठित होने पर, परमाणु के स्थिर और अचेतन होने से उनकी गति, संयोग और नियमित क्रियाओं की सिद्धि के लिए न्याय-वैशेषिक वादियों ने सचेतन क्रियाशील निमित्त कारण रूप ईश्वरको स्वीकार किया है । इनके मतानुसार ईश्वर कार्यजगत् का उपादान नहीं किन्तु निमित्त कारण मात्र है । उपादान कारण में जो रूप, रसादि विशेषगुण हैं, उनसे उत्पन्न द्रव्य में भी वे अनुगामी होने हैं और उसी जाति वाले विशेषगुण उत्पन्न होता है । ईश्वर में रूप, रसादि गुण किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हैं । यदि ईश्वर किसी कार्य का उपादान कारण बनेगा

* मूल उपादान के विषय में इस प्रकार के मतभेद होने का कारण यह है कि उपर्युक्त प्रकृतिवादी कार्य और कारण में भेदाभेद मानते हैं तथा मृत्तिका रूप कारण में घटरूप कार्य को सत् मानते हैं और इसी नियम के आधार पर जगत् के मूल उपादान (प्रकृति) कारण में भी, उत्पत्ति से पूर्व जगत्प्रपञ्च की सत् रूप से कल्पना करते हैं । परन्तु परमाणुवादी (न्यायवैशेषिक) प्रकृतिवादी-सम्मत सत्कार्यवाद का तिरस्कार करते हुए कार्य और कारण में परस्पर भेद मानते हैं । सत्कार्यवादी (प्रकृतिवादी) का कथन है कि, यदि कारण मे सूक्ष्म रूप से कार्य नहीं रहता, तो उस कारण से वही कार्य नियम-पूर्वक उत्पन्न नहीं होगा । अतएव कारण में कार्यका अवस्थान अवश्य होने से कार्य की उत्पत्ति अभिव्यक्तिमात्र है । अभिव्यक्ति भी सत् की ही हो सकती है, असत् की नहीं । यद्यपि कारण मे कार्य का अवस्थान अभेद रूप मे है एवं कारण भी कार्य में नित्य अनुगत पाया जाता है; तथापि कार्य और कारण में भेद का व्यवहार प्रत्यक्ष व्यवहृत होने से भेदाभेदात्मक सत्कार्यवाद ही सुसङ्गत है । परन्तु असत्कार्यवादी (नैयायिकों) को यह मान्य नहीं । उनके मत में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही इसकी व्यवस्था हो जाती है । उन उन कार्यविशेषों के प्रति उन उन कारणविशेषों की कारणता स्वीकार कर लेने से ही अतिप्रसङ्ग का निवारण हो जायगा । अतः सूक्ष्म रूप से अवस्थान को स्वीकार करना व्यर्थ है । (उक्त दोनों मत का स्पष्टीकरण आगे होगा) ।

तो उस से उत्पन्न कार्य में भी रूपादि गुणों का अभाव होगा । ईश्वर में केवल चेतनता ही एक विशेष गुण है अतः उससे उत्पन्न द्रव्य में चेतनता की उत्पत्ति हो सकती है । फलतः रूपादियुक्त जड़ जगत् का उपादान रूपादि गुणयुक्त जड़ द्रव्य ही हो सकता है, चैतन्य ईश्वर नहीं । यदि ईश्वर को जगद्रूप से परिणत मानें तो जगत् की चेतनत्वापत्ति भी अनिवार्य होगी, जोकि प्रत्यक्षविरुद्ध है । वस्तुतः निर्विकार ईश्वर का, जगद्रूप से परिणाम को प्राप्त होना ही असम्भव है । अतएव ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है और रूपादि गुणयुक्त परमाणु उपादान कारण हैं ।

अब जगदुपादन के विषय में मतभेद वर्णन करते हैं ।

ॐ परमाणुवाद ॐ

संघातवादी बौद्ध के मत में जड़प्रपञ्च, कर्मनियमित, क्षणिक तथा परमाणुपुञ्जरूप (परमाणुओं से अभिन्न) है । अर्थात् कार्य, कारणों का संघातमात्र है, न कि नवीन उत्पन्न द्रव्य अथवा कारण का परिणाम । जैन मत में जगत्, कर्मनियमित, स्थिर, परमाणुओं (पुद्गल) का अवस्थान्तर या परिणाम (भिन्नाभिन्न) है । प्रभाकर मीमांसक के मत में जगत्, कर्मनियमित तथा परमाणु का कार्य (भिन्न) है । न्यायवैशेषिक मत में कार्यजगत्, ईश्वरनियमित (कर्मसहकार) तथा परमाणुका कार्य (भिन्न) है ।

न्यायवैशेषिकमत में उत्पत्ति के पूर्व तथा विनाश के पश्चात् कार्य की उपलब्धि न होने से कार्य सत् नहीं होता, अतः इस मत का नाम "असत्कार्यवाद" है । अतएव कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण के अस्तित्वकाल में उसमें कार्य नहीं रहेगा, कार्य का अभाव उसमें रहेगा । इसलिए प्रागभाव मानना पड़ेगा । इस मत के अनुसार कार्य, कारण में अनभिव्यक्त रूप से नहीं रहता, किन्तु वह कारण से उत्पन्न होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न होता है । कार्य और कारण के बुद्धिभेद, शब्दभेद, कार्यभेद,

संस्थानभेद और संख्याभेद आदि भेद होने से वे विभिन्न होते हैं। कार्य और कारण का अभेद हो तो, उत्पत्तिविरोध, निरोधविरोध, बुद्धिभेदविरोध, व्यपदेशभेदविरोध, अर्थक्रियाभेदविरोध-ऐसे विरोध उपस्थित होंगे। घटादि कार्य अपने उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् अपने उपादान कारण में नहीं रहता तथा स्थितिकाल में अपने कारण के साथ अपृथक् रहता है; इस प्रकार कार्य और कारण दोनों से अतिरिक्त, इनको परस्पर सम्बन्धयुक्त करनेवाला एक समवाय सम्बन्ध भी माननीय है, जिससे दो पृथक् सम्बन्धियों का अपार्थक्य प्रतीत हो। इनके मत में उपादानकारण का नाम समवायिकारण है। उस समवायिकारण से उत्पन्न कार्य का अपने कारण के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है। कार्योत्पत्ति के पूर्व में सत् (विद्यमान) उपादान कारण से जो असत् (अविद्यमान) कार्य की उत्पत्ति है, उसी का नाम 'आरम्भ' है; अतः इसी(आरम्भवाद) नाम से यह वाद प्रसिद्ध हुआ है। उक्त असत्कार्यवाद ही इस आरम्भवाद का मूल है। असत्कार्यवाद ग्रहण करने से परिणाम और विवर्त्तवाद की उत्पत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती।*

*परिणामवाद-सांख्यादि दार्शनिक कार्य को सत् मानकर उसके कारण को सत् मानते है। कार्य कारणाभिन्न होता है। एक परिणामी मूल उपादान रूप सत् ही कार्यरूपसे अभिव्यक्त होता है। इस मत में कार्य और उपादान कारण समस्वभाव होने से जड कार्यों के कारणरूप प्रकृति सिद्ध होती। ब्रह्मपरिणामवादी वैष्णवलोग ऐसा नियम नहीं मानते। उनके आशय यह है कि, यदि उपादान के सब गुण उपादेय में अनुगत हो तो उसको कार्य नहीं कह सकते, अतएव ब्रह्म (अद्वितीयचेतन) के समस्त गुणो का जगत् में अन्वय नहीं है, किन्तु वह केवल सत्तारूप धर्म से अपने परिणाम जगत् में अनुगत है। "घटः सन्", "पटः सन्" इत्यादि सद्रूप से जगत्के प्रत्येक अवयव में ब्रह्म की प्रतीति होती है। विवर्त्तवाद-अद्वैतवेदान्तिलोग भी सत् को अद्वितीय तत्त्व मानते हैं, परन्तु इस मतमें वह परिणामिरूप धर्मी (या नैयायिकादिसम्मत

परमाणु का परिचय । परिणाम और विवर्तवाद से पृथक् आरम्भवाद या परमाणुवाद का तात्पर्यवर्णन ।

इस मत में व्यक्त कार्य की उत्पत्ति का कारण भी व्यक्त ही होता है, अव्यक्त नहीं । अर्थात् रूपादिगुणविशिष्ट व्यक्त उपादान कारण से ही व्यक्त कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है, अव्यक्त उपादान से व्यक्त कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । सांख्यशास्त्रसम्मत अव्यक्त पदार्थ (रूपादिरहित त्रिगुणात्मिका प्रकृति) व्यक्त कार्य का मूलकारण नहीं, किन्तु रूपादिगुणयुक्त पार्थिवादि परमाणुही शरीरादि व्यक्त द्रव्य के मूल कारण हैं । प्रत्यक्षसिद्ध सावयव रूपादिगुणयुक्त (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) पदार्थ का दर्शन कर न्यायवैशेषिकलोग, उनके अवधिभूत (अवयवधारा का विश्रामस्थल) तथा उन कार्यों से सर्वथा भिन्न रूपादिगुणयुक्त निरवयव परमाणु मानते हैं । पृथिव्यादि चारों भूतों का सर्वापेक्षा सूक्ष्म अंश, जिनकी उत्पत्ति, विनाश अथवा और किसी प्रकार का परिणाम या विकार नही हो सकता वेही इनके मत में परमाणु हैं । स्पष्टीकरणः–उक्त मत में अप्रत्यक्ष परमाणुओं प्रत्यक्ष-अवयवि के द्वारा अनुमित होते हैं । जल का आहरण आदि कार्य घट से होता है न कि मृत्तिका-पिण्ड से, आवरणादिरूप कार्य वस्त्र से होता है न कि सूत्र से । अतएव उक्त पिण्ड और सूत्र से अतिरिक्त घट और वस्त्र मानना उचित है । इसप्रकार से अवयवि

अपरिणामी धर्म) नहीं किन्तु वह अपरिणामी धर्मी वा अधिष्ठान है । इस मत में अनिर्वचनीय कार्यका समस्वभाव अनिर्वचनीय परिणामशील उपादान कारण (माया या अज्ञान) माना जाता है । आरम्भवाद—न्यायवैशेषिकलोग कार्यको उत्पत्तिके पूर्व और नाश के बाद असत् मानते हैं । मध्य में वह सत् होता है । इससे विभिन्न व्यक्ति से भिन्न नित्य सत्रूप जाति (धर्म) सिद्ध होती है । इस मतमें जाति–व्यक्ति के समवाय मान्य होनेसे व्यक्ति और जातिका सर्वथा भेद होनेसे सत्को परिणामी नहीं मान सकते । समजातीय पदार्थसे समजातीय कार्य दृष्ट होनेसे (रक्त सूत्रसे निर्मित वस्त्र रक्तरूपवाले ही होता है), बहुसे एक की आरम्भ देखने से, सूक्ष्मसे स्थूलकी उत्पत्ति होनेसे कार्यप्रपञ्चका मूलउपादान रूपादियुक्त (व्यक्त) चार प्रकार परमाणु अनुमित होता है ।

सिद्ध होने पर उसके अवयव-धारा की कहीं अवश्य विश्राम कहना होगा। यदि इस अवयव-धारा का अवसान न मान कर अनन्त अवयव-परम्परा स्वीकार किया जाय, तो पर्वत और सर्षप के परिमाण की तुल्यत्वापत्ति होगी। कारण, जिस प्रकार अवयव-धारा का अवसान न होने से पर्वत के अनन्त अवयव होंगे, उसी प्रकार सर्षप की भी अवयव-धारा का अवसान न होने पर सर्षप को भी अनन्त अवयववान कहना होगा। फलतः दोनों के अनन्त अवयववान होने के कारण, तुल्यत्वापत्ति होगी और इनके परिमाण में भेद-व्यवहार नहीं हो सकेगा। किन्तु पर्वत और सर्षप की अवयव-धारा का किसी स्थान में विश्राम को स्वीकार करने पर, पर्वत के अवयव-परम्परा से सर्षप की अवयव परम्परा के संख्या की न्यूनता सिद्ध होने से पर्वत की अपेक्षा सर्षप का क्षुद्र-परिमाणत्व सिद्ध हो सकता है। अतएव, यह स्वीकार करना पड़ता है कि पृथिव्यादि स्थूल भूतों की अवयव-धारा का विश्राम कहीं न कहीं अवश्य होगा। जिन अवयवों पर उसका विश्राम स्वीकार किया जायगा वे अवयव या अंश से रहित होंगे और उनका उपादान भी कोई नहीं होगा, जिससे उनको नित्य द्रव्य रूप स्वीकार करना होगा। इस प्रकार के नित्य द्रव्य को ही 'परमाणु' कहते हैं जो सर्वापेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है। अतएव सिद्ध होता कि रूपादि गुणविशिष्ट मृत्तिकादि स्थूल भूत से सजातीय अन्य स्थूल भूत (घटादि द्रव्य) की उत्पत्ति जब प्रत्यक्षसिद्ध है: तब इसी दृष्टान्त से अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि रूपादिगुणयुक्त भूतात्मक कार्यजगत् भी (इस मत में आकाश अवयववान न होने से नित्य द्रव्य है) अपने सजातीय सूक्ष्म परमाणु से ही उत्पन्न होते हैं। अतएव पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय अति सूक्ष्म नित्य द्रव्य ही पृथिव्यादि जन्य द्रव्य के मूल कारण हैं। परमाणुओं के अनेक होने के कारण, उनका परस्पर संयुक्त होना आवश्यक है, सम्मिलित हुए बिना वे स्थूल के आरम्भक नहीं हो सकेंगे। इस संमेलन के फलस्वरूप क्रमशः

स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम प्रपञ्च की रचना होती है।*

*उक्त न्यायवैशेषिकसम्मत सिद्धान्त को अन्य सब वादों (द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद) से पृथक् करके, बहुत्ववाद भी कह सकते हैं। अब इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की रीति प्रदर्शित करते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त अन्य सब सिद्धान्तों का खण्डन होना आवश्यक है, तभी उसकी ऐकान्तिक प्रतिष्ठा हो सकती है। यदि बहुत्ववाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करना हो, तो द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सिद्धान्त की असमीचीनता प्रदर्शित करते हुए, अपने स्थापन किए हुए पक्षको दृढ़तर युक्तितर्क एवं प्रमाणों के द्वारा परिपुष्ट करना चाहिये। साङ्ख्यसम्मत द्वैतवाद के खण्डन के लिए बहुत्ववादी को यह प्रतिपादित करना होगा कि, साक्षीपुरुष कोई नहीं है, किन्तु ज्ञानाश्रय जड़ आत्मा ही विषयों का ज्ञाता है। ज्ञानगुण–समवेत आत्मा ही सुखादिमान है, अतएव साङ्ख्यसम्मत बुद्धि को मानने की आवश्यकता नहीं। सुखादि आकार में परिणत होनेवाली बुद्धि को स्वीकार करने पर ही, उसके प्रतिसंवेदी (अनुभवकर्त्ता) रूप से साक्षीचेतन के मानने की आवश्यकता होती है: उक्त आत्मा को स्वयं सुखादियुक्त मान लेने पर साक्षीचेतन और बुद्धि के बिना ही निर्वाह हो जाता है। आत्मा की उपद्रंपक लिए यह प्रतिपादित होना चाहिए कि, चेतन के (ज्ञानगुण से) अतिरिक्त कोई अपर ज्ञान (नित्यज्ञानस्वरूप) नहीं है तथा चेतनप्रतिबिम्बित अन्तःकरणविशेष भी कोई वस्तु नहीं है। साङ्ख्यसम्मत प्रकृति के खण्डन के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि, सत्कार्यवाद समीचीन नहीं, स्थूल और सूक्ष्मकार्यरूप में परिणाम को प्राप्त होनेवाली कोई उपादान प्रमाणसिद्ध नहीं है। उपरोक्त रीति से प्रदर्शन करने पर द्वैतवाद की असमीचीनता प्रतिपादित होगी।

इसीप्रकार विशिष्टाद्वैतवाद के निराकरण के लिए बहुत्ववादी को यह प्रतिपादन करना होगा कि, कार्य और कारण में भेदाभेद नहीं किन्तु सर्वथा भेद है। अत्यन्त भिन्न कार्य और कारण को सम्बद्ध करने वाला समवाय है। अखण्डचेतन स्वयं उपादान कारण नहीं हो सकता तथा उसकी सर्वशक्तिमत्ता भी युक्तिसिद्ध नहीं है: प्रत्युत इस प्रकार का अखण्डचेतन और शक्ति दोनों ही अलीक हैं।

बहुत्ववादीके अनुसार अद्वैतसिद्धान्त के खण्डन की रीति ।

केवलाद्वैतसिद्धान्त के खण्डन के निमित्त बहुत्ववादी को यह निरूपण करना होगा कि, अन्तःकरण से अतिरिक्त बाह्यप्रदेश में ज्ञान या स्फुरण (सत्‌चित्) नहीं है, अतएव अन्तर्बहिर्व्यापक अखण्ड ज्ञानस्वरूप चेतन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर ज्ञेयप्रपञ्च प्रतिभात होता है, ऐसा सिद्धान्त नहीं माना जा सकता; किन्तु यह मानना उचित है कि, आभ्यन्तर उत्पत्तिशील ज्ञान का विषय होने के कारण, बाह्यप्रपञ्च कदाचित् ज्ञात और अज्ञात होता है, अतएव बाह्य-प्रपञ्च की स्वतन्त्र सत्ता है । अद्वैतवादीसम्मत सत् की अखण्ड स्फुरणरूपता, धर्मीरूपता और उपादानरूपता का खण्डन करके यह प्रदर्शन करना होगा कि, सत्ता अनुगत जातिरूप धर्म है तथा जाति और विभिन्न व्यक्तियों का समवाय है । साक्षी-खण्डन के प्रसंग में यह प्रतिपादन करना चाहिए कि, धारावाहिक-ज्ञानस्थल में एक अनुगत साक्षीचेतन को न मानकर यह निरूपण करना होगा कि, उक्त स्थल में साक्षी नहीं किन्तु अनुव्यवसायज्ञान मात्र है । धारा के अन्त में उक्त ज्ञानों की उपस्थिति होने पर ज्ञानत्व–सामान्य लक्षणा के द्वारा उक्त अनुभव उपपन्न होता है । यह भी प्रतिपाद्य है कि, अज्ञान भावरूप और बाह्यदेशस्थ नहीं, किन्तु ज्ञान का प्रागभावरूप है । बाह्य विषय के ज्ञात होने के पश्चात् उसकी अपेक्षा से अज्ञातत्व का कथन (अनुमान) होता है, अतएव अज्ञान कोई भावरूप पदार्थ नहीं जिसकी (बाह्यदेशस्थ अज्ञानकृत अज्ञातत्वकी) सिद्धि के लिए साक्षीचेतन की आवश्यकता हो । त्रिविध अवस्था का साक्षी भी कोई नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव होता है जिसका अनुमान व्युत्थित होकर किया जाता है (अज्ञान को ज्ञानाभावरूप प्रदर्शन करने पर ज्ञान का स्वरूप आगन्तुक अर्थात् उत्पत्ति–विनाश–शील एवं मनःसंयोगजनित सिद्ध होगा । ऐसा होने पर निरवयव का संयोग भी माननीय होगा, जिससे परमाणु–संयोग का दृष्टान्त मिलेगा । स्वप्नज्ञान भी केवल स्मृतिरूप है अथवा ज्ञानलक्षणाजनित प्रत्यक्ष है । अतएव इस रीति से साक्षी के असिद्ध होने पर केवलाद्वैतवादी-सम्मत ब्रह्म (अखण्डचेतनतत्त्व) खण्डित होगा । फलतः स्वप्रकाशचेतनरूप ब्रह्म को जडप्रपञ्च का विषयीरूप मानकर —विषय और विषयी को तमप्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाववान बतलाकर— युक्तिविरुद्ध अध्यास को मानलेना भी अनुचित है, क्योंकि स्वप्रकाश अखण्डसाक्षीस्वरूप किसी चेतन का अस्तित्व असिद्ध है । एवं जो विषयी होता है वह विषय नहीं हो सकता यह कल्पना भी

❀ प्रकृतिवाद ❀

सांख्य तथा पातञ्जल मत में सत्कार्यवाद मान्य है। उपादान कारण के साथ असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने से अव्यवस्था (मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती परन्तु पट की उत्पत्ति नहीं होती ऐसी व्यवस्था नहीं) होगी, अथच कारण और कार्य का सम्बन्ध वे दोनों रहे बिना नहीं रह सकता, अतएव उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानना होगा। उपादान कारण में कार्य के

समीचीन नहीं है, क्योंकि आत्मा विषयी या ज्ञाता होकर भी मानस प्रत्यक्ष का विषय होता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा का विरुद्ध स्वभाव नहीं है तथा तादात्म्य भी नहीं है, किन्तु आत्मसमवेत ज्ञान के साथ विषय का विषय-विषयी सम्बन्ध (तात्त्विक) होता है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार जगत् का मिथ्यात्व (अध्यास) भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि मिथ्यारूप अनुमान के लिए दृष्टान्त का अभाव होने से व्याप्तिज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। भ्रान्ति स्थल में भी ऐसी व्यवस्था देने पर कि-ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से दूरवर्ती विषय भी सन्मुख प्रत्यक्ष रूप से स्थित होकर साक्षात्कार का विषय हो सकता है- अर्थाध्यास (साक्षात्कारके अनुरोध से अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति) सिद्ध नहीं होगा और अनिर्वचनीय-ख्याति निराकृत होगी। इसी प्रकार स्वप्न में भी अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति असिद्ध हो जायगी, सुतरां अनिर्वचनीय कार्य के उपादान रूप से अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान की कल्पना भी असङ्गत सिद्ध होगी।

उपरोक्त वादों को खण्डित करने के पश्चात्, बहुत्ववाद की प्रतिष्ठा के लिए पदार्थों की परस्पर भिन्नता अव्याहत रहनी चाहिए। 'सत् सत्' इत्याकारक अनुगत प्रतीतिस्थल में सत् को अनुगत जातिरूप धर्म मानकर (असत्कार्यवाद सिद्ध होने पर भी सत् धर्मरूप सिद्ध होगा, धर्मी नहीं) उसके साथ भिन्न भिन्न व्यक्तियों का समवाय मानना चाहिए। समवाय दो पृथक् सम्बन्धियों से स्वयं पृथक् रहता हुआ भी उनको परस्पर अपृथक् रूप से प्रतीत कराता है। अतएव बौद्धसम्मत अनुगत प्रतीति का भ्रान्तित्व तथा जैन-जैमिनि आदि सम्मत सामान्य-विशेषात्मक अथवा अनुगत-व्यावृत्तात्मक वस्तु एवं अद्वैतवादीसम्मत विशेष का मिथ्यात्व आदि सभी पक्ष को युक्तरहित और असंगत मानकर ऐसा मानना उचित है कि, सामान्य और विशेष ये दोनों ही सत्य होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं।

अव्यक्त रहने से उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अनुपलब्धि होती है। कार्य की उत्पत्ति होती है इसका अर्थ यही है कि पदार्थ अव्यक्त-अवस्था को छोड व्यक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं। घटमृत्तिका-स्थल में मृत्तिका के पिण्डादि रूप से आवृत होने के कारण उस काल में उसमें विद्यमान घट की भी उपलब्धि नहीं होती। कुलालादि कारणके व्यापार द्वारा उक्त आवरण के भंग होने पर घट अनुभवगोचर होता है। उस सत् कार्य का अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आना ही कारण का 'परिणाम' है। उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य के सद्रूप सिद्ध होने पर तथा कारणावस्था में स्थित कार्य और कारण के भेद में प्रमाणाभाव के कारण अभेद सिद्ध होनेसे, उत्पत्ति के पश्चात् भी उन दोनों का अभेद ही अङ्गीकार करना उचित है। कार्य और कारणके बुद्धिभेद, शब्दभेद, कार्यभेद, संस्थानभेद और संख्याभेद आदि भेद अवस्थाभेद के कारण भी संभव है। मृत्तिका और घटका एकवस्तुत्व होने पर भी अवस्थाभेद के कारण अर्थक्रियादि व्यवहारभेद होता है। अत: वह कार्यकारणके भेद को साधित नहीं करता। रूपकी दृष्टि से घटादि कार्य, मृत्तिकादि कारण से भिन्न है; किन्तु वस्तु की दृष्टिसे कार्य कारण से अभिन्न है। अतएव कार्य और कारण में भेदाभेद सम्बन्ध है। कार्य का कारण से अभेद होने पर भी भेदव्यवहार होने से रूपान्तर (परिणाम) होता है। इस मत में सत् कारण से सत् ही कार्य का भेद और अभेद अङ्गीकार करके परिणामवाद स्वीकृत होता है। *

*सत्कार्यवादके अनुसार कोई कहते हैं कि, सूत्रमात्र ही वस्त्र है अर्थात् सूत्र से वस्त्र किसी प्रकार भी पृथक् द्रव्य नहीं है; तथा कोई आकृतिविशेष-विशिष्ट सूत्रसमूहको ही वस्त्र कहते हैं; एवं किसीका कथन है कि, सूत्रसमूह ही वस्त्ररूप से अवस्थित होते हैं अर्थात् सूत्रसमूह सूत्ररूपसे वस्त्रसे भिन्न होने पर भी वस्त्ररूपसे अभिन्न हैं, और किसी के मतमें सूत्रसमूहसे वस्त्र नामक किसी पृथक् द्रव्यका आविर्भाव नहीं होता, किन्तु उस सूत्रकेही धर्मान्तर का आविर्भाव और धर्मान्तर का तिरोभाव मात्र होता है; तथा किसी के मतानुसार

सत्कार्यवादिमत में अव्यक्त प्रकृति ही समग्र जगत् का मूल उपादान है ।

जब यही नियम मूलकारण में तथा कार्यजगत् के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में प्रयुक्त होता है, तो यह अनुमान किया जाता है कि, वह एक सर्वथा अव्यक्त पदार्थ है जिसमें सम्पूर्ण कार्यजगत् अविभक्तरूप से अव्यक्त और अप्रत्यक्ष अवस्था में रहता है। जगत् की उत्पत्ति उक्त मूल कारण का क्रमिक परिणाम या विकार है, जिससे वह अव्यक्त से व्यक्तरूप में, अविभक्त से अधिकाधिक विभक्तरूपमें तथा सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष से अधिकाधिक स्थूल तथा प्रत्यक्ष के योग्य रूप में आता है।*

शक्तिविशेषविशिष्ट सूत्रसमूही वस्त्र है ।

साङ्ख्यमतमें अनागतावस्था या कारणव्यापारकी पूर्वावस्था अथवा अव्यक्तावस्थाका नाम अनुत्पत्ति है । वर्त्तमानावस्था या व्यक्तावस्थाका नाम उत्पत्ति है और अतीतावस्था या कारण-प्रवेशावस्था का विनाश कहते हैं । अनागतावस्था में स्वरूपतः घट सत् है और व्यक्तावस्थायुक्तरूप से असत् है; तथा उत्पत्ति के पश्चात् स्वरूपतः घट सत् है एवं अनागतावस्थायुक्तरूप से असत् है; तथा मुद्गरपातादिक द्वारा घट का अदर्शन होने पर अतीतावस्थायुक्तरूपसे सत् और अन्यावस्थायुक्तरूपसे असत् है । इन रीतिसे सभी कार्यों का अवस्थारूपसे विनाशित्व (वह अवस्थाभेद आगन्तुक है) और स्वरूपतः नित्यत्व सिद्ध होता है ।

*विकारशील जगत्का उपादान कारण भी अवश्य विकारशील होगा, इसीलिए स्वभावतः विकारशील एक प्रधान नामक मूल कारण (प्रकृति) का अनुमान किया जाता है । प्रधानरूप गुणी नित्य होने पर भी विकारशील है। उक्त विकार–अवस्थाही धर्म या बुद्ध्यादि रूप से अभिव्यक्त है । उन धर्मों के लयोदयरूप परिणाम को देखकर ही मूल गुणीको परिणामी–नित्य कहा जाता है । परिमित पदार्थों के एक ससर्गी दृष्ट होती तथा जो एकजाति-अनुगत (जैसे मृत्तिका से अनुगत घट शरावादि के) भेद उनके एकही तथाभूत कारण दृष्ट होता, तथा शक्तिपूर्वक प्रवृत्ति दृष्ट होती इसलिए व्यक्त कार्य देखकर सामान्यतःदृष्ट अनुमानसे उनके कारण एक अव्यक्त (रूपादिरहित) शक्ति (प्रकृति) सिद्ध होती हैं।

प्रागभाव का खण्डन कर कार्यकारण का एकताप्रदर्शन।

उपर्युक्त असत्कार्यवाद अथवा कार्य और कारण का भेदवाद समीचीन नहीं प्रतीत होता। यदि कार्य को कारण से सर्वथा भिन्न माना जाय और कारण में अनभिव्यक्त कार्य की अवस्थिति न स्वीकार किया जाय, तो कार्य का अपने सदृश कारण के अनुरूप ही उत्पन्न होने का जो नियम है वह भङ्ग हो जायगा तथा कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकेगा। अर्थात् अपने अनुरूप कार्य को उत्पन्न करने के नियम की उपादानता कारणमें न होने से, कार्य को देखकर कारण का अनुमान होने की जगत्प्रसिद्ध रीति का सर्वथा लोप हो जायगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये वादी का कथन है कि, कार्य का प्रागभाव कारणमें रहता है तथा जिस कार्य का प्रागभाव जिस कारण में रहता है वहीं से वह उत्पन्न होता है। परन्तु ऐसे प्रागभाव का कथन निरर्थक है; कारण, वह (अभाव) कोई भावरूप पदार्थ नहीं है तथा उसमें किसी कार्य को उत्पादन करने की शक्ति है, यह भी किसी उपाय से ज्ञात नहीं हो सकता। यदि कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्योत्पादन की शक्ति और सामर्थ्य कारण में स्वीकृत हो, तो कार्य की अभिव्यक्ति के पूर्व कारण में कार्य का सूक्ष्मरूप से अवस्थान भी मानना होगा; फलतः सत्कार्यवाद को स्वीकार करना पड़ेगा। (इस मत में कार्य के पूर्व कारण में कोई अवस्थाविशेष या कारणगत शक्तिविशेष अथवा उत्पत्स्यमान-कार्य का धर्मविशेष ही कार्य का प्रागभाव है।) यदि पक्षान्तर में प्रागभाव, केवल अभाव से भिन्न और कुछ न हो, तो उससे केवल कार्य की अनुपस्थिति या अनस्तित्व ही ज्ञात होगा तथा किसी विशेष कार्य के प्रति उसका विशेष सम्बन्ध मानना सर्वथा निरर्थक ही होगा। फलतः संसार में कार्य और कारण का सामञ्जस्यपूर्ण कोई नियत सम्बन्ध नहीं रहेगा। यदि कारण में कार्योत्पादन की शक्ति स्वीकृत हो तो कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न नहीं मान सकेंगे, और अन्ततोगत्वा कारण और कार्य में वास्तविक एकता की प्राप्ति अवश्य होगी। औरभी, ऐसा मान्य होने पर कार्यजगत्

समग्र जगत् या समस्त जन्यपदार्थ ही मूल प्रकृति से अभिन्न त्रिगुणात्मक है ।

का मूलकारण, स्थिरस्वभाववाला, पृथक्, स्वतःसिद्ध तथा अनेक भौतिक परमाणुओं से युक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कार्योत्पादन की शक्ति एक एक परमाणु में पृथक् पृथक् रूप से नहीं रह सकती है और नहीं उनके सम्मेलन में। तब हम इस सिद्धान्त में पहुँचते हैं कि सांसारिक समस्त कार्यों के शक्तिसहित (अव्यक्त) एक मूल उपादान कारण (प्रकृति) है, न कि अनेक परमाणु ।

सांख्याचार्यों के मतमें सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले गुणों का परस्पर समभाव से विद्यमान रहना ही अव्यक्त या प्रधान या प्रकृति नाम से कहा जाता है । वह गुणत्रय क्या है ? इसके उत्तर में सांख्यमत में कहा जाता है कि, जगत् के यावत् जड पदार्थ ही उक्त गुणत्रयके न्यूनाधिक-भावसे मिश्रणके फल हैं। सभी वस्तु सुख (प्रकाश, लाघव, प्रसाद) दुःख (चाञ्चल्य या क्रिया) और मोहरूप (जडता, अवसाद, आवरण) धर्म के आश्रय या मूर्त्ति हैं। यदि बाह्य विषय सुखादिमय न होते तो बाह्य विषयों के अनुभव से कोई भी सुखादि के आस्वादन करने में समर्थ नहीं होता। सजातीय वस्तु के साथ सम्पर्क होने पर सजातीय वस्तु की अभिव्यक्ति होती है, सदृश कारण के साथ सम्पर्क होने पर सदृश धर्म की अनुभूति देखी जाती है। जैसे गन्ध की उपलब्धि के लिये गन्धयुक्त (पार्थिव) जो घ्राणेन्द्रिय है उसके साथ गन्धविशिष्ट वस्तुका सम्पर्क होना आवश्यक है। रूप की उपलब्धि के लिये, रूपयुक्त (तैजस) जो इन्द्रिय अर्थात् चक्षु है, उसके साथ रूप का सन्निकर्ष होना आवश्यक है। इस नियम के अनुसार जब हमलोग अपने मनमें सुखादि का उपलब्धि करते हैं, उस समय सुखादिमय किसी वस्तु के साथ, हमारे मन का सन्निकर्ष या सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। त्रिगुण अर्थात् सुख, दुःख और मोहमय वस्तु, जब जिस रूपसे, अर्थात् सुख, दुःख या मोहरूप से हमारे सम्मुख अभिव्यक्त होता है, उस समय वह हमारे हृदय में भी यथाक्रम

से सुख, दुःख और मोह को उत्पन्न (अभिव्यक्त) करता है । तात्पर्य यह कि, बाह्य प्रकृति के साथ हमारी आन्तरप्रकृति एक सूत्रसे ग्रथित है; बाह्य प्रकृति की अभिव्यक्तावस्था, हमारी आन्तरप्रकृति में सदृश अवस्था को अभिव्यक्त करती है। अतएव सभी वस्तु सुख, दुःख और मोह इन तीनों गुणों के संघात हैं। अतएव सांख्य तथा पातञ्जल मतमें जगत् स्वतन्त्र स्वतः परिणामी प्रकृति का कार्य है; जो (प्रकृति) सुखदुःखमोहात्मक जगत् की समजातीय त्रिगुणात्मिका है तथा रूपादिरहित (अव्यक्त) मूल उपादान कारण है। (त्रिगुण अनन्त होने पर भी वे न्याय-वैशेषिकसम्मत परमाणु नहीं है क्योंकि वे शब्दस्पर्शादिरहित है।*

पाशुपत तथा माध्वमत में उक्त जडप्रकृति उससे भिन्न एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान स्वात्मचेतनावान पुरुष (ईश्वर) से शासित और नियमित है, जो कार्यजगत् का निमित्तकारण माना जाता है।

॥ सगुणब्रह्मवाद ॥

भास्कर, निम्बार्क (द्वैताद्वैतवादी) तथा वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैतवादी) के मतमें प्रकृति स्वतन्त्र अथवा उससे भिन्न ईश्वर से

*साङ्ख्यपातञ्जलसम्मत द्वैतवाद (कूटस्थ-नित्य या अपरिणामि तत्व और परिणामि-नित्य या परिवर्त्तनशील तत्त्व) की सिद्धिके लिये यह प्रतिपादित करना होगा कि, ज्ञेय स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च एक अव्यक्त शक्ति का ही परिणाम है । असत्कार्यवाद का खण्डन करके सत्कार्यवादके प्रतिष्ठित होने पर "समन्वयात्" इस हेतु से जगत् प्रकृति का परिणाम सिद्ध होगा । उक्त परिणामिनी प्रकृतिके साक्षीरूप से चेतन पुरुष का सिद्ध होना भी आवश्यक है (नहीं तो जडाद्वैतवाद सिद्ध होगा) । इस रीति से जड और चेतन दो मूलतत्त्व उपलब्ध होते हैं । परिणामी और अपरिणामी की एकता या परस्पर अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इस मत के अनुसार चेतन का बहुत्व और अपरिणामित्व सिद्ध होने पर विशिष्टाद्वैतवाद खण्डित होता हैं एवं चेतन के अखण्ड-अद्वितीय और अधिष्ठानरूप सिद्ध न होने पर अद्वैतवाद भी निरस्त हो जाता है ।

नियमित नहीं है, किन्तु वह ईश्वर की (ब्रह्म की) उससे अविनाभूत (एकके बिना दूसरा नहीं रहता) शक्ति है, सुतरां जगत् शक्तियुक्त अद्वैतचेतन का परिणाम है। तान्त्रिकसम्मत शाक्ताद्वैतवाद (शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद) तथा काश्मीरी शैवसम्मत त्रिकाद्वैतवाद भी इसी प्रकार का है। इन लोगों के मतमें शक्तियुक्त चेतन अथवा चेतनयुक्त शक्ति ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। इनके मतमें भी कार्य और उपादानकारण का भेदाभेदसम्बन्ध मान्य है। भेदाभेद से अभिप्राय यह है कि, एक उपादान से जिन सब कार्यों की उत्पत्ति हुई है, उन कार्यों में कार्यगतरूप मात्र से परस्पर भेद ही है तथा कार्यगतरूप और उपादानगतरूप द्वारा परस्पर भेदाभेद है। अर्थात्, एक घटरूप उपादान से उत्पन्न जो रूप और रस (कार्य) हैं, वे रूपत्व और रसत्वरूप से परस्पर भिन्न ही हैं, किन्तु घटत्व और रूपत्व इन दोनों रूप से, रस में रूपका और रूप में रसका भेदाभेद है। सुतरां एक ही उपादान से उत्पन्न नाना कार्यों के दृष्टान्त के द्वारा तथा कारणगत और कार्यगत रूप के द्वारा भेदाभेद सिद्ध होता है। क्योंकि आत्यन्तिक भेद रहने पर 'गौ-अश्व' के समान सामानाधिकरण्य-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तथा आत्यन्तिक अभेद होने पर भी उक्त प्रत्यय नहीं हो सकता, यथा 'घट घट'। अतएव, कार्य यदि कारण से भिन्नाभिन्न नहीं होता तो सामानाधिकरण्य भी नहीं होता तथा यह 'भेद' या 'अभेद' सामानाधिकरण्य में अवच्छेदक के भेद से व्यवहृत नहीं होते: अर्थात् किसी आधारभूत अंशके भिन्न होने से भेद तथा अभिन्न होने से अभेद नहीं है, किन्तु समकाल में जिस रूप से भेद है उसी रूप से अभेद भी है। मृत्तिका का अपने साथ अभेद ही होता है, किन्तु घट के साथ भेदाभेद दोनों ही होते हैं। एक ही कारण से उत्पन्न अनेक कार्यों में परस्पर कार्यगतरूप से भेद है तथा उपादानगतरूप से अभेद भी है। (ये दोनों भेद और अभेद परस्पर अविरोधी समसत्ताक हैं और निर्वचनीय भी हैं)। अतएव भेद होने से कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उसकी अनुपलब्धि होती है और कार्य-कारणभाव उपपन्न

होता है । इस प्रकार भेदाभेद के सिद्ध होने से इस मत में अद्वैतब्रह्मचेतन, जगत्‌रूप कार्य का भेदाभेदयुक्त परिणामी कारण है। (आगे प्रतिपादित होगा) ।*

उक्त वादीसम्मत भेदाभेदवाद में भेद और अभेद दोनों ही विचारसिद्ध हैं, किन्तु अचिन्त्य-भेदाभेदवादी चैतन्य के मत में भेदाभेद विचारसिद्ध नहीं तथापि सत्य है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि, घटादि कार्य और उनके उपादानकारण मृत्तिकादि, एक रूप से भिन्न तथा अन्य रूप से अभिन्न हैं: यह अनुभवसिद्ध है जिसको अस्वीकार नहीं कर सकते। अतएव उक्त दोनों मतों के अनुकूल अनेक युक्तितर्कों के होने से हमलोगों को उन दोनों की सत्यता माननी चाहिये थी। परन्तु, युक्ति-तर्क के द्वारा जब उन दोनों के मतों में अनेक दोष पाए जाते हैं तथा तर्क की निवृत्ति नहीं होती, तब भेद और अभेद की विचारसिद्धता को अङ्गीकार नहीं कर सकते । सुतरां उन दोनों को अचिन्त्य (परन्तु अनिर्वचनीय या मिथ्या नहीं) मानना ही उचित है। अचिन्त्य शब्द से यह तात्पर्य है कि वह तर्क का विषय नहीं। संसार के प्रत्येक कारण पदार्थ में अपने अनुरूप क्रिया को उत्पन्न करने की शक्ति वा सामर्थ्य रहती है, किन्तु विचार द्वारा यह कभी नहीं ज्ञात हो सकता कि कारण की शक्ति कारण में भिन्न रूप से रहती है अथवा अभिन्न रूप से । इसी प्रकार उस शक्ति से कार्य का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, यह भी निर्णय होने के योग्य नहीं है: तथापि यह कभी नहीं अस्वीकार कर सकते कि ऐसी कोई शक्ति कारण में अवश्य रहती है । हमलोग एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न रूप से

*विशिष्टाद्वैतवादको स्थापन करने के लिए चेतन का अद्वैतत्व प्रतिपादन होना चाहिए । समवाय का खण्डन करके जडप्रपञ्च को चेतन की शक्ति या गुण रूप सिद्ध करना आवश्यक है । जडप्रपञ्च अद्वयचेतन का यथार्थ विशेषण है, यह प्रतिपन्न होने पर द्वैत और अद्वैतवाद दोनो ही खण्डित हो जायंगे ।

कभी नहीं जान सकते, तर्क इसको निर्द्धारित करने में कुण्ठित होता है। फलतः वे अचिन्त्य हैं और युक्ति तर्क के द्वारा सिद्ध न होने पर भी इन्हें स्वीकार करना ही होगा।

उत्पत्तिशील पदार्थों में ही जब ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि जिसका निर्णय कर सकने में हमलोग असमर्थ होते हुए भी उसको निर्विवाद स्वीकार करने के लिए लाचार हैं, तब इसको अवश्य अङ्गीकार करना होगा कि सब कारणों का कारण ब्रह्म, जिससे अचिन्त्य शक्तियुक्त अनन्त प्रकार के पदार्थ उदित होते हैं, वह जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के अनुरूप ही अनन्त शक्तिमान है। अतएव यद्यपि ब्रह्म स्वतः विकाररहित है तथापि वह अपने में अनन्त परिणाम के अनुकूल शक्ति को धारण करता है। फिर भी विचार के द्वारा इसके निर्णय होने की सम्भावना नहीं है कि ये सब शक्ति उससे भिन्न हैं या अभिन्न। जब ब्रह्म जगद् रूप से परिणाम को प्राप्त हुआ है, तब यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जगत् ब्रह्म से अभिन्न है तथा यह भी अङ्गीकार करना होगा कि जड़ जगत् ब्रह्म से भिन्न है। जब ब्रह्म अचिन्त्य शक्तियुक्त है तब उसकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से वह अपने कार्य जगत् से भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही रूप से रह सकता है। 'यह किस प्रकार से सम्भव है'? यह विषय अचिन्त्य है, अतएव विवाद का विषय नहीं।*

*जिस प्रकार शङ्कराचार्यने स्वसम्मत अचिन्त्यशक्तिवाली अनिर्वचनीया माया का आश्रय लेकर जगत् को ब्रह्म का विवर्त्तरूप समर्थन किया है, तथा उसी अचिन्त्य शक्तिवाली माया की महिमा से ही ब्रह्म में हठात् प्राप्त होनेवाले नानाप्रकार के विरुद्ध कल्पनाओं का समाधान किया है, इसी प्रकार वैष्णवाचार्यों ने भी स्वसम्मत ईश्वर की अचिन्त्यशक्ति का आश्रय लेकर जगत् को ईश्वर का परिणामरूप समर्थन किया है। ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति की महिमा से उसमें नानाविरोधी गुणों का भी एकत्र समावेश हो सकता है, अर्थात् ईश्वर में गुणविरोध नहीं तथा किसी प्रकार का दोष भी नहीं है। " विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयो युक्त्यगोचरः "

रामानुजसम्मत कार्यकारणवाद के अनुसार ब्रह्मविषयक सिद्धान्त।

रामानुज के मत में उपादानकारण मृत्तिकादि अपने कार्यरूप घटादि के आश्रय हैं। इनके मत में नैयायिकों के समान दो पृथक् सम्बन्धियों को अपृथक् रूप से सम्बद्ध करनेवाला समवाय सम्बन्ध मान्य नहीं है, किन्तु सम्बन्धियों का परस्पर स्वभावसिद्ध अपार्थक्य का ज्ञानमात्र मान्य है। इसी ज्ञान से ही अद्रव्य पदार्थ भी अनौपाधिक रूप से द्रव्य को विशेषणयुक्त करता है तथा उसके स्वरूपभूत रूप से उसमें रहता है। जब कि समवाय सम्बन्ध को अस्वीकार कर आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध को अङ्गीकार करते हैं, तब इसका तात्पर्य यह होता है कि कार्य कोई अपर द्रव्य रूप से उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु वह उपादान-कारण की दूसरी अवस्था की प्राप्ति मात्र है। कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में द्रव्यरूप से रहता है, किन्तु कार्य रूप से नहीं। यद्यपि इस रीति से यह मानना पड़ता है कि असत् ही कार्य, सत् रूप से उत्पन्न होता है, तथापि नैयायिकों के समान यह कदापि मान्य नहीं हो सकता कि, कार्य अपने कारण से पृथक्, अवयवी द्रव्य के रूप से उत्पन्न होता है। अतएव कार्य और कारण का भेद, पूर्वकालीन विशेष अवस्था के सम्बन्ध के उल्लेख से विवेचित होता है: अर्थात् उत्पत्ति का अर्थ कारण की अभिव्यक्ति या या कारण के साथ समवाय नहीं है किन्तु वह उपादान कारण की एक विशेष अवस्था मात्र है। उपादानकारण की अपनी विशेषावस्था (कार्य) के साथ सामानाधिकरण्य है, क्योंकि यह विशेषावस्था उसके आश्रय में उसके साथ अभिन्न-जैसी होकर रहती है। इसी से कार्य उसका कारण से भिन्नरूप मान्य है। अतएव कार्यकारणस्थल में कारण की कार्यावस्था आगन्तुक गुण है और कारण से अपृथक्सिद्ध है। उक्त रामानुज तथा दक्षिणदेशीय शैवमतावलम्बियों के अनुसार जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, (ब्रह्म का परिणाम नहीं), परन्तु जगत् (प्रकृति) के साथ ब्रह्म का अपृथक्सम्बन्ध होने से अद्वैत ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। (आगे प्रतिपादित होगा)।

❀ निर्गुणब्रह्मवाद ❀

शाङ्करमत में घटादि कार्य अपने उपादान कारण मृत्तिकादि से सर्वथा भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्न मान्य नहीं है। भिन्न नहीं है, क्योंकि दो सम्बन्धियों सर्वथा पृथक् हैं, ऐसी प्रतीत नहीं होती किन्तु 'मृत्तिकाघट' इस रूप से अभेद का ही अनुभव होता है। कार्य और कारण सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। विलक्षणता के न होने पर कार्यकारणभाव से भेदव्यवहार नहीं हो सकता तथा अत्यन्त अभिन्न दो पदार्थों का सम्बन्ध भी अयुक्त है। परस्पर विरोध होने से भिन्नाभिन्न भी मान्य नहीं। यदि मानें तो भाव और अभाव के भी एकदा एकत्र स्थिति को स्वीकार करना होगा। समसत्तावान भेद और अभेद का एक ही काल में एकत्र स्थिति होने से विरोध उपस्थित होता है। अतः यह कहना होगा कि भेद कल्पित या न्यूनसत्ताक (प्रातिभासिक) मात्र है। भेद, भिद्यमान वस्तु के ही अधीन होता है तथा भिद्यमान वस्तु पुनः प्रत्येक ही एक होती है, एक के (अभिन्नवस्तु के) अभाव होने पर-आश्रय न रहने के कारण-भेद भी अयुक्त होता है और एक वस्तु भी भेद के अधीन नहीं होती। "यह नहीं, यह नहीं" इसप्रकार का भेदग्रहण ही प्रतियोगि-ज्ञान के अधीन होता है, किन्तु एकत्वग्रह और किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता। इन सब कारणों से अभेदमूलक सापेक्ष या कल्पित भेद मान्य होता है। अभेद की अपेक्षा से भेद की कल्पना होती है तथा 'मृत्तिकाघट' इस स्थल में मृत्तिका का अभेद अनुभवसिद्ध है, सुतरां मृत्तिका और घटका कल्पित भेद है। भेदाभेदस्थल में पारमार्थिक भेद के रहने से "भूतल में घट नहीं है" के समान "मृत्तिका घट नहीं है" ऐसी प्रतीति होती थी। घट और भूतल इन दोनों में समसत्ताक भेद है, इस हेतु से घट और भूतल में अभेदानुभव का विरोध होता है। अपर स्थल में समसत्ताक भेद, अभेदानुभव का विरोधी होने के कारण, कार्यकारणस्थल में भी विरोध प्रदर्शन करेगा

और अभेद की प्रतीति नहीं होने देगा। समसत्ताक भाव और अभाव का अविरोध होने पर कहीं भी विरोध नहीं रह सकेगा। अतएव कार्यकारण के भेद और अभेद को भिन्नसत्ताक (वास्तव अभेद, अनिर्वचनीय या कल्पित भेद) ही मानना होगा। अद्वैत-मत में कार्य-कारण का भेदाभेद स्वीकृत है, परन्तु उक्त मत में कारण के व्यतिरेक से कार्य की सत्ता मानकर उनका परस्पर अभेद मान्य नहीं होता, किन्तु कल्पित भेद माना जाता है। ब्रह्म का इस प्रपञ्च के साथ भी इसी प्रकार का सम्बन्ध है। जिस प्रकार मृत्तिका की सत्ता का भेदक घट नहीं होता, उसी प्रकार जगत्प्रपञ्च भी व्यावहारिक रूप को प्राप्त ब्रह्म की परमार्थिकता का भेदक नहीं होता है। अतएव इस मत में ब्रह्म, जगत् का अवास्तव अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। (आगे प्रतिपादित होगा)।

*अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के निमित्त निम्नलिखित रीतियों का अवलम्बन करना आवश्यक होगा। बहुत्ववाद के खण्डन के समय असत्कार्यवाद, प्रागभाव, कार्यकारण का भेदवाद, समवाय, सत्ता का जातित्व, अनुव्यवसाय, अन्यथाख्याति और अज्ञान का अभावत्व आदि सभी विषयों का खण्डन करना होगा। द्वैतवाद के खण्डनस्थल में सत्कार्यवाद, कार्य और कारण का अभेद या भेदाभेद, सत् की विभिन्नता या प्रकृति का परिणाम रूप से एकता, पुरुष का बहुत्व और अनधिष्ठानत्व इत्यादि सिद्धान्तों को निरस्त करना पड़ेगा। विशिष्टाद्वैतवाद का खण्डन करते हुए यह प्रदर्शन करना होगा कि, कार्य-कारण का भेदाभेद (उभय सत्य) मानना संगत नहीं तथा जडप्रपञ्च का अद्वयचेतन का विशेषण या शक्ति रूप मानना उचित नहीं, ब्रह्म का परिणाम मानना भी असंगत है।

अब अद्वैतसिद्धान्त की प्रतिपादन-शैली का वर्णन करते हैं। नानारूप अखिल विश्वप्रपञ्च का अवभासक एवं सत्तादायक एक ही अखण्ड स्वप्रकाश तत्त्व है, ऐसा प्रतिपादन होने पर 'अद्वैतवाद' सिद्ध होगा। इसके साथ ही परप्रकाश्य जगत् की अवास्तविकता सिद्ध होने पर 'केवलाद्वैतवाद' प्रतिष्ठित होगा। इस वाद के निरूपण के लिए प्रथम बाह्य पदार्थों के स्वरूप का विचार करते हुए

क्रमशः उनके प्रकाशक तत्त्व में पहुंचना होगा तथा आभ्यन्तर (मानसिक) पदार्थों के विश्लेषण के द्वारा भी उसका भासकत्व सिद्ध करना होगा। इसके अनन्तर उसके विभुत्व और एकत्व का प्रदर्शन करते हुए यह प्रमाणित करना होगा कि, बाह्याभ्यन्तर परितः ज्ञायमान विश्वप्रपञ्च स्वतः सत्तावान नहीं है, अतः मिथ्या है। अथवा उक्त रीति से बहिर्देश से विचार का आरम्भ न करके प्रथम ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसका स्वप्रकाशत्व निर्द्धारित करना होगा, उसके पश्चात् उसका अखण्डत्व प्रतिपादन करके विभक्त-प्रतिभास का मिथ्यात्व निरूपण करना होगा।

सत्ता का बहुत्व सिद्ध न होने पर अथवा एक ही सत्ता में विभिन्नव्यक्तियों का समवाय सिद्ध न होने पर, बहुत्ववाद स्थापित नहीं हो सकता। साक्षीस्वरूप चेतन में ज्ञेयधर्म के सिद्ध न होने से उसका अखण्डत्व अवश्य प्रतिपादित होता है। अतएव एक अखण्ड चेतन में जीवेश्वररूप भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता एवं उसमें जड़जगत् की पृथक्ता भी सिद्ध नहीं होती। कारण, ज्ञेय-प्रपञ्च ज्ञानस्वरूप का सापेक्ष है, अत उसमें भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न रूप से इसका निर्वचन नहीं हो सकता। इसप्रकार ईश्वर, जीव, जगत् आदि बहुत्ववाद का निराकरण कर लेने पर साख्यसम्मत द्वैतवाद भी सत्कार्य के सिद्ध न होने से निरस्त हो जायगा। त्रिगुणात्मक एव जड़ कार्यप्रपञ्च का परिणामीकारण भी जड़ और त्रिगुणात्मक होना चाहिए, इस विषय में यद्यपि साख्य और वेदान्ती दोनों सहमत हैं, तथापि सत्स्वरूप अधिष्ठान चेतन की दृष्टि से त्रिगुणात्मक जड कारण को वेदान्ती लोग अनिर्वचनीय कहते हैं एवं कार्यस्वरूप की दृष्टि से भी उनके मत में परिणामी कारण अनिर्वचनीय है, सत् नहीं। चेतन और जड दोनों मूलकारण सत् नहीं हो सकते, अतएव द्वैतवाद सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद भी माननीय नहीं हो सकता। क्योंकि अधिष्ठान रूप चेतन ही सद्बुद्धिगोचर होता है जो वास्तव स्वरूप है, उसमें भिन्न दृश्यवर्ग में स्वतः सत्ता का अभाव है, अधिष्ठान की अभिन्न सत्ता का सबके साथ अभेद है, सुतरा भेदाभेदवाद (उभय सत्यात्मक) असंगत है। शुद्धाद्वैतवाद में भी जगत् को शुद्धचेतन का परिणाम मानते हैं; चेतन से जड अभिन्न नहीं हो सकता, अतएव जगत् को माया या अज्ञान का परिणाम मानना उचित है, चेतन का

परिणाम नहीं। सुतरां शुद्धाद्वैतवाद भी मानने के योग्य नहीं है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीव और जगत् अखण्ड चेतन के विशेषण अथवा शक्ति रूप हैं, परन्तु विशेषणभूत जगत् के सत्य न होने से विशिष्टाद्वैत या शक्तिविशिष्टाद्वैत भी माननीय नहीं है। सुतरां विवर्त्तवाद अथवा केवलाद्वैतवाद या मायावाद अथवा अनिर्वचनीयवाद ही अवशेष में प्रतिष्ठित रहता है।

अद्वितीय ब्रह्म आरम्भकरूप उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वितीय वस्तु के साथ सजातीय द्रव्यान्तर का संयोग अनुपपन्न है। परमाणुद्वय के संयोग के समान असमवायि कारण का लाभ सम्भव होने पर ही द्वयणुकादिक्रम का आरम्भ हो सकता है। अद्वितीय उपादान में यह सम्भव नहीं, अतएव कूटस्थ ब्रह्म जगत् का आरम्भक उपादान नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप उपादान को परिणामी भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ है। कूटस्थ का परिणाम मानने पर उस परिणत कार्य को भी ब्रह्म के साथ अभिन्नस्वरूप मानना होगा, जिससे उसकी जन्म-मरणादि विकाररहित कूटस्थता नहीं रहेगी। अतएव ब्रह्म परिणामी उपादान भी नहीं है। अब अवशिष्ट तृतीय पक्ष रह जाता है कि, जड जगत् के चेतन ब्रह्म का विवर्त होने के कारण, उसके साथ जगत् का मिथ्या तादात्म्य है जिससे सद्रूप से जगत् की उपलब्धि होती है और ब्रह्म की कूटस्थता भी अव्याहत बनी रहती है। फलतः इस जगत् का उपादान ब्रह्म-विवर्त है

समालोचना

ईश्वर प्रमाणसिद्ध नहीं ।

पूर्वोक्त विचारस्थल में ईश्वरसिद्धि के निमित्त दो प्रकार का अनुमान किया गया है-(१) जगद् रूप कार्य को देखकर इसके कारण रूप से तथा (२) नियमित जगत्प्रपञ्च को देखकर इसके नियामक रूप से। अब ये दोनों ही पक्ष समालोचनीय हैं।

(१) जगत् कारणरहित है अथवा इस कारणपरम्परा का कहीं अन्त नहीं है, इन दोनों पक्षों का तिरस्कार करते हुए -कारणपरम्परा के अन्तिम मूलकारण रूप से ईश्वर की सिद्धि-पूर्वोक्त मतवादियों की विवेचना के द्वारा प्रदर्शित हुई है। प्रत्यक्ष जगत् में अनुभूत, एक कारण के पश्चात् अपर कारण की उपस्थिति का अवलोकन कर तथा इस कारणपरम्परा के अनन्त होने की असम्भावना से, यह अनुमान किया गया था कि कोई आदि (मूल) कारण अवश्य है। यह एक ऐसा अनुमान है जिसको अपने अनुभवराज्य के अन्दर भी नियमरूप से प्रयोग करना विचारसङ्गत प्रतीत नहीं होता, तो इसको अनुभवातीत राज्य में किस प्रकार प्रसारित किया जाय, जहां कि कारणों की परम्परा है ही नहीं। अथवा यदि यह मान भी लिया जाय कि कारणों की परम्परा का अनन्त होना असम्भव है, तथापि उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त समीचीन युक्तियों का अभाव होने से उनको केवल कल्पना मात्र कहना होगा, क्योंकि मूल कारण की कल्पना नाना प्रकार के दोषों से दूषित है। मानवबुद्धि के द्वारा साधारणतया ऐसी कल्पना की जाती है कि ईश्वर अस्तित्ववान् है किन्तु उसका अस्तित्व काल में सादिमान् नहीं है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। यातो ऐसा होगा कि, ईश्वर का अस्तित्व काल में है तथापि आदियुक्त नहीं है, क्योंकि वह अनन्त भूतकाल से

चला आ रहा है, अथवा वह कालातीत है जिसमें आदि का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रथम पक्ष में (ईश्वर काल में है) हमें एक ऐसा पदार्थ मानना पड़ता है जो अनन्त भूतकाल से चला आ रहा है। अब यदि एक ऐसा पदार्थ स्वीकार किया जाय जो काल में रहता है तथापि उसका कारण नहीं है, तो क्या अन्य पदार्थ (जगत्) भी ऐसे ही नहीं हो सकते? यदि ईश्वर-भिन्न अन्य पदार्थ भी कारणरहित हों तो उनके उत्पादन के लिए ईश्वर के अस्तित्व को मानने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। यह कैसे कहा जा सकता है कि, काल में रहनेवाले तीन (जीव, जगत् और ईश्वर) पदार्थों में से जीव और जगत् के सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता हुई किन्तु ईश्वर के सृष्टिकर्त्ता की नहीं हुई? हां, यदि ईश्वर को कालातीत माना जाय तब यह अवश्य कह सकते हैं कि, काल में रहनेवाले समस्त पदार्थों के सृष्टिकर्त्ता का होना आवश्यक है तथा कालातीत होने के कारण ईश्वर के सृष्टिकर्ता का कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु इस समय हम प्रथम पक्ष का विवेचन कर रहे हैं कि, ईश्वर का अस्तित्व काल में है।

जगत् केवल स्थिर पदार्थों से युक्त नहीं है। इसमें नाना प्रकार की घटनाएं या काल-जन्य अवस्थाओं का परिणाम होता रहता है। प्रकृतस्थल में यह कहना होगा कि, ईश्वर ही इन जड़पदार्थों का कारण है तथा इनमें होनेवाला कालप्रयुक्त जो अवस्थाओं का परिणाम है, इनका भी वह मूलकारण है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि प्रत्येक काल-जन्य अवस्था, किसी ऐसे अन्तिम कारण से उत्पन्न हुआ होगा जो काल-प्रयुक्त परिणाम की सीमा से बाहर है; नहीं तो, प्रत्येक कारण, कालिक अवस्था-स्वरूप होगा और इसी से उस कारण के भी कारण की आवश्यकता होगी, सुतरां अनवस्था होगी। अतएव अनवस्था के निवारण के निमित्त यह मानना होगा कि अन्तिम मूल कारण काल-जन्य विकार से रहित है। अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर किस प्रकार किसी घटना को विशेष काल में संघटित करता है जो

पूर्व में नहीं थी? वह घटना क्या इच्छा रूप क्रिया के द्वारा संघटित होती है जो पूर्व में नहीं थी? तब तो उस इच्छा रूप क्रिया को भी एक घटना कहना होगा जिसका कोई कारण आवश्यक है। यदि ईश्वर के मनमें स्थित किसी पूर्वकालीन घटना इस इच्छा के प्रति कारण हो, तो इसका कारण अन्य घटना तथा उसका भी अपर, इसप्रकार कारण-परम्परा की अनवस्था होती जायगी जिसको वादी ने असम्भव माना है। अतएव हमलोगों को यह स्वीकार करना होगा कि ईश्वर स्वयं विकार को प्राप्त न होकर विकार का उत्पादनकर्त्ता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर, किसी इच्छारूप घटना के बिना ही साक्षात् किसी घटना विशेष को उत्पन्न करता है, अथवा यदि ईश्वर ऐसी इच्छा करता भी है तो उस इच्छा का कारण, कोई घटना नहीं है।* परन्तु क्या यह सम्भव है कि जो विकाररहित है, वह किसी घटना का सम्पूर्ण कारण हो सके? कोई विकाररहित अवस्था, निःसन्देह, किसी घटना का आंशिक कारण हो सकता है, परन्तु विकाररहित कारण से किसी घटना की उत्पत्ति मानना कार्यकारण-नियम के सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि ऐसा होनेपर कार्य को उत्पादन न कर कारण प्रथम रहेगा, और पश्चात् उसको उत्पादन करेगा। ऐसा मान लेने का अर्थ यह होगा कि कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण में जो विकाररूपी घटना होती है वह निर्निमित्तक एवं निष्कारण है, अर्थात् कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानना होगा।

अब यदि ईश्वर के स्वरूपविषयक प्रथम पक्ष को अस्वीकार करके द्वितीय पक्ष (ईश्वर कालातीत है) की विवेचना की जाय,

*यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अभी तक हमलोग उस सिद्धान्त पर विचार नहीं कर रहे हैं कि, ईश्वर कालातीत है, किन्तु अभी इस सिद्धान्त की विवेचना हो रही है कि, ईश्वर काल में स्थित होता हुआ भी स्वयं विकाररहित रहकर कैसे किसी घटना तथा कालिक-विकार का कारण हो सकता है।

तो भी यह स्पष्ट है कि कालातीत पदार्थ में काल-जन्य विकार नहीं हो सकता और इस प्रकार से भी वह उपर्युक्त दोष का भागी होता है। साधारणतया ऐसा कहा जाता है कि, किसी घटना के होने में तथा उसके द्वारा जगत् के स्वरूप के परिवर्तन में कालातीत ईश्वर ही कारण है जो घटना के पूर्व या पश्चात् समस्वरूप (निर्विकार) रहता है।* यदि ऐसा मान लिया जाय तो उस निर्विकार स्वरूप में विकार को उत्पन्न करने वाला कोई कारण नहीं पाया जाता, जिससे कि उसको जगद्रूप विकार के प्रति कारणरूप से स्वीकार किया जाय। यदि यह कहा जाय कि कारण एकरस हो रहता है और अनेक विचित्र कार्य होते रहते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उस एकरस कारण को कार्य-वैचित्र्य के प्रति कारण रूप से स्वीकार करना ही व्यर्थ है। ईश्वर से भिन्न अन्य पदार्थ, यदि किसी विशेष काल में उत्पन्न होते हैं, तो वह घटना (उत्पत्ति) कालातीत ईश्वर के द्वारा संपादित नहीं हो सकती। यदि, पक्षान्तर में, ऐसा माना जाये कि उन पदार्थों सब-अतीतकाल से रहे हैं (अर्थात् वे अनन्त भूतकाल से ही सत्तावान हैं), तो वे उनके स्वभाव-उनके प्रारम्भ (विशेष काल के आने पर वे उत्पन्न हो जाते है ऐसा स्वभाव) को त्याग करेंगे। फलतः वादी को अपने इस कथन का त्याग करना होगा कि, इन कार्यरूप पदार्थों के सृष्टिकर्ता का होना आवश्यक है। यदि यह माना जाय कि, कालातीत ईश्वर के प्रति कालयुक्त घटनाओं की परम्परा भी कालातीत रूप से ही प्रतीत होती है और इसीसे उस पुरुष के नित्य अविकारी इच्छाजनित हो सकता है, तथापि उक्त दोषों से मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि यदि

*यद्यपि कालातीत ईश्वर में स्वरूपतः पूर्व और पश्चात् का प्रश्न नहीं हो सकता तथापि उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यदि कोई मनुष्य घटना की अपेक्षा से पूर्व काल में स्थित ईश्वर की और पश्चात् काल के ईश्वर की समरूप से ही ववेचना करता है तो वह, निर्भ्रान्त ही समझा जायगा।

कालिक रूप से भासमान घटना-परम्परा का वास्तविक स्वरूप कालातीत है, तो उसको घटनाओं की परम्परा भी नहीं कह सकते। और इसी से कारण-नियम इसमें प्रयुक्त नहीं होता; कारण, कालातीत वस्तु में क्रम के न होने से कार्यकारणभाव नहीं होगा और जिस प्रकार ईश्वर कारणरहित है उसी प्रकार इस घटना-परम्परा को भी कारणरहित मानना होगा, फलतः उक्त तर्क भी व्यर्थ हो जायगा।

अब यदि यह कहा जाय कि, ये सब आपत्तियां यथार्थ हैं, परन्तु ईश्वर का स्वरूप हमारी बुद्धि का विषय नहीं होने के कारण, ऐसा भी किसी प्रकार का होना सम्भव है (जो हमको ज्ञात नहीं) जिससे कि वह स्वयं निर्विकार रहता हुआ भी विकार का मूल कारण हो सके। इसके उत्तर में समालोचक का यह कहना है कि हमलोग केवल ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानते ऐसा नहीं है, किन्तु कारण के स्वरूप को भी यथार्थ रूप से नहीं जान सके हैं। हमारे विचार की प्रवृत्ति इस सिद्धान्त के आधार पर हुई थी कि विकाररहित ईश्वर ही जगत्प्रपञ्च का मूल कारण है; इस पर मेरी आपत्ति यह प्रतिपादित करना चाहती है कि, कोई भी (सम्पूर्ण) कारण विकाररहित नहीं हो सकता है। इसमें यदि यह सन्देह हो कि कारण का विकाररहितत्व भी किसी अन्य प्रकार से सम्भव होगा, जिसे हमलोग नहीं जान सकते; तो इस अद्भुत रीति से जो सम्भव होगा उसे केवल विकाररहित ईश्वर नहीं किन्तु विकाररहित कारण कहना होगा, तथा उस कारण का स्वरूप भी उस प्रकार का होगा कि जिस प्रकार को हमारी बुद्धि असम्भव समझती है। अब, यदि हमारी विचारबुद्धि कारण के स्वरूप को यथार्थरूप से नहीं जान सकती जिससे कि हम उस पर विश्वास कर सकें, तो जगत् के मूलकारण के विषय में किये जाने वाले समस्त तर्क खण्डित हो जाते हैं। यदि हमलोग कारण के विषय में इस प्रकार अविश्वासी या सन्दिग्ध हो जायेंगे, तो हमको इस पर विश्वास करने का कोई अधिकार

नहीं रहेगा कि अमुक घटना का कोई कारण अवश्य होगा, अथवा कारण-परम्परा की अनवस्था असम्भव है: क्योंकि इस विषय के समस्त सिद्धान्त उसीके ऊपर निर्भर है जो हमारी विचारबुद्धि कारण के विषय में हमलोगों को कहती है। हम पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि कारणरहित विकार तथा कारणों की अनवस्था, इन दोनों पक्षों के तिरस्कारपूर्वक ही आदिकारण-विषयक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो सकता है। उपर्युक्त विवेचना के फलरूप से हमको इस निर्णय पर पहुंचने के लिए बाध्य होना पडता है कि, कारणों की अनवस्था रूप दोष से मुक्त होने के लिए, आदिकारण (ईश्वर) को स्वीकार करना निष्फल है तथा कार्य-कारणभाव के आधार पर जगत् के कारण रूप से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

(२) अब हम द्वितीय पक्ष की समालोचना में प्रवृत्त होते हैं कि नियमित जगत् को देखकर इसके नियामकरूप से ईश्वर का होना आवश्यक है। इस विषय का दो प्रकार से विवेचन करना होगा। प्रथम यह कि क्या विश्व नियमित है? तथा दूसरा, यदि है तो उसकी सिद्धि के निमित्त ईश्वर का अनुमान करना कहांतक यथार्थ है। स्वाभाविक घटनाओं में हमलोग, ऐसी असंख्य घटनाओं का अनुभव करते हैं, जिसमें कोई क्रम और नियमन नहीं पाया जाता, प्रत्युत वे अबतक हमारे द्वारा ज्ञात नियमों से सर्वथा विरुद्ध पाये जाते हैं। इसके दृष्टान्त के लिए भूमिकम्प, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का उल्लेख करना ही यथेष्ट होगा। जगत् के किसी अंश के नियम-ज्ञान से हम अनुमान नहीं कर सकते कि सम्पूर्ण जगत्, किसी उद्देश्यपूर्वक नियमबद्ध है किम्वा सार्वजनीन एक ही नियम से नियमित है। अतएव सम्यक् वस्तु परीक्षण के बिना ही यह अनुमान कर लेना कि सम्पूर्ण जगत् का एक ही नियामक है, युक्तिसंगत नहीं। दुःखपूर्ण और अपूर्णतामय जगत् को देखकर हम यह कैसे अनुमान कर सकते हैं कि, इसका नियामक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, कृपालु

तथा न्यायकारी ईश्वर है। यदि यह कहा जाय कि जगत् वस्तुतः दुःखपूर्ण, नियमरहित तथा विपत्तिपूर्ण नहीं है, परन्तु हम अल्पज्ञ लोगों को ऐसी प्रतीति होती है; तो समालोचक का यह प्रश्न है कि हमारे अनुभव यथार्थ हैं या भ्रान्त? यदि यथार्थ हैं तो उस अनुभव के आधार पर यह स्वीकार करना होगा कि, वास्तव में जगत् अनियमित ही है। यदि हमारे अनुभव भ्रान्त हों तो कहना पड़ेगा कि हमको जगत् की प्रत्येक वस्तु, घटना तथा क्रिया के नियम और धर्म के निर्णय कर सकने का सामर्थ्य नहीं है। इससे उक्त आपत्ति निवृत्त नहीं होती वरन् अधिक बलवान् होती है। हमलोग भी इस जगत्प्रपञ्च के अंश हैं और यदि ईश्वर इस जगत का सृष्टिकर्त्ता और न्यायकारी नियामक है, तो वह हमारे अज्ञान और भ्रान्ति के लिए तथा अनियम और विपत्ति के लिए तथा अयथार्थ अनुभवों के लिए तथा उसके फलरूप दुःखों के लिए अवश्य उत्तरदायी होगा। कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान पूर्णपुरुष इस प्रकार के दुःख, अज्ञान, भ्रान्ति और अपूर्णतामय सृष्टि की रचना कर उसे पालन करता है, यह मान्य नहीं हो सकता। यह उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, न्यायकारिता और दयालुता के सर्वथा विरुद्ध है कि वह अपने द्वारा रचे हुए जीवों को अपने से ही उत्पन्न अज्ञान, भ्रान्ति और क्लेश से युक्त करे। यहां पर जीवों के कर्मानुसार सुखदुःख को मानकर सृष्टि की व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि कर्म भी तो ईश्वर-प्रेरित माना जाता है। ईश्वरवादी यह कैसे अङ्गीकार कर सकते हैं कि, दयालु ईश्वर अज्ञानी जीव को कुत्सित तथा दुःखानुबन्धि कर्म में प्रवृत्त कराता है, अथवा उस प्रकार के कर्म के फलस्वरूप अदृष्ट को, दुःख देने के निमित्त प्रेरणा करता है। अचेतन के द्वारा प्रवर्त्तित होकर अचेतन को प्रवर्त्तन करता है, ऐसा मानने पर अन्धपरम्परा की प्राप्ति होगी। अथवा यदि ऐसा मान लिया जाय कि यद्यपि हमलोग, जगत् के घटनाओं का क्रम, नियम तथा सामञ्जस्य का अवलोकन कर उसकी शासन-प्रणाली का आविष्कार करने में असमर्थ हैं,

हमारे अनुभूत व्याप्तिज्ञान के आधार पर जगन्नियानक ईश्वर अनुमित नहीं हो सकता।

तथापि वे किन्हीं नियमों के अनुसार ही नियमित होते होंगे जिनके विषय में अबतक हमलोग अज्ञ हैं। परन्तु फिर भी ऐसा कोई योग्य हेतु प्राप्त नहीं होता, जिससे हम अनुमान कर सकें कि वे नियम, किसी स्वात्मचेतनावान नियामक के ज्ञान और इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। हमलोग, उक्त नियामक व्यक्तिविशेष के उपस्थिति की अनिवार्यता (नियत सम्बन्ध वा व्याप्तिज्ञान) केवल मनुष्यकृत पदार्थों में ही पाते हैं। कृत्रिम पदार्थों में नियामक की अनिवार्यतारूप व्याप्तिज्ञान के बलपर (क्योंकि इस स्थल में यह हेत्वाभास है) हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि, स्वभावजात (अकृत्रिम वा प्राकृतिक) पदार्थ भी जहां कि क्रम और नियम विद्यमान है—किसी नियामक व्यक्तिविशेष के द्वारा शासित होगा। यदि हम मनुष्यकृत पदार्थों में दृश्यमान व्याप्ति के नियम को, क्रम और नियमन सहित जगत् के समस्त प्राकृतिक कार्यों में प्रयोग करें, तो बाध्य होकर यह अनुमान करना होगा कि, जगत् का नियामक व्यक्तिविशेष भी हमारे ही समानस्वभाववाला है; क्योंकि हमारी अनुभवसीमाके भीतर पाए जाने वाले समस्त नियामक और शासक—जोकि किसी कार्यविशेष में क्रम और साम्य उत्पादन के निमित्त यत्नवान् होते हैं—अनित्य, ससीम ज्ञानवान्, इच्छावान् तथा प्रयत्नवान् होते हैं। अतएव हमारे अनुभूत व्याप्तिज्ञान् के आधार पर जगत् के नियामक का अनुमान करने का अर्थ यह होता है कि, वह भी सीमित प्रयत्न, इच्छा तथा ज्ञानवान् है, जोकि ईश्वर-धारणा से सर्वथा विरुद्ध है। यहां पर यह भी विचारणीय है कि साधारणतया हमारे द्वारा अनुभूत कार्यकर्त्ताओं, अपने कार्य में एकबार क्रम, नियम और साम्य का उत्पादन करके उससे पृथक् हो जाते हैं तथा वह कार्य स्वाभाविक ही अपनी नियमित क्रिया के अनुकूल समरूप से होता रहता है, कर्त्ता के सर्वदा उपस्थित रहने की आवश्यकता नहीं। यदि इसी अनुभव के बल पर हमलोग जगत्नियामक का अनुमान करने जांय, तो यह स्पष्ट है कि, उसका वर्त्तमान

अस्तित्व सन्दिग्ध हो जाय। और भी, नियमित-जगत् की सिद्धि के लिए नियामक ईश्वर को मानने वालों के पास इस विषय में कोई पुष्ट युक्ति नहीं है कि जिससे हम- अनन्त ज्ञानवान्, सर्वज्ञ नियामक ईश्वर के अनुरूप उसके उद्देश्य और प्रयत्न के साथ नियमित जगत् का समन्वय कर—ईश्वर-धारणा को बलवान् बना सकें। और भी, ईश्वर जगत् का नियामक है, इसको प्रमाणित करने के लिए प्रथम यह प्रदर्शन करना आवश्यक होगा कि, एक नित्यज्ञानवान् पुरुष है जो कर्ता है; द्वितीयतः, उसका ज्ञान सम्पूर्ण विषयों को विषय करता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है; तृतीयतः, जगत् के नियम के बनाये रखने में उसकी नित्य इच्छा है अर्थात् वह नित्य उपस्थित रहकर इसका पालन करता रहता है; चतुर्थतः, जगत् के नियमन में उसकी प्रवृत्ति किसी विशेष उद्देश्यपूर्वक है इन सब विषयों के प्रमाणित न होने पर जगन्नियामक ईश्वर की धारणा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। जगत् की नियमन-शैली का बारम्बार परीक्षण करके कतिपय वैज्ञानिकलोग इस धारणा पर पहुंचे हैं कि इसका कोई स्वतन्त्रचैतन्य ईश्वर नियामक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो जगत् का नियमन उसकी स्वतन्त्र इच्छा के आधीन होता, जिससे कि वैज्ञानिक के लिए, किसी भी प्राकृतिक नियम का आविष्कार अथवा निर्णय कर सकना असम्भव हो जाता; सुतरां उक्त उद्देश्य और नित्य इच्छा के साथ सांसारिक नियम का सम्बन्ध प्रतिपादित हुए बिना, ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। आगे चलकर यह प्रदर्शित करेंगे कि ये सब विषय प्रतिपादित होने के योग्य भी नहीं है। और भी, ईश्वर को जगन्नियामकरूप से प्रमाणित करने के लिए यह कहना होगा कि प्रकृतिराज्य में जो सौन्दर्य और क्रम दृष्टिगत होता है, वह कार्य है तथा उस कार्य का कोई मूल कारण होना आवश्यक है। इसके द्वारा भी जगन्नियन्ता की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसा कि हम पूर्वोक्त कार्य-कारण विषयक प्रकरण में प्रदर्शित कर चुके हैं। फलतः जगत्-नियामक रूप से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

॥ न्यायवैशेषिकमत ॥

दर्शन के (लौकिक अनुभव) द्वारा हमको यह ज्ञात होता है कि, प्रत्येक सावयव पदार्थ, अनित्य तथा कार्य रूप होते हैं। इसी कारण से सावयवत्व और अनित्यता के साथ कार्यत्व का नियत-सम्बन्ध (व्याप्ति) सिद्ध होता है। इसीप्रकार प्रत्येक कार्यरूप द्रव्य के निमित्तकारण की उपलब्धि नियमपूर्वक होने से, कार्य और निमित्तकारण का भी नियत-सम्बन्ध (व्याप्ति) सिद्ध होता है। अब इस व्याप्ति-ज्ञान के आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, पृथ्वी आदि चारों महाभूत, सावयव होने के कारण, अनित्य हैं और इसी हेतु से वे कार्य हैं तथा कार्य होने से उनका निमित्तकारण भी अवश्य है। इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि, कार्य के उत्पादन में जितनी शक्ति और ज्ञान की आवश्यकता है, निमित्तकारण में वह शक्ति तथा ज्ञान, कार्य की अपेक्षा अधिक रूप में अथवा समान रूप में होता है, किन्तु न्यून नहीं हो सकता। सुतरां, हमको यह अनुमान करना पड़ता है कि, जगत्‌रूप कार्य का निमित्तकारण, अलौकिक ज्ञान और शक्ति सम्पन्न है, जो सब कार्यों को कर सकता है (सर्वशक्तिमान) तथा समस्त कार्यों का आद्योपान्त ज्ञाता (सर्वज्ञ) है। वह अवश्यमेव अशरीरी होगा तथा उसके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य सीमारहित होंगे; क्योंकि जो शरीरी होता है वह कार्यकोटि के अन्तर्गत होता है तथा उसके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी अनित्य सीमित होते हैं। अतएव नित्य, स्वत-सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शरीररहित, सक्रिय ईश्वर को, कार्यजगत् के (सम्पूर्ण जगत् का नहीं, क्योंकि देशकालादि कार्य नहीं) निमित्तकारण रूप से स्वीकार करना आवश्यक है। *

*यहां पर सर्वज्ञ शब्द से यह तात्पर्य है कि, ईश्वर अथवा परमात्मा सर्वविषयक नित्यज्ञान का आश्रय है; किन्तु वह नित्यज्ञानस्वरूप नहीं है। न्याय तथा वैशेषिक मत में, ईश्वर को नित्यज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप तथा

❁ समालोचना ❁

अब निमित्तकारण रूप से ईश्वर का अनुमान करनेवाले नैयायिकों के सिद्धान्त को-संक्षिप्त एवं सरल रीति से- समालोचना की जाती है।

(क) प्रत्येक अनुमान में, अनुमान का हेतु (साधन) और साध्य के नियत सम्बन्ध का ज्ञान होना आवश्यक है। इनमें से एक व्याप्य तथा अपर व्यापक होता है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है धूम के होने से' इस अनुमान में साध्य अग्नि है तथा उसको सिद्ध करने का हेतु (साधन) धूम है। धूम के दर्शन से ही पर्वत में वह्नि होने का अनुमान होता है। धूम व्याप्य है तथा अग्नि व्यापक है। इस धूम और वह्नि के व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को हम पूर्व ही महानस (पाकशाला) में प्रत्यक्ष कर चुके हैं; अतएव पर्वत में उठते हुए व्याप्य धूम को देखकर, हमें व्यापक वह्नि का अनुमान होता है। व्याप्य और व्यापक के नियतसम्बन्ध के ज्ञान को व्याप्ति कहते हैं। दो पृथक् पदार्थों में नियत सम्बन्ध के होने पर वे परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव वाले होते हैं। पिता

वास्तविक निर्गुण रूप से स्वीकार नहीं किया है। कारण, कणाद और गौतम के मत में ज्ञान और आनन्द स्वरूपतः विभिन्न गुण हैं। ज्ञान का स्वरूप आनन्द से स्वरूपत. ही भिन्न है। कणाद (वैशेषिक) ने गुण का लक्षण करते हुए उसको द्रव्याश्रित एवं गुणशून्य कहा है तथा उनके मत में ईश्वर भी द्रव्यपदार्थ के अन्तर्गत होने से, गुणवान् (सगुण) पदार्थ है। गौतम (न्याय) ने ज्ञान को, आत्मा के गुणरूप से समर्थन किया है। सुतरां, गौतम के मतमें नित्यज्ञान परमात्माका गुण है। इस (न्याय) मत की व्याख्या करते समय भाष्यकार वात्स्यायन ने भी दृढतापूर्वक कहा है कि, ज्ञानादि गुणशून्य ईश्वर किसी भी प्रमाण का विषय न होने के कारण, उस प्रकार के ईश्वर को सिद्ध करने में कोई भी समर्थ नहीं हैं, अर्थात् प्रमाणाभाव से निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि ही नहीं हो सकती।

और पुत्र में नियत सम्बन्ध है, अर्थात् पिता के होने पर ही पुत्र हो सकता है, अन्यथा नहीं: अतएव पिता व्यापक है तथा पुत्र व्याप्य है । अनुमान काल में प्रथम व्याप्य (धूम) दृष्टिगोचर होता है, पश्चात् (धूम और वह्नि का नियत सम्बन्ध रूप) व्याप्ति के ज्ञान से, अग्नि का अनुमान होता है । अतएव अनुमान के लिए व्याप्ति-ज्ञानका होना नितान्त आवश्यक है । यह व्याप्ति, दो प्रकार के दृष्टान्तों से निश्चित होता है, एक अन्वयी तथा अपर व्यतिरेकी । 'जहां जहाँ धूम होता है वहां वहां अग्नि होता है यथा पाकशाला (रसोई घर)' यह अन्वयी दृष्टान्त है तथा 'जहां पर अग्नि नहीं होता वहां धूम नहीं होता यथा जलपूर्ण सरोवर' यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है । प्रथम में साध्य (वह्नि) और हेतु (धूम) एक ही स्थल में रहते हैं: तथा द्वितीय में साध्य के अभाव से हेतु का अभाव होता है । प्रथम अन्वय व्याप्ति कहलाता है तथा द्वितीय को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं ।*

*व्यतिरेक का अर्थ होता है "अभाव" । उक्त दृष्टान्त के द्वारा यह निश्चय करने पर कि, 'साध्य (अग्नि) के व्यतिरेक से हेतु (धूम) का भी व्यतिरेक होता है, हमको यह निश्चय उत्पन्न होता है कि साध्यधर्म के अभाव का व्यापक जो हेतु का अभाव है उसका प्रतियोगी हेतु पदार्थ है । व्यतिरेकी दृष्टान्त के द्वारा हेतु के अभाव को साध्य के व्यापकरूप से निश्चय कर लेने पर, अन्वयी दृष्टान्त से यह निश्चय होता है कि, उक्त हेतु के अन्वय का व्यापक साध्य (अग्नि) है । इन दो प्रकार के (अन्वयी और व्यतिरेकी) दृष्टान्तों से प्रथम व्याप्ति का (अग्नि और धूमके नियत सम्बन्ध का) निश्चय होता है, पश्चात् पर्वत में धूमको देखकर हम, उक्त अन्वयीव्याप्ति के आधार पर वह्नि का अनुमान करते हैं । (यह नैयायिकमत है. परन्तु मीमांसक और वेदान्तसम्प्रदायवाले उक्त "केवलव्यतिरेकी" को अनुमान का कारण न मान कर, उसको पृथक् "अर्थापत्ति प्रमाण" रूपसे ही स्वीकार किया है । उनके मत में, जहां पर भी अनुमान होता है, वहां अन्वयव्याप्ति ज्ञान से ही होता है । अतएव 'अन्वयी'

अनुमान के द्वारा ईश्वरसिद्धि के लिए कार्य के साथ ईश्वर का सम्बन्धज्ञान आवश्यक है।

कार्य के निमित्त कारणरूप से ईश्वर का अनुमान तब हो सकता था, जब कि, किसी कार्यविशेष के साथ अशरीरी सर्वज्ञ ईश्वर का कर्त्तारूप से नियत-सम्बन्ध का ज्ञान हमको प्रत्यक्ष होता। जगत् निःसन्देह हमको प्रत्यक्ष है, किन्तु ईश्वर नहीं। यदि ईश्वर भी साक्षात् अनुभव का विषय होता तो हमको उसके साथ जगत् के नियत सम्बन्ध का ज्ञान होता, तथा इस व्याप्ति के आधार पर हम ईश्वर को निमित्त कारणरूप से अनुमान कर सकते थे। उस अवस्था में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता भी नहीं रहती तथा ईश्वर-विषयक जो विभिन्न मत प्रचलित हैं, इनका भी अभाव होता। ईश्वरवादियों का, अनुमान के द्वारा ईश्वर को प्रमाणित करने का जो प्रयास है, इसीसे से यह प्रमाणित होता है कि वह साक्षात् अनुभव का विषय नहीं है। जगत् ही केवल अनुभवगोचर है; यह क्या

को ही अनुमान प्रमाण कह सकते हैं, व्यतिरेकि को नहीं)।

यदि अनुमान का हेतु, साध्य की व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्ष में (पर्वत में) रहे, तो वह हेतु यथार्थ होता है और हेत्वाभास (अयथार्थ) से सर्वथा भिन्न होता है। अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान में निम्नलिखित पांच धर्मवाला हेतु यथार्थ होता है। (१) हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है; (२) पक्ष को छोड़ कर हेतु वहां भी रहता है जहां कि साध्य हो; (३) जहां पर साध्य का अभाव है, वहां हेतु का भी अभाव होना चाहिए; (४) हेतु इसप्रकार धर्मवाला हो, जो प्रमाण से बाधित न हो तथा (५) अन्य किसी विरोधी हेतु से प्रतिपक्ष प्राप्त (खण्डित) न हो।

अन्वय-व्यतिरेकी के समान केवलान्वयी और व्यतिरेकी अनुमान भी होते हैं। केवलान्वयी अनुमान में (यथा, जो प्रमेय है सो अभिधेय भी है) हेतु का तृतीय (३) धर्म आवश्यक नहीं है; तथा केवल-व्यतिरेकी में (यथा, जो आत्मवान नहीं है वह प्राणादिविशिष्ट भी नहीं होता है यथा घट) हेतु का (२) द्वितीय धर्म आवश्यक नहीं। अर्थात् इनमें हेतु के केवल चार धर्म आवश्यक होते हैं। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिकापत्ति तथा अनवस्थ दोष रूप है; क्योंकि इन अनुमानों के हेतु में द्वितीय तथा तृतीय धर्म के न होने से, इनसे हेतु और साध्य की व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता।

ईश्वर के साथ जगत् का सम्बन्धज्ञान नहीं होने से जगत् के कारणरूप से ईश्वर का निर्देश नहीं हो सकता।

ईश्वर से सम्बन्द्ध है अथवा ईश्वर-भिन्न अन्य किसी के साथ युक्त है, इसका हमको अनुभव नहीं। प्रत्यक्ष-विषय के साथ, प्रत्यक्षातीत विषय का जो सम्बन्ध है, उसे हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। कारण, सम्बन्ध-ज्ञान के लिए दो सम्बन्धियों के ज्ञान का होना आवश्यक है। सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष ही, सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में कारण होता है। दो सम्बन्धियों में से केवल एक के प्रत्यक्ष होने से ही अन्य का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृत स्थल में ईश्वर के अप्रत्यक्ष होने के कारण, जगत् के साथ उसके सम्बन्ध का भी अनुमान नहीं हो सकता। कारण के साथ जिसका विशेष सम्बन्ध नहीं जाना जाता ऐसा जो कार्य है, वह अपने कारणविशेष के निर्णय में सहायता भी नहीं कर सकताः क्योंकि हेतु और साध्य के नियतसम्बन्ध-ज्ञान के ऊपर ही अनुमान निर्भर है। अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि, अप्रत्यक्ष ईश्वर के साथ, पृथ्वी आदि कार्य का सम्बन्ध, किसी भी उपाय से सिद्ध न होने के कारण, कार्यजगत् के अस्तित्व से ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो सकता। किसी पदार्थ के कार्यरूप सिद्ध होने पर उसके कारण का अनुमान अवश्य हो सकता है, किन्तु कारण, स्वरूपतः किस प्रकार का तथा किन धर्मों से युक्त है? इसका अनुमान नहीं हो सकता। सारांश यह कि, अनुमान दो प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार तो वहां पर प्रयुक्त हो सकता है जहां कि दोनों सम्बन्धी प्रत्यक्षगोचर हों। परन्तु प्रकृत स्थल में ईश्वर के प्रत्यक्षातीत होने के कारण, प्रथम प्रकार से अनुमान नहीं कर सकते। अवशिष्ट द्वीतीय प्रकार के अनुमान के द्वारा केवल साधारण रूप से यह सिद्धान्त स्थापित कर सकते हैं कि, कार्यरूप जगत् का कोई कारण अवश्य है; किन्तु वह चेतन है या अचेतन, अथवा एक है या अनेक, इत्यादि उसके स्वरूप और धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। फलतः अनुमान के द्वारा किसी ईश्वरविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती।

अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति के बल से ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता।

(ख) यह समस्त कार्यजगत् किसी चेतनावान् निमित्तकारण से (ईश्वर से) उत्पन्न हुआ है, यह निश्चय भी हम तब कर सकते हैं, जब कि प्रथम हम इस अव्यभिचारी-नियम का दर्शन करलें कि चेतन कारण के विद्यमान होने पर ही समस्त कार्य होते हैं (अन्वय) और अविद्यमान होने पर नहीं होते (व्यतिरेक)। प्रकृत स्थल में ईश्वर, प्रत्यक्ष दर्शन का विषय न होने से, अन्वय का विषय भी नहीं हो सकता तथा पृथिव्यादि पदार्थों की अविद्यमानता का दर्शन सम्भव न होने से, व्यतिरेक भी असम्भव है। अतएव, पृथ्वी आदि पदार्थों का अस्तित्व और अनस्तित्व, किसी चेतनावान् पुरुष के अस्तित्व और अनस्तित्व से होते हैं, यह कभी प्रमाणित नहीं कर सकते।

उपरोक्त विचार के द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, अन्वयव्याप्ति के द्वारा ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता; अब व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा भी ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता, यह प्रदर्शन करते हैं। यहां पर वादी इस प्रकार का अनुमान करते हैं कि, 'अनित्य जगत् कार्यरूप होने से, ईश्वर के द्वारा रचित है; क्योंकि जो सर्वज्ञ कर्ता द्वारा रचित नहीं होता वह कार्य भी नहीं होता, यथा आकाश'। परन्तु, यह अनुमान अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है: क्योंकि, 'जो पदार्थ सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा कृत नहीं होता वह कार्य भी नहीं होता', इस व्याप्ति की सिद्धि के निमित्त, प्रथम ईश्वर और उसकी सर्वज्ञता का ज्ञान होना चाहिए, [कारण, किसी कार्य के अभाव का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि उस अभाव के प्रतियोगी (अर्थात् कार्य) का ज्ञान हो] पश्चात् इस व्याप्ति की सिद्धि हो सकती है। किन्तु, उक्त अनुमान का उपयोग, ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में किया गया है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होने पर इस व्याप्ति की सिद्धि होगी तथा इस व्याप्ति के सिद्ध होने पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा; इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है। अतएव,

विशेष विशेष कार्य का विशेष विशेष कर्त्ता देखकर कार्यत्व—सामान्य और कर्तृत्व-सामान्य में व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती, अतएव कार्य मात्र का कर्त्तारूप से ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

उपरोक्त व्यतिरेक व्याप्ति भी, जगत्कर्त्तारूप ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकता।

यहां पर यह आपत्ति हो सकती है कि, यदि किसी कारणविशेष के साथ कार्यविशेष का कार्यकारण-सम्बन्ध, अन्वय-व्यतिरेक के प्रत्येक दर्शन से ही सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं; तो किसी भी दृश्यमान कारण (धूम) के दर्शन से अदृश्य कारण (पर्वतीय वह्नि) का अनुमान करना भी अनुचित हो जायगा। यदि ऐसे स्थल में धूमसामान्य और वह्निसामान्य में ही कार्य-कारण सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने से उपर्युक्त दोष का परिहार हो सकता है तो, कार्यत्वसामान्य जगत् का और निमित्तकारणत्व-सामान्य चेतन का परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध माना जा सकता है। इसके उत्तर में समालोचक का यह कहना है कि, इस विषय में साक्षात् अनुभूत तथा सयुक्तिक पक्ष को अङ्गीकार करना उचित है। हमारा प्रत्यक्ष अनुभव यह है कि विशेष कार्य अपने नियत विशेष कारण से ही उत्पन्न होता है, तथा कार्य-कारण सम्बन्ध भी सदैव विशेष सम्बन्धिविषयक होता है। क्योंकि सभी प्रकार के कार्यों में कार्यत्वरूप सामान्य धर्म दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव उक्त कार्यत्व को हेतु मानकर उसके कारणरूप से हम किसी प्रत्यक्ष व्याप्ति-रहित का अनुमान नहीं कर सकते। कार्यत्वधर्म को भिन्न भिन्न स्थलों में विभिन्न रूप से मानना होगा, न कि सब कार्यों के प्रति सामान्य धर्मरूप से। घट का निर्माणकर्त्ता कुम्हार, अपने कार्य घट के प्रति ही कारण है तथा इसी प्रकार वस्त्रकार जुलाहा भी अपने कार्य पट का ही कारण है। यह स्पष्ट है कि कार्यत्वसामान्य साक्षात् प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। कार्यविशेष के साथ कारणविशेष के सम्बन्ध का साक्षात् दर्शन करके, पश्चात् कार्यत्व रूप सामान्य धर्म का अनुमान करना पड़ेगा। परन्तु, जब कि विशेष विशेष कार्य सदा ही विशेष विशेष कारण विषयक होते

हैं तथा विभिन्न स्थलों में विभिन्न विशिष्ट रूप में उनके कार्यत्व रूप का ज्ञान होता है, तब हमारे पास ऐसा कोई हेतु नहीं है, जिसके आधार पर हम यह अनुमान कर सकें कि, सांसारिक समस्त कार्य का आधार रूप जगत् भी कार्यत्व सामान्य धर्म से युक्त है। अतएव कार्यत्व रूप सामान्य धर्म के सिद्ध न होने के कारण, पृथ्वी आदि समस्त पदार्थों के निमित्त कारण रूप से किसी कर्त्ता का सयुक्तिक अनुमान नहीं हो सकता। और भी, मनुष्यकृत गृहादि कार्य की उत्पत्ति का हम लोगों को साक्षात् दर्शन होता है किन्तु प्राकृतिक अंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति हमको दर्शन-सिद्ध नहीं है, अतः इन दो प्रकार के कार्यों में स्पष्ट भेद है। परन्तु, पर्वतीय धूम (कार्य) तथा महानसादि के धूम में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है, केवल स्थानभेद ही है: अतः पर्वतीय धूम से वह्नि का अनुमान होना सम्भव है: क्योंकि पर्वत में भी हम उसी तुल्य स्वभाववाले अग्निका अनुमान करते हैं, जिसको हमने पाकशालादि स्थानों में धूम के सहित प्रत्यक्ष दर्शन किया था। परन्तु, ईश्वर का अनुमान इस रीति से सङ्गत नहीं होता, क्योंकि इस स्थल में हमलोग एक ऐसे चेतन पुरुष का अनुमान करते हैं, जो पूर्वज्ञात चेतन पुरुष से सर्वथा विलक्षण स्वभाववाला है। अतएव पर्वत में धूम की उपस्थिति देखकर अदृष्ट पर्वतीय वह्नि का अनुमान हो सकता है, परन्तु गृहादि कार्यों के चेतन निमित्त-कारण का दर्शन कर इसी आधार पर पृथ्वी आदि कार्य का अदृष्ट चेतन-कारण अनुमान करना युक्ति-संगत नहीं है। फलतः यह प्रतिपन्न हुआ कि जब कि अनुमान, पूर्वकाल में प्रत्यक्ष नियत-सम्बन्ध के अनुभव की अपेक्षा रखता है तथा पूर्वदृष्ट हेतु के साधर्म्य से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान दृष्टमर्यादा को उल्लंघन करने में समर्थ नहीं होता, तब अनुमान के बल से ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

(ग) जगत् के समस्त कार्यों के कर्त्तारूप से एक नित्य सर्वशक्तिमान ईश्वर का अनुमान नहीं किया जा सकता, इसी विषय

कार्य की उत्पत्ति सर्वत्र जन्यप्रयत्न से होती है ऐसा दर्शन कर
अजन्यप्रयत्नवान ईश्वर को कर्ता नहीं मान सकते।

पर अब एक और प्रणालीद्वारा विचार करते हैं। कार्य के उत्पादन करने में, निमित्त-कारण में जो प्रयत्न अपेक्षित है, उसके ईश्वर में सम्भव न होने से ईश्वर को निमित्त कारण रूप से अनुमान नहीं कर सकते। यह हमको अनुभवसिद्ध है कि जहां पर प्रयत्न से कार्य की उत्पत्ति होती है वहां पर उत्पत्तिशील (जन्य) प्रयत्न से ही उत्पन्न होता देखा जाता है। ईश्वर में जन्य-प्रयत्न के न होने से, उसको निमित्त कारण रूप से अनुमान नहीं कर सकते (क्योंकि नैयायिकों के ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं, नकि उत्पत्तिशील)। यदि ऐसा तर्क किया जाय कि, जो कार्य है वह किसी प्रयत्न का कार्य अवश्य होगा, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि, यावत् कार्यमात्र जन्य-प्रयत्न के ही कार्य होते हैं। यदि हम इसी सिद्धान्त को कार्य रूप से माने हुए पृथ्वी आदि में प्रयोग करें तो यह अनुमान करना पड़ता है कि पृथ्वी आदि भी जन्य (उत्पत्तिशील) प्रयत्न के कार्य अवश्य होंगे। परन्तु यह सिद्धान्त उस मत का विरोधी है, जिसमें कि पृथ्वी आदि कार्य को प्रयत्न से उत्पन्न होना माना है, किन्तु जन्यप्रयत्न से नहीं। यदि हमलोग भी यह स्वीकार करें कि पृथ्वी आदि कार्य, जन्यप्रयत्न से उत्पन्न नहीं हैं, तो उक्त नियम के अनुसार इसका यह अर्थ होता है कि, पृथ्वी आदि किसी भी प्रयत्न से उत्पादित नहीं हैं, क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होने का अर्थ जन्य-प्रयत्न से उत्पन्न होना होता है। अतएव, जब कि न्यायवैशेषिक मत के अनुसार पृथिव्यादि में कार्यत्व धर्म है, किन्तु जन्य-प्रयत्न-जनित उत्पादन रूप धर्म नहीं है, तो जहां जहां कार्यत्वधर्म है, वहां वहां जन्य-प्रयत्न-जनित उत्पादन धर्म भी अवश्य रहेगा, ऐसी जो व्याप्ति (नियत-सम्बन्ध) है, उसका अवश्य विरोध होगा।

यहां पर न्यायवैशेषिक मतवादी यह आपत्ति करते हैं कि, कार्यत्व के साथ जन्य-प्रयत्न-जनित उत्पादन की व्याप्ति न मानकर लाघवत: ऐसा मानना उचित है कि कार्य प्रयत्न-जनित

उत्पन्न होता है। इस पर समालोचक का यह प्रश्न है कि, क्या आपको अजन्यप्रयत्न का भी किसी रूप से ज्ञान हुआ है? यदि कार्य के साथ जन्य तथा अजन्य इन दोनों प्रकार के प्रयत्न का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता, तब उक्त लाघव विषयक प्रश्न उत्पन्न हो सकता था; किन्तु जब कि आपने अजन्य-प्रयत्नजनित कार्य का कोई दृष्टान्त कहीं भी नहीं देखा है, तब यह कदापि नहीं कह सकते कि कार्य और प्रयत्न का नियत-सम्बन्ध स्वीकार करने पर लाघव होता है। पृथ्वी आदि कार्यस्थल में प्रयत्न-जनित उत्पादन रूप धर्म का ज्ञान हो सकना असम्भव होने से, ऐसे स्थल में व्याप्ति-प्रयोग के निमित्त लाघव विषयक प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। और भी, जब कि अजन्य-प्रयत्न आपको ज्ञात नहीं है तथा वह केवल आपकी कपोल-कल्पना है, किन्तु आप इस धारणा से उसका प्रयोग करते हैं कि, कदाचित् वह अजन्य-प्रयत्न-विषयक सिद्धान्त का अनुग्राहक हो सके, तो वास्तव में आप ही गौरव कल्पना कर रहे हैं; क्योंकि अनुभव का विरोध करते हुए किसी अलौकिक प्रयत्न के सिद्ध करने की चेष्टा, गौरव कल्पना नहीं तो क्या है।*

*लाघव तर्क के द्वारा अनुमिति के विषय की लघुता को सिद्ध करना, नैयायिकों के लिए सुसगत नहीं है। यथा प्रभाकर मीमांसकों के मतानुसार जब लोग शुक्ति को रजत मानकर उसको ग्रहण करने के लिए जाते हैं, तब उनकी रजतग्रहणप्रवृत्ति के ये तीन ही कारण होते हैं (१) पुरोवर्त्ती विषयक 'इदंज्ञान' (२) उसके पश्चात् हट्ट (दुकान) में दृष्ट जो रजत है उसका स्मृतिरूपज्ञान (३) तथा शुक्ति और रजत का भेदविषयक ज्ञानाभाव। परन्तु नैयायिकों के मत में उक्त ग्रहण की प्रवृत्ति का कारण केवल तीन ही नहीं, किन्तु अन्य एक चतुर्थ वैशिष्ट्यज्ञान (इदं पदार्थ में रजतत्व की विशिष्टता का ज्ञान) भी आवश्यक है। अब, यदि लाघव-तर्क, अनुमिति के विषय की लघुता का ही साधन करता हो अर्थात् रजतग्रहणप्रवृत्ति के कारणो के अनुमानकाल में उस अनुमिति का विषय जो उक्त अनेक कारण हैं, उनकी अल्पता को सिद्ध करता हो, तो

लाघव के बल से ईश्वर-खण्डन प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नाभाव और कार्याभाव के व्याप्तिविषय में विचार। प्रयत्न का अन्योन्याभाव कार्याभाव का कारण नहीं।

लाघव-तर्क की उभय पक्ष में समानता होने से, इसके बल पर ईश्वर की सिद्धि भी नहीं हो सकती; कारण, विपक्षवादी भी लाघवतर्क की सहायता से ईश्वर का खण्डन कर सकेगा। यह निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है, जो कि प्रणिधान के योग्य है। प्रत्यक्षसिद्ध कर्त्ता और कार्य के नियत-सम्बन्ध का दर्शन कर हमलोगों को ईश्वर का अनुमान होता है। कर्त्ता के प्रयत्न के होने से कार्य होता है तथा कर्त्ता के प्रयत्न के अभाव से कार्य उत्पन्न नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक के दर्शन से कर्त्ता का प्रयत्न और कार्य का नियत-सम्बन्ध स्थापित होता है। अब, उक्त प्रयत्न का अभाव किस प्रकार का है? इस पर विचार करने से यह प्रतिपादित होता है कि, वह अन्योन्याभाव या प्रध्वंसाभाव अथवा अत्यन्ताभाव नहीं, किन्तु प्रागभाव है। अर्थात् अभाव दो प्रकार के होते हैं, संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव (भेद)। संसर्गाभाव के भी तीन भेद हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इनमें से प्रयत्न का अन्योन्याभाव, घटाभाव (कार्याभाव) का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रयत्न का अन्योन्याभाव होता हुआ भी घटादि कार्य दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् कार्य से प्रयत्न का भेद कार्य के अभाव का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि इनका आपस में भेद अनुभवसिद्ध है, तथापि कार्य उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। प्रयत्न का अत्यन्ताभाव भी कार्य के अभाव का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि पृथ्वी

प्रभाकर मत क्यों नहीं ग्राह्य होता? कारण, प्रभाकर उक्त प्रवृत्ति के तीन ही कारण मानते हैं किन्तु नैयायिक चार मानते हैं; अतएव लाघव-तर्क के होने से अपना अभीष्टरूप से प्रभाकर मत ही, नैयायिकों को माननीय होना चाहिए था। परन्तु, वास्तव में नैयायिक, प्रभाकर मत का स्वीकार करने के लिए कभी भी उद्यत नहीं हैं। अतएव यह कहना होगा कि लाघव तर्क के द्वारा अनुमिति के विषय की लघुता सिद्ध नहीं होती। जिस (लाघव) को स्वयं ही प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं करते, वह अन्य प्रमाण को किस प्रकार दृढ कर सकेगा?

आदि पदार्थों में प्रयत्न का अत्यन्ताभाव है, तथापि इनसे घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं। यहां पर यदि यह कहा जाय कि आत्माश्रित प्रयत्न का अभाव ही घटादि कार्य के अभाव का कारण है (न कि पृथिव्यादिगत प्रयत्नाभाव) क्योंकि कुम्भकार के आत्माश्रित प्रयत्न के अभाव होने पर ही घटादि कार्य का अभाव देखा जाता है; तो इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त कथन से इस पक्ष का विरोध नहीं होता। कारण, आत्मा में प्रयत्न का अत्यन्ताभाव नहीं है तथा कार्य के पूर्व में भी आत्मा में प्रयत्न का अत्यन्ताभाव नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि, देहावच्छिन्न (सर्वव्यापक नहीं) आत्मा में प्रयत्न का अभाव ही, कार्याभाव के प्रति कारणरूप से अनुभूत होता है। क्योंकि प्रयत्न के सहकारी समस्त आवश्यक सामग्रियों के होते हुए भी, यदि आत्मा में प्रयत्न का अभाव हो तो कार्य का भी अभाव देखा जाता है तथा यह अनुभव भी कभी बाधित होता हुआ नहीं पाया जाता। अतएव आत्माश्रित प्रयत्नाभाव ही कार्याभाव का कारण है यह कहना होगा। किन्तु आत्मा में प्रयत्न का अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि वादी के मतानुसार जहां पर भविष्य में प्रयत्न के होने की सम्भावना है, वहां पर प्रयत्न का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता। इस प्रकार कार्योत्पत्ति के पूर्व भी प्रयत्न का अत्यन्ताभाव आत्मा में न रहने के कारण, आत्मगत प्रयत्न का अत्यन्ताभाव भी घटाभाव के प्रति कारण नहीं है। फलतः यह प्रतिपन्न हुआ कि, न तो पृथिव्यादि बाह्य पदार्थों में और न आत्मा में प्रयत्न का अत्यन्ताभाव, घटाभाव का कारण है। अतएव प्रयत्न का अत्यन्ताभाव, कार्याभाव के कारणरूप से नहीं सिद्ध हो सकता। इसी प्रकार प्रयत्न के प्रध्वंसाभाव को भी कार्याभाव का कारण नहीं मान सकते; क्योंकि कुम्भकार में प्रयत्न का प्रध्वंसाभाव है, किन्तु फिर भी घटोत्पत्ति देखी जाती है। अतएव अवशिष्ट पक्ष को सिद्धान्तरूप से अङ्गीकार कर यह कहना पड़ता है कि, कार्याभाव के प्रति प्रयत्न का प्रागभाव

ही कारण होगा। अब, जहां जहां प्रयत्न का प्रागभाव होता है वहां वहां कार्य का भी अभाव होता है, इस व्यतिरेक की उपपत्ति के निमित्त हमको प्रथम, प्रयत्नाभाव तथा कार्याभाव में रहने वाले नियत-सम्बन्ध (व्याप्ति) को सिद्ध करना होगा, जोकि प्रयत्न के प्रागभाव-प्रतियोगी होने पर ही हो सकता है। इसी सिद्धान्त का अन्य रीति से भी प्रतिपादन हो सकता है। साधारणतया यह सभी को स्वीकृत है कि, कार्य का कर्त्ता, कार्य और उपादानकारण का ज्ञानवान् होता है तथा कार्य को उत्पादन करने की इच्छा भी उसमें अवश्य होती है; तभी इस ज्ञान और इच्छा के कारण कार्यरूप फल की उत्पत्ति होती है। अब, कार्य के प्रति ज्ञान और इच्छा की कारणता को भी स्वीकार करते हुए यदि हम इस सिद्धान्त को भी साथ में रखना चाहें कि, कार्योत्पादन के निमित्त प्रयत्न भी आवश्यक कारण है; तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान और इच्छा के फलरूप से प्रयत्न होता है जोकि कार्योत्पत्ति के पूर्व तथा ज्ञान और इच्छा के पश्चात् अर्थात् इन दोनों के मध्य में रहता है। कार्योत्पत्ति में प्रयत्न ही मध्यस्थ तथा आवश्यक साधन है, जिसकी सहायता से ज्ञान और इच्छा ने कार्य को उत्पादन करते हैं; यह ज्ञात होने पर ही यह सिद्ध हो सकता है कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीनों ही क्रम से कार्य के प्रति कारण रूप से सम्बद्ध हैं। फलतः यह ज्ञात हुआ कि, ज्ञान और इच्छा का कार्य होने के कारण, प्रयत्न, प्रागभाव-प्रतियोगी है। अतः प्रयत्नाभाव और कार्याभाव में यदि व्याप्ति है तो वह अभाव, प्रागभाव स्वरूप होगा। अब यहां पर यह विचारणीय है कि यह प्रागभाव-प्रतियोगित्व धर्म, क्या नित्य, अनित्य सभी प्रकार के प्रयत्नों में है? अथवा केवल अनित्य प्रयत्न में ही है। यहां लाघव के निमित्त यह मानना उचित है कि उक्त प्रागभाव-प्रतियोगित्व प्रयत्न-सामान्य में ज्ञात होता है, नकि केवल अनित्य प्रयत्न में। जहां प्रयत्न का अभाव है वहां कार्य का भी अभाव है, इस व्यतिरेक के निर्णय के लिए यह ज्ञात होना भी आवश्यक है

प्रयत्नमात्र जन्य है यह लाघवतः प्रमाणित होने से, कार्यजगत् का कारण रूप से ईश्वरीय नित्यप्रयत्न नहीं मान सकते, सुतरां जगत्कर्ता रूप से ईश्वर सिद्ध नहीं होता।

कि उक्त प्रागभाव-प्रतियोगित्व धर्म, प्रयत्न-सामान्य का अवच्छेदक है। प्रयत्न-सामान्य के प्रागभाव-प्रतियोगित्व द्वारा अवच्छिन्न होने से यह सिद्धान्त प्रतिपादित होगा कि प्रयत्न मात्र जन्य हैं। अतएव जो जन्यप्रयत्न से उत्पन्न नहीं है, वह प्रयत्न से भी उत्पन्न नहीं है। सुतरां, यदि पृथिव्यादिकों को जन्यप्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला नहीं मान सकते, तो वे किसी प्रयत्न के द्वारा उत्पादित हैं, यह भी नहीं मान्य हो सकता। फलतः प्रयत्न-जन्यत्व और कार्यत्व में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति सिद्ध न होने से, कार्यत्व में प्रयत्नजन्यत्व का अनुमान भी नहीं हो सकता है।

यहां पर न्यायवैशेषिकों को यह आपत्ति है कि, यदि पृथ्वी आदि कर्त्ता के बिना ही उत्पन्न होते तो वे कभी भी अस्तित्ववान् नहीं हो सकते थे: क्योंकि चेतन कर्त्ता के बिना कार्य की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती। इसके उत्तर में समालोचक का यह कहना है कि, प्रत्येक कार्य, किसी प्रयत्न और चेतनावान् पुरुष के द्वारा ही उत्पन्न होता है, इसके निर्णय के बिना उपर्युक्त तर्क का प्रयोग नहीं हो सकता। अर्थात् प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए यदि कर्त्ता की अनिवार्य आवश्यकता प्रमाणित हो, तभी यह कह सकते हैं कि कर्त्ता के अभाव से कार्य का भी अभाव होगा। परन्तु यह निर्णय के अयोग्य है सो उपर्युक्त विचार से प्रदर्शित हुआ है; अतः उक्त आपत्ति अकिञ्चित्कर (निष्फल) है। यदि यहां पर पुनः ऐसी आपत्ति उठाई जाय कि, प्रत्येक कार्य के निमित्त चेतनकर्त्ता आवश्यक है ऐसा सिद्धान्त, घटादिकार्य के दर्शन के बल से सिद्ध होता है, सुतरां यह अनुमान करना युक्तिसंगत है कि पृथिव्यादि कार्य भी कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता; तो इसका उत्तर यह है कि, यदि यह माना जावे कि प्रयत्नवान चेतनपुरुष के द्वारा केवल विशेषरे घटादि कार्य उत्पादित होता है, तो वादी का सिद्धान्त न मानकर उक्त दर्शन के अभाव का (कर्त्ता के बिना घटादि कार्य नहीं देखा जाता) उपपादन हो

सकें। यदि वादी को यह पक्ष स्वीकृत न हो तो कार्यत्वधर्म और शरीरजन्यत्व धर्म की व्याप्ति को भी अङ्गीकार करना होगा। कारण, शरीरधारी कर्त्ता के बिना कोई भी कार्य, उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता। कर्त्ता के अभाव से विशेष कार्य का भी अदर्शन होता है, यदि इसी हेतु के आधार पर यह मान लिया जाय कि समस्त कार्यों की उत्पत्ति एक कर्त्ता के द्वारा ही होती है, तो साथ ही यह भी हमको स्वीकार करना होगा कि, प्रत्येक कार्य किसी शरीरधारी से ही उत्पन्न होता है। परन्तु यह सिद्धान्त आपत्तिकारी को कदापि स्वीकृत नहीं हो सकता, क्योंकि यह वादी के उस सिद्धान्त के विरुद्ध है कि ईश्वर अशरीरी तथा नित्य ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नवान् है। अतएव, जो कार्यत्वधर्म-युक्त है वह प्रयत्नजनित उत्पादनरूप धर्म से भी अवश्य युक्त होगा, इस व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रयत्न, सदैव अनित्य और शरीरजन्य है तथा प्रयत्नकारी पुरुष भी शरीरधारी ही होता है; क्योंकि अशरीरी में प्रयत्न का होना सम्भव नहीं।* अतः लाघवानुगृहीत इन सब प्रमाणोंसे उक्त व्याप्ति के निवृत्त होने से, कार्यजगत् की उत्पत्ति के निमित्त ईश्वर का प्रयत्न

*ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के संघटित होने में शरीर कारण होता है। यह कार्यकारणभाव अवच्छेदकता और तादात्म्यसम्बन्ध से घटित होता है; अर्थात् ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न शरीर का अवच्छेदक है और शरीर भी ज्ञानेच्छाकृति के साथ तादात्म्यसम्बन्ध से युक्त होने के कारण, ज्ञानेच्छाकृति के द्वारा अवच्छिन्न है, अर्थात् शरीर में तादात्म्यसम्बन्ध से ज्ञानेच्छाकृति का कारण शरीर भी होता है तथा ज्ञानेच्छाकृतिरूप कार्य भी अवच्छेदकतासम्बन्ध से शरीर में है। अतएव कार्यरूप ज्ञानेच्छाकृति के प्रति कारणरूप शरीर का सामानाधिकरण्य है। शरीर में जो ज्ञानादि की कारणता है वह अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है। यदि ज्ञानेच्छाकृति का नित्यरूप स्वीकार किया जायगा, तो इनका कोई अवच्छेदक या कारण न रहने से उपरोक्त कार्यकारणभाव (अर्थात् अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञानादि के प्रति शरीर कारण होता) भंग हो जायगा।

प्रमाणित नहीं हो सकता। सुतरां जगत्कर्त्ता रूप से ईश्वर के अस्तित्व के अनुमानमें किसी योग्य हेतु के न होने से, ऐसा अनुमान करना भी निष्फल ही है।

उल्लिखित विचार के द्वारा यह सिद्ध होने पर कि, ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा नहीं हो सकती, अतएव ईश्वर के एकत्व की सिद्धि मानकर उसे सर्वविषयक ज्ञानवान् तथा इच्छावान् भी नहीं माना जा सकताः अब निम्नलिखित विचार के द्वारा यह प्रदर्शन करते हैं कि हमलोग अपने अनुभव और युक्ति के आधार पर, यह भी निर्णय नहीं कर सकते कि (१) ईश्वर की सर्वज्ञता कैसी है तथा (२) उसकी इच्छा किस प्रकार की है?

(१) यह लौकिक नियम अनुभवसिद्ध है कि, आत्मा के साथ मन (जन्य ज्ञान का करण) का संयोग होने पर ही घटादि विषयों का ज्ञान होता है, और आत्ममनःसंयोग के न होने से सुषुप्ति अवस्था के समान किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता। यह मन ही करण (साधन) है जिसके द्वारा आत्मा को घटादि विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अतएव, आत्मारूपी ईश्वर की सर्वज्ञता के निमित्त प्रथम, एक ऐसे मन को स्वीकार करना होगा जो भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान समस्त घटनाओं को और जगत् के समस्त पदार्थों को एक ही काल में विषय कर सके। ऐसा मन हमको अनुभव-सिद्ध नहीं, तथा युक्ति के द्वारा भी सिद्ध नहीं हो सकता, जैसा कि हम पूर्व ही प्रथमाध्याय में सर्वज्ञता का खण्डन करते हुए विस्तार पूर्वक प्रदर्शन कर चुके हैं। यदि ऐसे मन की धारणा को हम किसी प्रकार अपने हृदय में स्थान भी दे दें, तो भी शरीररहित ईश्वर में मन का होना कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् इस प्रकार के अनुमान के द्वारा ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती। अब, यदि यह कहें कि, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को ज्ञानोत्पादन के निमित्त मन की आवश्यकता ही क्या है? उसमें उसके विभूतिबल से ही नित्यज्ञान

विद्यमान रहता है; उसके ऐश्वर्य का कोई अन्त नहीं; अतः वह अपने ऐश्वर्य के बल पर मन के बिना ही, नित्य ज्ञानवान् अर्थात् सर्वज्ञ है; किन्तु, यह कल्पना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि, यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो यह मानना होगा कि ईश्वर अपने ऐश्वर्य के बल से, ज्ञान की उपलब्धि के बिना ही, जगत् का निर्माण करता है, अतएव उसके 'उपलब्धिमत् कर्तृकत्व' को स्वीकार करना व्यर्थ है। यदि जगत् की उत्पत्ति का कारण ईश्वरीय ज्ञान को नित्य मानें तो जगत् की उत्पत्ति भी नित्य हो जायगी, अर्थात् सभी समय जगत् उत्पन्न ही होता रहेगा ऐसा स्वीकार करना होगा। वस्तुतः वादी को यह मान्य है कि, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय क्रम से होते रहते हैं। अतएव, इस क्रम को सुरक्षित रखने के लिए वादी को यह भी मानना होगा कि, जगत् की उत्पत्ति के पश्चात्, जगदुत्पादक ज्ञान का नाश होता है तथा जगत् के स्थापक ज्ञान की उत्पत्ति होती है; इसी प्रकार प्रलय काल में स्थापक ज्ञान का नाश होकर लयकारक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। सुतरां, जगत् का कारणभूत ईश्वरीय-ज्ञान जन्य (उत्पत्तिशील) ज्ञान है, जो कादाचित्कत्वधर्म से युक्त होने के कारण, मन की आवश्यकता रखता है। मन की सहायता के बिना जन्यज्ञान का अनुभव आज तक किसी को भी नहीं हुआ है। यदि ईश्वर में इस प्रकार का ज्ञान (उसके ऐश्वर्य बल से) हो सकता होगा, तो भी यह स्पष्ट है कि अनुमान प्रमाण के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी विषय में पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, जगत्कर्त्ता का ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य है तो उस नित्य ज्ञान के द्वारा जगत्कर्त्ता समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जानता है अथवा परोक्षरूप से? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि अतीत-अनागत का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता। यह सुविदित है कि केवल वर्त्तमान विषय ही प्रत्यक्षरूप से ज्ञात हो सकता है। यह भी निरर्थक है कि, अतीत-अनागत का भी वर्त्तमान होने का

स्वभाव है। यदि ऐसा होता तो हमको भी कदाचित् उसकी उपलब्धि होती। अतीत की स्मृति का प्रत्यक्ष होता है, विषय का नहीं। इसी प्रकार भविष्य की भी कल्पना का मानस में प्रत्यक्ष होता है। यदि विषय का भी प्रत्यक्ष होना माने तो वह अतीत और अनागत धर्म से रहित होगा; अर्थात् फिर उसको वर्तमान कहना होगा: क्योंकि वर्तमानकालीन विषय का इन्द्रियों के साथ जो संयोग है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। विषय और विषयी के सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है, जब कि दोनों पदार्थों का अस्तित्व वर्तमान हो। एक अस्तित्व वाले पदार्थ के साथ, अस्तित्वरहित पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव, अतीत और अनागत पदार्थों के साथ ईश्वर के ज्ञान का सम्बन्ध न होने से, ईश्वर उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। केवल यही नहीं, किन्तु वर्तमान विषय के साथ भी ईश्वर के नित्य ज्ञान का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसकी विवेचना करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, विश्वनियामक के साथ जो नियमित पदार्थों का सम्बन्ध है, वह साक्षात् है, किम्बा करण अथवा आश्रय के द्वारा? प्रथम पक्ष अर्थात् साक्षात् संयोग सम्बन्ध का होना असम्भव है: क्योंकि गुणरूप (अतएव अंशरहित) से मान्य ज्ञान का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। पदार्थों के साथ ज्ञान की अपृथक्सिद्धता न होने के कारण, उसका समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। पदार्थ और ज्ञान, इन दोनों के परस्पर विरुद्ध जड और चेतन, ज्ञाता और ज्ञेय स्वभाववान् होने के कारण, तादात्म्य सम्बन्ध भी असम्भव है। जब कि वर्तमान स्थल में ये तीन मूल सम्बन्ध ही सम्भव नहीं हैं, तब मूल सम्बन्धमूलक परम्परा-सम्बन्ध तो सर्वथा असम्भव ही है। अतएव पदार्थों के साथ ज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं है। जब कि ईश्वर के ज्ञान को नित्य माना जाता है, तब वह ज्ञान करण-जनित नहीं हो सकता। सुतरां वहां पर, करण-जनित सम्बन्ध

करण या आश्रय के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध न होने से उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती।

भी सम्भव नहीं है। यदि ईश्वरीय ज्ञान को करण-सम्बन्ध-जनित मानें, तो उसके ईश्वरत्व की भी हानि होगी। इसी प्रकार तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है। यहां आकाशादि सर्वव्यापक पदार्थ और उसमें समवेत गुणों के अप्रत्यक्ष होगा, क्योंकि वादी के मतानुसार ज्ञान का आश्रय ईश्वरात्मा तथा आकाशादि, दोनों ही व्यापक पदार्थ हैं और व्यापक पदार्थों का परस्पर संयोग ("अज संयोग") भी उनके मत में स्वीकृत नहीं है। अतएव आकाशादि के साथ ईश्वर का संयोग सम्भव न होने से, आकाशादिकों के शब्दादि गुण के साथ भी ईश्वरीय ज्ञान का संयोग नहीं होगा। फलतः ईश्वर के साथ पदार्थों का आश्रय के द्वारा सम्बन्ध स्वीकार करने से ईश्वरीयज्ञान को शब्दादि गुण प्रत्यक्ष नहीं होंगे।*

*ईश्वरीयज्ञान के साथ ईश्वरात्मा के सम्बन्ध का निर्णय होना भी कठिन है। वादी के मत में ज्ञान, गुणरूप है जो ईश्वरात्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से नित्य ही सम्बद्ध है। परन्तु, यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है; क्योंकि उक्त मत में समवाय पृथक् सम्बन्धियों से सर्वथा पृथक् है तथा वह सर्वत्र सम है। इस प्रकार का समवाय, कोई एक विशेष आत्मा (ईश्वर) और विशेष गुण (नित्यज्ञान) को कैसे सम्बन्धयुक्त कर सकता है? यहां पर यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि ईश्वरीयज्ञान, सम्पूर्ण ईश्वरात्मा में समवेत है, अथवा नहीं? यदि है, तो ईश्वरीयज्ञान के अपरिच्छिन्न होने के कारण, हमारे देहावच्छिन्नज्ञान से भिन्न मानना होगा; जोकि अनुभवगोचर नहीं होता। वादी के मत में हमारी आत्मा भी सर्वव्यापक है तथा ज्ञान गुण से समवेत है; किन्तु देह के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण, हमको देहावच्छिन्न (परिच्छिन्न) ज्ञान की ही उपलब्धि होती है; परन्तु परमात्मा का ज्ञान उसके सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है, अतः अपरिच्छिन्न है। वादी का यह अनुमान उस अवस्था में स्वीकृत हो सकता है, जब कि इसके उपपादन के निमित्त हमारे पास कोई अनुभूत हेतु हो। इसी प्रकार ईश्वरीयज्ञान की नित्यता और सर्वव्यापकता की सिद्धि के लिए प्रथम यह सिद्ध कर लेना आवश्यक है कि, एक ही ज्ञान गुण, व्यापक ईश्वरात्मा के तो सम्पूर्ण अंश में समवेत हो सकता है, किन्तु वही ज्ञान, हमारी व्यापक आत्मा

के पूर्णांश में क्यों नहीं समवेत हो सकता? (देहावच्छिन्नता भी इसके प्रति योग्य हेतु नहीं है; कारण, वादी के मत में देह और आत्मा में समवाय सम्बन्ध नहीं है)। जब कि ज्ञान का समवायसम्बन्ध ईश्वरात्मा और जीवात्मा दोनों में ही समान है तथा हमारा ज्ञान परिच्छिन्न और अनित्यरूप से अनुभूत होता है; तब हम कैसे अनुमान करलें कि, ईश्वरीयज्ञान इसके विपरीत नित्य और व्यापक होगा? अतएव यह स्पष्ट है कि, समवायसम्बन्ध, ईश्वरीयज्ञान की नित्यता और व्यापकता को सिद्ध नहीं कर सकता; जिसका यह अर्थ होता है कि, जबतक इस प्रकार का कोई ज्ञान न उपपादित हो तब तक इस प्रकार के ज्ञान से युक्त कोई ईश्वर विशेष भी प्रमाणित नहीं होता। यदि पक्षान्तर में ऐसा माना जाय कि ज्ञान, व्यापक आत्मा के सम्पूर्ण अंश में नित्य समवेत नहीं है, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उसका ज्ञान सर्वविषय को ग्रहण नहीं करता, सुतरां उसका ज्ञान, असर्वज्ञ, सीमित और जन्यधर्मयुक्त है; जोकि ईश्वर-विषयक सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। फलतः यह उपपन्न हुआ कि ज्ञान को, यदि ईश्वरीय आत्मा के प्रकृत स्वरूप से भिन्न मानें तो यह सिद्ध नहीं हो सकता कि, किस प्रकार वह ज्ञान ईश्वरात्मा से नित्य सम्बन्धयुक्त रहता है तथा जीवात्मा से नहीं।

यदि उक्तज्ञान को ईश्वरात्मा से अभिन्न मानें तो भी दोष होगा; क्योंकि 'स्वयं' कभी 'स्वीय' नहीं हो सकता, किसी पदार्थ का आत्मा उसके गुणरूप से मान्य नहीं हो सकता। ज्ञान को ईश्वर का गुण मानते हुए भी उसको ईश्वर से अभिन्न कहना विरुद्ध है। इसी प्रकार इस पक्ष में और भी दोष उत्पन्न होता है कि, ज्ञान आत्मा के स्वरूप में अन्तर्भूत है, अथवा आत्मा ही ज्ञान के स्वरूप में अन्तर्भूत है? प्रथम कल्प के अनुसार यह मानना होगा कि ज्ञान, आत्मा का स्वकीय गुण नहीं है; फलतः आत्मा अचेतन होगा, जोकि जगत्कर्ता नहीं हो सकता। यदि द्वितीय कल्प को मानें तो यह स्वीकार करना होगा कि केवल ज्ञानरूप गुण है अथच ऐसी कोई द्रव्य नहीं है जिसमें वह समवेत हो; अर्थात् कोई ज्ञानवान पुरुष के बिना ज्ञान रहेगा। परन्तु यह वादी के उक्त प्रतिपाद्य मत के सर्वथा विरुद्ध है कि, नित्य ज्ञानवान जगत् का कर्ता केवल एक ही है। और भी, यदि इसी तर्क का अनुसरण किया जाय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि, मानव-ज्ञान भी निराश्रय है। फलतः

यह कथन समीचीन नहीं कि सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ही ईश्वर अपनी अचिन्त्यशक्ति से समस्त पदार्थ को जानता है।

यहां पर वादी इस प्रकार का तर्क कर सकता है कि पदार्थों के प्रत्यक्ष करने के लिए ईश्वर को किसी सम्बन्धविशेष की आवश्यकता नहीं होती, वह, सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ही समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेता है, यही तो ईश्वर की अचिन्त्य-शक्ति है! परन्तु यह कथन भी समीचीन नहीं है। जगत्कर्त्ता की सिद्धि के निमित्त इस प्रकार का सिद्धान्त उपस्थित करना चाहिए कि, हम लोग अपने अनुभव के आधार पर युक्तिसंगत रूप से उसकी धारणा कर सकें। परन्तु ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में किसी प्रकार के (साक्षात् या असाक्षात्) सम्बन्ध के बिना भी ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो हमारी अनुभव-सीमा के सर्वथा बाहर है, अतः ऐसी धारणा हमारे लिए सर्वथा असम्भव है। सुतरां, वादी के सिद्धान्त को स्वीकार करने पर तर्कशास्त्र के समस्त नियमों को तिलाञ्जलि देना होगा। अतएव, युक्तिसंगत सिद्धान्त यही होगा कि, ईश्वर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान सकता। इसी प्रकार परोक्ष रूप से भी ईश्वर को पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यह हमको अनुभवसिद्ध है कि सभी परोक्षज्ञान करण-जनित उत्पन्न (अनित्य) होते हैं। सुतरां, यदि ईश्वर का ज्ञान परोक्ष होगा तो वह भी करण-जनित होगा, अतएव उसके नित्यत्व में हमको विश्वास का त्याग करना होगा। यदि वादी को यह स्वीकृत हो कि ईश्वरीय ज्ञान अनित्य है, तो वह भी जीव के समान होगा और ईश्वरत्व की हानि होगी। फलतः ईश्वर में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान से सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती।

किसी कार्य को देखकर हम यह सिद्ध नहीं कर सकेंगे कि यह कार्य किसी ज्ञानवान् पुरुष के द्वारा उत्पादित है। अर्थात् जगत्रूप कार्य का अवलोकन कर किसी ज्ञानवान् कर्त्ता का अनुमान भी असङ्गत हो जायगा। सारांश यह कि, इस प्रकार के तर्क को ईश्वरास्तित्व के प्रमाण की अनुकूलता में उत्थापन करना व्यर्थ है।

ईश्वर की इच्छा को नित्यरूप से निर्णय नहीं कर सकते। ईश्वरेच्छा को नित्य मान कर सहकारिभेद से व्यवस्था नहीं हो सकती।

(२) अब ईश्वरीय इच्छा की समालोचना करते हैं कि, ईश्वर में वह कहां तक योग्य है, तथा किस प्रकार से होती है। यहां पर सर्वप्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, ईश्वरेच्छा नित्य है, अथवा जन्य (उत्पत्तिशील)? यदि नित्य मानें, तो ऐसी नित्य इच्छा की उत्पत्ति के लिए ईश्वरीयज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी और वह निरर्थक होगा, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान पूर्वक ही इच्छा की उत्पत्ति होती है। केवल ज्ञान को निरर्थकता मात्र ही नहीं, किन्तु इच्छा को नित्य मानने पर प्रलय काल में भी सृष्टि होनी चाहिए तथा किसी काल में भी किसी (इच्छा द्वारा उत्पन्न) पदार्थ का अभाव नहीं होना चाहिए। यदि ईश्वर सर्वदा सर्व-विषयक समान ज्ञानवान है, सर्वदा सर्व विषयों की इच्छा वाला है तथा समस्त कार्यों के उत्पादन के प्रति सर्वदा समानरूप से प्रयत्नवान् है, तो समस्त कार्यों की एक ही काल में उत्पत्ति होनी चाहिए तथा उनकी उपस्थिति भी सदैव होनी चाहिए; अर्थात् इस रीति से जगत् में उत्पत्ति और ध्वंस तथा क्रम-नियम का भी अभाव होना चाहिए। यहाँ पर वादी यह कह सकता है कि, अन्य सहकारी कारणों के द्वारा उक्त सांसारिक उत्पत्ति और ध्वंसादि के नियम की व्यवस्था हो सकती है। किन्तु सहकारी कारण के सम्बन्ध में भी वही प्रश्न उत्पन्न होता है; अर्थात् वे नित्य हैं अथवा अनित्य? यदि नित्य हैं तो ईश्वरीय इच्छा और प्रयत्न के साथ उनका संयोग भी सर्वदा ही रहेगा और वही उपर्युक्त दोष उत्पन्न होगा। यदि सहकारी कारण अनित्य हैं तो यह स्वीकार करना होगा कि, ईश्वर के ज्ञान और इच्छा से उसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से भी उन कारणों का (अन्य सहकारियों का) सर्वदा संयोग बना रहेगा; क्योंकि सहकारी कारण की उत्पत्ति की इच्छा भी नित्य होगी और वही सदैव सृष्टि होने का पूर्वोक्त दोष बना ही रहेगा तथा अनवस्था भी होगी। क्योंकि यदि जन्य सहकारियों के संमेलन से अन्य पदार्थों की सृष्टि होगी तो उन सब अन्य

सहकारियों की सृष्टि के निमित्त, अपर अन्य सहकारियों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार कार्य-कारण की परम्परा अनन्त होने से अनवस्था होगी। और भी, ईश्वर की सृष्टिस्थिति एवं प्रलयकारिणी अमोघ इच्छा के सदैव होने से, एक ही काल में समस्त कार्यों की युगपत् सृष्टि स्थिति और प्रलय हुआ करेंगे; जो कि सर्वथा अनुपपन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न करने की जो ईश्वरेच्छा है, वह केवल उस पदार्थ के उत्पत्तिकाल में ही फलीभूत हो सकेगी तथा अपर काल में नहीं होगी। अर्थात् पदार्थ की उत्पत्ति के पूर्व अनादि काल से और नाश के पश्चात् अनन्त काल तक ईश्वरेच्छा के वर्तमान होते हुए भी कार्योत्पत्ति के न होने से, उस इच्छा के अमोघत्व की हानि होगी और साथ ही ईश्वरत्व की भी हानि होगी। कार्योत्पत्ति के पूर्व और पश्चात्, अनादि और अनन्त काल तक, ईश्वरेच्छा की निष्फलता को न सहन कर सकने के कारण, वादी दुराग्रहवश यदि ऐसी कल्पना करे कि, उस काल में भी सृष्टि होती है; तो यह कहना पड़ेगा कि ईश्वरेच्छा, असम्भव पदार्थ अर्थात् बन्ध्यापुत्र तथा आकाशपुष्पादि की भी सृष्टि करती है। इसी प्रकार यही आपत्ति ईश्वर की संहारकारिणी इच्छा में प्रयुक्त होगी; अर्थात् ध्वंस काल के प्रथम और पश्चात्, उसकी संहारेच्छा फलप्रद नहीं होगी। यदि यह कहा जाय कि प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार क्रमिक उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार कि ऋतुकाल में क्रम से फल फूलादि होते हैं; तो यह कथन भी संगत नहीं है; क्योंकि, यह अदृष्ट भी ईश्वरेच्छा का विषय है, अतएव वह भी स्थायी रूप से फलप्रद होगा और इसी कारण से उत्पत्ति, स्थिति एवं ध्वंस में कोई नियम नहीं रहेगा। इसी प्रकार और भी आपत्ति होती है कि, जब कि ईश्वरेच्छा सर्व-विषयक नित्य तथा अमोघ है तो हमारा देह इन्द्रिय और ज्ञान भी नित्य होना चाहिए, परन्तु यह हमारे अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है।*

*उपर्युक्तस्थल में वादी की सम्मति के अनुसार प्रलय के विषय में कहा

गया है, परन्तु इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रलय किसी के प्रत्यक्ष होने के योग्य नहीं है और न उसे अनुमान के द्वारा जान सकते हैं। क्योंकि क्रियाशील मन एवं इन्द्रियों के साथ विषय के संयोग को प्रत्यक्ष कहते हैं, और प्रलय का अर्थ होता है मन एवं इन्द्रियों के सम्पूर्णक्रियाओं का विराम। यदि उस अवस्था में इन्द्रिय और मानसिक क्रिया को स्वीकार किया जाय तो प्रलय नहो रहेगा। अतः प्रत्यक्ष अनुभूत व्याप्ति के न होने से, ऐसे प्रलय के अनुमान में कोई हेतु भी नहीं है। सुषुप्ति की उपमा से प्रलय का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वह अवस्था जीवोंकी है एवं व्यक्तिगत है। जिसकाल मे एक जीव सुषुप्ति (प्रलय) का अनुभव कर रहा है, उसी काल में अपर जीवो को सृष्टि की उपलब्धि हो रही है तथा एक पदार्थ के सामर्थ्य का ह्रास हो रहा है, तो उसी समय दूसरे की वृद्धि हो रही, और एक पदार्थ का संकोच हो रहा है तो अन्य पदार्थों का विकास होता हुआ भी देखा जाता है। अतः युगपत् क्षय एवं वृद्धिशील जगत् को देखकर हम किस हेतु के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि, सूदूर भविष्य में एक ऐसा समय होगा, जब कि सम्पूर्ण जीव तथा पदार्थों के सामर्थ्य का क्रम से ह्रास होकर प्रलय हो जायगा। यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। एक पदार्थ के क्रमिक ह्रास एवं लोप को देखकर सम्पूर्ण जगत् के क्रमिक ह्रास का अनुमान नहीं हो सकता कि, सब जीव मृत्यु अवस्था को प्राप्त होंगे और समस्त सीमायुक्त पदार्थ अव्यक्तावस्था में गमन करेंगे। कार्य का कालान्तर में, कारण में अवस्थान अवश्यम्भावी है, किन्तु यह तब हो सकता है जबकि कार्य के समस्त अवयवों में विनाशकारी क्रम उपलब्ध हो और विकास का नहीं। प्रकृतस्थल में जगत् समुद्रके समान है जिसको एक तरफ प्रचण्ड मार्तण्ड अपने किरणों से निरन्तर शोषण कर रहा है तो दूसरी तरफ अहर्निश प्रवहणशील नदिया उसकी पूर्ति कर रही हैं। अतएव जिसप्रकार समुद्र के आत्यन्तिक नाश की कल्पना विचारवानो को सम्मत नहीं हो सकती; उसीप्रकार उपचय एवं अपचयमय जगत् के आत्यन्तिक प्रलय की धारणा भी युक्तिसंगत नहीं है। इसीप्रकार अतीत प्रलय के निमित्त भी हमारे पास कोई युक्तिसगत हेतु नही है, जिससे यह अनुमान कर सकें कि भविष्य में भी होगा। सभी बहुत्व किसी समतत्त्व का परिणामी अभिव्यक्तरूप होता है, अतः जगत् में भी बहुत्व

ईश्वरेच्छा के अनित्यत्व पक्ष में नाना दोष।

ईश्वरेच्छा को अनित्य भी नहीं कह सकते। यदि ऐसा हो तो उसका कारण होना चाहिये। इस अनित्य इच्छा की सृष्टि, उसी अनित्य इच्छा से होती है, अथवा किसी अन्य अनित्य इच्छा से? आत्माश्रयदोष होने के कारण, प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष को मानने से भी अनवस्था होगी; क्योंकि यदि उक्त इच्छा अनित्य होगी, तो अनित्यता के कारण, उसकी उत्पत्ति के लिए किसी निमित्तकारण (अनित्य इच्छाविशेष) की आवश्यकता होगी; फलतः अनवस्था होगी। यदि प्रत्येक कार्य के निमित्त अनादि इच्छा-प्रवाह की कल्पना की जाय, तो अनन्त कार्यों के निमित्त अनन्त प्रवाहों की कल्पना करनी पड़ेगी; क्योंकि कारणसामग्री में भेद को माने बिना कार्यसामग्री में भेद का होना सम्भव नहीं है। और भी, यदि ईश्वर का अनित्यज्ञान उसकी अपनी इच्छा का कार्य हो, तो उस इच्छा की उत्पत्ति के निमित्त किसी अन्य कारण का अनुसन्धान करना होगा। ईश्वर का नित्यज्ञान उस इच्छा का कारण है ऐसा नहीं मान सकते; क्योंकि वादी के मतानुसार आत्मा और मन का विलक्षण संयोग, उक्त अनित्य इच्छा का असमवायिकारण है; परन्तु ईश्वर के मनरहित होने से से आत्मा और मन का संयोग उसमें सम्भव नहीं है; सुतरां ईश्वर के केवल ज्ञान से ही इच्छा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि, ईश्वर के ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति होती है, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इच्छा के

की अभिव्यक्ति के पूर्व कोई एकता की समानावस्था थी यह कथन भी समीचीन नहीं; कारण इस अनुमान के निमित्त उपयुक्त हेतु नहीं हैं जिससे कि प्रमाण कर सकें कि सम्पूर्ण जगत् किसी एक काल मे अनभिव्यक्ति अवस्था में था और पश्चात् बहुरूप से अभिव्यक्त होता है। इस विषय को आगे प्रकृतिवाद के खण्डन स्थल में स्पष्ट करेंगे। प्रलय के विषय में शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का प्रामाण्य, यथार्थ प्रत्यक्ष एवं अनुमान-मूलक होता हैं। प्रकृतस्थल में इन दोनो का अभाव होने से शब्दप्रमाण भी सार्थक नहीं हो सकता।

उत्पादन के लिये ईश्वर की इच्छा होने के पूर्व, ईश्वर में भविष्य पदार्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। और उस ज्ञान के ईश्वरीय होने के कारण उसकी यथार्थता को स्वीकार करने पर, उसके विषय जो समस्त कार्यवर्ग हैं उनको भी अस्तित्ववान् मानना होगा। फलतः जब सम्पूर्ण कार्यजगत् ईश्वरेच्छा के पूर्व में विद्यमान था तब उसकी उत्पत्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं हो सकता। सारांश यह कि, यदि ईश्वरेच्छा को अनित्य माना जाय, तो उस इच्छा और प्रयत्न के निमित्त, ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अतएव ईश्वरीय इच्छा को नित्य मानें अथवा अनित्य; दोनों ही पक्षों में नानाप्रकार के अखण्डनीय दोष उपस्थित होते हैं।

पुनश्च, ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न यदि नित्य हों, तो उसके द्वारा जगत् का कोई उपकार नहीं हो सकेगा। कारण, नित्य ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के द्वारा किसी भी कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता। अनित्य ज्ञानादि के उपयुक्त काल में उत्पन्न होने पर ही तदनुकूल प्रयत्न के द्वारा कार्य की सिद्धि होती है। यदि इच्छा अथवा प्रयत्न को नित्य मान लिया जायगा, तो इच्छा-धारा अथवा प्रयत्नधारा की समाप्ति ही नहीं होगी और अनन्त काल तक भी उक्त प्रयत्न के फल की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि यह नियम है कि प्रयत्न की परिसमाप्ति के पश्चात् ही फल की प्राप्ति हुआ करती है। और भी, इच्छा के नित्य होने पर प्रयत्न भी व्यर्थ होगा, क्योंकि भगवत्-इच्छा ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने में पर्याप्त समर्थ है। अथवा इच्छा के नित्य होने पर इच्छाधारा अविराम रूप से प्रवाहित होती रहेगी और अन्तिम निश्चयात्मिका इच्छा के न होने से अनन्त काल तक प्रयत्न की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी, फलतः प्रयत्न को स्वीकार करना भी व्यर्थ हो जायगा। इसीप्रकार नित्य ज्ञान धारा के अनन्त काल तक विरत न होने पर इच्छा की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकेगी एवं उसको स्वीकार करना भी निष्प्रयोजन होगा। अर्थात् यदि चिकीर्षा प्रयत्न नित्य हो तो उसके

उत्पादन के लिए आवश्यक ज्ञान एवं इच्छा व्यर्थ हो जायंगे, क्योंकि नित्य होने के कारण वह ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं रखता। कार्योत्पादन के लिए प्रयत्न की जैसी प्रधानता है वैसी ज्ञानादि की नहीं। प्रयत्न विशेष से ही कर्त्ता और उपादान का अधिष्ठाता समझा जाता है, केवल ज्ञान और इच्छा वाले को नहीं। प्रयत्न के समय ज्ञान और इच्छा का उपयोग नहीं होता इसलिए भी कार्योत्पत्ति में प्रयत्न प्रधान अंग है। प्रयत्न के द्वारा ही कार्य का निष्पति होती है। अतएव यदि ईश्वर का उक्त प्रयत्न हो निष्फल सिद्ध हो जायगा तो उसकी सर्वज्ञता भी दत्तजलाञ्जलि के समान है। अब यदि यह कहा जाय कि ईश्वर की सृष्टिविषयक इच्छा और प्रयत्न की सिद्धि के लिए ही उसमें ज्ञान (सर्वज्ञता) का होना आवश्यक समझा जाता है, तो ज्ञानमूलक उक्त इच्छा और प्रयत्न को नित्य नहीं कह सकते। यदि ईश्वरीय इच्छा और प्रयत्न को नित्यरूप सिद्ध करने के लिए यह कहा जाय कि, ईश्वरीय ज्ञान का उक्त इच्छा और प्रयत्न में कोई उपयोग नहीं होता (अर्थात् इच्छा आदि ज्ञान की अपेक्षा से रहित स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होते हैं), तो इसका अर्थ यह होगा कि जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य, ईश्वरीय ज्ञान के पूर्व से ही होना आरम्भ हो जायगा, फलतः ईश्वरीय सर्वज्ञता की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी तथा सर्वज्ञता के अभाव से उसका ईश्वरत्व भी लुप्त हो जायगा। और भी, अपने प्रयत्न के द्वारा आप ही व्यवधानयुक्त होने के कारण, ईश्वर जगत् का साक्षात्कारण भी नहीं रहेगा एवमेव उसका प्रयत्न भी नित्य होने के कारण जगत् का व्यवस्थापक नहीं हो सकता। और भी, प्रयत्न को नित्य स्वीकार कर लेने पर ईश्वर में चिकीर्षा और अपरोक्षज्ञान के लिए अवकाश कहां रहेगा? ज्ञान और चिकीर्षा का उपयोग प्रयत्न की उत्पत्ति के लिए ही होता है, यदि वही प्रयत्न नित्य हो तो ज्ञान-इच्छा-रहित केवल प्रयत्न के फलरूप जो भी कार्य होंगे वे अनिर्द्धारित स्वरूप वाले और यदृच्छा से उत्पन्न होंगे। फलतः नियम-रहित

ईश्वरविषयक कार्यकारणभावमूलक (Cosmological) तर्क के खण्डन में पाश्चात्यदेशीय सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक महामति कांट (Kant) के कतिपय सरल युक्ति का उद्धरण।

यदा कदा कार्य (जगत्) की उत्पत्ति और विनाश हुआ करेंगे तथा ईश्वर को जगत् का कारण मानना भी निष्फल हो जायगा।*

"There are so many sophistical propositions in this cosmological argument, that it really seems as if speculative reason had spent all her dialectical skill in order to produce the greatest possible transcendental illusion .... We find, first, the transcendental principle of inferring a cause from the accidental. This principle, that everything contigent must have a cause, is valid in the world of sense only, and has not even a meaning outside it. For the purely intellectual concept of the contingent cannot produce a synthetical proposition like that of causality, and the principle of causality has no meaning and no criterion of its use, except in the world of sense, while here it is meant to help us beyond the world of sense. Secondly, The inference of a first cause, based on the impossibility of an infinite ascending series of given causes in this world of sense,—an inference which the principles of the use of reason do not allow us to draw even in experience, while here we extend that principle beyond experience, whither that series can never be prolonged. Thirdly The false self-satisfaction of reason with regard to the completion of that series, brought about by removing in the end every kind of condition, without which, nevertheless, no concept of necessity is possible, and by then, when any definite concepts have become impossible, accepting this as a completion of our concept Fourthly The mistaking the logical possibility of a concept of all united reality (without any internal contradiction) for the transcendental, which requires a principle for the practicability of such a synthesis, such principle however being applicable to the field of possible experience only, etc."

(Kant's 'Critique of Pure Reason—Max Muller's Edition")

❀ परमाणुवादखण्डन ❀

उल्लिखित विचार के द्वारा निमित्तकारण रूप ईश्वर के विषय में प्रमाण की असिद्धि का प्रदर्शन कर, अब वादीसम्मत जगत् का उपादान कारण–परमाणुवाद की समालोचना करता हूं। उनके मत में उत्पत्ति के पूर्व में कार्य असत् है। कारणकी व्यापार के द्वारा पूर्व में अविद्यमान कार्य की ही उत्पत्ति होती है। इस मत का नाम "असत्कार्यवाद" है। इस मत में मृत्तिकादि द्रव्य में घटादि द्रव्य नहीं रहती, मृत्तिकादि द्रव्य से उसका कार्य घटादि द्रव्य भिन्न है। सुतरां इस मत में पहले विभिन्न परमाणुद्वय के संयोग से उससे भिन्न द्व्यणुक नामक अवयवी की उत्पत्ति (आरम्भ) होती है। परमाणुवाद में:- अवयवों के संयोग से आरब्ध अवयवी (कार्य), अवयव से अत्यन्त भिन्न तथा अवयव में समवेत मान्य होता है। अतएव कार्य अपने उपादान कारण से सर्वथा भिन्न है तथा परमाणुरूप उपादान कारण के साथ कार्य का समवाय सम्बन्ध है: इस मूल सिद्धान्त के आधार पर परमाणुवाद प्रतिष्ठित है। उक्त कार्य और कारण के भेदवाद का मूल असत्कार्यवाद है, अतएव यहां पर असत्कार्यवाद और समवाय, संक्षेप से समालोचनीय हैं।

असत्कार्यवाद का यह अर्थ नहीं है कि कार्य मात्र असत् होता है: किन्तु इससे यह अभिप्राय है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् है (उत्पत्ति न होने तक वह सर्वथा अविद्यमान है), अर्थात् उपादानकारण में कार्य की उत्पत्ति के पूर्व प्रागभाव होता है। इस विषय में समालोचक की आलोचना का अभीष्ट केवल यही है कि, कार्यकारणसम्बन्ध का इस प्रकार से विवेचन करना समुचित नहीं है। यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् है, तो 'उसका प्रागभाव है' यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि जो कार्य अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ उसके साथ प्रागभाव का कोई सम्बन्ध

असत्‌कार्यवाद के अनुसार प्रागभाव मानकर कार्यकारण की व्यवस्था नहीं हो सकती।

नहीं हो सकता। उस काल में कार्य का कोई स्वरूप नहीं रहता, सुतरां अभाव के साथ उसका स्वरूपसम्बन्ध (सम्बन्धी से भिन्न नहीं, किन्तु सम्बन्धी स्वरूप) नहीं कह सकते। इस दोष के निवारण के लिए यदि यह कहा जाय कि, अभावस्वरूप ही कार्य के साथ सम्बन्ध है, तो यह भी समीचीन नहीं। क्योंकि अभाव निर्विशेष होता है, सुतरां वह,'घट का प्रागभाव' इस प्रकार से विशेषण युक्त नहीं हो सकता। घट के प्रागभाव से पट के प्रागभाव की कोई विशेषता नहीं, जिससे उनमें परस्परभिन्नता की कल्पना हो। अतएव घट के साथ अभाव का स्वरूप-सम्बन्ध हो तो घट-भिन्न अन्य पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध हो जायगा और कार्य-कारण की अव्यवस्था होगी। यदि ऐसा कहें कि उत्पत्ति के पूर्व, घट के न रहने पर भी घटत्व धर्म (घटत्व जाति नित्य होता है) रहता है, तो यह भी संगत नहीं है। कारण, घट के विशेष रूप से न रहने से उक्त अभाव का, घट-सम्बन्धी प्रागभाव होना भी सम्भव नहीं है। जो विशेष धर्म, जिस धर्मी में विद्यमान होता है, वही अन्य धर्मियों से उसकी भिन्नता को प्रदर्शित कर सकता है। यदि घट विद्यमान होता तो वह विद्यमान घटत्व-धर्म-युक्त प्रागभाव को, अपर पटत्वादि धर्मयुक्त पदार्थों से भेदयुक्त कर सकता था। किसी भी धर्मी का धर्म, अपने धर्मी को अन्य धर्मियों से भेदयुक्त नहीं कर सकता, यदि वह धर्मी स्वतः विद्यमान न रहे। अतएव, अभाव को विशेषणयुक्त करने में तथा घट के साथ उसके सम्बन्ध को स्थापन करने में, कोई भी हेतु न होने के कारण असत् घट की उत्पत्ति मान्य नहीं हो सकती। उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् कहने पर उसके प्रागभाव को कारण में रहने वाला मानना होगा। परन्तु प्रागभाव के निर्विशेष होने से तथा कारण के साथ उसके सम्बन्ध का प्रतिपादन न हो सकने से, असत् कार्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है। जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ उसके साथ कारण का सम्बन्ध नहीं हो सकता तथा उत्पत्ति के पश्चात् तो कारण का सम्बन्ध

व्यर्थ ही है। अतः असत्कार्यवाद असंगत है। और भी, उपर्युक्त प्रकार से 'घट का प्रागभाव' के असम्भव होने के कारण (भावी घट से) शशशृङ्ग में कोई विशेषता नहीं है। सुतरां जैसे शशशृङ्ग उत्पन्न नहीं होता वैसे ही प्राक्-असत् की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। और भी, यदि कार्य को असत् माना जाय, तो कार्य की उत्पत्ति के पूर्व, काल का कार्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होगा; फलतः जिस प्रकार अस्तित्वरहित शशशृङ्गादिकों की कालयुक्त न होने से उत्पत्ति भी नहीं होती, उसी प्रकार कार्य की भी उत्पत्ति नहीं होगी। यहां पर वादी का यह कथन है कि शशशृङ्गादि तो तीनों काल में असत् हैं किन्तु कार्य केवल उत्पत्ति के पूर्व ही असत् है; अतः कार्य में विशेषता है और वह उत्पन्न होने के योग्य है; परन्तु यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। उत्पत्ति होने के कारण, कार्य की शशशृङ्गादिकों से विषमता है तथा वैषम्य होने के कारण कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय होता है। और भी, उत्पत्ति के पूर्व यदि घटादि असत् हों तो धर्मी के न रहने से असत्त्व रूप धर्म भी उसमें नहीं रह सकता। धर्मी बिना कादाचित्कधर्म (कभी उत्पन्न होने वाला सत्त्व और असत्त्वरूप धर्म) सम्भव न होने के कारण, कार्य के असत्त्वकाल में असत्त्व के धर्मिरूप कार्य की सत्ता आवश्यक है। अतः उसका विरोधी असत्त्व नहीं रह सकता। अतएव यह पक्ष समीचीन नहीं है कि, असत् कार्य ही सत् होता है।

अब समवाय की समालोचना करते हैं। समवाय प्रतीतिसिद्ध अथवा विचारसिद्ध नहीं है। 'कपाल में घट है' 'सूत्रों में पट है' इस प्रकार की प्रतीति किसी को नहीं होती, जिससे समवाय स्वीकृत हो सके। दो सम्बन्धियों की आपस में पृथक्ता सिद्ध होने के पश्चात्, उनमें सम्बन्ध प्रतीत होने पर समवाय की कल्पना हो सकती थी, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। कार्य

और कारण में परस्पर पृथकता की प्रतीति का अभाव होने पर, समवाय को कल्पना व्यर्थ है । अतिशय कुशलतापूर्वक परीक्षा करने पर भी, कपाल और तन्तु आदिकों के व्यतिरेक से घट-पटादिकों की उपलब्धि नहीं होती । जिस प्रकार अश्व के व्यतिरेक से अश्व से अत्यन्तभिन्न गो महिषी आदि की उपलब्धि होती है, उस प्रकार कारण के व्यतिरेक से कार्य की उपलब्धि, कहीं भी नहीं होती । अतएव भेद का व्यापक पृथक्-उपलब्धि (अर्थात् जहां जहां भेद होता है वहां वहां पृथक्-उपलब्धि भी होती है) का अभाव होने से, कार्य और कारण में आत्यन्तिक भेद सिद्ध नहीं होना, प्रत्युत बाधित ही होना है । जिन पदार्थों का आपस में आत्यन्तिक भेद होता है, उनमें से एक के निरूपण बिना अपर निरूपित होना है, एक के सद्भाव न होते हुए भी अपर रहता है तथा परस्पर अत्यन्तभिन्न गो-अश्व के समान एक के व्यतिरेक से भी अपर की उपलब्धि होती है अर्थात्, दो भिन्न सत्तावान् पदार्थों को अपनी उपलब्धि के निमित्त दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती । परन्तु वादी-सम्मत समवाय सम्बन्ध से युक्त, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि परस्पर भिन्न नहीं प्रतीत होते । यदि यह कहा जाय कि उनके नित्य सम्मिलित रहने पर ही उनमें अभिन्नता की प्रतीति होती है, वास्तव में वे भिन्न हैं; तो यह भी संगत नहीं । क्योंकि दोनों सम्बन्धियों की नित्यता के बिना उनके सम्मेलन को नित्य नहीं कह सकते; तथा समवायो का नित्यत्व भी सबके सिद्धान्त के विरुद्ध है । दो सम्बन्धी नहीं हैं तथापि सम्बन्ध है, यह कथन अनुभवविरुद्ध और व्याघात-दोषयुक्त है । सुतरां दो सम्बन्धियों में से एक के नाशवान् होने पर उनके (समवाय) सम्बन्ध का अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं हो सकती । अतएव समवाय का अस्तित्व भी दुर्लभ है ।

दो पृथक् पदार्थों (कार्य और कारण) को अभिन्नरूप से प्रतीति कराने वाले समवाय की निष्प्रयोजनता भी स्पष्ट है । क्योंकि कारण

में कार्य के समवाय को ही उत्पत्ति कहना होगाः और वह यदि नित्य हो तो कारण-व्यापार (उत्पत्ति के निमित्त कारण का व्यापार) व्यर्थ होगा । समवाय की यदि उत्पत्ति होती हो तो उसकी उत्पत्ति समवाय से भिन्न अपर किसी पदार्थ से होगीः सुतरां वही (अपर पदार्थ ही) कार्य की उत्पत्ति करेगा, समवाय को मानने का क्या प्रयोजन रह जायगा ? यदि यह कहा जाय कि समवाय की उत्पत्ति ही कार्य की उत्पत्ति नहीं है, किन्तु आद्यक्षणसम्बन्ध उत्पत्ति है, अतएव समवाय के नित्यत्व में भी कोई क्षति नहीं; तो यह संगत नहीं होता । 'अब कपाल में घट की उत्पत्ति हुई' इस स्थल में जिस प्रकार काल का सम्बन्ध विषयीकृत होता है, उसी प्रकार कपालगत सम्बन्ध भी विषयकृत होता है, ऐसा कहना होगा । यहां पर एक विषय होता है किन्तु अपर नहीं होता, ऐसा कहने के लिए कोई पक्षपाती युक्ति नहीं है । अतएव कपाल में घट का सम्बन्ध, समवायरूप होने से तथा उस समवाय के नित्य होने पर सम्बन्धी घट का अस्तित्व भी नित्य होगा; क्योंकि सम्बन्ध का अस्तित्व दोनों सम्बन्धियों के अस्तित्व पर निर्भर है । अतएव अस्तित्ववान् (उत्पन्न) घट की उत्पत्ति के निमित्त कारक-व्यापार व्यर्थ होगा । समवाय को अनित्य मानने पर उक्त दोष की निवृत्ति नहीं होती, अतः समवाय के अनुभवविरुद्ध होने के कारण उसको स्वीकार नहीं कर सकते ।

वादी के मत में 'शुक्ल पट' 'नील घट' आदि विशेषणविशिष्ट प्रत्यक्ष की उपपत्ति के निमित्त, गुण और गुणी का समवाय स्वीकार करना आवश्यक है; किन्तु समवाय के स्वीकृत होने पर भी, वह उक्त सामानाधिकरण्य प्रत्यय का उपपादक नहीं होता । क्योंकि सामानाधिकरण्य, अभेद में ही दृष्टिगत होता है, जैसे कि 'घट द्रव्य,' न कि भेद में जसे 'गौ अश्व' । अतएव उक्त प्रत्यय की उपपत्ति के निमित्त वादी की समवाय-कल्पना व्यर्थ है । समवाय को स्वीकार करने का अर्थ होता है गुण-गुणी के आत्यन्तिक भेद को स्वीकार करनाः किन्तु अभेदरूप प्रत्यक्ष के

अनुभवसिद्ध होने पर, यह कहना होगा कि समवाय नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वह अभेद केवल भ्रम है, तो यह भी संगत नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष केवल रूपादि गुण को ही विषय नहीं करता, किन्तु गुणीसहित विषय ही प्रत्यक्ष होता है। धर्मी के भेदाभेद से उदासीन गुण की सिद्धि असम्भव है। गुण का साधक 'नीलघट' 'मधुरफल' इत्यादि प्रत्यक्ष, गुणी के साथ अभेदयुक्त गुण को ही विषय करता है; अतएव यदि उस में ही भ्रम हो तो गुणमात्र की ही असिद्धि हो जायगी। सुतरां प्रत्यक्ष के द्वारा गुण और गुणी का भेद कैसे सिद्ध हो सकेगा। यदि उक्त प्रत्यक्ष 'नील घट' को भ्रान्ति न मानकर प्रमारूप मानें, तो गुण और गुणी अभिन्नरूप सिद्ध होंगे तथा भेद का उपपादक कोई भी प्रमाण–प्रत्यक्ष प्रमा का विरोधी होने के कारण–अप्रामाण्य होगा, अर्थात् भेद की सिद्धि नहीं हो सकेगी, सुतरां समवाय व्यर्थ होगा। और भी, यदि सम्बन्धियों के आधीन न रहते हुए भी समवाय का सम्बन्धत्व हो सकेगा, तो तादृश सम्बन्धि-पारतन्त्र्य-रहित सत्ता वा गगनादिक भी, सम्बन्ध का कृत्य कर सकेंगे; फिर समवाय का प्रयोजन क्या रह जायगा? अतएव दो सर्वथा भिन्न सम्बन्धियों को अपृथक्‌भूत रूप से प्रदर्शित करानेवाला स्वतन्त्र समवायरूप सम्बन्ध, निष्प्रयोजनता, अनुभवविरोध तथा स्वरूपासिद्धि आदि उपर्युक्त कारणों से बाधित होने पर, सर्वथा माननीय नहीं हो सकता।

वादीसम्मत अवयवी यदि अवयव से अत्यन्त भिन्न हो, तो कपालद्वय तथा घट को तुलारूढ करने पर (तराजू में तौलने पर), कपालद्वय की अपेक्षा घट को द्विगुण गरिष्ठ होना चाहिए, क्योंकि अवयव के गुणों की अपेक्षा अवयवी में कम गुणों का आरम्भ नहीं हो सकता। अतः अवयवों के संयोग से उत्पन्न एवं उससे अत्यन्त भिन्न अवयवी में, अपने अवयवों का परिमाण तथा अपना भी परिमाण मिलाकर, द्विगुण परिमाण की उपलब्धि होनी चाहिए थी; किन्तु यह अनुभवसिद्ध है कि ऐसा नहीं होता। ऐसे ही

दर्शन और हेतुबल से परमाणुवाद की असिद्धि प्राप्त होती है।

निम्नोन्नतादियुक्त मृद्वस्तु (कारण) के बिना घट (कार्य) की उपलब्धि नहीं होती तथा संयोगविशेषयुक्त तन्तु के व्यतिरेक से पट भी उपलब्ध नहीं होता। "मृद् घट" "तन्तु पट" इत्यादि सामाना-धिकरण्य के होने से भी कार्य-कारण में सर्वथा-भेद नहीं मानना चाहिए; असत्कार्यवाद पहले खण्डित हुआ। अतएव अवयव और अवयवी तथा कारण और कार्य का भेद सिद्ध न होने से तथा समवाय के असिद्ध होने से, न्यायवैशेषिकों का यह मत कि निरवयव परमाणुओं से जगत् की रचना का आरम्भ होता है, पूर्णतया खण्डित हो जाता है। इसी प्रकार परमाणुओं का अस्तित्व भी अनुमान के बल पर सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त अनुमान के निमित्त हमको कोई प्रत्यक्ष हेतु उपलब्ध नहीं होता, जिससे हम यह सार्वभौम नियम सिद्ध कर सकें कि कार्यद्रव्य सर्वदा अपने से न्यून परिमाणवाले कारणों से उत्पन्न होता है अथवा अनेक कारणों के संयोग से एक कार्य उत्पन्न होता है। क्योंकि अधिक परिमाणवाली रुई से न्यूनपरिमाणवाला सूत्र, मृत्तिकारूप एक कारण से घट शरावादि नाना कार्य की उत्पत्ति भी प्रायः देखी जाती है। (निरवयवसंयोग आगे खण्डित होगा)।

माध्व-मत

उपरोक्त विचार के द्वारा, परमाणुवाद खण्डित होने पर, माध्वमतावलम्बी यह कहते हैं कि, यह दोष हमारे पक्ष में उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि हमारे मत में नाना परमाणुओं से एक जगत् की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु एक मूल प्रकृति से ही नानारूप जगत् की रचना होती है। जगत् के मूलकारण ईश्वर को भी हमलोग, स्वतन्त्र युक्ति तर्क पर निर्भर करने वाले न्यायवैशेषिकों के समान, अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं करते, किन्तु इस विषय में हम श्रुति (वेदान्त) को प्रमाण मानते हैं। यदि शब्दप्रमाण के आधार पर

माध्वसम्मत पद्धति अर्थात् शास्त्र को प्रमाणभूत मानकर ईश्वरसिद्धि मान लेना सदोष और साम्प्रदायिक संकीर्णता का सूचक है।

उक्त कार्यकारणभाव सिद्ध किया जाय, तो अन्वय-व्यतिरेक का प्रदर्शन करना आवश्यक नहीं होता तथा उससे उत्पन्न प्रयत्न का प्रागभावत्व और तज्जनित उसका अनित्यत्व आदि दोषों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। इसी शाब्दप्रमाण रूप हेतु से ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण भी सिद्ध किया जा सकता है।

समालोचना

परन्तु, उक्त प्रकार से शास्त्र का अवलम्बन करना निष्फल है। प्रथम शास्त्र की विश्वस्तता का मूल क्या है? यह क्या इस हेतु से है कि, ईश्वर उनको प्रकट करता है? फिर तो ईश्वर के अस्तित्व को प्रथम प्रमाणित किये बिना शास्त्र की विश्वसनीयता सिद्ध नहीं हो सकेगी। ईश्वर सिद्ध करने में पहले ही ईश्वरवाक्य वेद को प्रमाणरूप से प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। कारण, ईश्वरसिद्धि के पूर्व में ईश्वरवाक्य कहकर वेद को प्रमाणरूप से उपस्थित किया नहीं जाता। ईश्वर-प्रणीत होने से शास्त्र का प्रामाण्य एवं शास्त्रोक्त होने से ईश्वर उसका रचयिता, इस प्रकार यह पक्ष अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है। वेदान्तियों को चाहिए कि शास्त्र को प्रमाणभूत मानने के पूर्व, शास्त्र किस हेतु से प्रामाण्य है यह प्रतिपादित कर लें। परस्पर विरोधी अनेक शास्त्र प्रचलित हैं, उनमें से किसी एक विशेष शास्त्र को प्रमाणभूत मानने के लिए विशेष युक्ति प्रदान करना होगा। संसार में जब विभिन्न विरुद्ध शास्त्र प्रचलित हैं तथा एक ही शास्त्र की परस्पर विरोधी विभिन्न व्याख्यायें भी प्रसिद्ध हैं, तब केवल श्रुति को ही तथा उसकी भी अमुक व्याख्याविशेष को प्रमाण रूप से मानने के लिए किसी अखण्डनीय हेतु का प्रदर्शन न करके उसे प्रामाण्य कहना, केवल अपनी साम्प्रदायिकता का परिचय प्रदान करना है। भिन्न-भिन्न समाजों के-अपने अपने शब्द प्रमाण को-विचाररहित

होकर दुराग्रह पूर्वक मानने से ही संसार में विचारासिद्ध नाना सिद्धान्त तथा संकीर्णता और साम्प्रदायिकतायें प्रचलित हुई हैं। मूलतत्त्व की गवेषणा के समय साम्प्रदायिक दुराग्रह को प्रकट करना, जिज्ञासुओं के लिए शोभनीय नहीं है। श्रुति को अनुभवमूलक मानकर उसमें श्रद्धा करना भी समुचित नहीं सो प्रतिपादन किया है। वस्तुतः मूलतत्त्व का साक्षात् अनुभव होना ही असम्भव है, अतएव श्रुतिकर्त्ता वा वक्ता को तत्त्वानुभवी मानकर, केवल उसकी श्रुति को प्रामाण्य मानना असंगत है। वेदान्तिसम्मत ईश्वर का स्वरूप यदि विचार से प्रतिपादित न हो तो यह कहना होगा कि उक्त ईश्वर-प्रतिपादक शास्त्र, विचारविरुद्ध सिद्धान्त को बोधन करता है। अतएव श्रुतिप्रमाण मानने वालों को भी उपयुक्त यौक्तिक विचार से यह प्रमाणित करना होगा कि, श्रुति-प्रतिपाद्य तत्त्व विचारसंगत है। परन्तु प्रकृत स्थल में यह नहीं हो सकता, यह उपर्युक्त समालोचना से प्रदर्शित किया है।

माध्यमतानुमत परिणामी प्रकृति, यदि पृथक् स्वतः अस्तित्ववान् है तो उसका और ईश्वर के नियम्य-नियामक सम्बन्ध का निर्णय नहीं हो सकता। यदि ईश्वर वस्तुतः सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, तो कार्योत्पत्ति के लिये पृथक् उपादान कारण को मानना सर्वथा अनावश्यक है। और भी, ईश्वर और प्रकृति के साथ संयोग, समवाय, तादात्म्य, स्वरूप, दैशिक और कालिक किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। ईश्वर और प्रकृति दोनों के निरवयव मान्य होने से उनका संयोग नहीं हो सकता। उनमें से एक के. अपर का कार्य, गुण या क्रिया के न होने से समवाय भी नहीं हो सकता। दोनों के सर्वथा भेद मान्य होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। दोनों के देश-कालातीत होने से, दैशिक और कालिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। सम्बन्धी के स्वरूप को ही सम्बन्धरूप मानने से "स्व (आप) स्वीय (अपना) नहीं" इस प्रकार के सर्वजनसिद्ध अनुभव

का बाध होगा। उपरोक्त संयोगादि सम्बन्ध के बिना तन्मूलक परम्परा सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। अतएव प्रकृतस्थल में नियम्य-नियामक रूप परम्परा सम्बन्ध के असम्भव होने से, जड़प्रकृति के नियामक रूप से ईश्वर प्रमाणित नहीं हो सकता।

पातञ्जलमत

कितने ही आचार्यों का कथन है कि, महर्षि पतञ्जलि ने प्रकृति के नियामकरूप से निमित्तकारण ईश्वर को माना है। योगसूत्र में ईश्वर-प्रतिपादक अनुमान का भाव यह है कि, ज्ञानरूप गुण तर-तम भाव से युक्त प्रतीत होता है, इसकी अवधि (काष्ठाप्राप्ति) भी कहीं पर अवश्य होगी, क्योंकि जो तारतम्य युक्त होते हैं उनकी अवधि होती है, जैसे कि परिमाण, परमाणु से लेकर आकाश में समाप्त होता है। अतएव ज्ञान की परमावधिरूप सर्वज्ञता ही ईश्वर का धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञता युक्त किसी पुरुषविशेष की उपस्थिति की सम्भावना ही, ईश्वरास्तित्व के अनुमान में हेतुरूप से मान्य होता है।

समालोचना

उपरोक्त प्रकार से सर्वज्ञताधर्मयुक्त पुरुषविशेष ईश्वर का अनुमान भी समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रत्येक गुण कहीं न कहीं अवधि को अवश्य प्राप्त होगा, यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता। प्रथम प्रयत्न गुण की, जो ज्ञान के समान ही एक विशेष गुण है, विवेचना करते हैं। हमलोग विशेष प्रयत्न के द्वारा देश-परदेश में भ्रमण करते रहते हैं। यह हमारा प्रयत्न अवधि को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि भ्रमणयोग्य देश अन्तरहित है। यदि कोई इस प्रयत्न की अवधि को प्राप्त होवे, तो उसका फल सम्पूर्ण गति-शून्यता होगी। अन्यथा यदि निरवधि

प्रयत्न के द्वारा वह देश के अन्त में पहुंचे, तो देश सीमायुक्त प्रमाणित होगा, जोकि व्याघातदोष युक्त है। अतएव विवेचक को बाध्य होकर यह स्वीकार करना होगा कि, देश सीमारहित है तथा प्रयत्न भी अनन्तरूप से वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि, प्रयत्न की अवधि नहीं है; यद्यपि प्रयत्न का तारतम्य सब को अनुभवसिद्ध है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि गुण का यह धर्म नहीं कि, वह अपने निरतिशय अवधि को अवश्य प्राप्त हो। सुतरां ज्ञान की निरतिशयवृद्धि रूप हेतु से, किसी सर्वज्ञ पुरुष के अस्तित्व का अनुमान खण्डित होता है। और भी, परिमाण की निरतिशय अवधि का कथन भी असंगत है तथा इस प्रसंग में आकाशपरिमाण का दृष्टान्त भी निष्फल है। यदि आकाश का परिमाण है, तो उससे भी अधिक परिमाण को क्यों न मान लिया जाय? यह अनुभवसिद्ध है कि परिमाण सर्वत्र वृद्धिप्राप्त होने के योग्य है, और आकाश, यदि परिमाणवाला होगा तो आकाश के परिमाण से भी अधिक परिमाण वाले किसी अन्य की सम्भावना हो सकती है। यदि यह आपत्ति की जाय कि आकाश के सीमारहित होने से, आकाश से अधिक कोई अन्य पदार्थ नहीं है, तो प्रथम सीमारहित शब्द के अर्थ का विश्लेषण करलेना चाहिए। यदि सीमारहित का अर्थ इयत्तारहित हो, तो आकाश के परिमाण का अभाव ज्ञात होगा, क्योंकि परिमाण का अर्थ हुआ 'इतना पर्यन्त' और उसके अभाव का अर्थ हुआ 'तद्विपरीत'। यदि यही अर्थ है तो उक्त अनुमान में आकाश का दृष्टान्त देना व्यर्थ है। यदि वादी को, ईश्वर का ज्ञान भी आकाश के समान सीमारहित मान्य हो तथा उपर्युक्त निरतिशय अवधि की प्राप्ति का अर्थ, परिमाणरहित सम्मत हो; तो भी ईश्वर की सर्वज्ञता प्रतिपादित नहीं होगी। यदि ईश्वर का ज्ञान सीमारहित होगा, तो वह अपने ज्ञान को सम्पूर्णरूप से जान सकने में असमर्थ होगा; फलतः उसको सर्वज्ञ नहीं कह सकते। यदि ईश्वर को अपना ज्ञान पूर्णरूप से गोचर

होता हो, तो उसका सीमाराहित्य भङ्ग होगा, क्योंकि उसके ज्ञान का ज्ञान प्रथम ज्ञान की सीमा का वर्धन करेगा, और ज्ञान की अनवस्था भी होगी। अतएव सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना प्रमाणसह नहीं है।

प्रकृतिवादखण्डन

अब पातञ्जलसम्मत जगदुपादानकारण प्रकृति की-संक्षेपपूर्वक सरलरीति से-समालोचना करते हैं। सांख्यमत के अनुसार पतञ्जलि ने भी सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हुए, सुखदुःख-मोहात्मक जगत् का मूल-उपादान, उसकी समजातीया सत्त्वरजस्तमो-गुणान्मिका प्रकृति को माना है। इस विषय का तीन प्रकार से विवेचन करना होगा। प्रथम, (१) सत्कार्यवाद कहां तक समीचीन है? (२) द्वितीय, दृश्यमान जगत् को सुखदुःख-मोहात्मक कह सकते हैं अथवा नहीं? (३) तथा तृतीय, कार्य के समजातीय मूलकारण को त्रिगुणात्मक रूप से मानना कहां तक उचित है।

सत्कार्यवादी का कथन है कि, मृत्तिका के पिण्डादि रूप से आवृत होने के कारण, उस काल में उसमें विद्यमान घट की भी उपलब्धि नहीं होती। कुलालादि कारण के व्यापार द्वारा उक्त आवरण के भङ्ग होने पर घट अनुभवगोचर होता है। परन्तु यह कथन समीचीन नहीं है। यदि कारण में सभी प्रकार के कार्य सत् रूप से स्थित होंगे, तो प्रत्येक कार्य अन्य समस्त कार्यों का आवरक होगा। पिण्डावस्था में सत् घट के द्वारा पिण्ड के आवृत होने से पिण्ड का भी अनुभव नहीं होगा; क्योंकि जिस प्रकार घट का आवरक पिण्ड है, उसी प्रकार पिण्ड का आवरक भी घट है। घटावस्था में पिण्ड का आवरण घट के द्वारा होता है यह अनुभवसिद्ध है। इस आपत्ति के निवारण के लिए बाध्य होकर यह कहना होगा कि, घटादि कार्य अभिव्यक्त होने पर ही अन्य पिण्डादि कार्यों के आवरक होते हैं, अनभिव्यक्त

अवस्था में वे किसी के आवरक नहीं हो सकते। इस उक्ति से यही प्रतिपन्न होगा कि, अभिव्यक्ति पूर्व में नहीं थी, पश्चात् होती है; अर्थात् असत् अभिव्यक्ति के सत्रूप से उत्पन्न होने पर उसका सत् घट के साथ संयोग होता है जिससे अभिव्यक्ति युक्त सत्घट ही अन्य कार्यों का आवरक हो सकता है। फलतः असत् अभिव्यक्ति की उत्पत्ति स्वीकार करने पर सत्कार्यवाद भङ्ग हो जायगा। पिण्डादिरूप जो आवरण उसका भंग पूर्व में विद्यमान है, वही कुलाल के व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है यह सत्कार्यवादियों को मानना होगा। जो विद्यमान उसकी ही उत्पत्ति मानने से कुलालव्यापार व्यर्थ हो जायगा। आवरण-भङ्ग को असत् मानने पर असत् की उत्पत्ति भी स्वीकार करनी होगी; अतएव प्राक्सत्त्व की कल्पना निष्फल है और तन्मूलक सत्कार्यवाद विचाररहित है।

सत्कार्यवाद में उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अपने कारण में जो सूक्ष्मरूप से अवस्थान होना कहा जाता है, वह भी विचारसह नहीं है। परिमाण की सूक्ष्मता भी तभी सम्भव है जबकि अभिव्यक्ति के पश्चात् कार्य, अपने आश्रयरूप द्रव्य की अपेक्षा अल्पपरिमाण वाला हो; नहीं तो, कार्य की अपने कारण में स्थूलरूप से अविद्यमानता नहीं हो सकती। यदि वादी को यह स्वीकृत हो कि, कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व सूक्ष्मस्वरूपविशिष्ट होता है तथा उत्पत्ति के पश्चात् स्थूल स्वरूपविशिष्ट हो जाता है, तो इसका यह अर्थ होगा कि यातो असत् स्थूल स्वरूप की उत्पत्ति होती है, अथवा द्रव्यान्तर का जन्म होता है। परन्तु उक्त दोनों ही कल्प. वादी को मान्य न होने से तथा तृतीय कल्प के असम्भव होने से, कारण में कार्य का सूक्ष्मरूप से अवस्थान, विचारसङ्गत नहीं है।

उपरोक्त विचार के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि, सत्कार्यवाद को स्वीकार करने पर, अनभिव्यक्त बीज (कारण)

की अभिव्यक्ति बीजरूप से ही होनी चाहिये, नकि वृक्षरूप से। जितनी विशालता और विस्तारयुक्त वृक्ष है, उसका—अत्यन्त सूक्ष्म अपने कारण में—सद्भाव का होना असम्भव है। एक ही धर्मी में अवस्था के भेद से, सूक्ष्म और स्थूल रूप दो धर्मों की प्रतीती होती है, यह मानने पर भी उक्त दोष का सर्वथा परिहार नहीं होता। क्योंकि, सूक्ष्म और स्थूल परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, एक के नाश होने के पश्चात् ही अपर की उत्पत्ति सम्भव है। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि असत्कार्यवादी नैयायिकों के समान, धर्म और धर्मी का अत्यन्त भेद, सत्कार्यवाद में माननीय नहीं होता। अतएव, स्थूलतारूप असत् धर्म की उत्पत्ति मानने पर सत्कार्यवादी को यह भी स्वीकार करना होगा कि, उससे अभिन्न धर्मी भी असत् ही उत्पन्न होता है। सुतरां दो भिन्न धर्मानुगत एक अभिन्न धर्मी की कल्पना भी व्यर्थ है। और भी, सत्कार्यवादी-सम्मत कार्य की अभिव्यक्ति, कार्योत्पत्ति में हेतु नहीं है। कारण, अभिव्यक्ति को यदि सद्रूप मानें तो कार्य पूर्व (कारण) में ही अभिव्यक्त अर्थात् उत्पन्न था; अतएव उत्पन्न की उत्पत्ति नहीं होगी। अभिव्यक्त का भी सूक्ष्मरूप से यदि कारण में अवस्थान माना जाय तो उसकी अभिव्यक्ति को भी अङ्गीकार करना होगा, सुतरां अनवस्था होगी। यदि असत् कहें तो, असत् अभिव्यक्ति युक्त कार्य की, नित्य निरस्त होने के कारण, उत्पत्ति असम्भव है। अतएव, सत्कार्यवाद असंगत है।

(२) बाह्यप्रपञ्च को सुखदुःखमोहरूप नहीं कह सकते; क्योंकि यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। बाह्य देशमें प्रतीत होने वाले घटादि पदार्थों से, आभ्यन्तर (हृदय) देश में अनुभव होने वाले सुखदुःखादिकों का भेद, प्रत्यक्षसिद्ध है। यदि वादी यह कहे कि उक्त भेद की उपलब्धि, अनुमान की सहायता से अप्रमाणित हो सकता है; तो यह कथन निरर्थक है। क्योंकि, वह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होगा। अनुमान सर्वत्र प्रत्यक्ष अनुभूत व्याप्ति के आधार पर होता है; यदि कोई अनुमान प्रत्यक्ष का विरोधी होगा, तो

वह अनुमान नहीं, किन्तु केवल कल्पना होगी। यदि इसके उत्तर में वादी यह कहे कि, उक्त प्रत्यक्ष भ्रान्त है, यथार्थ नहीं, सुतरां वह हमारे मत के विरुद्ध नहीं हो सकता तो वादी को प्रथम यह प्रमाणित करना होगा कि, उक्त प्रत्यक्ष भ्रान्तिमय है। किसी प्रत्यक्ष की भ्रान्तिता तभी विदित हो सकती है, जबकि अन्य यथार्थ प्रत्यक्ष, पूर्व भ्रान्त प्रत्यक्ष का बाध कर रहा हो। परन्तु प्रकृतस्थल में ऐसा कोई प्रत्यक्ष हमारे अनुभव में नहीं है, जिससे वह बाधित होता हो। यह भी नहीं कह सकते कि, उक्त अनुमान के द्वारा वह बाधित होगा, क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष है। प्रथम तो वादी के अनुमान की सिद्धि ही दुर्लभ है, क्योंकि निम्नलिखित विपरीत तर्क के द्वारा वह बाधित होता है। यदि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप सुखदुःखमोहात्मक होता, तो एक ही शब्द को श्रवण करने वाले सभी व्यक्तियों को समानरूप से सुख, दुःख और मोह उत्पन्न होता; किन्तु ऐसा अनुभव कभी किसी को नहीं होता। शब्दादि बाह्य पदार्थ सर्वदा सबके प्रति सुखदुःख के कारण नहीं होते। एक ही शब्द से किसी को दुःख की प्रतीति होती है, किसी को सुख की तथा अपर उदासीन को उससे सुखदुःखआदि कुछ नहीं होते। इससे यह प्रमाणित होता है कि, शब्दादि नियत रूप से दुःखसुख के उत्पादक नहीं होते, (सुतरां वे स्वतः सुखदुःखस्वरूप नहीं), किन्तु उनके उपभोगकर्त्ता ही अपनी अपनी रुचि के अनुसार शब्दादि विषयों को, राग, द्वेष और उदासीनतापूर्वक ग्रहण करते हैं। यह हमारे अनुभव से भी सिद्ध है कि, बाह्य पदार्थों में हम स्वयं राग और द्वेष पूर्वक प्रवृत्त होते हैं, यद्यपि वे स्वतः रागद्वेषरहित हैं। अतएव, सुख-दुःखादि धर्म हमारे अन्तःकरणनिष्ठ हैं, बाह्यपदार्थनिष्ठ नहीं। यदि सुखादि धर्म बाह्य पदार्थ में होते तो वे सभी प्रकार के उपभोगकर्त्ताओं में समान रूप से सुख की ही अथवा दुःख की ही उत्पत्ति करते किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जिस प्रकार नील वस्त्र में नीलता धर्म के वस्त्रनिष्ठ होने के कारण, सबको

समानरूप से नीलता की ही उपलब्धि होती है, उसी प्रकार से प्रियता वा अप्रियता की भी समान रूप से उपलब्धि नहीं होती। नीलता की रुचिवाले को तो नील वस्त्र प्रिय है, किन्तु श्वेत वस्त्र की इच्छावाले का वही अप्रिय भी है तथा वस्त्र की आवश्यकता से रहित अपर पुरुष के लिए उक्त वस्त्र की नीलता व्यर्थ है, क्योंकि उसको उस वस्त्र में से सुखदुःखमोहादि में से किसी की भी उपलब्धि नहीं होती। अतएव नीलत्व-धर्म वस्त्रनिष्ठ है, किन्तु सुखदुःखादि-धर्म नहीं। सुखादि धर्म अनुभव-कर्त्ताओं के भावनाभेद से उत्पन्न होता है। यदि विषय स्वयं सुखदुःख और मोह के उत्पादक होते, तो उनके समस्त उपभोक्ताओं को युगपत् ही सुख, दु.ख और मोह का भान होता; क्योंकि, विषय सब के प्रति समान हैं। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। एक ही विषय, तृप्त पुरुष के प्रति द्वेष का उत्पादक होता है तथा उसी समय, अन्य अतृप्त पुरुष के प्रति राग का भी उत्पादक होता है। और भी, विषयों के विद्यमान होते हुए भी सुख और दु.ख की उत्पत्ति और नाश का अनुभव होता है। अतएव विषय सुख या दु.खस्वरूप नहीं हैं। क्योंकि जिसके नाश होने पर भी जो विद्यमान होता है वह उससे सर्वथा भिन्न होता है। और भी, शब्दादि विषय सुख और दु.ख के निमित्त कारण रूप से प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं। निमित्त कारण और कार्य में भेद सुप्रसिद्ध है। सुतरां बाह्य विषय सुखादिस्वरूप नहीं हैं, किन्तु सुखदु.खादि मानसिक भाव हैं। इसी प्रकार शब्दादि मानसिक भाव नहीं, किन्तु मनोबाह्य पदार्थ हैं। अतएव शब्दादि बाह्य विषयों को सुखादिस्वरूप नहीं कह सकते।

(३) उपरोक्त प्रकार से जगत् के, सुखदु.खमोहात्मक सिद्ध न होने के कारण तथा सत्कार्यवाद के खण्डित होने से, सुखदुःख-मोहरूप कार्य के समान-स्वभाववाला क्रमशः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक मूलकारण (प्रकृति) का निर्णय नहीं हो सकता। यहां पर यह विचारणीय है कि, कार्य और कारण की समानता किस प्रकार

की है? यदि कारण और कार्य में पूर्ण समानता हो, तो उनके तत्त्व और स्वरूप में भेद के न होने से, कार्य और कारण में भेद-व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि आंशिक समता मान्य हो, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, यातो कारण का प्रकृतस्वरूप आंशिकरूप से विकृत हुआ है, अथवा केवल उसके गुण ही विकार को प्राप्त होते हैं, स्वरूप एकसा ही रहता है। प्रथम कल्प में, मूलकारण के स्वरूप को अंशयुक्त मानना होगा; अतएव वह मूलकारण नहीं हो सकता। द्वितीयकल्प में, प्रकृति के स्वरूप और गुण में भेद को अङ्गीकार करना होगा, जोकि परिणामवादीसम्मत प्रकृति की धारणा से सर्वथा विरुद्ध है। कारण, प्रकृति का परिणाम आंशिक या सम्पूर्ण नहीं हो सकता। वादी के मतानुसार सृष्टिकाल में, अंशरहित समद्रव्यरूप एक मूलप्रकृति से असंख्य अंशयुक्त जगत्प्रपञ्च उत्पन्न होता है, और प्रलयकाल मे ये सब अंश प्रकृति की एकता में लय हो जाते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि, क्या यह सम्भव है कि सृष्टिकाल में केवल जगत्प्रपञ्चरूप से उत्पन्न होने वाले अंश ही रहते हैं अथवा अंशों की अभिव्यक्ति होने पर भी प्रकृति निरंश ही रहती है? प्रथम पक्ष में, प्रकृति उत्पत्ति-विनाशशील होगी, अतएव वह मूलकारण नहीं हो सकती। द्वितीय कल्प में तो स्पष्ट ही व्याघातदोष है। अंशरहित प्रकृति को असंख्य अंशसहित मानना परस्पर विरुद्ध है, अतएव अंशरहित से अंशवान् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। ये दोनों ही विकल्प वादीको माननीय नहीं हो सकते। यदि वादी यह स्वीकार करने को प्रस्तुत हो कि, प्रकृति से उत्पन्न असंख्य अंशयुक्त यह जगत्, प्रकृति से सर्वथा भिन्न स्वभाववाला है, तो असत्कार्यवाद की प्राप्ति होगी और वादी का परिणामवाद खण्डित होगा। फलतः वादी को यह कहने का अधिकार भी जाता रहेगा कि, सुखदुःख-मोहात्मक जगत् अपने त्रिगुणात्मक उपादान (प्रकृति) के समान-स्वभाव वाला है। क्योंकि परिणामवाद की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जबकि, कार्य अपने अनुरूप उपादान कारण से अत्यन्त अभिन्न हो।

जगत् का मूल कारण त्रिगुणात्मक है इस अनुमान में अधिक दोष प्रदर्शन।

यद्यपि बाह्यजगत् की त्रिगुणात्मकता के सिद्ध होने में प्रमाण का अभाव तथा विरोधी तर्कों की उपस्थिति का वर्णन हम पूर्व ही कर चुके हैं; तथापि मूल प्रकृति की त्रिगुणात्मकता के साथ कार्यजगत् का समन्वय करते समय वादी से हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि, यदि मूल उपादान कारण त्रिगुणात्मक है, तो जगत् को एक अविभक्त निरंश उपादान कारणवाला किस प्रकार माना जा सकता है? अर्थात् तीन अत्यन्त भिन्न गुणों का समाहार रूप एक पदार्थ, निरंश और अविभक्त नहीं हो सकता। और भी, संसार में नानाप्रकार के कार्यों का विश्लेषण करते समय हमको यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि, भेदयुक्त कार्यों में वास्तविक वस्तुगत भेद है तथा वादी को भी यह स्वीकृत है, क्योंकि उन्होंने चतुर्विंशति तत्त्वों का होना अङ्गीकार किया है। तब हम ऐसा क्यों नहीं अनुमान करलें कि, विभिन्न कार्यों का वस्तुगत भेद उनके मूलकारण में भी होगा, अतएव मूलकारण भी परस्पर भिन्न नाना प्रकार के कारणों का समुदायरूप है? यदि युक्तियुक्त हमारा यह अनुमान वादी को स्वीकृत नहीं है, तो वादी को यह आशा भी नहीं होनी चाहिए कि, हम वादीसम्मत केवल तीन गुणोंवाले मूलकारण को स्वीकार कर लेंगे। यदि कारण, कार्य से किसी वस्तुगत धर्म में भिन्न हो सके, तो वह अपर में भी भिन्न हो सकेगा। और भी, जबकि कारण, रूपादिरहित निरवयव है अथच कार्य रूपादियुक्त सावयव है, तब इस नियम को स्वीकार करना कठिन है कि कारण और कार्य समस्वभाव वाले होंगे। अतएव, जगत् में विभिन्न श्रेणी के कार्यों का अवलोकन करते हुए हमको इस प्रकार का कोई हेतु नहीं प्राप्त होता, जिससे हम यह अनुमान कर सकें, कि जगत् का मूल उपादान कारण केवल तीन गुणोंवाला है।

तीन गुणों की विवेचना करते समय भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, इन गुणों में परस्पर सजातीय भेद मात्र है अथवा व्यक्तिगत भेद भी है? अर्थात् समस्त कार्य-जगत् में अनुगत सत्त्वगुण एक

मात्र है, अथवा प्रत्येक कार्य के भेद से अनेक ? यदि प्रथम कल्प स्वीकृत हो तो प्रत्येक सत्त्व, रज और तम को समस्त जगत् में व्याप्त मानना होगा; परन्तु, प्रत्येक के परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से उनका आपस में संयोग नहीं हो सकता तथा उनको संयुक्त करने वाला अपर कोई द्रव्य भी नहीं है। (क्योंकि, पुरुष के समान पुरुषविशेष ईश्वर उदासीन है तथा प्रकृति के साथ निमित्त-कारण-रूप-से मान्य ईश्वर का, संयोगादि कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता)। सुतरां तीन व्यापक गुणों का संयोग या संयोग की विभिन्नता न हो सकने से उसके फलस्वरूप अनन्त कार्यवैचित्र्य की सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। यदि प्रत्येक गुण केवल एक ही एक हों तो उनकी वृद्धि तथा ह्रासादिक नहीं हो सकते। यदि वादी को प्रत्येक कार्य के भेद से असंख्य गुण मान्य हों तो यह प्रश्न होता है कि, वे अणु-परिमाण हैं ? व्यापक हैं ? अथवा मध्यम परिमाण वाले हैं ? मध्यम परिणाम वाला पदार्थ कार्यकोटि के अन्तर्गत होने से अनित्य होता है। सुतरां वह जगत् का मूलकारण हो नहीं सकता। गुणों को अणु-परिमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होने पर वे व्यापक आकाश के कारण नहीं हो सकेंगे। यदि गुण को अणुपरिमाण मान लें तो कार्य को उपादान कारण से भिन्न कहना होगा और सत्कार्यवाद की हानि होगी। अणुपरिमाणवाले गुणों के परमाणु समूह अदृश्य-स्वभाव वाले होंगे, फलतः कार्य भी अदृश्य ही होगा। सारांश यह कि, गुणों की अनेकता स्वीकार करने पर आरम्भवाद (असत्कार्यवाद) का प्रसङ्ग उपस्थित होगा और सत्कार्यवाद-मूलक गुणों का सिद्धान्त ही प्रमाणित नहीं होगा। और भी, यदि गुण सर्वव्यापक हो तो उनमें क्रिया का अभाव होगा, फलतः रजोगुण को क्रियावान् मानना भी विरुद्ध होगा। यदि सब कारण-द्रव्य सर्वव्यापक हो, तो कार्यों की परिच्छिन्नता (भिन्नता) का उपपादन भी नहीं हो सकेगा। और भी, जब कि गुण इन्द्रिय के विषय नहीं हैं, तब उनके सम्मेलन से इन्द्रियगोचर पदार्थ किस प्रकार

उत्पन्न हो सकते हैं ? और भी, मिश्रण या संयोग केवल अंशयुक्त द्रव्यों में ही सम्भव है। यदि सत्त्व, रज और तम अंशयुक्त नहीं हैं, तो उनके संमिश्रण से विभिन्न परिमाण वाले कार्य किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? ऐसी धारणा भी हमारे लिए कठिन है कि, उक्त तीन उपादानों में से किसी एक के वृद्धि और ह्रास से, सर्वथा भिन्न स्वभाववान नाना द्रव्य उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव, त्रिगुणात्मक प्रकृति-कारणवाद को विचारसह नहीं कह सकते।

और भी, यहांपर विचारणीय यह है कि मृत्तिका, जल आदि अनेक कार्य हैं, वे क्या गुणत्रय से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हों तब प्रश्न यह होगा कि वे तत्त्वतः भिन्न हैं अथवा अतात्त्विक रूप से? यदि तत्त्वत भिन्न हों तो गुणत्रय उनका उपादान नहीं होगा. फलतः, गुणत्रय से तत्त्वतः भिन्न आत्मस्वरूप के समान कार्य का उनके (गुणत्रय के) साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता (न तो मात्रामात्रिक सम्बन्ध, न सहचर-सहचरित-भाव, न निमित्त-नैमित्तिक-भाव और न उपकारी-उपकारक-भाव)। अब यदि अतात्त्विकरूप से भिन्न हों तो कार्य के द्वारा गुणत्रय का अनुमान किस प्रकार हो सकेगा, क्योंकि भिन्न होने कारण कोई सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। सत् और असत् का सम्बन्ध, आत्मा और शशविषाण के समान असिद्ध है। अतएव, कार्य और उपादान (गुणत्रय) में सम्बन्धाभाव को स्वीकार करने पर अनुमान से गुणत्रय की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष द्वारा गुणों का निर्द्धारण करना चाहें तो, यह पक्ष भी वादी को सम्मत नहीं है।

अब यदि अभिन्न पक्ष मान्य हो तो प्रश्न यह है कि वह तात्त्विक है अथवा अतात्त्विक? यदि तात्त्विक अभिन्नता हो, तो कार्य के असंख्य होने से गुण भी असंख्य होंगे, फलतः 'केवल तीन ही गुण हैं' ऐसा कहना अनुचित होगा। यदि गुण तीन ही हों, तो कार्य की भी त्रिकत्व की प्राप्ति होगी और वादीसम्मत

अनन्तता में व्याघात होगा। तात्त्विक अभिन्न पक्ष में, कार्य के प्रत्यक्ष होने पर गुणों की भी प्रत्यक्षता का प्रसङ्ग होगा, फलतः प्रकृति के अनुमान की क्या आवश्यकता रहेगी? गुणत्रय ही प्रकृति है और वह यदि प्रत्यक्ष उपलब्ध है, तो वादीसम्मत साधन (प्रकृति का साधक अनुमान) निरर्थक है। यदि प्रकृति उपलब्ध नहीं होती, तो उनसे अभिन्न कार्य की भी अनुपलब्धि होनी चाहिए, तथा कार्य यदि अतात्त्विक है तो गुणत्रय भी अतात्त्विक होंगे।

यहां पर प्रसङ्गवशात्, वर्तमान सांख्ययोगाचार्य श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द जी की सत्त्वरजस्तम की व्याख्या भी समालोचनीय है। स्वामी जी के मत के अनुसार उक्त गुणों की व्याख्या इस प्रकार है:—"बाह्य या आभ्यन्तर जो किसी भाव (पदार्थ) के ज्ञान होने से ही, उसके पूर्व में एक क्रिया रहती। कारण, शब्द-स्पर्शादि सब ही एक प्रकार की क्रिया है और चित्त में ज्ञान उत्पन्न होता है; यह भी एक प्रकार की (चित्तपरिणामरूप) क्रिया ही है। इस प्रकार से, ज्ञानमात्र की उत्पत्ति के पूर्व एक क्रिया रहती है, जिसकी एक शक्तिरूप पूर्वावस्था का भी अनुमान होता है। कारण, असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अतएव क्रिया अपनी शक्ति-अवस्था में लीन रहती है और वह अवस्था स्थितिशील होती है। वही स्थितिशील भाव, क्रियाशील भाव और ज्ञान वा प्रकाशशील भाव ही क्रम से तमः रजः और सत्त्व हैं।"

उपरोक्त व्याख्या के अनुसार गुण, न तो कार्यात्मक वस्तुतत्त्व हैं और न किसी कार्य के भावरूप धर्म हैं; वे केवल किसी पदार्थ के परिणाम की तीन अवस्थायें हैं। जब कोई पदार्थ स्वभावतः परिणामशील होता है, तो वह किसी एक स्थितिशील अवस्था से अवश्य युक्त होता है जहां से कि परिणाम का आरम्भ होता है और यह परिणाम को कुछ परिमाण से प्रतिरोध अवश्य करेगा। मानस वा भौतिक समस्त पदार्थ सर्वदा परिणामशील है, अतएव

ये उक्त तीन अवस्थावाले अवश्य होंगे। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सांसारिक समस्त पदार्थ सदैव परिणामी हैं, तब उक्त तीनों गुणों की सर्वत्र सर्वदा उपस्थिति भी माननीय होगी; किन्तु इससे यह नहीं ज्ञात हो सकता कि, उक्त तीन गुण पृथक् हैं और परस्पर सम्बद्ध उपादान (कारण) हैं। समस्त पदार्थों में उक्त तीनों गुणों का आविष्कार, केवल यह सूचित करता है कि, सब पदार्थ परिणामी हैं। इसके आधार पर हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जगत् का मूलकारण भी परिणामशील अवश्य होगा। इसी विषय में अधिक अग्रसर होने पर हमलोग यह भी कल्पना कर सकते हैं कि, अव्यक्त अवस्था (तीन गुणों की साम्यावस्था) में भी इनमें किसी प्रकार का सूक्ष्म परिणाम होता रहता है, किन्तु साम्यावस्था के कारण वह किसी कार्य को अभिव्यक्त नहीं करता। अस्तु, मूलकारण को परिणामशील कहने मात्र से ही उनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। मूलकारण को परिणामशील कहना भी विचारविरुद्ध प्रतीत होता है। कारण, यहां पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि, प्रकृति का परिणाम पूर्वरूप के नष्ट होने पर होता है, अथवा बिना नाश के ही? यदि द्वितीय कल्प को अङ्गीकार करें तो कहना होगा कि, परिणाम हुआ ही नहीं। क्योंकि कारण के पूर्व रूप में परिवर्त्तन न होने पर उसमें कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी, अर्थात् कारणरूप ही रहेगा और परिणाम निरर्थक होगा। यदि प्रथम कल्प स्वीकृत हो तो यह प्रश्न होता है कि, वह रूप, कारणका स्वतःसिद्ध रूप है अथवा नहीं? यदि वह उसका अपना स्वरूप हो तो इससे यह ज्ञात होगा कि कारण के वास्तविक स्वरूप का ही नाश हो गया; अर्थात् पूर्वकालीन कारण स्वयं नष्ट होकर अपने स्थान में सर्वथा भिन्न किसी नवीन पदार्थ को स्थानान्तरित करता है, अतएव इसको परिणाम नहीं कह सकते। यदि परिणाम को प्राप्त होने वाला रूप, कारण का अपना रूप न होवे, तो रूप के परिणाम से कारण का नाश नहीं होगा तथा कारणगत रूप के

परिणाम को ही कारण का परिणाम कह सकेंगे। किन्तु, यहां पर भी प्रश्न उपस्थित होता है कि, उक्त रूप का परिणाम क्या कारण के किसी अंशविशेष को परिणत करना है? अथवा संपूर्ण कारण को? प्रकृति के स्वरूप का विवेचन जिस प्रकार किया जाता है उसके अनुसार, यह परिणाम उसके एक अंश में संघटित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति एक विभागरहित शक्ति है जिसमें अंशभेद नहीं हैं। सम्पूर्ण प्रकृति में भी परिणाम का होना असम्भव है, क्योंकि ऐसा मानने पर वही पूर्वोक्त दोष होंगे, अर्थात् संपूर्ण प्रकृति ही ध्वंस को प्राप्त होगी और उसके स्थान में उससे सर्वथा भिन्न अपर पदार्थ की सृष्टि होगी। पूर्वकालीन अस्तित्वशील पदार्थ का सर्वथा ध्वंस होकर अपर की उत्पत्ति को, परिणामवाद नहीं कह सकते। यहां पर यदि यह आपत्ति की जाय कि, परिणाम शब्द से हमारा तात्पर्य्य, स्वभाव का अन्यथा होना नहीं है, किन्तु किसी धर्मी के एक धर्म की निवृत्ति होकर अपर धर्म का प्रादुर्भाव मात्र है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं। कारण प्रश्न होता है कि, उक्त प्रवर्त्तमान एवं निवर्त्तमान धर्म, धर्मी से पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है अथवा अपृथक्? यदि पृथक् है तो धर्मी अपने पूर्व रूप में ही स्थित है, सुतरां उसको परिणाम प्राप्त नहीं कह सकते। इसी प्रकार धर्म का भी परिणाम नहीं होगा, क्योंकि उसके स्थान पर उससे सर्वथा भिन्न अन्य किसी धर्म की उत्पत्ति होती है। यदि धर्म धर्मी से अपृथक् पदार्थ है, तो धर्मी के स्वरूप से धर्म के व्यतिरिक्त न होने के कारण, उत्पत्ति विनाशशील धर्म के समान धर्मी का भी नाश और प्रादुर्भाव होगा, सुतरां किस आधार पर धर्म और धर्मी का परिणाम होगा। और भी, धर्मी का स्वभाव स्थितिशील होने के कारण, धर्म का भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होगा और इसी प्रकार धर्मी के भी धर्म से अभिन्न होने पर, अपूर्व की उत्पत्ति और पूर्व का विनाश होगा। और भी, यदि अव्यक्त (प्रकृति) व्यक्त (महदादि) का कारण होगी तो, परिणामवाद के अनुसार कारण और कार्य में तादात्म्य होने से,

समस्त विश्वप्रपञ्च अपने कारण प्रकृति के समान एक ही द्रव्य होगा तथा बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा इत्यादि रूप से परिमाण का विभाग नहीं हो सकेगा। सत्कार्यपक्ष में विश्व का प्रकृति-उपादान होने से तथा उसका अभेद और कारणरूप होने से कार्यजात् सब सर्वात्मक हो जायगा, इससे पदार्थ-व्यवस्था का नियम नहीं रहेगा (किसी पदार्थ का किसी पदार्थ से विवेक होने में हेतु का अभाव होने से)। अतएव, उपरोक्त स्वामी जी की व्याख्यानुसार भी, त्रिगुणात्मक मूल कारण के परिणाम से जगत् के कार्यकारण-व्यवहार की सिद्धि नहीं होती।

अब यह प्रदर्शन करते हैं कि परिमाणवाद के अनुसार परिणामी वस्तु का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण, परिणाम शब्द का अर्थ होता है पूर्वरूप का परित्याग करके रूपान्तर की प्राप्ति। यहांपर प्रश्न होता है कि, उस रूपान्तर की प्राप्ति में पूर्वरूप के सर्वथा परित्याग पूर्वक नवीन रूप की उत्पत्ति होती है, अथवा अंशमात्र के त्यागपूर्वक रूपान्तर की उत्पत्ति होती है? यदि प्रथम कल्प के अनुसार परिणाम शब्द का अर्थ किया जाय, तो परिणामी के स्वरूप का सम्पूर्ण रूप से विनाश होने पर उससे सर्वथा भिन्न नवीन रूप को उत्पन्न होता हुआ मानना होगा; फलत परिणामी अनित्य हो जायगा और असत्कार्य (रूप) की उत्पत्ति होगी। जिसका परिणाम होता है यदि वही नष्ट हो जायगा तो नित्य किसे कहेंगे? अतएव प्रथम कल्प के अनुसार परिणामी का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

अब यदि द्वितीय कल्प का आश्रय लिया जाय कि, यह रूपान्तर की क्रिया परिणामी के सर्वांश में नहीं होती, किन्तु किसी एक अंश में ही होती है; तोभी प्रश्न होगा कि वह अंश जिसमें परिणाम होता है, उस अंशी से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है, तो जो अंश नष्ट होगया उसके साथ अत्यन्त भिन्न परिणामी (अंशीका) का कोई भी सम्बन्ध न होने के कारण, उस भिन्नांश के परिणाम को अंशी का परिणाम नहीं कह सकते।

परिणामी के नित्यत्वपक्ष में परिणत अंश और अंशी में अत्यन्त भेद या अभेद मानना संगत नहीं।

और भी, यदि परिणत अंश और अंशी में अत्यन्त भेद हो, तो एक के नष्ट होने पर दूसरे का नाश नहीं होना चाहिए; अर्थात् अंश के नष्ट (परिणत) होने पर यदि उससे भिन्न अंशी का भी नाश (परिणाम) समझा जाय, तो घट के नष्ट होने पर पट के नाश को भी स्वीकार करना चाहिए। यदि नष्ट होने वाले अंश से अंशी अभिन्नरूप स्वीकृत हो, तो अंश के नष्ट होने पर अंशी का भी नाश होना अनिवार्य है। फलतः वही पूर्वोक्त दोष उत्पन्न होगा कि, परिणामी के सम्पूर्णरूप से नष्ट होने पर परिणत (रूपान्तरित) पदार्थ को किसका परिणाम कहेंगे? अर्थात् परिणामी अनित्य हो जायगा और असत् कार्य की उत्पत्ति होगी, जो सत्कार्यवादीसम्मत परिणामवाद के विरुद्ध है।

अब उपरोक्त उभय प्रकार के दोषों से मुक्त होने के लिए भिन्नाभिन्न मत को स्वीकार किया जाता; परन्तु यह पक्ष भी विचारसंगत नहीं है। भेद और अभेद ये दोनों परस्पर विरुद्धधर्म हैं, अतएव इन दोनों का एकही पदार्थ में एकत्र रहना सम्भव नहीं।

अब भेदाभेद को स्वीकार करने पर कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होता, यह घटदृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। घट शब्द का अर्थ केवल मृत्तिका नहीं, किन्तु जलधारण करने में समर्थ एक गोलाकार वस्तुविशेष है; क्योंकि केवल मृत्तिका में घटबुद्धि नहीं होती, अथवा घट शब्द का प्रयोग नहीं होता। यदि घट मृत्तिका से अभिन्न हो, तो उत्पत्ति के पूर्व जिस प्रकार मृत्तिका का अनुभव होता है, उसी प्रकार घट को भी अनुभव का विषय होना चाहिए तथा जिस प्रकार मृत्तिका को अपने लिए किसी पृथक् उपादानकारण की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार घट को भी किसी कारण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि, कार्य और कारण में किञ्चित् भेद के रहने से उत्पत्ति के पूर्व घट की उपलब्धि नहीं होती तथा 'मृत्तिका घट का कारण है' ऐसी व्यवस्था उपपन्न होती है, तो यह कथन

भी उपयुक्त नहीं है। कारण, यहां पर प्रश्न होता है कि, उक्त भेद के रहने से भी क्या लाभ होगा? क्योंकि, जिस प्रकार घट की स्थितिकाल में भेद, अभेदसत्ता का विरोधी नहीं है, उसी प्रकार घटोत्पत्ति के पूर्व भी वह (भेद) अभेदसत्ता का विरोधी नहीं होगा; फलतः भेद मानने पर भी उक्त दोष का परिहार नहीं होगा; अर्थात् घटोत्पत्ति के पूर्व घटबुद्धि और कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति (दोष) होगी। इस मत के अनुसार भेद, अपने विद्यमान प्रतियोगी (अभेद) की अनुपलब्धि में प्रयोजक (हेतु) नहीं होता, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि भेद के रहने से अभेद की प्रतीति नहीं होगी अथवा घट के कार्यत्व में भी भेद, प्रयोजक (कारण) नहीं है। यदि प्रयोजक हो तो घट के स्थिति काल में भी भेद रहने के कारण, अभेदानुपलब्धि प्रसंग होगा और घट की पुनरुत्पत्ति होगी। तात्पर्य यह है कि, भेद ही अभेद की अनुपलब्धि और घट के कार्यत्व में (मृत्तिकारूप कारण की अपेक्षा से घटरूप कार्य में) प्रयोजक (कारण) होता है, और वह भेद घटोत्पत्ति के अनन्तर होता है, किन्तु उस समय घट और मृत्तिका के अभेद की अनुपलब्धि नहीं होती तथा घट की कार्यता भी स्थितिकाल में (कार्य के अनन्तरक्षण में) नहीं होती। अतएव भेद, अभेद की अनुपलब्धि में तथा घट की कार्यता में प्रयोजक नहीं होगा। इसी को पुनः स्पष्ट करते हैं कि, यथा मृत्तिका के रूप आदि गुण, मृत्तिका में रहने वाले कार्यत्व धर्म के कारण नहीं होते; (क्योंकि मृत्तिका के रूपादि गुण, मृत्तिका के अभेद के अविरुद्ध होते हैं; अर्थात् मृत्तिका में तादात्म्यभाव से रहते हैं) उसी प्रकार 'मृद्-घट' में प्रतीयमान कार्यकारण का भेद भी, यदि मृत्तिकागत अभेद के अविरोधी हो, तो उक्त भेद से घट के अनुपलम्भादि (अप्रतीति) सिद्ध नहीं होंगे। क्योंकि, घट के स्थिति काल में भेद रहने पर भी घट की अनुपलब्धि का अभाव होता है; अर्थात् यदि भेद, घट के अनुपलम्भ में तथा उत्पत्ति आदि में प्रयोजक होता, तो घटोत्पत्ति के अनन्तर भी घट

अनुपलब्ध होता तथा पुनः घट की उत्पत्ति होती। अतएव भेद, इन दोनों का प्रयोजक नहीं है।

वादीः—घट की सत्ता उत्पत्ति के पूर्वकाल में नहीं थी, अतएव अनुपलम्भ तथा कार्यकारणभाव में कोई क्षति नहीं होतीः अर्थात् घटोत्पत्ति के पूर्व, घट और मृत्तिका में अभेद रहते हुए भी, घट का असत्त्व होने के कारण उसका अनुपलम्भ होता है तथा इससे कार्यकारणभाव भी उपपन्न होता है।

समालोचकः—तुम्हारा यह कथन अनुचित है। घट से अभिन्न मृत्तिका के सत् होने पर, घट का असत्त्व किस प्रकार हो सकेगा? अर्थात् यदि घट मृत्तिका से अभिन्न होगा तथा मृत्तिका घट से अभिन्न होगी, तो मृत्तिका की सत्ता होने पर घट की भी सत्ता होगी (जैसे मृत्तिकागत रूपादि गुण की सत्ता रहती है।)

वादीः—घटाकार में मृत्तिकाकार से भेद ही है। अर्थात् घट के घटाकार से मृत्तिकाका अभेद नहीं है, जिससे उक्त दोष की शङ्का उत्पन्न हो।

समालोचकः—ऐसा कहने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, मृत्तिका का अभेद किसके साथ है? अर्थात् मृत्तिका का अभेद न रहने पर भेदाभेद सिद्ध नहीं होगा।

वादीः—केवल घट का ही अभेद है, अर्थात् घट का मृत्तिका रूप से मृत्तिका का अभेद है।

समालोचकः—वह घट तो मृत्तिका मात्र है जो (मृत्तिका) उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान था। तथाहि, यदि घट मृत्तिका-अभेद का धर्मी होगा तो मृत्तिका-काल में भी घट की सत्ता होनी आवश्यक है; फलतः अनुपलम्भादि की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों ही रह गयी।

जैनसम्मत सदसत्कार्यवाद का खण्डन ।

वादीः—भेदांश घट पूर्व में नहीं है, अतएव उक्त दोष नहीं होता । तात्पर्य यह कि, कार्यकारण से अतिरिक्त भेद और अभेद नहीं है, किन्तु कारण ही अभेदरूप है और कार्य, उत्पत्ति के पूर्व असत् हैः अतएव अनुपलम्भादि की अनुपपत्ति नहीं होती ।

समालोचकः—यदि भेदाभेद से तुम्हारा यही तात्पर्य है, तो अत्यन्त भेदवादी (न्यायवैशेषिक) से तुम्हारे मत में कुछ विशेषता नहीं पाई जाती ।

इस प्रकार विचार द्वारा विश्लेषण करने पर भेदाभेद पक्ष में कोई विशेषता नहीं पाई जाती तथा एक ही काल में भेद और अभेद, सत् और असत् दो विरुद्ध धर्मों को एक ही अधिष्ठान में स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है । अतएव, भेदाभेद के सिद्ध न होने से, इसके आधार पर कल्पित प्रकृति-परिणामवाद भी असंगत हैं ।

अब जैनसम्मत सदसत्कार्यवाद की (पृष्ठ ५-६) संक्षिप्त समालोचना प्रदर्शन करते हैं । एक ही पदार्थ में सत्त्वासत्त्व रूप विरुद्ध धर्म का होना असम्भव है । यदि उभयरूप एक ही पदार्थ हो तो उक्त दोनों को वस्तुस्वरूप या वस्तु का धर्म कहना होगा परन्तु दोनों ही पक्ष असंगत हैं । यदि सत्त्वासत्त्व वस्तुधर्म हो तो असत्त्वदशा में भी सत्त्व की अनुवृत्ति का प्रसंग होगाः क्योंकि असत्त्व की तरह सत्त्व का भी वस्तुधर्मत्व माना गया है । धर्म, अपने आश्रय को छोड़ कर नहीं रह सकता. अतएव असत्त्व-काल में भी पदार्थ का सद्भाव हो जायगा । और भी. यदि वह धर्म हो तो उसका असत्त्व नहीं हो सकता । यदि सत्त्व और असत्त्व दोनों एक ही वस्तु के स्वरूप हों. तो उन दोनों की सर्वदा युगपत् उपलब्धि होनी चाहिए. परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है । दोनों का एकत्र अनुभव किसी को नहीं होता । कालभेद या देशभेद से ऐसा अनुभव होने पर भी, वस्तु का द्वैरूप्य सिद्ध नहीं होता । यह नहीं हो सकता कि, किसी वस्तु के—अन्य देश और अन्य

काल में-असत् होने पर, अपने देश और अपने काल में भी वह असत् ही हो; क्योंकि यह प्रत्यक्षविरुद्ध है । सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरुद्ध हैं, वे अविरुद्ध तथा अभिन्न वस्तु के स्वरूप नहीं हो सकते । और भी, सत्त्वासत्त्व यदि वस्तुस्वरूप हो, तो उसके सर्वदा सत्त्वासत्त्व रूप से रहने के कारण, भग्न घट के द्वारा भी मधु-धारणादि कार्य हो सकेंगे । अतएव, एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का समावेश अनुचित है । दो विरुद्धों का, प्रकारभेद के बिना एकत्र सहावस्थान नहीं हो सकता । और भी, यहां पर प्रश्न होता है कि, सत्त्वासत्त्व एक काल में है अथवा भिन्न काल में ? प्रथम पक्ष संभव नहीं, क्योंकि एक ही काल में उभयरूपता का विरोध प्रत्यक्ष है । द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, कारण, सत् और असत् रूप के कालोपाधिकृत होने से, उनको अस्वाभाविक मानना होगा, वे दोनों वस्तु का स्वरूप नहीं होंगे । काल के भेद से एक ही वस्तु की द्विरूपता प्राप्ति भी असम्भव है, अतएव सदसत् पक्ष युक्तिरहित है । इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग नहीं हो सकता । युगपत् एक ही उपाधि में (आश्रय में) "घट है और घट नहीं है" ऐसी सत्त्वासत्त्व की प्रतीति नहीं होती । अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष-विरोध के कारण दृष्टान्त ही असिद्ध है । और भी, जैनमतावलम्बीलोग जगत्प्रपञ्च को सत्त्व, असत्त्व, सदसदात्मकत्व, सदसद्भिन्नत्व रूप से मानते हैं, यह भी युक्तियुक्त नहीं है । एक ही प्रपञ्च में इस प्रकार के वास्तविक विरुद्ध धर्मों का होना सर्वथा असम्भव है । अनेकान्तवाद को स्वीकार करने पर निर्द्धारितरूप कोई भी ज्ञान स्वीकृत नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहीं पर अनैकान्तिकत्व का प्रसंग उपस्थित होगा । सब की अनैकान्तिकता होने पर अनैकान्तिकता को भी अनैकान्तिकता का प्रसंग होगा ।

जैनमत में प्रत्येक पदार्थ का "पररूप से असत्त्व तथा स्वरूप से सत्त्व" मान्य होता है, परन्तु यह सम्भव नहीं।

पररूप से न तो भाव है और न अभाव ही है, किन्तु स्वरूप से ही वस्तु भाववान और एकात्मक है, ऐसा सर्वत्र उपलब्ध होता है। वह यदि अभाव है तो क्यों अभी भाव होगा? भाव और अभाव दोनों का एकत्र भाव नहीं हो सकता। वह यदि पररूप से अभाव है, तो घटको पटरूपता की प्राप्ति अवश्य होती। जिस प्रकार पररूप से भावत्व अङ्गीकार करने पर पररूप में अनुप्रवेश होता (पररूपता की प्राप्ति होती) है, उसी प्रकार अभावत्व अङ्गीकार करने पर भी पररूप में अनुप्रवेश होता है। फलतः सर्व सर्वात्मक होंगे।

अतएव सदसदात्मक परमार्थ वस्तु के सद्भाव में प्रमाण का प्रदान न कर सकने के कारण, तथा कार्यकारण में भेदाभेदवाद के खण्डित होने से, पुद्गलपरिणामवाद (जैनमत में शब्दस्पर्शादि, पुद्गल नामक एकजातीय परम-अणु मूर्तद्रव्य का अवस्थान्तर हैं) विचारसह नहीं है; परिणामवाद की असमीचीनता को भी प्रदर्शित किये हैं।

❀ ब्रह्मपरिणामवाद ❀

ब्रह्मपरिणामवादी वल्लभ, भास्कर, चैतन्य और निम्बार्क का कथन है कि, ईश्वर और प्रकृति इन दोनों को ही स्वतन्त्र एवं स्वतःसिद्ध तत्त्वरूप से मानने पर उनके सम्बन्ध के विषय में अनिवार्य कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, जिनका परिहार नहीं हो सकता। अतएव इनकी निवृत्ति के लिए ऐसा मानना उचित है कि, ईश्वर और प्रकृति दो तत्त्व नहीं, किन्तु एकही अद्वैत तत्त्व है। प्रकृति को स्वतन्त्र तत्त्व न मानकर, चेतन ईश्वर के शक्तिरूप से मानना चाहिए। जब चेतन, शक्ति को केवल बाहर से ही नियमन नहीं करता, किन्तु उसके स्वरूप में ही अनुस्यूत होकर उसको प्रेरित करता है, तब उनमें कोई पृथक्ता नहीं हो सकती। इसी कारण से प्रत्येक को अपर के साथ अविनाभूत सम्बन्ध से सम्बद्ध मानना होगा। अतएव चेतन, शक्ति-अनुस्यूत चेतन है तथा शक्ति

भी चेतन-अनुस्यूत शक्ति है । शक्ति का शक्तिमान से वस्तुगत अभेद होने के कारण, चेतन को ही जगत् रूप से अभिव्यक्त होता हुआ मानना होगा । यही एक मात्र मूलतत्त्व- जो अद्वितीय, स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है— अपनी स्वरूपगत शक्ति की क्रिया से, कार्यजगत् रूप में स्वतः परिणाम को प्राप्त होता है । परिणाम दो प्रकार का होता है— एक विकृत परिणाम, यथा दूध से दधि; और एक अविकृत परिणाम, यथा मृत्तिका से घट । ईश्वर (ब्रह्म), इस प्रपञ्च का अविकृत परिणामी कारण है । जगत्, चेतन ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्म का ही कार्य है । कारणधर्म, कार्यरूप में परिणत होने पर अन्यथारूप से प्रतीत होने लगते हैं। ब्रह्म के अचलत्वादि धर्म, कार्यदशा में जडरूप से प्रतीत होते हैं। ये धर्म ब्रह्म में जडत्वादिरूप से नहीं रहते, किन्तु निश्चलत्वादिरूप से रहते हैं। अतएव ब्रह्म जगद्रूप होकर भी प्रपञ्च से विलक्षण है। वह ब्रह्म कूटस्थ है और साथ ही चल भी है। ब्रह्म किसी के सहायता की अपेक्षा न रखते हुए केवल अपने सामर्थ्य से ही स्वात्मरूप प्रपञ्च का (ब्रह्म) विस्तार किया है । सृष्टि के पूर्व कार्यजगत्, उसकी शक्ति में अनभिव्यक्त या सूक्ष्म अवस्था में रहता है तथा उक्त तत्त्व, स्वयं स्वतन्त्ररूप से जगदाकार में अभिव्यक्त होता है । अतएव जगत् के, उस अद्वैत चेतन का परिणाम होने से, शक्तिसहित ईश्वर ही इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है ।*

*वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को जगत् का कारण मानते हुए उसकी निर्विकारता को अव्याहत रूप से बनाए रखने के लिए, जिसप्रकार मध्वाचार्य ने ईश्वर को केवल निमित्त कारण माना है; तथा शङ्कराचार्य ने कार्यकारण-भाव को मिथ्या मानकर निर्विशेषब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की है; एवं रामानुज ने जगत्प्रपञ्च (प्रकृति और उसका कार्य) को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न कहा है; उस प्रकार से परिणामवादियों ने कथन नहीं किया । द्वैताद्वैतवादी भास्कर और निम्बार्क का मत है कि, प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है तथा उससे भिन्नाभिन्न है । जगत् की उत्पत्ति से ब्रह्म की निर्विकारता में व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि

समालोचना

अब ब्रह्मपरिणामवाद संक्षेप से समालोचनीय है। ब्रह्म को अंशरहित अद्वितीय तत्त्वरूप से स्वीकार करने पर, उसका परिणाम भी—एक ही क्षण में अथवा क्रमशः—नहीं हो सकता। अद्वितीय व्यापक ब्रह्म के स्वरूप में उपचय या अपचय के सम्भव न होने से, उसका परिणाम भी असम्भव है; क्योंकि, उपचय-अपचयशील अंशवान मृत्तिका आदि पदार्थों में ही, क्रमशः परिणाम देखा जाता है। परन्तु, प्रकृत स्थल में ब्रह्म के निरंश होने से उसका परिणाम भी अंशरहित होगा। जगत् अंशयुक्त है, यह प्रत्यक्ष है, अतएव जगत् को निरंश ब्रह्म का परिणाम नहीं कह सकते। परिणाम पक्ष में ब्रह्म को विकारी मानना होगा, अतएव उसके निर्विकारत्व की हानि होगी। वादी अपने ब्रह्म की निर्विकारता को बनाए रखने के लिए यदि यह स्वीकार करे कि, ब्रह्म जैसा कारणावस्था में रहता है वैसा ही कार्यावस्था में भी होता है, तो कारण और कार्य में कोई विशेषता नहीं रहेगी, फलतः परिणाम सिद्ध नहीं होगा। कारण और कार्यावस्था में विशेषता के स्वीकार करने पर, ब्रह्म को कार्यगोचर विशेषरूप में परिणत कहना होगा और उसका निर्विकारत्व अव्याहत नहीं रह सकेगा। इस पक्ष में, सर्वथा असत्कार्य की उत्पत्ति मान्य न होने से कारणात्मरूप से वह स्वीकार करना होगा तथाच कारण ही सहकारिरूप से उस उस कार्यभाव को प्राप्त होता है,

जगत् शक्ति का परिणाम (शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम) है, ब्रह्म का स्वरूपपरिणाम नहीं। अचिन्त्य भेदाभेदवादी चैतन्य का कथन है कि, उक्त शक्ति के परिणाम से ब्रह्म का ही परिणाम होता है, किन्तु वह अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल से, परिणत होता हुआ भी अपरिणामी ही रहता है। शुद्धाद्वैतवादी (अर्थात् अद्वैत ब्रह्म में अशुद्ध या मिथ्या माया या अज्ञान नहीं है) वल्लभाचार्य ने भी इसी अविकृत परिणामवाद को स्वीकार किया है।

अतएव कार्योत्पत्तिविनाश से भी कारण में पर्यवसान होगा, सुतरां कारण का अविकारित्व अव्याहत नहीं रह सकता । अर्थात् इस मत में, असत्कार्य की उत्पत्ति सर्वथा मान्य न होने से, कार्यगत विकार को कारण में भी स्वीकार करना होगा, अतएव कारण का विकारित्व अपरिहार्य होगा ।

परिणाम केवल दैशिक या कालिक अवस्थानभेद है: किन्तु जो देश और कालका ज्ञाता, देश और काल जिसका अधिकरण नहीं उसमें अवस्था-भेद की कल्पना कैसे हो सकती है ? कालातीत (नित्य) तत्त्व, कालिक क्रमयुक्त जगत्प्रपञ्च का कारण कैसे हो सकता है ? जहां तक कोई पदार्थ कालातीत है वह विकार प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि विकार के साथ २ काल अवश्य ही आता है । किन्तु यह कैसे सम्भव है कि कोई पदार्थ जो विकारप्राप्त नहीं होता वह काल में किसी कार्य को उत्पन्न कर सके । काल में कार्य उत्पन्न हुआ, इसका यही अर्थ होगा कि उसका आदि है । और यदि कार्य का प्रारम्भ हो अथच कारण में आदिपना नहीं कह सकें, तो हमलोगों को यह कहना होगा कि कार्य में ही ऐसा कुछ है— (अर्थात् विकाररूप से संघटित होने का धर्म)— जो सर्वथा निष्कारण होता है, अथवा यह कहना होगा कि कालातीत तत्त्व केवल एक आंशिक कारण है और वह क्रिया करने में अपर किसी से प्रेरित होता है जो कालातीत नहीं है । इन दोनों पक्षों में कालातीत तत्त्व कालिक क्रम के उपपादन करने में असमर्थ होता है ।

ब्रह्मपरिणामवाद के अनुसार यह मानना होगा कि, ब्रह्म एक ही काल में ज्ञाता और ज्ञेय, प्रकाशक और प्रकाश्य, नियामक और नियम्य, परिणामकर्त्ता और परिणामप्राप्त, सृष्टिकर्त्ता और सृष्ट है । उपरोक्त पार्थक्य को ब्रह्म स्वरूप के अन्तर्भूत मानने से, ब्रह्म अंशयुक्त, धर्मयुक्त, अवयवयुक्त और विश्लिष्टस्वभावयुक्त होगा: फलतः वह उत्पत्तिशील भी होगा । जड़-चेतनात्मक

विभक्त प्रपञ्च को प्राप्त होकर भी ब्रह्म किस प्रकार निर्विकार रह सकता है ? इसकी उपपत्ति के निमित्त परिणामवादियों के पास यथेष्ट युक्ति भी नहीं है । यदि शक्ति ब्रह्म के स्वरूप में वस्तुतः अनुगत है, तो शक्ति के परिणत होने पर ब्रह्म भी अवश्य परिणाम को प्राप्त होगा. फलतः सृष्टि काल में ब्रह्म के परिणाम प्राप्त होने पर यह कहना होगा कि, इस समय ब्रह्म नहीं है अथवा ब्रह्म का मूलस्वरूप नित्य नहीं रहता । यदि शक्ति, ब्रह्म से वस्तुतः पृथक् होकर (स्वरूपगत न होकर) भी उससे नित्य सम्बद्ध रहती हो, तो इस सम्बन्ध की सिद्धि के लिए कोई कारण होना चाहिए. किन्तु वह नहीं मिलता । यदि यह मान भी लिया जाय कि ब्रह्म ही इस सम्बन्ध को अव्याहत रखता है, तो भी ब्रह्म के परिणाम रूप जगत् की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि शक्ति के परिणाम से, उससे भिन्न ब्रह्म परिणत नहीं होगा ।

वादी का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि, एक ही ब्रह्म एक धर्म से ज्ञाता होता हुआ अपर धर्म से परिणाम को प्राप्त होता है। यहाँ पर प्रश्न होगा कि, क्या ये दोनों धर्म समान रूप से ब्रह्मस्वरूप में अनुगत हैं ? यदि हैं, तो क्या यह सम्भव है कि स्वरूपगत दो धर्मों में से एक में तो विकार होगा तथा अपर अविकृत ही रहेगा ? यदि यह भी सम्भव हो, तो इससे क्या यह ज्ञात नहीं होगा कि ब्रह्म विभक्त पदार्थ रूप है जिसमें स्वभावतः दो सर्वथा पृथक् स्वरूप रहते हैं; तथा बुद्धि के उक्त दोनों विभक्त पदार्थों का आधाररूप उससे भी उत्कृष्ट अन्य मूल कारण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी ? यदि यह कहा जाय कि, उक्त दोनों धर्म एक ही ब्रह्मस्वरूप में अनुगत हैं, अतएव अपृथक् रूप हैं; तो यह स्वीकार करना होगा कि सम्पूर्ण ब्रह्म-तत्त्व ही विकार को प्राप्त होता है, और ब्रह्म अपनी एकता का परित्याग करता है, अथवा यह मानना पड़ेगा कि सम्पूर्ण ब्रह्मस्वरूप अविकृत रहता है; फलतः ब्रह्म जगत् का स्वतः-परिणामी उपादान कारण नहीं रहेगा । यदि वादी को ये दोनों विकल्प

अस्वीकृत हों, तो ब्रह्म के परिणामी और अपरिणामी इन दोनों धर्मों में से एक को ब्रह्म का स्वरूपगत तथा अपर की अभिव्यक्ति (परिणाम) को मिथ्या मानना होगा। यदि यह मत मान्य हो, तो निर्विकार स्वतःप्रकाश चेतन को ब्रह्म का प्रकृतस्वरूप मानना होगा (क्योंकि केवल यही उसकी अद्वितीयता और अभिन्नता को प्रकट करता है) तथा विकारी शक्ति की अभिव्यक्ति को मिथ्यारूप से मानना होगा। किन्तु यह पक्ष परिणामवादी नहीं मान सकते। वे ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति को मानकर अपना पक्ष स्थापित करना चाहते हैं। परन्तु तर्क की दृष्टि से यह घोषणा करना निरर्थक है कि ब्रह्म अचिन्त्य शक्तिमान है, जिसके बल पर वह कार्यजगत्‌रूप से स्वयं परिणाम को प्राप्त होता हुआ भी अपने निर्विकार स्वरूप से च्युत नहीं होता और जगदतीतरूप से उनका साक्षी बना रहता है। तर्क, इस तथाकथित अचिन्त्यशक्ति के स्वरूप का ही विचार पूर्वक विश्लेषण कर वृत्त्यारूढ करना चाहता है और उसी को अचिन्त्य मान कर रख देने से बेचारे विचारपूर्ण तत्त्वानुसन्धान की अकालमृत्यु हो जाती है। (जगत् ईश्वर की विलास है इस पक्ष में प्रकृति ईश्वर से स्वतन्त्र या गुणभूत मान्य न होने से विभक्त प्रतिभासरूप जडप्रपञ्च को ईश्वर का ही स्वरूपभूत मानना होगा। सुतरां यह नामान्तर से परिणामवाद होना है। अतएव वह उपर्युक्त निराकरण से ही निराकृत होता है)।*

*यहां पर प्रसङ्गवश वैष्णवों का एक मत प्रदर्शित करते हुए उस पर विचार किया जाता है। उनका सिद्धान्त यह है कि, श्रीभगवान् का दिव्य (अप्राकृत) रूप है और दिव्य ही उनका देह है। कार्य रूप घट का अवलोकन कर, जिस प्रकार घट-ज्ञान, घटोत्पत्ति की इच्छा और तदुत्पादक प्रयत्नवाले कुलाल (कर्त्ता) का अनुमान होता है, उसीप्रकार कार्यरूप जगत् को देखकर कार्य के अनुरूप ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नवान कर्त्ताविशेष (ईश्वर) का भी अनुमान होता है। उक्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न शरीररहित कर्त्ता में सम्भव नहीं हो सकते, अतएव ईश्वर भी शरीरधारी कर्त्ता सिद्ध होता है। परन्तु लौकिक कर्त्ता

शब्दब्रह्मवाद की समालोचना

उपरोक्त ब्रह्मपरिणामवाद के खण्डन से शब्दब्रह्मवाद (वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का मत) भी खण्डित होता है । इन

(कुलालादि) की अपेक्षा ईश्वर–कर्त्ता का शरीर नित्य है; कारण, ज्ञानादि जिस प्रकार कार्योत्पत्ति के करण (साधन) है, उसी प्रकार ईश्वर का शरीर भी जगदुत्पत्ति का करण है । यदि करणरूप उसका देह अनित्य होगा तो वह अनादि काल से प्रवाहित सृष्टि का साधन भी नहीं हो सकेगा, अतएव उसका शरीर नित्य है तथा अपनी अचिन्त्य शक्ति के सामर्थ्य से अपरिच्छिन्न भी है ("तन्न युक्तं, अचिन्त्यशक्तित्वात्") । इस मत में ईश्वर का श्रीविग्रह ईश्वर से भिन्न नहीं हैं, वह विग्रह ही ईश्वर है । इसमें देह और देही का भेद नहीं, किन्तु ईश्वर स्वयं उक्त विग्रहरूप एवं उक्त विग्रह ही ईश्वर है ।

अब यहां पर विचारणीय यह है कि, ईश्वर का विग्रह और ईश्वर के एक ही पदार्थ होने पर भी यदि ईश्वर अपरिच्छिन्न है, तो ईश्वर के स्वयं विग्रहरूप होने पर वह विग्रह कैसे परिच्छिन्न होगा ? यदि ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति की महिमा से उक्त श्रीविग्रह परिच्छिन्न होता हुआ भी अपरिच्छिन्न हो सकता हो, तो उसी अचिन्त्य शक्ति से ही देहरहित कर्त्ता के द्वारा भी सृष्टि आदि कार्य क्यों नहीं होंगे ? तथा कुम्भकारादि के दृष्टान्त का क्या प्रयोजन है ? सुतरां वादी के उपरोक्त सब हेतु (जगत्कार्यरूप हेतु से ज्ञानेच्छा-प्रयत्नवान् कर्त्ता का अनुमान होता है तथा कर्तृत्वरूप हेतु से ईश्वर का श्रीविग्रहवत्त्व निश्चित होता है) व्यभिचारी हो जायेंगे और कुम्भकारादि का दृष्टान्त भी निष्फल होगा । यदि वैष्णवों को यह स्वीकृत हो कि अचिन्त्य शक्ति बल से देहरहित होने पर भी उसका कर्तृत्व असम्भव नहीं, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उक्त कर्तृत्व हेतु के द्वारा उसके श्रीविग्रह की सिद्धि नहीं हो सकती । और भी, कुम्भकार प्रभृति कर्त्ता के समान जगत्कर्त्ता ईश्वर के देह का अनुमान करने को जाने से, उसके आत्मा या स्वरूप से भिन्न जड देह ही सिद्ध हो सकता है; कारण, कर्तृत्व–निर्वाह के लिए जो देह आवश्यक है वह कर्त्ता से भिन्न ही होता है । सुतरां कर्तृत्व हेतु के द्वारा कर्त्ता का स्व–स्वरूप देह सिद्ध नहीं हो सकता ।

मत के अनुसार, अनादि-निधन अक्षर शब्दात्मकब्रह्म पदार्थाकार से परिणाम को प्राप्त होता है । उपरोक्त परिणामवाद से इस मत में कुछ भिन्नता होने के कारण, यह भी पृथक् समालोचनीय है । शब्दात्मकब्रह्म, अपने स्वाभाविक शब्दरूप का परित्याग करके नीलादिरूपता को प्राप्त होता है, अथवा विना परित्याग के ही ? यदि प्रथम पक्ष का आश्रय लिया जाय, तो ब्रह्म के अनादि-निधनत्व और अक्षरत्व की हानि होगी; क्योंकि पूर्वकालीन स्वभाव के नष्ट होने पर ब्रह्म के उक्त विशेषण व्यर्थ होंगे । यदि द्वितीय पक्ष को ग्रहण किया जाय तो बधिर को, नीलादिरूप के संवेदन काल में शब्द-संवेदन भी साथ ही होगा; क्योंकि नीलादि के साथ शब्द भी अभिन्नरूप से है । (जो जिसके साथ अभिन्नरूप से रहता है, उसमें से एक के ग्रहण करने पर दूसरा भी स्वतः ही गृहीत हो जाता है) । और भी, वह शब्दस्वरूपब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में भिन्न भिन्नरूप से परिणाम को प्राप्त होता है अथवा अभिन्नरूप से ? यदि अभिन्नरूप से परिणत होता हो, तो समस्त पदार्थ एकदेशीय होकर समस्त रूप वाले होंगे, क्योंकि नील रूप में परिणत शब्द ब्रह्म, पीतरूप में परिणत शब्दब्रह्म से अभिन्न है, अर्थात् घट में भी पट की उपलब्धि होगी । यदि इस दोष की निवृत्ति के लिए, शब्दब्रह्म को प्रत्येक पदार्थ में भिन्न रूप से परिणत होता हुआ मानें, तो यह स्पष्ट है कि ब्रह्म का अनेकत्व होगा और वह परिच्छेद के योग्य समझा जायगा ।

विशिष्टब्रह्मवाद

पूर्वोक्त ब्रह्मपरिणामवाद को मानने पर, जीव और जगत् को ब्रह्म से भिन्नाभिन्न स्वीकार करना होगा, परन्तु रामानुज का कथन है कि यह संगत नहीं । एक ही पदार्थ में अपर से स्वाभाविक भेद अथच अभेद भी, दोनों नहीं रह सकते, क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं । जीव, ब्रह्मका अंश (खण्ड) नहीं है, जिससे उसको ब्रह्म से भिन्नाभिन्न स्वीकार

करना पडे। ब्रह्म अंशरहित अखण्ड वस्तु है, वह अंशवान नहीं हो सकता, सुतरां जीव को ब्रह्म का विशेषण रूप मानना उचित है। जैसे देह, देही का अंश कहलाता है, इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अंश कहा जाता है। किन्तु, जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक भेद भी है। जिस प्रकार आत्मा और देह में स्वाभाविक भेद है, इसी प्रकार जड प्रकृति और उसके कार्य से भी ब्रह्म भिन्न है। अतएव ब्रह्म और उसके विशेषणों में (जो उससे सर्वथा भिन्न हैं) तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु "अपृथक्सिद्धि" सम्बन्ध है।*

*प्रसंगवश यहां पर ईश्वर और जीव के विषय में वैष्णवों के अभिमत सिद्धान्त को वर्णन करते हैं। समस्त वैष्णव दार्शनिकों के मत में जीवात्मा अणु है, सुतरां प्रति शरीर में भिन्न और असंख्य है। सभी "अंशो नानाव्यपदेशात्" इत्यादि शास्त्रप्रमाणनुसार जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। परन्तु "अंश" शब्द से प्रत्येक का तात्पर्य भिन्न २ है, किसी के मत में भेदाभेद, किसी के मत में विशेषण, किसी के मत में सर्वथा भेद, किसी के मत में अचिन्त्य भेदाभेद और किसी के मत में स्वरूपतः अभेद माना जाता है। निम्बार्क प्रभृति वैष्णवाचार्य लोगों ने ब्रह्म के साथ अणुपरिमाण जीव का स्वरूपतः भेद और अभेद दोनों को साथ ही स्वीकार किया है (दोनों सत्य हैं)। जीव के साथ ईश्वर का भेदाभेद सम्बन्ध अनादिसिद्ध है। ईश्वर की अचिन्त्यशक्तिवशात् उसमें भेद और अभेद ये दोनों ही एकत्र रह सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं होता। यही निम्बार्क-सम्प्रदाय-सम्मत जीव और ईश्वर का भेदाभेद या द्वैताद्वैतवाद है। किन्तु रामानुज ने ऐसा नहीं स्वीकार किया। इनके मत में जीव ब्रह्म का अंश है इस कथन का यह तात्पर्य है कि, जीव ब्रह्म की विभूति या विशेषण है। जैसे अग्नि और सूर्य प्रभृति की प्रभा को उसी का अंश कहा जाता है, और जैसे मनुष्यादि के देह को देही का अंश कहा जाता है, इसी प्रकार जीव को भी ब्रह्म का अंश कहा जाता है; किन्तु देह और देही की न्याई जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः भेद भी अवश्य है। मध्वाचार्य जीव को ईश्वर का अंशरूप स्वीकार करके भी निम्बार्कस्वामी के न्याई जीव और ईश्वर का भेदाभेदवाद स्वीकार नहीं किया। उनके मत में जीव ईश्वर का विभिन्नांश, स्वांश या

स्वरूपांश नहीं है । जिस अंश में अंशी का सामान्य सादृश्य (स्वल्प साम्य) है, उसी को विभिन्नांश कहते हैं । ईश्वर चैतन्यस्वरूप है और जीव भी चैतन्यस्वरूप है, सुतरां किसी रूप से जीव और ईश्वर में वास्तव भेद के रहने पर भी उन दोनों में किञ्चित् सादृश्य भी है । सुतरां (जीव ईश्वर का विभिन्नांश होने से) जीव और ईश्वर का स्वरूपत. अभेद नहीं किन्तु केवल भेद है । गौडीयवैष्णवमत भी ऐसा ही है । जीवचैतन्य नित्य है और वह जगत् की न्याई ईश्वर से उत्पन्न पदार्थ नहीं । सुतरां ईश्वर के जीव का उपादान कारण न होने से पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा जीव और ईश्वर का भेद और अभेद दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकते । इस मत में ईश्वर जगद्रूप से परिणत होता हुआ भी जीवरूप से परिणत नहीं हुआ है; जीव ब्रह्म का विवर्त नहीं है, अर्थात् अद्वैत मत के समान अविद्याकल्पित नहीं है । जीव ईश्वर का अंश है ऐसा कथन करने पर भी ईश्वर के साथ जीव का स्वरूपत अभेद सिद्ध नहीं होता । कारण, जीव ईश्वर का शक्तिविशेष है, इसीलिए भिन्न पदार्थ होता हुआ भी ईश्वर के अंशरूप से कथित होता है । यदि असंख्य जीवचैतन्य न हो तो ईश्वर की सृष्टि आदि लीलाकार्य में सहायता नहीं हो सकती, इसलिये जीव को उसकी शक्ति कहा गया है । (जीव ईश्वर की पराप्रकृति अर्थात् प्रधान शक्तिविशेष है) । जीव को ईश्वर की नित्यसंश्लिष्ट शक्ति और उसकी मायाशक्ति के अधीन होने के कारण तटस्था शक्ति कहा जा सकता है । अतएव उक्त मत में जीव को परमेश्वर की स्वरूपशक्ति से भिन्न द्वितीय शक्ति होने से अंश कहा गया । जीव-शक्ति ईश्वर की नित्य विशेषण है; कारण, ईश्वर सदैव उक्त शक्तिविशिष्ट रहता है । ईश्वर उसके वास्तव अनन्त शक्ति से कभी भी वियुक्त नहीं होता, क्योंकि शक्तिमान को परित्याग करके शक्ति कभी भी नहीं रह सकती । जीव प्रभृति अनन्त शक्तिविशिष्ट चैतन्य ही ईश्वर है, उसके नित्य विशेषणरूप अनन्तशक्ति से रहित शुद्ध चैतन्य में ईश्वरत्व नहीं हो सकता तथा उक्त वास्तव शक्तिविशिष्ट ईश्वर-चैतन्य से अतिरिक्त कोई ब्रह्म नामक तत्त्वविशेष भी नहीं है । शास्त्र में, ब्रह्म और जीव का सजातीयत्व और अंशित्व होने के कारण, अभेद कहा गया है । ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है और जीव भी चैतन्यस्वरूप है, सुतरां चित्स्वरूप से ब्रह्म जीव की एकाकृति अर्थात् सजातीय है, और जीव ब्रह्म का नित्य-सिद्ध विशेषण

रामानुजकृत निर्विशेषब्रह्मवाद का खण्डन ।

रामानुज (तथा कतिपय शैवों के) मत में अद्वितीय, अनन्त, स्वात्मचेतनावान, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अनन्त कल्याणगुणयुक्त ब्रह्म के विशेषण रूप से जडचेतनात्मक जगत् प्रतिभात होता है। (समस्त प्रमाण ही सविशेष वस्तुविषयक होते हैं; निर्विशेष वस्तु किसी प्रमाण का विषय ही नहीं होता। जिसको "निर्विकल्पक" प्रत्यक्ष कहा गया, उसमें भी सविशेष वस्तु ही विषय होता है। सुतरां प्रमाणाभाव से निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि हो ही नहीं सकती।) ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। चित् और अचित् व्याप्य है और ब्रह्म व्यापक है। इस ब्रह्मरूप आधार में चित् (जीव) और अचित् (जड प्रकृति आदि) "अपृथक्सिद्धि" सम्बन्ध से रहता है। अचित् की दो दशा होती है—सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल और सूक्ष्मरूप अचित् के साथ सम्बन्धयुक्त होने से, जीव को भी स्थूल या सूक्ष्म

है, ब्रह्म कभी भी जीवशक्ति से वियुक्त नहीं होता, जीवशक्ति को त्याग करके निर्विशेष निःशक्ति चैतन्यमात्र का अस्तित्व ही नहीं है। अतएव ब्रह्मको जीव का अंशीरूप एवं जीव को ब्रह्म का अंश और व्यष्टिरूप कहा गया है। सुतरां जीव का सजातीय और अंशी होने के कारण, ब्रह्म को जीव से अभिन्न कहा जा सकता है (एकजातीयत्वादिप्रयुक्त अभेद), किन्तु उसीसे जीव और ब्रह्मका स्वरूपतः (व्यक्तिगत) अभेद नहीं कहा जा सकता। अतएव यह सिद्ध हुआ कि, ईश्वर और जीव का स्वरूपाभेद नहीं है, ब्रह्म से भिन्न ही जीवचैतन्यसमूह होते हैं, उसमें वास्तविक एकता नहीं है, जीव और पर का सर्वथा भेद ही है। (जीवगोस्वामीजी के मत में जीव और ब्रह्म का अचिन्त्य भेदाभेद कहा जाता है।) वल्लभमत में जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण "अंशांशिनोरभेदः" इस न्याय के अनुसार अंशी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उच्चनीच भाव से रमण करने के लिए ईश्वर ही आनन्द का तिरोभाव करके अनेक जीव, आनन्द तथा चैतन्य को तिरोभाव करके (छिपाकर) नाना जडपदार्थरूप, और अपने निरवधि आनन्द को परिच्छिन्नरूप करके प्रकट सच्चिदानन्दात्मक नाना अन्तर्यामी रूप से क्रीडा कर रहा है। अतएव सर्वरूप ईश्वरस्वरूप ही है, उससे व्यतिरिक्त अणुमात्र भी विद्यमान नहीं है।

कहा गया है। वे दोनों ब्रह्म में स्थित होने से ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्ट है। इनमें से सूक्ष्मरूप जीव और जगत् के विशेषण से युक्त ब्रह्म, कारण है; तथा स्थूलरूप जीव और जगत् द्वारा विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। जीव और जगत् विशेषणविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, जिसका कार्य यह विश्वप्रपञ्च है। (प्रलय-काल में समग्र जीव और जगत् स्थूलरूप को परित्याग कर सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में ही अवस्थित या एकीभूत थे)। समग्र जीव और जगत्—ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न होते हुए भी–ब्रह्म के प्रकार या विशेषण हैं, इसीलिए इनको ब्रह्म का शरीर कहा जाता है। चिदचिद्वस्तु ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म उसका शरीरी है। चिदचिद्वस्तु के शरीररूप से अपृक्सिद्ध होने के कारण प्रकारत्व होता है और उससे विशिष्ट ब्रह्म के शरीरी होने से प्रकारित्व होता है। सर्वदा चिदचिद्वस्तु-शरीररूपसे ब्रह्म ही कारणावस्था और कार्यावस्था में रहता है। दोनों अवस्थाओं में प्रकारी ब्रह्म एक ही है, क्योंकि प्रकारज्ञान प्रकारिज्ञान के अन्तर्गत होता है अर्थात् चेतन के प्रकारीभूत जीव और जड के अनेक होने पर भी प्रकारी चेतन का एकत्व विद्यमान रहता है। धर्मभूत चिदचिद्रूप के स्वरूपतः भिन्न होने पर भी, धर्मी ब्रह्म के साथ नित्य विशेषण रूप से अपृक्सिद्ध होने के कारण दोनों में अभिन्नता है, अतएव एक ही ब्रह्म कार्य और कारणरूप उभय अवस्थावाला है। ब्रह्म से समग्र जीव और जगत् की स्वरूपतः भिन्नता होने पर भी तद्विशिष्ट ब्रह्म एक और अद्वितीय ही है। यही विशिष्टा-द्वैतवाद (विशिष्टब्रह्मद्वय के अभेदवाद या जगत् और जीव-विशिष्ट ब्रह्म का अद्वितीयत्व) है।

समालोचना

अब विशिष्टाद्वैतवाद की संक्षेप से समालोचना करते हैं। इस मत के अनुसार, ब्रह्म के दो प्रकार के विशेषण हैं। एक प्रकार का विशेषण तो उसका प्रकृत स्वरूपगत है, जिस (विशेषण)

के कल्याणपूर्ण होने से ही ब्रह्मस्वरूप की पूर्णता भी माननीय होती है। जडचेतनात्मक जगत् रूप अपर प्रकार का विशेषण, उसके स्वरूप को विशेषणयुक्त (विशिष्ट) बनाते हैं, किन्तु वे उसके स्वरूपगत नहीं हैं। परन्तु अचेतन पदार्थ (जगत्) उसका स्वरूपभूत न होते हुए भी, यदि उसके साथ नित्य अपृथक्रूप से सम्बद्ध है, तो यह स्वीकार करना होगा कि, ब्रह्म के दो स्वरूप हैं, एक प्राकृत (स्वाभाविक) तथा अपर अप्राकृत। वह अपने प्रकृतस्वरूप से नित्य ही चेतन, असंग, स्वप्रकाश और पूर्ण है; तथा अप्रकृतस्वरूप से सदैव अचेतन, ससङ्ग, अस्वप्रकाश और अपूर्ण है। यदि इस पक्ष को स्वीकार करलें, तो भी उक्त प्राकृत और अप्राकृत स्वरूप का सम्बन्ध निर्णय नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म का (जीवजगद्रूप) विशेषण नित्य और अपृथक्भूत होकर ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है, तो हमारे लिए ऐसी धारणा करनी कठिन है कि, वह (विशेषण) किस प्रकार उसके स्वरूपगत नहीं है तथा अपनी अपूर्णता और मलिनता द्वारा उसके स्वरूप को दूषित नहीं करता। इसी प्रकार उत्तम गुणरूप से मान्य उसका अपर विशेषण(कल्याणादिगुण) भी उसके प्रकृतस्वरूप में ही क्यों रहता है, अप्रकृतरूप में नहीं। प्रथम प्रश्न का उत्तर यदि इस रूप से दिया जाय कि, वस्तु के गुण से वस्तु को भिन्न मानना ही उचित है, (अतएव वे गुण ब्रह्म के स्वरूप को मलिन नहीं कर सकते), तब तो ब्रह्म के कल्याणादि गुण को भी उसके प्रकृतस्वरूप से भिन्न मानना होगा, क्योंकि वे भी विशेषण ही हैं। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर, ब्रह्म को (कल्पित) विशेषणों के सम्पर्क से रहित निर्विशेष शुद्धतत्त्व मानना होगा, जो कि विशिष्टाद्वैतवादी-सम्मत ब्रह्मस्वरूप-विषयक सिद्धान्त से समञ्जस नहीं होता। इसमत के अनुसार निर्विशेष वस्तु धारणा के योग्य नहीं है (अतएव, माननीय भी नहीं), क्योंकि किसी वस्तु की धारणा उसके गुणों से ही हो सकती है। यदि ऐसा ही है, तो गुणों के विकार को वस्तु का विकार कहना होगा तथा गुणों की

अपूर्णता और मलिनता को स्वतः वस्तु की अपूर्णता और मलिनता रूप से मानना होगा। फलतः, जगत् को ब्रह्म का विशेषण मान लेने पर, उसके स्वरूप की धारणा भी जगत् के विकार (मलिनता, अपूर्णता) से रहित नहीं हो सकती। और भी, वस्तुतः सत्यरूप से प्रतिभात सचेतन जीव और अचेतन पाञ्चभौतिक जगत्प्रपञ्च को, बिना युक्तिप्रमाण के ही, विशेषण या विशेषण के कार्यरूप से स्वीकार करलेना, हमलोग साधारण बुद्धिवालों के लिए अत्यन्त कठिन है। यदि विशेषण शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अर्थ के अनुसार किया जाय-जिसका भावार्थ यह होता है कि, ये समस्त चेतन और अचेतन पदार्थ सापेक्ष, उत्पत्तिशील और सीमाबद्ध हैं-तो पूर्वकथित दोष की निवृत्ति सर्वथा नहीं हो सकेगी। और भी, दृश्यमान नानाप्रकार के पदार्थ यदि ब्रह्म के अंश हों, तो वह (ब्रह्म) भी सावयव और कार्यस्वरूप होगा। यदि ये (पदार्थ) उससे भिन्न हों, तो वह भी इनके अस्तित्व से सीमाबद्ध होगा। और भी, जब कि ये सब पदार्थ नित्य ही ब्रह्म के साथ सम्बद्ध हैं, तब केवल ब्रह्म का स्वरूप ही इन पदार्थों के स्वरूप से सीमाबद्ध मान्य होगा ऐसा नहीं किन्तु इन पदार्थों के स्वरूप भी ब्रह्म के स्वरूप से सीमाबद्ध है मानना होगा। तब वह सीमायुक्त तत्त्वरूप से मान्य होगा, नकि सीमारहित अद्वितीय रूप से। इस प्रकार, ब्रह्म अनन्त अद्वितीय पूर्णतत्त्व है, अथच उससे अपृथक्सिद्ध जडचेतनात्मक जगत्प्रपञ्च के अस्तित्व से विशेषित है, ऐसी धारणा करने में नाना प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। जबकि विशिष्ट (ब्रह्म), विशेषण और विशेष्य इन दोनों से अभिन्न है, तब केवल विशेष्य को अथवा विशेषण और विशेष्य को उपादान रूप मानने से, ब्रह्म भी विकार को प्राप्त होगा।

अब विशिष्टाद्वैतवादी-सम्मत देह और आत्मा का सम्बन्ध समालोचनीय है। इन्होंने आत्मा और देह के सम्बन्ध की उपमा देकर, ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का निर्द्धारण किया है। इनके मत में ब्रह्म विश्वात्मा है और विश्व उसका शरीर है। अब प्रश्न

यह है कि, इस विश्वात्मा का प्रकृत स्वरूप क्या है? क्या यह विश्वात्मा, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, स्वात्मचेतनावान, निराकार है अथवा अनन्त शक्ति और ज्ञानयुक्त, शरीरी, चेतनावान है? यदि प्रथम पक्ष स्वीकृत हो तो वस्तुतः निराकार को शरीरी मानना होगा। अब यह प्रश्न होता है कि क्या यह (शरीर) उसी के द्वारा सृष्ट है अथवा नित्य ही उसके स्वरूपगत है? यदि उसका शरीररूप जगत् उसी के द्वारा रचित है, तो यह कहना होगा कि, जगत्प्रपञ्च कालजन्य और आदिमान है। यदि जगत् की सृष्टि के पूर्व निराकार आत्मा शरीररहित था और समयविशेष के आने पर उसने अपने लिए शरीर की सृष्टि के उद्देश्य से, अपने असीम ज्ञान और शक्ति का प्रयोग किया, तो यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि, उसके स्वरूप और दृष्टि में कुछ परिवर्त्तन हुआ, जिससे वह एक (शान्त) अवस्था से अपर (क्षुब्ध) अवस्था को प्राप्त हुआ। इस परिवर्त्तन के लिए कोई उपयुक्त हेतु और कारण अवश्य होगा, चाहे वह उसकी चेतना में कुछ अस्वस्थतारूप हो अथवा बाहर से किसी शक्तिविशेष की प्रेरणारूप हो। ब्रह्म के द्वारा जगद्सृष्टि की कल्पना करने पर, इन उपर्युक्त सिद्धान्तों को मानने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है। परन्तु, ये सब स्वतन्त्र ब्रह्म की मूलधारणा से असमञ्जस होते हैं।

अब यदि जगत्रूप शरीर नित्य ब्रह्मगत है (स्थूलावस्था से हो अथवा सूक्ष्मावस्था से हो,) तो यह कभी नहीं कह सकते कि ब्रह्म या जगदात्मा स्वरूपतः निरवयव है। यदि जगत्-शरीर सदैव वर्तमान है (स्थूल या सूक्ष्म चाहे जिस रूप से हो), तो यातो इसे ब्रह्मस्वरूप का स्वभावगत अंशरूप मानना होगा अथवा यह कहना होगा कि, यह (जगत्) उसके स्वरूप के साथ सदा ही सम्बद्ध अर्थात् भिन्न पदार्थ रूप है। शेषोक्त कल्पना में उत्पन्न होने वाले दोषों का पूर्व ही प्रदर्शन कर चुके हैं। यदि प्रथमोक्त कल्पना को स्वीकार किया जाय, तो ब्रह्म को स्वरूपतः शरीरि-चेतन पुरुष रूप से मानना होगा। इस पक्ष के अनुसार ब्रह्म की

धारणा, जगत् की धारण को अन्तर्भूत करेगा तथा आत्मा की धारणा देह की धारणा को अन्तर्भूत करेगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि, देह के विकार और अपूर्णता, आत्मा के स्वरूप को भी विकृत और मलिन बनाते हैं। यदि दृश्यमान वैचित्र्यमय जगत्, ब्रह्मस्वरूप के अवयवरूप अंश हैं; तो इन सीमित अंशों की मलिनता और दोष भी ब्रह्मस्वरूप में अनुगत होंगे और ब्रह्म की शुद्धता, पूर्णता तथा असीमता की हानि होगी। फलतः शरीरधारी जीव के समान देश और काल से परिच्छिन्न होने पर, ब्रह्म का सर्वांश में पूर्ण स्वातन्त्र्य नहीं रहेगा। अतएव विशिष्टाद्वैतमत के अनुसार, ब्रह्म का पूर्ण तथा स्वतन्त्र जगन्नियामक रूप से स्वीकार नहीं कर सकते।

केवलाद्वैतवाद

(निर्गुणब्रह्मवाद)

उक्त प्रकार से विशेषण-विशेष्यादि वास्तविक सम्बन्ध की असमीचीनता देखकर अद्वैतवेदान्तियों ने (शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी लोगों ने) ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध को अवास्तव (अध्यास) रूप से माना है। ब्रह्म के पूर्ण होने के कारण उससे किसी पदार्थ का सर्वथा भेद नहीं हो सकता तथा जगत् को उससे 'अपृथक्सिद्ध' मानने पर भी उसकी निर्विकारता में बाधा होगी, अतएव ब्रह्म की निर्विकारता को अव्याहत बनाए रखने के लिए जगत् को अनिर्वचनीय (सदसत् तथा भेदाभेद से विलक्षण) या मिथ्या कहना होगा। मिथ्या वस्तु की प्रतीति में अज्ञान ही कारण होता है जो किसी सत् वस्तु के आधार पर कल्पित होता है; सुतरां प्रतीयमान मिथ्या जगत् का उपादान-कारण अज्ञान है जो सत्स्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त है। देह और आत्मा में विशेष्य-विशेषण रूप सम्बन्ध नहीं है, किन्तु देहादि का ज्ञाता होने के कारण, आत्मा साक्षी निर्विकार और चेतनस्वरूप है।*

*शांकरमतः—(१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं है। रामानुजमतः—चिदचिद्रूपशरीरविशिष्ट ब्रह्म एक

ही है, उससे तथा उसके शरीर मे भिन्न अन्य कुछ नहीं है । (२) शां:— केवल ब्रह्म ही सत्य हैं, उससे भिन्न अन्य सब असत्य है; ब्रह्म, सजातीय–विजातीय–स्वगत भेद रहित है । रा:—ब्रह्म चेतन है तथा जीव भी चेतन है; अतएव, ब्रह्म का जीव से सजातीय भेद है तथा जड़जगत् से विजातीय भेद है और अपने कल्याणकारक गुणों से स्वगत भेद भी है । (३) शां:— ब्रह्म निर्विशेष है, अतएव मन–वाणी का विषय नहीं (इदृश तादृश रूप से नहीं कह सकते), अतएव वह निर्गुण है, उसमें कल्याणकारक गुण भी वास्तविकरूप से नहीं है । रा:— ब्रह्म सविशेष है; वह सर्वज्ञ, नित्य और सर्वव्यापी आदि विशेषणों से युक्त है, अतएव इन्हीं शब्दों से उसका कथन हो सकता है; ब्रह्म, स्वभावतः ही अपहतपाप्मत्वादि अनेक कल्याणकारक गुणो का आश्रय है; उसमें हेय गुण नहीं है । (४) शां:— ब्रह्म को ज्ञानरूप गुण से युक्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्वत ज्ञानस्वरूप है; अतएव उसमें ज्ञातृत्व (सर्वज्ञत्वादि धर्म) भी वास्तविक नहीं है, किन्तु औपचारिक है । रा:— ब्रह्म, स्वत: ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी, ज्ञानगुण का आश्रय है; वह गुणभूत ज्ञान, उसके स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न ही है; अतएव ब्रह्म वास्तविकरूप से ज्ञातृत्व (सर्वज्ञत्वादि) धर्म युक्त है; इसी कारण, वह विज्ञाता ऐसे व्यवहृत होता है । (५) शां— ज्ञेयत्व भी ब्रह्म में नहीं है; अपने में अपना आश्रयत्व और अपना विषयत्व असंभव है । रा:— ब्रह्म में ज्ञेयत्व भी है; गुणभूत ज्ञान, उससे भिन्न होने से उसका आश्रयत्व और उसका विषयत्व ब्रह्म में सम्भव है । (६) शां:— ब्रह्म स्वरूपतः कूटस्थनित्य तथा इसी रूप से वह अद्वितीय भी है; अतएव ब्रह्म को अद्वैत कहा जाता है । रा — ब्रह्म स्वरूप मे कूटस्थनित्य है, किन्तु चिदचिद्रूपशरीरविशिष्टरूप से वह परिणामिनित्य तथा विशिष्टरूप से ही अद्वितीय है; पर ब्रह्माद्वैत प्रकाराद्वैत नहीं, किन्तु प्रकार्यद्वैत है— प्रकारीभूत जीव और जड़ जगत् की अनेकता होने पर भी प्रकारी (शरीरी) ब्रह्म का एकत्व है । (७) शां:— ब्रह्म के सन्मात्ररूप होने से उससे अभिन्नज्ञान भी सद्रूप ही है, किन्तु सद्विषयक नहीं । रा:—गुणभूत ज्ञान, सन्मात्ररूप नहीं किन्तु सद्विषयक है । (८) शां:— ब्रह्माही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है; परन्तु जड़जगत् प्रातिभासिक मिथ्या ही है, अतएव एकही तत्त्व है । रा:—ब्रह्म ही ईश्वर है; उसके शरीरभूत जीव

अद्वैतवेदान्तियो के सिद्धान्त का कथन। सत्स्वरूप अद्वैत अधिष्ठान है।

अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त यह है कि सब वस्तु परमार्थ-सद्रूप व्यापक ज्ञानात्मक एक अद्वितीय ब्रह्म-अधिष्ठान में अज्ञान द्वारा अध्यासित होते हैं अर्थात् नित्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही एक मात्र वास्तव पदार्थ है, उससे भिन्न वास्तव द्वितीय कोई पदार्थ नहीं है: इस जगत् उस एकमात्र सत् ब्रह्म का ही विवर्त्त है, अर्थात् अविद्यावशात् रज्जु में सर्प की न्याई ब्रह्म में ही आरोपित है, सुतरां गगन-कुसुम की न्याई सर्वथा असत् या अलीक न होने पर भी मिथ्या या अनिर्वाच्य है।

घटः सन् "पटः सन्" इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में "सत्"-प्रतीति होती है। विषयनिरपेक्ष प्रतीति स्वीकृत न होने से उक्त अनुगत प्रत्यय एक अनुगत सत् को ही विषय करता है कहना होगा। लाघवतः यही मानना होगा कि प्रपञ्च में सद्बुद्धि का विषय एक ही है। सद्रूप की प्रतीति के सर्वत्र एक रूप होने से बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के साथ सत् का एक रूप सम्बन्ध (तादात्म्य) मानना उचित है। अनुगतरूप प्रतीति में विशेषण और सम्बन्ध दोनों का अनुगत होना आवश्यक है, क्योंकि दोनों ही प्रतीति के विषय हैं। अतएव सत्स्वरूप अद्वैत है। "अहं स्फुरामि" "घटः स्फुरति" इस प्रकार अहंकार और शरीर घटादि में स्फुरण का स्वतः सर्वत्र एक रूप से भान होता है। अनुगत एक निमित्त

और जगत् उससे भिन्न है; अतएव चिद् (जीव), अचिद् (जगत्) और ईश्वर, ये तीन तत्त्व हैं। (९) शां — ब्रह्म से अभिन्न होकर भी भिन्न की न्याई त्रिगुणात्मिका ब्रह्मशक्ति अज्ञानादि पदों से वाच्य होती है: उससे उपहित ब्रह्म जगत् की मूलप्रकृति है। रा —ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न त्रिगुणात्मक प्रधान जगत् की मूलप्रकृति है। (१०) शां.—एक अद्वितीय ब्रह्म में अज्ञान से नानाविध जगत् की प्रतीति होती है; यह विवर्त्तवाद है। राः—प्रधान ही अन्तर्यामी ईश्वर के सान्निध्य के कारण जगदाकार से परिणाम को प्राप्त होता है: यह परिणामवाद है।

के बिना एकरूप अपरोक्षत्व—प्रतीति सम्भव नहीं है। उक्त प्रत्यय के अनुसार सभी पदार्थों स्फुरण के समानदेश-काल-युक्त होने से उनका तादात्म्य सम्बन्ध मान्य होता है । वह स्फुरण या ज्ञान स्वयंप्रकाश है । ज्ञान की प्रकाशरूपता न होने पर जडत्वापत्ति या असत्त्वापत्ति रूप दोष होगा। ज्ञान यदि ज्ञानान्तर को अपेक्षा कर सिद्ध हो तो अनवस्था की प्राप्ति होगी । कहीं पर भी ज्ञान का विच्छेद होने पर उसकी असिद्धि के कारण आमूल सबके असिद्धि का प्रसंग होगा, अतएव उसका स्वप्रकाशत्व अङ्गीकार करना समुचित है । असिद्ध तथा (अनवस्था दोष से) परतःसिद्ध न होने के कारण, ज्ञान स्वतःसिद्ध एवं स्वप्रकाश होगा । स्वप्रकाश का अर्थ स्वविषय नहीं (एक ज्ञानरूप क्रिया के प्रति कर्तृत्व और कर्मत्व का विरोध से,) किन्तु अपर प्रकाश के सम्बन्ध के बिना ही प्रकाशमान रहना है। स्वप्रकाश चेतन अपर स्वप्रकाश चेतन के ज्ञान का विषय न होने के कारण, स्वतःसिद्ध अद्वैत है ।

उक्त अद्वैत सत्‌चित् स्वरूप (ब्रह्म), जगत् का उपादान है यह मृत्तिका-घट और रज्जु-सर्प आदि कार्यकारणस्थल के दृष्टान्त से प्रतिपादन करते हैं । जगत् के समस्त पदार्थों में सत्‌चित्‌स्वरूप (ब्रह्म) का अन्वय प्रत्यक्ष अनुभूत होता है । अतएव मृत्तिका-अनुगत घट के समान विश्व के उपादानरूप से सत्‌चितस्वरूप ब्रह्म सिद्ध होता है । उपादान के साथ उपादेय (कार्य) का भेद कल्पित या न्यूनसत्ताक होता है तथा वास्तव या अधिकसत्ताक अभेद होता है (यह विषय पहले प्रतिपादन कर आये हैं पृष्ठ९१–९२), इसलिए कार्य अपने कारण का भेदक नहीं होता, सुतरां कार्यरूप जगत् में द्वैतदर्शन होने पर भी कारण (ब्रह्म) को अखण्डता और अद्वितीयता में कोई बाधा नहीं होती ।*

*यहां पर परिणामवादी और विवर्त्तवादी का कार्यकारण-विषयक मतभेद स्पष्टरीति से प्रदर्शित करते हैं । परिणामवादी कहते हैं कि, उपादानकारण की परिणति से भिन्न किसी अन्य रूप की अवस्थिति सम्भव नहीं है । भाव पदार्थ

मात्र ही अपरिणत अवस्था में कभी नहीं रह सकते, अर्थात् परिणाम ही भावपदार्थ का स्वभाव है । जैसे, मृत्तिका का परिणाम-घट हैं । मृत्तिका-कारण है, और घट कार्य हैं । कारण के रूप का परिणाम या रूपान्तर ही कार्य है । मृत्तिका किसी-न-किसी रूपान्तर में अवश्य अवस्थान करती है—यही इसका स्वभाव है । घटरूप धारण के पूर्व उक्त मृत्तिका पिण्ड या चूर्णाकार में थी, तथा पश्चात् भी पुनः पिण्ड या चूर्णाकार में रहेगी । इस प्रकार पिण्ड, चूर्ण और घटादिरूप रूपान्तर या अवस्था से भिन्न मृत्तिका का और कोई अपरिणत स्वरूप देखने में नहीं आता । यह अवस्थासमष्टि ही मृत्तिका का स्वरूप है, इसलिए भावपदार्थ का स्वभाव ही परिणाम है, ऐसा कहा जाता है । तात्पर्य यह कि, मृत्तिका में जो भेद है, वह इस मृत्तिका के अवस्थासमष्टिका अतीतत्व, वर्त्तमानत्व या अनागतत्वरूप धर्मप्रयुक्त भेद है, और उसमें जो अभेद है, वह इसके अवस्थासमष्टिका उन सब अतीतत्व, अनागतत्व और वर्त्तमानत्व रूप धर्मों का अननुसन्धानप्रयुक्त अभेद है । अर्थात् अतीत अनागत आदि धर्मों का अनुसन्धान न करते हुए धर्मविरहित भाव से जो अवस्थासमष्टिका ज्ञान होता है, वही मृत्तिका का अभेदज्ञान है, और उन सब धर्मों से युक्त मृत्तिका में जो किसी एक धर्म या अवस्थाविशेषका ज्ञान होता है, वही मृत्तिका में भेदज्ञान है । इसप्रकार परिणामवाद में उपादान कारण के साथ कार्य का भेद-घटित अभेद व्यवस्थापित होता है और यही इस मत में तत्त्व का स्वरूप है ।

विवर्त्तवादी कहते हैं कि, पारमार्थिक अवस्था में किसी प्रकार का अवस्था-भेद सम्भव नहीं । मृत्तिका का स्वरूप यदि अवस्थासमष्टि मात्र हो तथा यदि मृत्तिका अवस्थारहितरूप से कभी न रह सकती हो, तो, 'मृद् घट,' 'मृत् शराव' प्रभृति में जो मृद की अनुवृत्ति है, वह कभी भी सम्भव नहीं होती । अवस्थासमष्टि को ही मृत्स्वरूप कहने मे विषम दोष होता है । कारण, कालसम्बन्ध से व्यतिरिक्त अवस्था कभी भी प्रतीति का विषय नहीं हो सकती, अर्थात् अवस्था मात्र ही, यातो अतीतत्व, या वर्त्तमानत्व, अथवा अनागतस्वरूप धर्म से युक्त होकर हमारे ज्ञान का विषय होती हैं । इसप्रकार के किसी धर्मशून्य अवस्था का होना सर्वथा असम्भव है । अर्थात् परिच्छिन्न वस्तुसमूह का काल-सम्बन्ध से भिन्न रूप से ज्ञान नहीं हो सकता । फलतः अवस्थासमष्टि को

रज्जुसर्प का दृष्टान्त ।

अब रज्जुसर्पदृष्टान्तस्थल विवेचन कर यह प्रतिपादन करते है कि जैसे रज्जु में सर्प अध्यस्त है ऐसे ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत् (अज्ञान और उसका कार्य) अध्यस्त है। रज्जु में सर्प की अपरोक्षप्रतीति (विशिष्टज्ञान) होने पर उसमें (इदंसंबद्ध) सर्प की विद्यमानता को स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् प्रात्यक्षिकप्रतीति विषयनिरपेक्ष नहीं हो सकने से रज्जुसर्प की प्रत्यक्षप्रतीति उपपादन करने के लिये रज्जुसर्प की प्रतिभासकाल में अवस्थिति मानना होगा, किन्तु पश्चात् रज्जु के ज्ञान से सर्पबुद्धि के बाधित

मृत्स्वरूप कहने पर उक्त अतीतत्वादिरूप कोई-न-कोई एक धर्म या कालसम्बन्ध भी उसमें अवश्य ही प्रतीतिगोचर होगा। अतएव अवस्थासमष्टि को उक्त सब धर्मों से अतीत और मृत्स्वरूप नहीं कहा जा सकता। अपिच 'मृत्शराव' 'मृद् घट' प्रभृति व्यवहारकाल में हमलोग मृद् की ही अनुवृत्ति देखते हैं। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि, मृद् वस्तु की जो स्फुर्ति है, वह अवस्थातीत मृद् वस्तु की ही स्फुर्ति है। मृद्-घट में या मृत्शराव में जो मृत्-मात्र का भान होता है उसको शराव और घट से भिन्न होने के कारण अवश्य ही अवस्थाशून्य मृद् का ज्ञान कहना होगा। जबकि कालसम्बन्ध से भिन्न अवस्था का ज्ञान नहीं होता, एवं मृद्-घट के उस मृद्-अंश में कालसम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, तब अवस्थातीत मृद् वस्तु को अवश्य ही स्वीकार करना होगा और इस मृद् वस्तु को ही घटादि के तुलना में नित्य या सद् वस्तु भी कहना होगा। मुतरां, यावत् कार्यपदार्थ का जो कारण है तथा जो सभी वस्तु में 'पट है' 'घट है' इस रूप से अनुवृत्तभाव से प्रतीतिगोचर होता है, वही वास्तव में नित्य है और वही सद्वस्तु या ब्रह्म पदार्थ है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं रह सकता। कारण, उसके आश्रय में रहने वाले जितने भी भेदवान वस्तु हैं, उनकी जब वास्तविक सत्ता ही नहीं है, तब उनमें पारमार्थिक भेद भी नहीं रह सकता। सन् घट, सन् पट इत्यादि स्थलों में घट और पट की जो सत्ता है, वह ब्रह्म की ही सत्ता है, और उसीकी सत्ता घटपटादि में आरोपित होती है. घटपटादि वस्तु वास्तव में सत् हो नहीं सकते। इसलिए विवर्तवादी परिणामवादी के इस भेदाभेद को पारमार्थिक दशा मे अङ्गीकार नहीं करते।

रज्जु में सदसद्विलक्षण (अनिर्वचनीय) सर्प की उत्पत्ति होती है ।

होने पर उसे उस काल में उत्पन्न प्रातिभासिक वस्तु कहना होगा। अतएव रज्जुसर्प को रज्जु की सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) से न्यूनसत्तावान (प्रातिभासिक) कहना होगा। प्रत्येक ज्ञान तबतक विषय का साधक होता है जबतक कि उसके बाधक का उदय नहीं होता; सर्पप्रतीति का व्यवहारकाल में ही बाध हो जाने से उसके व्यावहारिक सत्ता का अपहार होता है तथा प्रतीतिकाल में बाध के न होने से प्रातीतिक सत्ता का अपहार नहीं होता, किन्तु घटादिकोंका व्यावहारिक काल में भी बाध न होने से उनके व्यावहारिक सत्ता का अपहार नहीं होता। उक्त प्रातिभासिक रज्जुसर्प को सत् से विलक्षण, असत् से विलक्षण और सदसत से विलक्षण मानना होगा। यदि वह सत् होता तो बाधित नहीं होता, यदि असत् होता तो प्रतीत नहीं होता, और विरोध के कारण सदसद्रूप नहीं, सुतरां उसे सदसद्-भिन्न मानना होगा। वह सर्प बन्ध्यापुत्रादि असत् पदार्थ से विलक्षण होने से प्रत्यक्षप्रतीति के गोचर होता है, (न कि सत् होने से क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सत् होते हैं किन्तु प्रत्यक्षगोचर नहीं होते) और सत् से विलक्षण होने से उसका मिथ्यात्व-निश्चय होता है (न कि असत् होने से क्योंकि असत् प्रसक्त न होने के कारण उसकी मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती)। रज्जुसर्प को सदसत् भी नहीं कह सकते। इस पक्ष में (सदसत्वाद में) भ्रान्ति और बाध की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। उभयात्मक वस्तु के एकदेश के ग्रहणमात्र को भ्रान्ति कहना अनुचित है; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होने के पश्चात्, जब "यह सर्प नहीं" ऐसा परवर्ती ज्ञान होता है उस समय वह ज्ञान भी भ्रान्त होगा। और भी, यदि एकदेश के ग्रहण को ही भ्रान्ति कहा जाय, तो यह कहना होगा कि उभय देश का ग्रहण होने पर ही उसका बाध होता है। परन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि "यह सर्प है" और "यह सर्प नहीं है" इस प्रकार परस्पर विरुद्ध आकार वाले दो ज्ञान के व्यतिरेक से सङ्कलनात्मक (उभयरूप) तृतीय ज्ञान

जैसे रज्जु में सर्प का तादात्म्य आध्यासिक होता है ऐसे ब्रह्म में जगत् का तादात्म्य अयथार्थ होता है।

की उपलब्धि नहीं होती। अतएव सदसत् का बाध और प्रत्यक्ष असम्भव होने से अथच रज्जुसर्प का बाध और प्रत्यक्ष होने से उसको सदसद्विलक्षण कहना होगा। उक्त रज्जुसर्प सदसद्विलक्षण होने से उसे अनिर्वचनीय" (पारिभाषिक) कहा जाता। उक्त सर्प अपने अधिष्ठान (रज्जु) के साथ आध्यासिक (अवास्तव) तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त होकर रहता है कहना होगा। ऐसे तादात्म्य बिना, अनुभूयमान "इदं" पदार्थ में सर्प का प्रकारत्व (सम्मुख रज्जुदेश का सर्परूप से भान) नहीं होगा। यह सर्प रज्जु का विपरीतरूप होकर उसके अभिन्नरूप से (जैसे "यह सर्प") प्रतीत होता है अतएव वह वहां अध्यस्त है।

प्रकृतस्थल में ब्रह्म में विश्वप्रपञ्च प्रतिभात होता है, प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का तादात्म्य है, किन्तु इस तादात्म्य को यथार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वानुस्यूत सत् का विरुद्धस्वभाव अनेक वस्तुतादात्म्य पारमार्थिक नहीं हो सकता। स्वप्रकाश चेतन में स्वरूपगत भास्य अंश नहीं रह सकता। स्वप्रकाश स्वतःसिद्ध ब्रह्म में जडात्मक किसी धर्म का ही वस्तुतः सम्बन्ध नहीं रह सकताः जडात्मक वस्तु स्वतःसिद्ध नहीं हो सकता। चेतन और अचेतन का वास्तव अभेद सिद्ध नहीं हो सकता अथच सामानाधिकरण्य से ("घटः स्फुरति") उनकी अभेदबुद्धि होती है, सुतरां उनके अभेद रज्जुसर्प के अभेद के समान आध्यासिक तादात्म्य से होता है मानना होगा। सद्रूप ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध से घटादि का अध्यास है और घटादि में सद्रूप ब्रह्म का अध्यास होता है। सद्रूप ब्रह्म जैसे घटादि में आरोपित होता, ऐसे ब्रह्मधर्म सत्त्व भी घटादि में आरोपित होकर "सन् घट" इत्यादिरूप भ्रमात्मक प्रतीति होती है। सुतरां ब्रह्म ही जगत् का अधिष्ठान होता है कहना होगा। जिस प्रकार रज्जुसर्पादिस्थल में अधिष्ठानरूप रज्जु के किञ्चिद्रूप से ज्ञात और किञ्चिद्रूप से अज्ञात होने के कारण सर्प का अध्यास सम्भव होता है, उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप के भी सत्‌चित् रूप से प्रतिभात होकर अखण्ड

अद्वितीयादिरूप से अप्रतिभात (आवृत) होने के कारण उसमें जगत् का अध्यास होता है। अध्यस्त (जगत्) का अधिष्ठान (ब्रह्म) के साथ जो तादात्म्य सम्बन्ध है वह भी आध्यासिक (अवास्तव) है, अतएव सत्चित्-स्वरूप ब्रह्माधिष्ठान में (पारमार्थिक) जगद्रूप व्यावहारिक (न्यूनसत्ताक) प्रपञ्च भी अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) है। जगत्प्रपञ्च के अनिर्वाच्य हुए बिना सम्बन्ध के अनिर्वाच्यत्वका निर्वाह नहीं हो सकता। अधिष्ठान और अध्यस्त में अधिष्ठान स्वरूपतः सत्य होता है तथा अध्यस्त मिथ्या होता है, अध्यस्त यदि मिथ्या न हो तो उक्त अध्यस्त--अधिष्ठानभाव नहीं हो सकता। दो सत्य पदार्थ का ऐक्य असम्भव है, सुतरां एक को कल्पित कहना होगाः एकका कल्पित होने पर ही अधिष्ठान-अतिरिक्त सत्ता के अभाव के कारण ऐक्य हो सकता है। अतएव स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश पारमार्थिक सत्तावान ब्रह्माधिष्ठान की अपेक्षा व्यावहारिक सत्तावान जगत्प्रपञ्च रज्जु-सर्प के समान न्यूनसत्ता वाला (मिथ्या) है।

रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में हमको यह अनुभव होता है कि वहां पर सदसत् से विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय अध्यास (सर्प उत्पन्न) होता है। इस अध्यासरूप कार्य का कोई कारण होना आवश्यक है, अतएव अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उक्त अध्यास या भ्रम का उपादान कारण अज्ञान है। क्योंकि अधिष्ठान के अज्ञान के बिना अध्यस्त पदार्थ का भान नहीं होता (व्यतिरेक), जबतक अज्ञान रहता है तभीतक अध्यस्त पदार्थ भी रहता है (अन्वय)। अज्ञान अध्यस्त के केवल उत्पत्ति का ही प्रयोजक नहीं किन्तु वह उसके स्थिति का भी प्रयोजक है। अतएव जिस प्रकार मृत्तिका घट की उत्पत्ति-स्थिति का प्रयोजक होने के कारण उसका उपादान है, उसीप्रकार अज्ञान भी अध्यस्त पदार्थ का उपादान है। अज्ञान (उपादान) के तिरोधान से अध्यस्त (कार्य) पदार्थ का भी तिरोभाव हो जाता है। प्रकृत-स्थल में सत्स्वरूप ब्रह्माधिष्ठान में जगत्प्रपञ्च अध्यस्त है, सुतरां

जगत् का अधिष्ठान (सत्तास्फुर्त्तिप्रद कारण) ब्रह्म है और परिणामी कारण अज्ञान है।

यह अनुमान होता है कि इस प्रपञ्च का मूलउपादान (परिणामी-कारण) भी मूलाज्ञान ही है। जिस सत्स्वरूप अधिष्ठान (ब्रह्म) की सत्ता से जगत् सत्तावान है उसमें (अवधिभूतमें) परिणाम का होना सम्भव नहीं, अतएव परिणाम रूप जगत् (कार्य) के लिए कोई ऐसा परिणामी कारण होना चाहिए जो अधिष्ठान की अपेक्षा न्यून सत्तावाला हो अर्थात् जिसमें प्रातिभासिक जगत् का कारणत्व उपपन्न हो सके (जो अधिष्ठान में न्यूनसत्ताक प्रतिभासका प्रयोजक हो)। यदि कार्य और उसके भेद का केवल सन्मात्र ही उपादान हो तो अनिर्वचनीयत्व (सद्विलक्षणत्व) नहीं हो सकता, अथवा अनिर्वचनीयत्व के बिना कार्यकारणभाव ही (कल्पित भेद सहित वास्तव अभेद) सम्भव नहीं हो सकता। सुतरां अनिर्वचनीयता की उपपत्ति देने के लिए कार्यप्रपञ्च का कोई अनिर्वचनीय उपादान (माया या अज्ञान) मानना ही होगा। जड़प्रपञ्च का मूल कारण भी जड़ ही होना चाहिए जिससे सर्वत्र जड़त्व की प्रतीति होती है। वह परिणामी (कार्य-समसत्ताक) जड़ कारण अज्ञान है। जिस प्रकार रज्जु अज्ञान से आवृत होकर सर्परूप से प्रतिभात होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अखण्ड अद्वितीय रूप से आवृत होकर द्वैतप्रपञ्च रूप से प्रतिभात होता है। स्वप्रकाशचिद्रूप असङ्ग उदासीन ब्रह्म में भावरूप-अज्ञानावरण माने बिना उसके जगद्-विभ्रम का अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता। उक्त अज्ञान, ब्रह्मसत्ता से सत्तावान होकर उसमें आध्यासिक तादात्म्य से प्रतिभात होने से, मिथ्या है; मिथ्या होने से वह स्वप्रकाश ब्रह्म को पारमार्थिक रूप से उपहित या आवृत नहीं कर सकता, अतएव वह द्वैत-प्रपञ्च की सृष्टि भी अपारमार्थिक रूप से ही करता है। इस अपारमार्थिक अज्ञान की उपस्थिति से मूलतत्त्व (ब्रह्म) विकारी, परिणामी, द्वैत या विशेषणयुक्त (वास्तव) नहीं होता किन्तु वह सदा निर्विकार स्वप्रकाश और अपरिणामी अधिष्ठानरूप होकर रहता है तथा उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर अध्यस्त जगत् भी सत्तावान होता है। एक मात्र स्वप्रकाश ब्रह्म के स्फुरण से

समस्त पदार्थ प्रकाशित और अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार अनिर्वचनीय अज्ञान के द्वारा अपारमार्थिक रूप से उपहित होकर ब्रह्म ही जगत् का एकमात्र उपादान कारण होता है।*

ब्रह्म के स्वप्रकाश होने से तथा ब्रह्म से अज्ञान प्रकाशित होने से तथा कार्यप्रपञ्च अध्यस्त होने से उक्त उपादानकारण से

*आध्यासिक कार्यकारणस्थल में निम्नलिखित प्रकार से अध्यास की उत्पत्ति अथवा प्रतीति होती है:— (१) एक अधिष्ठान रहता है जिसका स्वरूप विकार या परिणाम को प्राप्त नहीं होता; (२) दर्शक की दृष्टि में अधिष्ठान का प्रकृत स्वरूप आवृत रहता है; (३) अधिष्ठान में किसी ऐसे पदार्थ की प्रतीति होती है, जो अधिष्ठान से विलक्षण और भिन्नधर्मयुक्त होता है; (४) उक्त प्रातिभासिक पदार्थ का अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्व से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं होता तथा वह- अधिष्ठान के उपस्थितिकाल में—उसी स्थल में अनुभूत होता है जहा पर अधिष्ठान रहता है; (५) अध्यास या प्रतिभासप्राप्त पदार्थ अधिष्ठान के साथ तादात्म्ययुक्त होता है और अध्यस्त की अवस्थिति में वे दोनों (अधिष्ठान और अध्यस्त) पृथक् नहीं किये जा सकते; (६) जब अधिष्ठान का प्रकृत स्वरूप अनावृत होता है और वह अपने वास्तव स्वरूप से अनुभूत होने लगता है उस समय अध्यस्तरूप से अनुभूत पदार्थ तिरोभूत हो जाता है अथवा यह विदित होता है कि वह पदार्थ वस्तुतः असत् था और यथार्थ कार्यरूप से कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, (७) उक्त अध्यास का (भ्रान्ति-अनुभवका) और यथार्थानुभव का भेद यह है कि, प्रथमोक्त अनुभव शेषोक्त अनुभव से विरोध को प्राप्त होकर बाधित होता है, परन्तु शेषोक्त अनुभव इस प्रकार विरोध और बाध को प्राप्त नहीं होता; (८) कुछ सामग्री या धर्म ऐसे भी हो सकते हैं कि जिनसे आध्यासिक पदार्थ अधिष्ठान के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करे ("यह सर्प है" इस प्रकार रज्जु के इदं-अंश के साथ सर्प प्रतीत होता है), परन्तु अपर सामग्री या धर्म (सर्पत्व) अधिष्ठान में अध्यस्त होते हैं और अध्यास के चले जाने से अधिष्ठान का प्रकृत स्वरूप ज्ञात होने पर मिथ्यारूप से तिरोभूत हो जाते हैं; (९) भ्रम की उत्पत्ति के पहले संप्रयोग के (इन्द्रियसन्निकर्ष के) आधाररूप से, भ्रमकाल में वहां सत्ताप्रदरूप से, बाध के उत्तरकाल में उसकी अवधिरूप से अधिष्ठान रहता है।

उक्त कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी अपर निमित्तकारण की आवश्यकता नहीं, अतएव ब्रह्म ही अपारमार्थिक रूप से अज्ञान के द्वारा उपहित होकर जगत् का एकमात्र कारण (अभिन्ननिमित्तोपादानकारण) होता है। मूलाज्ञान और जगत् का अपारमार्थिक अस्तित्व है, सुतरां इनके साथ सम्बन्ध की दृष्टि से ब्रह्म की भी अपारमार्थिक सत्ता है। जगत्-सम्बन्ध के बिना ब्रह्म को ईश्वररूप नहीं कह सकते अतएव ब्रह्म का ईश्वरत्व भी (जगत्सापेक्ष होने से) जगत् के समान ही आध्यासिक रूप है।

समालोचना

उक्त मत की समालोचना करते समय हमको निम्नलिखित पांच विषयों का विवेचन करना होगा। (१) प्रथम, ब्रह्मस्वरूप के विषय में उक्त कथन विचारसंगत है अथवा नहीं? (२) द्वितीय, वेदान्तीसम्मत कार्यकारण-सम्बन्ध कहांतक समीचीन है, उसके अनुसार ब्रह्म को जगत्-उपादान कह सकते हैं अथवा नहीं? (३) तृतीय, ब्रह्म को जगत्-अध्यास का अधिष्ठान मानना क्या विचारसंगत है? (४) चतुर्थ, क्या यह निर्णय हो सकता है कि अज्ञान ही रज्जुसर्प आदि प्रतिभास (अध्यास) का उपादान कारण है? (५) पञ्चम, क्या अज्ञान द्वारा विश्वप्रपञ्च की उत्पत्ति का उपपादन हो सकता है?

[१]

'घटः सन्' 'पटः सन्' इस प्रकार (अस्ति अस्ति) अनुगत प्रतीति के अनुसार सत् को ब्रह्म रूप से प्रतिपादन नहीं कर सकते। उक्त प्रतीति को प्रत्यक्षरूप कहना होगा, परन्तु प्रत्यक्ष से सर्वव्यापक सत् की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि संस्कारादि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ ऐसे भी हैं कि जिनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतीत और अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से वहां भी सत् का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, कारण धर्मी के ग्रहण बिना

धर्म का (विशेषणरूप से सत् का) ग्रहण नहीं होता*। अद्वैत-वेदान्तीलोग 'घट है' 'पट है' इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अनुगत प्रत्यक्ष प्रतीति के बल पर सत् सत् को सर्वानुगत मानते हैं। परन्तु जबकि अननुगत विषयों से भी (यथा दीपशिखा जलतरङ्गादि) अनुगत प्रत्यय अनुभवसिद्ध है, तब केवल उक्त प्रतीति से अनुगत विषय का निश्चय होना कठिन है। जिस प्रकार दीपशिखा और जलतरंग में प्रत्येक परवर्त्तिक्षण में पदार्थ की पृथक्ता प्रत्यक्षगोचर होती है तथापि विषय का एकरूप से ही भान होता है, उसी प्रकार प्रकृतस्थल में भी यद्यपि भिन्न-भिन्न पदार्थों के प्रत्यक्ष के साथ भिन्नभिन्न सत्ता में भिन्नता का अभाव प्रत्यक्षगोचर होता है तथापि उक्त अभाव से यह प्रमाणित नहीं होता कि 'सत्' एक अद्वितीय तत्त्व है। यदि यह कहो कि दीपशिखा और जलतरंगादि में तो परिमाणादि से भेद प्रतीत होता है किन्तु सत् पदार्थ का भेदक धर्म कोई नहीं है, तो यह संगत नहीं। ऐसा होने पर सत् की प्रत्यक्षप्रतीति भी सम्भव नहीं होगी, क्योंकि भेदरहित एवं धर्मरहित पदार्थ का प्रत्यक्ष प्रतीत होना असम्भव है। यह भी नहीं कह सकते कि भिन्न भिन्न वस्तु में एक ही सत् की प्रत्यभिज्ञा होती है, क्योंकि विशेष विशेष धर्म और भेद युक्त पदार्थ की ही प्रत्यभिज्ञा हो सकती है; धर्मरहित, निरवयव और

*अद्वैतवेदान्तियों ने ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन करते समय नैयायिकसम्मत 'सत्ता' की प्रत्यक्षसिद्धता मानकर अपना विचार प्रकट किया है और अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त यह प्रदर्शन किया है कि, वह सर्वपदार्थ में अनुगत 'सत्' जातिरूप धर्म नहीं किन्तु अद्वैत अधिष्ठान रूप धर्मी है। परन्तु नैयायिकों का अनुकरण करके उक्त प्रकार से सत् को प्रत्यक्षसिद्ध मानना समीचीन नहीं है। नैयायिक-शिरोमणि रघुनाथ ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' नामक ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध जाति है ("धर्मादीनामतीन्द्रियत्वेन तत्र प्रत्यक्षायोगात्")। अतएव अनुगत सत् प्रत्यक्षसिद्ध है ऐसा मानकर विचार में प्रवृत्त होने वाले अद्वैतवादियों का मूलाधार ही शिथिल है।

देशकालातीत पदार्थ की नहीं। यदि विशेष विशेष पदार्थ के प्रत्यक्षकाल में उक्त 'अस्ति' द्रव्यरूप से प्रत्यक्षगोचर होता तो वह सर्वव्यापक तत्त्वरूप से नित्य अनुभवगोचर होता, परन्तु ऐसा नहीं होता प्रत्युत सर्वव्यापक तत्त्व का प्रत्यक्ष हो सकना ही असंभव है।

सत् का अनुगत प्रत्यय मानकर भी यह निश्चय करना कठिन है कि, उक्त प्रत्यय अनुगत-धर्म से या जाति से या धर्मी से नहीं हुआ। और भी, अनुगत प्रतीति के होने से विषय भी अवश्य अनुगत होता है, इसमें भी कोई नियम नहीं है। "घटपटौ" इत्याकारक प्रत्यय में (समूहालम्बनज्ञान में) परस्पर विशेष्यविशेषण-भाव के बिना ही दोनों घट और पट स्वतन्त्ररूप से एकत्र उपलब्ध होते हैं, वहां विषयों के अनेक होने पर भी उक्त प्रत्यय (ज्ञान) एक ही रहता है: अतएव 'अस्ति-अस्ति' इत्याकारक प्रत्यय से यह कैसे निश्चय (अनुमान) कर सकते हैं कि यह एक ही सद्विषयिणी बुद्धि (प्रत्यय) एकही अनुगत पदार्थ को विषय करता है। और भी, जब हमलोग वृक्षसमष्टिरूप वन को अथवा बहुत से विद्यार्थियों के सहित विद्यामन्दिर को देखते हैं उस समय वन वा विद्यामन्दिर के साथ ही साथ विशेष २ वृक्ष अथवा विद्यार्थी को भी प्रत्यक्ष की एक ही क्रिया से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। उस प्रत्यक्ष-क्रिया की एकता से हमारे मन में एकताविषयक समष्टि-धारणा उत्पन्न होती है, परन्तु समष्टि के सम्पादक उक्त विशेष२ पदार्थों के भेद उस समष्टि की एकता में अन्तर्भूत नहीं होता तथा विषयों भी परस्पर अभिन्न ऐसा मान नहीं सकते (विषयों का परस्पर भेद भी बना ही रहता है)। इसी प्रकार यद्यपि यह मान लिया जाय कि विशेष पदार्थ और सत्ता एक ही प्रत्यक्ष की क्रिया से एकत्र प्रत्यक्षगोचर होते हैं तथापि हमको यह कदापि नहीं ज्ञात होता कि एक अपर से अभिन्न है, हमको केवल यही ज्ञात होता है कि उनमें जो एकता है वह समष्टिरूप से या एकत्रितरूप से है। और भी, यदि सत् वास्तव में अखण्ड और

सत्स्वरूप विषय में नाना मत हैं इसलिए केवल लाघव के बल से उसे अद्वैतस्वरूप मान लेना समीचीन नहीं ।

अद्वितीय हो तो अंशरहित धर्मरहित सत् का प्रत्यक्ष, अखण्ड-अद्वितीयता के प्रत्यक्ष से विच्युत नहीं कर सकते अर्थात् उसका प्रत्यक्ष भी अंशराहित्य और धर्मराहित्य पूर्वक ही होगा, फलतः प्रत्येक अंशवान पदार्थ के साथ सत् प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकेगा अथवा ऐसा होगा कि प्रत्येक पदार्थ अखण्ड और अद्वितीय रूप से प्रत्यक्षगोचर होंगे अर्थात् सत्तारहित केवल विशेष २ पदार्थ ही प्रत्यक्षगोचर होंगे अथवा केवलमात्र एक अखण्ड अद्वितीय सत्ता का प्रत्यक्ष होगा तथा किसी विशेष पदार्थ प्रत्यक्षगोचर नहीं होगा।

अब लाघव के विषय में वक्तव्य यह है कि, जबकि सत् के स्वरूप विषय में नाना प्रकार के सिद्धान्त हैं तब केवल लाघव के बल पर उक्त विलक्षण सिद्धान्त को मानने से विचारवानों को सन्तोष नहीं होता प्रत्युत विस्मय उत्पन्न होता है ।*

*न्यायवैशेषिक मत में सत्त्व (भिन्न भिन्न वस्तु स्वरूप नहीं किन्तु) विभिन्न वस्तु में अनुगत जातिरूप धर्म है । उत्पत्तिके पूर्व उपादानकारण मे (समवायी में) कार्य-द्रव्य और गुण-क्रिया नहीं रहते एवं नाश के पश्चात् भी वे उक्त आश्रय मे नहीं रहते, केवल मध्य में वे सद् रूप मे प्रतीत होते हैं । अतएव वस्तु का स्वरूपभूत न होने से अथच उत्पत्ति के पश्चात् और नाश के पूर्व, द्रव्यादि कार्य-पद सद् रूप मे प्रतीत होने के कारण, यह मानना होगा कि 'सत्' वस्तु का धर्म है । कार्य, उत्पत्ति के पूर्व में असत् होने पर भी पश्चात् सत् है; सत्त्व और असत्त्व ये दोनों ही कार्य का धर्म हैं । उनमें से कार्य की उत्पत्ति के पूर्वकाल में उसमें असत्त्व धर्म रहता है और उत्पत्तिकाल से कार्य का स्थितिकाल तक उसमें सत्त्वधर्म रहता है । अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्यादि पदार्थों के सत् से अपृथक्भूत होकर प्रतिभात होने से यह मानना होगा कि दो पृथक् सम्बन्धी (कार्य और उपादान कारण, द्रव्य और गुण, द्रव्य और क्रिया, व्यक्ति और जाति आदि) अपने से पृथक् समवाय सम्बन्ध से नित्य सद् रूप धर्म के साथ सम्बद्ध होते हैं । यह सम्बन्ध आधाराधेय-भाव का नियामक है, सुतरां वह आधार रूप उपादानकारण और आधेयरूप घटादि कार्य के सत्ता की अपेक्षा करने से कार्य की उत्पत्ति के पूर्व में

वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। सुतरां 'सत्' एक नित्य जाति रूप धर्म है जिसके साथ समवाय से (सम्बन्धि-भिन्न नित्य सम्बन्ध) सम्बद्ध होकर द्रव्यादि पदार्थ 'सत्' रूप से प्रतीत होते हैं। (इस मत में विशेष विशेष व्यक्ति और सामान्य रूप व्यापक जाति, परस्पर सर्वथा भिन्न हैं)। सांख्य और पातञ्जलादि मत में उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारण में अनभिव्यक्त रहता है, पश्चात् उत्पन्न (अभिव्यक्त) होकर कारणसत्ता से सत्तावान होता है और नाश के पश्चात् भी पुनः कारण में अनभिव्यक्त होकर अवस्थान करता है। अतएव इस मत में कार्य के मूलतः कारणात्मक होने से सम्पूर्ण कार्यवर्गका मूल-उपादान एक अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) माना जाता है, जो सूक्ष्म और स्थूल जगद्रूप से परिणाम को प्राप्त होती रहती है अथवा क्रियात्मक जड़रूप से प्रकाश को प्राप्त होती है। उक्त अचेतन मूलउपादान के साथ समस्त कार्यपदार्थों का तादात्म्य होने के कारण, सभी पदार्थ 'सत्' रूप से प्रतीत होते हैं। (इस मत में सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं; सामान्य अर्थात् मूलउपादान)। ब्रह्मपरिणामवादी भास्कर, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ आदि के मत में जगत् का अद्वितीय परिणामी कारण (चेतन) 'सत्' है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के मत में ब्रह्म सत्यस्वरूप अपरिणामी सविशेष है, वह "घटः सन्" इत्यादि लौकिक प्रत्यक्ष से वेद्य नहीं हो सकता। बौद्धमत के अनुसार 'सत्' अर्थक्रियाकारी (कार्यजनक) है। असत् बन्ध्यापुत्रादि में अर्थक्रिया के दिखाई न पड़ने से तथा विचार द्वारा इस सिद्धान्त के निरूपित होने से कि स्थिर पदार्थ में युगपत् या क्रमिक क्रिया नहीं हो सकती—बौद्धलोग इस निर्णय में पहुंचे हैं कि 'सत्' भिन्न भिन्न क्षणिक वस्तु स्वरूप है। शून्यवादी बौद्धमत में कोई अबाधित सद्वस्तु (भ्रमका मूल अधिष्ठान कोई नित्यपदार्थ) न रहकर सम्वृतिरूप (काल्पनिक) सत्प्रतीति होती (बौद्धमत में केवल विशेष विशेष पदार्थ हैं, सामान्य कोई पदार्थ नहीं। इसके मत में अनुगत विषय की अपेक्षा के बिना ही अनुगत प्रतीति स्वीकृत होती है। अतएव इस मत में सत्सामान्य रूप पराजाति या सत्सामान्य रूप जगदुपादान अचेतनप्रकृति या सत्सामान्यरूप सविशेष अद्वैतचेतन या सत्सामान्य रूप निर्विशेष चेतन आदि सब अलीक है)। जैनलोग साक्षात् अनुभव के अनुसार पदार्थ को स्थिर मानकर उसे परिणामी मानते हैं। इनके मतानुसार परिणाम का लक्षण इसप्रकार है कि, वस्तु (द्रव्य) किसी अवस्था से कथंचित् उत्पन्न होता है तथा

लाघवतर्क से यदि अनुमिति के विषय की लघुता सिद्ध होती हो, तो अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त ही अप्रतिष्ठित हो जायगा। वे लोग रज्जुसर्पादि भ्रान्ति स्थल में सदसद्विलक्षण

किसी अवस्था से कथञ्चित नाश को प्राप्त होता है और किसी अवस्था से अनुगत रहता है। सुतरां इस मत 'सत्' भिन्न भिन्न स्थिर वस्तु स्वरूप है ('उत्पादव्ययध्रौव्ययोगित्व')। दृष्टान्तस्वरूप, घटमृत्तिका स्थल में घटरूप से उत्पत्ति, मृत्तिका–पिण्डरूप से व्यय और मृत्तिका रूप से ध्रौव्य है। ये तीन अवस्थायें एक ही काल में संघटित होते हैं परन्तु एकही आकार के नहीं होते। यदि उत्पत्ति और व्यय का विभिन्नकाल माना जावे, तो वस्तु नाश को प्राप्त होगा। परन्तु वस्तु अपने वस्तुत्व का त्याग नही करता, अतएव वह नित्य है और सदा अपनी अवस्था को परिवर्त्तित करता रहता है, फलतः अनित्य भी है। अर्थात् द्रव्यरूप से सब वस्तु की स्थिति ही है, परन्तु पर्याय (क्रमभावी अवस्था) रूप से सब वस्तु उत्पन्न वा विनाश प्राप्त होते हैं। अतएव जो ही कुछ रूप से नष्ट वही कुछ रूप से उत्पन्न और कुछ रूप से स्थित है, इसी प्रकार जो नष्ट होता वही उत्पन्न होता और स्थिर रहता है, जोही नष्ट होगा वही उत्पन्न होगा और स्थित रहेगा इत्यादि सब उपपन्न होता। अतएव सत् होने के कारण सब वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है; जो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक नही होता वह सत् भी नहीं होता जैसे शशशृङ्ग। भट्टमीमांसक के मत मे 'सत्त्व' कालसम्बन्धित्व है तथा प्रभाकर (मीमांसक) के मत में 'सत्त्व' ज्ञानसम्बन्धित्व है। रघुनाथ शिरोमणि के मत में सत्ता वर्त्तमानत्व है। अपर कितने विद्वानों के मत मे 'सत्' अर्थ से केवल धात्वर्थमात्र ('है' क्रिया का अर्थ) जाना जाता है। जो जब ज्ञायमान होता है उसमें अस्तीति शब्दार्थ का हमलोग योग करते हैं, इसीसे अस्तिका व्यभिचार नहीं है। वस्तुतः सर्व भावपदार्थ मे योग हो सके ऐसे सामान्यरूप अस् धातु का अर्थ बोध ही सद्‌बुद्धि है। सत् शब्द को प्रत्यय विशेष के द्वारा भाषा में विशेष्य किया जा सकता है, इसलिए वह वास्तव विशेष्य नहीं। "सत्ता है" (रहना है) ऐसा वाक्य, "राहु का शिर" इस प्रकार वाक्य के न्याय वास्तव अर्थशून्य विकल्पमात्र या शब्दज्ञानानुपाती ज्ञान मात्र है। प्रकृत पक्ष में सत्ता एक शब्दमय (abstract) चिन्तन है।

सर्पादि की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु इस पक्ष की अपेक्षा सदसदात्मक सर्पादि के मानने में लाघव है। परन्तु इस लाघवपक्ष को अद्वैतवादीलोग नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त दृष्टान्त के अनुसार जगत् की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित नहीं हो सकती। इसी प्रकार अद्वैतवेदान्तीलोग मन (अन्तःकरण) को परिणामी मानकर उसके प्रकाशक आत्मा को अपरिणामी (साक्षी) मानते हैं तथा मन और आत्मा में अनिर्वचनीय सम्बन्ध मानते हैं। परन्तु मन को किसी रूप से ज्ञाता मानकर उसके परिणाम के साथ उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध मानने में ही लाघव है, जिसके फलस्वरूप साक्षी आत्मा ही असिद्ध हो जायगा और वेदान्तियों का सिद्धान्त भङ्ग होगा। और भी, वेदान्तीलोग अज्ञान को जगत् का परिणामी कारण मानते हैं। उसका परिणाम अविकृत होकर होता है या विकृत होकर? विकृति भी आंशिक होती है या सर्वांश में? इत्यादि अपरिहार्य प्रश्नों के होने पर परिणाम का निर्वचन नहीं हो सकेगा; अज्ञान के साथ अधिष्ठान रूप निधर्मक ब्रह्म का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। परन्तु अज्ञान के स्थान पर परिणामी चेतन को मानकर उसके अचिन्त्य शक्ति को मान लेने में ही लाघव है (उक्त ब्रह्म अपनी अचिन्त्य शक्ति से परिणामी होकर भी अपरिणामी रहता है।) इससे अद्वैतवादियों का निधर्मक ब्रह्म ही असिद्ध हो जायगा। अतएव लाघव से 'सत्' स्वरूप तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

जिस प्रकार अनुगत 'सत् सत्' की प्रतीति से 'सत्' की अखण्ड अद्वितीयता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार 'स्फुरति-स्फुरति' (भाति) प्रत्यय से भी अद्वितीयचेतन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्वोक्त सत् की विवेचना के अवसर पर प्रयुक्त युक्तियों के द्वारा यह पक्ष भी अवश्य खण्डित होगा।

अब स्वप्रकाशत्व के विषय में संक्षेपतः आलोचना करते हैं। स्वतःप्रकाश स्फुरण रूप किसी तत्त्व-विशेष का अस्तित्व तभी सिद्ध

हो सकता है जबकि उसको उस स्वरूप से जानने का कोई उपाय हो। परन्तु अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार यदि स्फुरण को जानने का कोई प्रमाण हो तो वह (स्फुरण) प्रमेय अर्थात् ज्ञान का विषय हो जाता है, जिससे वह परप्रकाश्य होगा, स्वप्रकाश नहीं; और यदि पक्षान्तर में उसके जानने का कोई प्रमाण न हो तो उसका स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव यह सिद्ध हुआ कि स्वप्रकाश स्फुरण सामान्यतः ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

अब यह प्रदर्शन करते हैं कि वह विशेष विशेष ज्ञान से भी प्रमाणित नहीं हो सकता। ज्ञान का स्वप्रकाशत्व प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष उसी का होता है जो इन्द्रियगोचर हो, किन्तु ज्ञान के ऐसा न होने के कारण, प्रत्यक्ष के द्वारा उसके स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। अनुमान से भी प्रमाणित नहीं हो सकता। अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति-ज्ञान से अनुमान उत्पन्न होता है। अन्वय-व्याप्ति में (जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि भी अवश्य होता है) साध्य और हेतु एक ही स्थल में नियमित रूप से रहते हैं, तथा व्यतिरेक-व्याप्ति में (जहां अग्नि का अभाव होता है वहां धूम का भी अभाव होता है) साध्य के अभाव से हेतु का भी अभाव होता है। इस व्याप्ति का ज्ञान पूर्व काल में प्रत्यक्ष के द्वारा उत्पन्न होता है पश्चात् साध्य के (अग्नि के) अगोचर होने पर भी हेतु (धूम) मात्र के दर्शन से पूर्व प्रत्यक्षीकृत व्याप्ति-ज्ञान के आधार पर अनुमान उत्पन्न होता है। अतएव अनुमान के लिए प्रथम व्याप्ति-ज्ञान का होना आवश्यक है, जो प्रकृतस्थल में असम्भव है। कारण, वेदान्त-मत में अद्वितीय चेतन के अतिरिक्त अपर कोई पदार्थ स्वतःप्रकाश नहीं है, अतएव व्याप्ति की प्राप्ति दुर्लभ है। विषय और विषयी की एकता को प्रदर्शित करने वाला कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता (दीप-शिखा आदि विषय है न कि विषयी) जिस (अन्वयी-व्याप्ति) के आधार पर अनुमान हो सके।

व्यतिरेक–व्याप्ति के ज्ञान से स्फुरण (ज्ञान) का स्वप्रकाशत्व अनुमित नहीं हो सकता।

व्यतिरेक–व्याप्ति के लिये साध्य का अभाव होना चाहिए, जोकि अद्वैत चेतन के त्रिकालाबाधित सत्यरूप होने के कारण, असम्भव है। व्यतिरेक–व्याप्ति के आधार पर तब अनुमान हो सकता था जबकि विषय और विषयीपन (ज्ञाता और ज्ञेय) से रहित किसी एक वस्तु का दृष्टान्त प्राप्त हो अर्थात् जहां स्वतः प्रकाशता के अभाव से एक ही वस्तु के विषयविषयिपने का अभाव हो। परन्तु अन्वयी दृष्टान्त की प्राप्ति न होने पर व्यतिरेकी दृष्टान्त की आशा निरर्थक है। अर्थात् यदि प्रथम हमलोग उनकी अन्वयव्याप्ति नहीं देखते तब किसी का अभाव अपर किसी के अभाव के साथ है ऐसा दर्शन निरर्थक और असिद्ध होगा। अन्वयव्याप्ति के दर्शन से जो सिद्धान्त स्थापित होता है, केवल उसको दृढ़ करने के लिए व्यतिरेक–व्याप्ति का आश्रय लिया जाता है। अन्वयी दृष्टान्त के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त सर्वत्र सन्देहपरिशून्य नहीं होता, अतएव उसको निःसन्दिग्ध भाव से सिद्ध करने के लिए अन्वय के साथ साथ व्यतिरेकी दृष्टान्त भी प्रदर्शित होता है। अन्वय–व्याप्ति के ज्ञान का अभाव होने पर व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान सार्थक नहीं हो सकता। प्रकृतस्थल में एक ही स्वप्रकाश पदार्थ का प्रकाश्य और प्रकाशकत्व का दृष्टान्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, जिससे हमको अन्वयी–व्याप्ति का ज्ञान हो। अतएव तथा–कथित अनुमान का साधक व्यतिरेक–व्याप्ति–विषयक प्रश्न ही यहांपर उत्पन्न नहीं हो सकता।

स्वप्रकाशत्व की सिद्धि के लिये अद्वैतवेदान्तीलोग अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग करते हैं। उनका कथन यह है कि कोई स्वप्रकाश चेतन का अस्तित्व माने बिना अस्वप्रकाश मानसिक तथा भौतिक विषयों के प्रकाश उपपन्न नहीं होता। परन्तु यहांपर यह उल्लेखनीय है कि अन्य दार्शनिक विद्वानों ने भी जन्यज्ञान और विषयों को प्रकाशित करने के लिए तदनुकूल उपपत्ति देने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन लोगों ने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी निर्विकार स्वप्रकाश अद्वैत चेतन की कल्पना का

आश्रय ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं समझा। अतएव उक्त अर्थापत्ति का प्रयोग प्रकृतस्थल में तब समीचीन होता जब कि एकमात्र वादी के सिद्धान्त से ही विषय-सिद्धि हो सकती, किन्तु जब केवल विषय-सिद्धि के निमित्त परस्पर-विरोधी अनेक सिद्धान्त हैं, तब यह निश्चय करना कठिन है कि, विषय को प्रकाशित करने के निमित्त केवल यही (अद्वैतवेदान्तियों का) एक सिद्धान्त है जिससे उक्त घटना सम्पूर्णरूप से उपपन्न होती है।*

*न्यायवैशेषिकमत में, जीवात्मा में किसी विशिष्टज्ञान के उत्पन्न होने पर उसके मनके द्वारा ही वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस मानस-प्रत्यक्ष का नाम अनुव्यवसाय है। (यथा घटज्ञान होने के पश्चात् हमलोग समझते हैं कि "मैं घटज्ञानवान हूं": घटज्ञान का नाम व्यवसाय है और "मै घटज्ञानवान हूं" इस ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय है)। कुमारिल भट्ट के मत मे ज्ञानसहित विषय का प्रत्यक्ष अपर ज्ञान (अनुव्यवसाय) के द्वारा नहीं होता तथा ज्ञान स्वप्रकाश भी नहीं हैं, किन्तु अतीन्द्रिय है: ज्ञानजन्य ज्ञेयविषय मे जो "ज्ञातता" नामक धर्म उत्पन्न होता है, उसी का प्रत्यक्ष होता है तथा उसी के द्वारा पश्चात् अतीन्द्रिय ज्ञान का अनुमान होता है। बौद्धमत मे ज्ञान अस्वप्रकाश या अपर द्वारा ज्ञेय नहीं है, किन्तु स्वप्रकाश अर्थात् स्वयं विषयी और स्वयं ही विषय है: ज्ञान निराश्रय, क्षणिक और आदिमान है। प्रभाकर मत में ज्ञान स्वप्रकाश, अपना और पर का प्रकाशक, आत्माश्रित और जन्मादिमान है। जैनमत में ज्ञान स्वप्रकाश है, परन्तु जन्मादिमान नही है: वह सधर्मक है अर्थात उसमें वेद्यधर्म (जीव का निरन्तर उर्द्धगमनादि धर्म) है। साङ्ख्यपातञ्जलमत में ज्ञान वेद्यधर्म-रहित स्वप्रकाश हैं, किन्तु वह परिच्छिन्न (पुरुष बहु) हैं। रामानुज के मत में विषय के प्रकाशकाल में अनुभूति स्वयंप्रकाश है तथा दूसरे के अनुभव अनुमेय (परतःप्रकाश) है।

दार्शनिको मे ज्ञानप्रकाश के सम्बन्ध में दो प्रकार का मत पाया जाता है। ज्ञान के द्वारा विषय अवश्य प्रकाशित होता है इसमें किसी का भी मतभेद नहीं। किन्तु, जो ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है वह किसके द्वारा प्रकाशित होता है इसी विषय को लेकर आपस में मतभेद है। सांख्य और वेदान्तमत

में, जो ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है वह अपने प्रकाश के लिए अपर ज्ञान की सहायता नहीं लेता; विषय-प्रकाशक ज्ञान अपने आप प्रकाशित रहता है । इसी का नाम स्वप्रकाशवाद है । किन्तु न्याय और भट्टमतमें ज्ञान अपने अपने को प्रकाशित नहीं करता, केवल विषय को प्रकाशित करता है, अपने को प्रकाशित करने की शक्ति उसमें नहीं है। अर्थात् वह अपने से पृथक् एक और ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है । इस अपर ज्ञान को नैयायिकमत में अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं और भट्टमत मे वह ज्ञाततालिङ्गक अनुमान है । ये दानों ही ज्ञान के परत.प्रकाशवादी है । अब ज्ञान के सम्बन्ध में जैसे स्वतःप्रकाश और परत प्रकाश नामक दो मत हैं, ऐसे ही ज्ञान के प्रामाण्य विषय में भी दो मत हैं, और उनको स्वतःप्रामाण्यवाद और परत.प्रामाण्यवाद कहते हैं । इनमें से नैयायिक परत.प्रामाण्यवादी और भट्टलोग स्वत.प्रामाण्यवादी हैं । वेदान्त, साख्य और प्रभाकर इन तीनों मत में ज्ञान को स्वतःप्रकाश और स्वतःप्रमाण्य रूप मे अङ्गीकार किया जाता है । भट्टमत में ज्ञान की सिद्धि के लिये जो ज्ञाततालिङ्गक अनुमान किया जाता है वह अनुमान ही ज्ञान को प्रकाशित करने के साथ ही साथ ज्ञानगत प्रामाण्य को भी प्रकाशित करता है । अर्थात् उस ज्ञान के ग्राहक अनुमान के द्वारा ही उस ज्ञान का प्रमात्व निश्चय होता । नैयायिकों का अनुव्यवसाय हमारे घटादिविषयक ज्ञानमात्र को ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञानगत प्रामाण्य को प्रकाशित नहीं करता । इसीसे उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिए पृथक् एक अनुमान करना पडता है । वह अनुमान इस प्रकार है यथा-जिस हेतु से हमारा यह घट-ज्ञान दोषरहित कारण से उत्पन्न है, उसी हेतु से यह प्रामाण्ययुक्त भी है, इत्यादि । (मीमांसक मुरारिमिश्र के मत में प्रमाज्ञान का मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय ही उत्पन्न होता है; किन्तु उसमें उस ज्ञान का प्रमात्व भी विषय होने से उसके द्वारा ही उसका प्रमात्व निश्चय होता) । वेदान्त और सांख्य मत में ज्ञान का स्वभाव यह है कि, वह विषय, अपना स्वरूप, ज्ञाता (ज्ञान के आश्रय) और अपना प्रामाण्य इन चारो को ही प्रकाशित करता है । (ऐसा ही प्रभाकर मत में; इस मत में ज्ञान स्वप्रकाश है, सुतरां प्रमाज्ञान ही उसके प्रमात्व का भी प्रकाशक होता है) । इसी को स्वतःप्रकाश और स्वतःप्रामाण्यवाद कहते हैं ।

यहां पर ज्ञान का प्रकाशत्व, प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में

अर्थापत्ति-प्रमाण के प्रयोगस्थल का वर्णन।

और भी, जब ही हमलोग अर्थापत्ति को कहीं प्रमाण मानता हूं वहां उपपत्ति देने के लिए जिसका अस्तित्व सयुक्तिक कल्पना किया जाता वह स्वतन्त्र हेतु से प्रमाणित होना या करना पडता तथा जिसकी उपपत्ति दी जाती और जिससे वह उपपादित होना एसा माना जाता इन दोनों के व्याप्तिरूप सम्बन्ध भी अपर किसी प्रमाण से जानना होगा या सिद्ध करना पडेगा। दिवस में भोजन न करनेवाले व्यक्ति की स्थूलता देखकर रात्रि-भोजन की कल्पना तब ही यथार्थ मान सकने जब अपर प्रमाण से एसा जाने कि भोजन करने से मनुष्य स्थूल होता है। यहां पर भोजन के करने से स्थूलता और न करने से कृशता, यह व्याप्ति-ज्ञान पूर्व में ही प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। अतएव दिन में भोजन न करनेवाले देवदत्त की स्थूलता को देखकर, पूर्व प्रत्यक्षीकृत व्याप्तिज्ञान के आधार पर हमको यह निश्चय करने के लिए विवश होना पडता है कि, देवदत्त रात्रि में अवश्य भोजन करता होगा, नहीं तो एतादृश स्थूलता अनुपपन्न है। इस दृष्टान्त में अर्थापत्ति के द्वारा देवदत्त का रात्रि-भोजन भी तभी प्रमाणित हो सकता है जब कि तादृश स्थूलता के लिए भोजन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हमको पूर्व में प्रत्यक्ष न हो, किन्तु यदि यौगिक उपाय विशेष के अवलम्बन से अथवा औषधि विशेष के पान करने से भी भोजन के बिना ही तादृश स्थूलता का दर्शन हमको पूर्व में प्रत्यक्ष हो चुका हो, तो उक्त अर्थापत्ति से भी यह प्रमाणित नहीं हो सकेगा कि, देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। अतएव

कुछ दर्शनाचार्यों के मतभेद प्रदर्शित करते है:—

नैयायिक......	परतःप्रकाशवादी......	परतःप्रामाण्यवादी......	परतःअप्रामाण्यवादी
भट्ट मीमांसक	,,	स्वतःप्रामाण्यवादी	,,
प्राभाकर और मुरारिमिश्र	स्वतःप्रकाशवादी	,,	,,
वेदान्ती और सांख्य	,,	,,	,,
बौद्ध	,,	परतःप्रामाण्यवादी	स्वतःअप्रामाण्यवादी

स्वप्रकाशचेतन का अस्तित्व अर्थापत्ति के बल से प्रमाणित नहीं कर सकते। सत् और चेतन की अभिन्नता विचारसिद्ध नहीं।

प्रकृतस्थल में जब कि अपर अनेक उपायों से भी विषय प्रकाशित हो सकते हैं, तब उक्त अर्थापत्ति के द्वारा हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि किसी स्वतःप्रकाश चेतन का अस्तित्व है। इस प्रमङ्ग को प्रमाणित करने के लिए अर्थापत्ति का प्रयोग करने के पूर्व, स्वतःप्रकाश चेतन का अस्तित्व तथा उसके साथ ज्ञान का सम्बन्ध किसी स्वतन्त्र प्रमाण से प्रमाणित किया जाना आवश्यक है। परन्तु वादी के पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं पाया जाता, अतः स्वप्रकाशचेतन का अस्तित्व अर्थापत्ति के बल से प्रमाणित नहीं कर सकते। (अतएव ज्ञान का स्वप्रकाशत्व के बल पर जो उसे अद्वैत कहा गया सो भी संगत नहीं।)*

अब अद्वैतवादियों का कार्य-कारण विषयक सिद्धान्त तथा ब्रह्म जगदुपादान है इस विषय की आलोचना करते हैं।

[२]

वेदान्तियोंने कार्यकारणके भेदाभेदस्थलमें भेदको प्रातिभासिक (न्यूनसत्ताक) और अभेद को व्यावहारिक (अधिकसत्ताक) माना है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि, इसमें क्या हेतु है? वे

*वेदान्तियो का यह सिद्धान्त कि—एक ही तत्त्व सत् और चेतन इन दो नामों से कथित एवं विवेचित होता है—समीचीन नहीं है। 'सत्' शब्द अस्तित्व का ज्ञापक है तथा 'चेतन' का अभिप्राय ज्ञाता होता है। सत् द्रव्य है, और चेतन विषयी है। अस्तित्व और ज्ञातृत्व को अर्थात् विषय और विषयी को एक ही वस्तुस्वरूप नहीं मान सकते। जो 'है' (सत्) वह स्वयं यह बोधित नहीं कर सकता कि वह 'ज्ञाता' (चेतन) भी है। किसी पदार्थ के 'है' कहने से यह नहीं ज्ञात हो सकता कि वह 'जानता' भी है। 'सत्' इस प्रत्यय का विवेचन करने पर यह निर्णय नहीं कर सकते कि, वह स्वप्रकाश रूप या ज्ञानरूप है। 'सत्' और 'चेतन' दोनों अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक, अद्वैत, निष्क्रिय, और निर्धर्मक भले ही हों, परन्तु इससे यह बोधित नहीं हो सकता कि वे अभिन्न हैं।

किस प्रमाण के बल पर एक सत्ता को दूसरे की अपेक्षा न्यून बताते हैं। इसके उत्तर में यह कहना होगा कि, इसमें अपना अनुभव (मानसिक) ही हेतु है। हमको कभी कभी किसी ऐसी घटना का अनुभव होता है जिसकी पश्चात् सूक्ष्म रूप से परीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि, उक्त घटना का यथार्थ स्वरूप वैसा नहीं था जैसा कि हमने अनुभवकाल में प्रत्यक्ष करके उसके सम्बन्ध में वैसी धारणा बना ली थी। सुतरां घटना के सम्बन्ध में जो हमारा वर्त्तमान ज्ञान है वह अतीत ज्ञान को बाधित करता है। अनुभव-काल में वस्तु का भ्रान्त स्वरूप भी सत्यरूप से प्रतीत होता है, किन्तु पश्चात् यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित होने पर वही अतीत सत्य ज्ञान (भ्रान्ति), असत्य हो जाता है। किसी अतीत घटना का हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उस काल में वह सत्यरूप से ज्ञात हुआ था: अतएव उसे सर्वथा असत् नहीं कह सकते तथा अब उसके यथार्थ अनुभव के द्वारा बाधित होने पर, वस्तुतः सत्य भी नहीं मान सकते। सुतरां इस प्रकार के बाधित अनुभव के विषय को प्रातिभासिक सत् कहा जाता है जो न्यून सत्तावाला होता है। दृष्टान्त के लिए एक ही विषय में सर्प और रज्जु का अनुभव पर्याप्त है। कभी कभी किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष, हमारे यथार्थानुमिति से बाधित होता है। हम इसे भली प्रकार समझते हैं कि हमारी इन्द्रियों की प्रत्यक्ष-शक्ति स्वाभाविक ही अपूर्ण है, अतएव प्रत्यक्ष रूप से प्रतीयमान इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ऐसा नहीं है, किन्तु उस प्रकार का है जैसा कि हम यथार्थ अनुमान से निश्चय करते हैं। ऐसा होने पर भी हम उस बाधित प्रत्यक्ष-स्वरूप का त्याग नहीं कर सकते, तथा यथार्थ अनुमित-स्वरूप की अपेक्षा उसको (बाधित प्रत्यक्ष को) प्रातिभासिक या न्यूनसत्ताक कहने के लिये विवश होते हैं। दृष्टान्त के लिये, हम सूर्य और चन्द्रमा को जिस स्वरूप से (क्षुद्र परिमाण तथा उदय और अस्तयुक्त) प्रत्यक्ष ग्रहण करते हैं उसको उसका (सूर्य का) प्रकृत

स्वरूप नहीं समझते, किन्तु यथार्थानुमान से गृहीत जो स्वरूप है (अतिविशाल तथा आपेक्षिक स्थिरता वाला) उसको ही यथार्थ स्वरूप समझते हैं । अधिक दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं, जब एक पदार्थ या एक जातीय पदार्थ के विषय में हमारा पूर्व ज्ञान अधिक बलवान प्रमाणमूलक अपर ज्ञान के द्वारा बाधित होता है, तभी हम सत्य-असत्य अथवा अधिक सत्ता और न्यून सत्ता के विभाग करने में प्रवृत्त होते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि जब हमको विषय रूप से प्रतिभात एक ही पदार्थ में दो प्रकार का अनुभव या ज्ञान होता है, तभी हमारे मन में विभिन्न सत्ता (अधिक या न्यून) की धारणा उत्पन्न होती है । सारांश यह कि अधिकसत्ताक का अर्थ यथार्थानुभव या ज्ञान का विषय और न्यूनसत्ताक का अर्थ बाधित अनुभव या ज्ञान का विषय है ।

उपर्युक्त विवेचन केवल लौकिक सत्ता विषयक है, किन्तु एक और पारमार्थिक सत्ता भी है जो सबकी अपेक्षा अधिकसत्ताक है: लौकिक अनुभवराज्य में बलवत्तम प्रमाणों से सिद्ध होने वाला सब सत्ता भी जिसकी अपेक्षा से न्यून-सत्ताक अथवा प्रातिभासिक सत्ता मात्र माना जाता है । इस पारमार्थिक सत्ता और लौकिक सत्ता के विभाग का आधार भी वही (उपर्युक्त) है । इस सत्ता का विभाग करते समय वेदान्तीलोग अपनी साम्प्रदायिक धारणा के अनुसार किसी ऐसे अलौकिक अनुभव को मानते (प्रमाण रूप से) हैं, जिसको कोई असाधारण पुरुष ही प्राप्त हो सकता है । उस अलौकिक अनुभव से समस्त विभक्त प्रपञ्च बाधित होकर केवल प्रातिभासिकसत्ता मात्र रह जाती है और एक अद्वितीय अखण्ड नित्य सत् चित् स्वरूप ही केवल सत्यरूप से अनुभूत होता है। सत्ताभेद का मूल यहां पर भी अनुभव (मानसिक) ही है । इस प्रकार जो अलौकिक अनुभव से ज्ञात होता है उसे सर्वाधिक सत्तावान मानते हैं (क्योंकि वह अपर किसी अनुभव से बाधित नहीं होता ऐसा उनके मत में माना जाता है) तथा लौकिक अनुभव के जगत् को न्यूनसत्ताक अथवा

सापेक्ष असत्य कहते हैं (क्योंकि उनके मत में यह अनुभव उक्त अलौकिक अनुभव से बाधित होता है)।

उपरोक्त विचार से यह प्रतिपन्न होता है कि अधिक सत्ता और न्यून सत्ता का विभाग, वस्तुतः एक ही विषय में दो धारणा या दो ज्ञान का फल-भेद है, उनमें से एक दूसरे के द्वारा बाधित होता है। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि, एक पदार्थ स्वतः ही अपर पदार्थ से अधिक सत्तावान है। यह भी नहीं मान सकते कि, किसी पदार्थ का या यथार्थानुभव के किसी विषय का वस्तुतः स्वरूप बनने के लिए उक्त दोनों सत्ताओं का एकत्र रहना आवश्यक है।

अब प्रकृत कार्य-कारण स्थल पर विचार करते हैं। उक्त वेदान्तीलोग यह मानते हैं कि, कार्य और उपादान कारण का अभेद अधिकसत्ताक है और भेद न्यूनसत्ताक है। उपरोक्त विवेचना के अनुसार इसका अर्थ यही मानना होगा कि, कार्य-कारण का भेदविषयक जो हमारा ज्ञान था वह उनके अभेद-अनुभव से बाधित होता है। परन्तु यह हमारे अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि हमको कार्य और उपादान कारण के अभेद (यथा, घट और मृत्तिका में द्रव्य दृष्टि से अभेद है) के साथ ही साथ भेद भी ज्ञात और अनुभूत होता है, एक के द्वारा दूसरा बाधित होता हुआ नहीं पाया जाता। यदि अभेद से भेद बाधित होता तो भेद और अभेद दोनों एक ही साथ अनुभवगोचर नहीं हो सकते थे। सूर्यदृष्टान्त में सूर्य का प्रकृत स्वरूप यथार्थानुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। वहाँ पर भेद के प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण यह कहा जा सकता है कि, यथार्थानुमान का फल जोकि अधिकसत्ताक है, वह बाधित प्रत्यक्ष के फल के साथ एकत्र रहता है जिसे (बाधित प्रत्यक्ष को) प्रातिभासिक सत्यरूप से मानना पड़ेगा। परन्तु उपरोक्त घट-मृत्तिका के दृष्टान्त में कार्य और कारण का भेद और अभेद दोनों ही समरूप से प्रत्यक्ष

के विषय होते हैं । अतएव यह कैसे सम्भव है कि एक पदार्थ रूप (कार्य और कारण के सम्बन्ध) बनने के लिए यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रत्यक्षों का एकत्र रहकर परस्पर सहायता करना आवश्यक है ?

और भी, जब हमलोग दो पदार्थ को भिन्नसत्ताक मानते हैं तब उसे दो कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि एक अपर से समस्तर की सत्ता में नहीं रहता । अतएव कार्यकारणसम्बन्ध में प्रत्यक्षगोचर जो भेद और अभेद हैं, उनमेंसे यदि एक को दूसरे के समान सत्य न मानकर पृथक् श्रेणी का अस्तित्ववाला माना जाय, तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं होता कि कार्यकारणसम्बन्ध भेदाभेदसम्बन्धरूप है । एक स्तर के (श्रणी के) अनुभव में या एक दृष्टि से कार्यकारणसम्बन्ध को तब भेदसम्बन्ध रूप से मानना होगा, जैसे कि पट से घट भिन्न है और जोकि उच्चतर स्तर का अनुभव कहा जाता उसमें उक्त कार्यकारणसम्बन्ध को अभेद सम्बन्ध रूप से मानना होगा, जैसे कि मृत्तिका या रूई अपने से अभिन्न है । परन्तु उक्त दोनों पक्षों के मानने से कारण के साथ कार्य के सम्बन्ध का समूल नाश होगा । भेदसम्बन्ध की दृष्टि से एक को दूसरे का कारण नहीं कह सकते, यथा पट का कारण घट नहीं हो सकता तथा पक्षान्तर में अभेदसम्बन्ध की दृष्टि से भी कार्यकारणसम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि उक्त दोनों सम्बन्धी वस्तुतः एक ही हैं और एक ही पदार्थ स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता । फलतः कार्यकारणसम्बन्ध का ही निषेध होगा ।

और भी, वेदान्तियों के मतानुसार मृत्तिका-घटस्थल में कुछ ऐसे धर्म उत्पन्न होते हैं जो मृत्तिका की सत्ता के भेदक न होते हुए भी भेदक होते हैं। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि, उक्त भेदक धर्म से कारण-द्रव्य का स्वरूप भी किसी प्रकार से संक्रान्त होता है अथवा नहीं । यदि नहीं होता तो इसका अर्थ यह

होगा कि, यातो उक्त भेदक धर्म का द्रव्य के साथ केवल बाह्य सम्बन्ध होता है जो पृथक् रूप से रहते हुये उसके स्वरूप को संक्रान्त नहीं करते अथवा असत्य और प्रातिभासिकमात्र होते हैं जो द्रव्य के साथ सम्बन्धयुक्त न होने हुए भी केवल भ्रान्ति से सम्बन्धयुक्त के सदृश प्रतीत होते हैं। इनमें से यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय, तो अनेक दोष उपस्थित होते हैं। उक्त भेदक धर्म की उत्पत्ति का निर्वचन ही नहीं हो सकेगा तथा कार्यकारण-नियम भी (प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के निमित्त उपयुक्त कारण का होना आवश्यक है) भंग हो जायगा। फिर भी यदि उनकी उत्पत्ति स्वीकृत होगी, तो द्रव्य के साथ उक्त भेदक धर्म का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध युक्तिसंगत रूप से स्थापित नहीं हो सकता । कारणद्रव्य और कार्य का भेदकधर्म, इन दोनों के सम्बन्ध के अभाव से कार्यविषयक धारणा ही असम्भव होगी । घट का घट रूप से कभी निर्द्धारण नहीं हो सकता यदि घट का विशेष धर्म मृत्तिका द्रव्य के साथ सम्बद्ध न हों तथा दोनों एक दूसरे के प्रति विशेषण रूप से एकत्र विवेचित न हों । उक्त रीति के अनुसार हमको विवश होकर इस अद्भुत सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है कि, कार्यकारणस्थल में कारण-द्रव्य विद्यमान रहता है और उसमें कुछ भेदक धर्म अनिर्वचनीयरूप से उत्पन्न होते हैं जो द्रव्य के साथ रहते हुए भी उससे सम्बद्ध नहीं होते, एवं कार्य वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं होता । इस प्रकार कार्यकारणसम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए किये हुए प्रयत्न के फलस्वरूप हमको यही प्राप्त हुआ कि, कार्यकारणसम्बन्ध का पता लगना तो अति दूर रहा, कार्य का भी लोप हो गया । यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार यह कहा जाय कि कार्य का भेदक धर्म असत्य है, तो भी इसका अर्थ यह होगा कि, कार्यकारणसम्बन्ध ही असत्य है । क्योंकि इस पक्ष के अनुसार जो कारण है वह किसी वास्तविक कार्य को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जैसा का तैसा स्थित रहता है;

कार्य के भेदक धर्म को कारणस्वरूप में कल्पित या न्यूनसत्ताक नहीं मान सकते ।

अतएव उसको कारण कहना भी निष्फल है । जबकि हम संसार के प्रत्येक वस्तु को किसी की अपेक्षा से कारणरूप तथा किसी की अपेक्षा से कार्यरूप पाते हैं, तब कार्यकारणसम्बन्ध को असत्य कहना जैसे प्रत्यक्षरूप से अनुभूयमान जगत् को अस्वीकार करना है । यह स्पष्टरूप से अनुभवविरुद्ध और कार्यकारणभाव के नियमविरुद्ध है । और भी, कार्य के भेदक धर्म की असत्यता हमारे लिए तब माननीय हो सकती थी, जबकि उक्त भेदक धर्म प्रथम अनुभूत होता और पश्चात् द्रव्य के यथार्थ अनुभव से वह बाधित होता अर्थात् कारणद्रव्य के यथार्थ स्वरूप के प्रत्यक्ष से कार्य का भेदक धर्म भी लुप्त होता । परन्तु, अद्यावधि हमको ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ । हमको द्रव्य और भेदक धर्म का अनुभव होता है अर्थात् कार्य और कारण में भेद और अभेद दोनों का एक ही काल में अनुभव होता है, किन्तु इनमें परस्पर किसी प्रकार के विरोध का अनुभव नहीं होता, जिससे एक को सत्य तथा अपर को असत्य मानने की आवश्यकता हो ।

यहां पर वेदान्तीलोग यह कहते हैं कि कार्यकारण के भेद को कल्पित, अनिर्वचनीय या न्यूनसत्ताक इसलिए नहीं कहा जाता कि वह द्रव्य के अनुभव से बाधित हो अथवा लुप्त हो जाय, परन्तु उसे असत्य या प्रातिभासिक इसलिए कहा जाता है कि, यद्यपि वह वस्तुतः विद्यमान है तथापि वह द्रव्य के स्वरूप को विशेषित या अवच्छिन्न नहीं करता । परन्तु यह विचार अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है । क्योंकि यहां पर स्वतन्त्र रीति से यह नहीं प्रमाणित किया गया कि भेद की उपस्थिति होने पर भी कारण द्रव्य किसी रूप से परिणाम को प्राप्त नहीं होता, किन्तु यहां पर भेद की असत्यता या प्रातिभासिक सत्ता से केवल यह प्रमाणित करने का यत्न किया गया कि, द्रव्य का स्वरूप परिणाम को प्राप्त नहीं होता तथा भेद की असत्यता या प्रातिभासिक सत्ता प्रमाणित करने के लिए यह कहा गया कि, द्रव्य का स्वरूप अपरिणत रहता है, अर्थात् भेद के प्रातिभासिक होने

के कारण द्रव्य का स्वरूप अपरिणत रहता है तथा द्रव्य के अपरिणत रहने के कारण भेद् प्रातिभासिक मात्र है । इस प्रकार की अन्योन्याश्रय वाली युक्ति से इसका निर्णय नहीं हो सकता । यहां पर तो मुख्य विचारणीय विषय है कि, कार्य की उत्पत्ति से द्रव्य का स्वरूप किसी प्रकार से परिणाम को प्राप्त होता है या नहीं ? यदि उक्त द्रव्य के अपरिणाम में भेद की असत्यता को हेतुरूप से प्रमाणित करना हो तो प्रथम, भेद की असत्यता का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन करना होगा । इसीप्रकार यदि कारण द्रव्य के अपरिणाम रूप हेतु से भेद की असत्यता को प्रमाणित करना हो, तो कारणस्थलीय द्रव्य के अभेद को अन्य किसी स्वतन्त्र हेतु से प्रमाणित करना होगा । परन्तु ऐसा कोई प्रमाण पाया नहीं जाता, अतएव कार्यकारण के भेद और अभेद में जो सम्बन्ध है वह अनिरूपित ही रह जाता है ।

इस विषय में वेदान्तियों का यह कहना है कि, हमलोग मृत्तिकाघट सुवर्णकुण्डलादि में वस्तुतः यह अनुभव करते हैं कि, उपादान द्रव्य का स्वरूप अपरिवर्तित रहता है, अर्थात् घटादि कार्योत्पत्ति के पूर्व मृत्तिकादि जिस स्वरूप से थे उत्पत्ति के पश्चात् भी वे उसी रूप से प्रत्यक्षगोचर होते हैं । इस दर्शन के बलपर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, जहां पर उपादान कारण से द्रव्य की उत्पत्ति होती है वहां द्रव्य एक ही रहता है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि से कार्य और कारण में अभेद होता है । परन्तु उक्त आधार पर इस सिद्धान्त में उपनीत होना समीचीन नहीं, कारण, उक्त दर्शन सर्वांगीण नहीं है । अपर अनेक स्थलों में हमको यह अनुभव होता है कि कार्योत्पत्ति के होने पर उपादान कारण वस्तुतः परिणाम को प्राप्त होता है, यथा दूध दही रूप से, बीज वृक्ष रूप से और आहार जीवशरीर के मांसमज्जादि रूप से इत्यादि । रसायनिक संयोग-क्रिया से उत्पन्न कार्योत्पत्ति-स्थल में परस्परसंयुक्त उपादान कारण समूह सर्वथा नवीन द्रव्यरूप से परिणत होते हुए दिखाई देते हैं । अतएव, इन सब दृष्टान्तों को

वेदान्तिसम्मत पक्ष कि कार्योत्पत्ति से कारण द्रव्य में किसी परिवर्त्तन या परिणाम नहीं होता समीचीन नहीं।

प्रत्यक्ष देखते हुए भी हम यह कैसे सिद्धान्त कर सकते हैं कि, कार्योत्पत्ति के होने पर भी उपादान कारण का स्वरूप अपरिणत ही रहता है तथा कार्योत्पत्ति के निमित्त कारण में कुछ विशेष भेदक धर्म उत्पन्न होते हैं किन्तु कारण-द्रव्य उक्त भेदक धर्म से असंक्रान्त ही रहता है। यहां पर ऐसी आपत्ति हो सकती है कि, यद्यपि उक्त दृष्टान्त-स्थल में कार्य में कारण द्रव्य का अभेद साधारण दृष्टि से इतना स्पष्ट नहीं है, तथापि सूक्ष्मदर्शन और परीक्षण के द्वारा इसमें अभेद आविष्कृत हो सकता है। यदि वस्तुतः अभेद नहीं होता तथा उसके ज्ञात होने का उपाय भी नहीं होता, तो किसी भी कार्य का कोई भी उपादान कारण समझा जा सकता था, जिससे कार्य-कारण सम्बन्ध के क्रम का ही नाश हो गया होता। इसके उत्तर में यह कहना है कि उक्त आपत्ति के कुछ अंश में यथार्थ होने पर भी यह प्रकृत में उपयोगी नहीं है, क्योंकि इससे समालोचित पक्ष प्रमाणित नहीं होता। दूध और दही में कुछ अभिन्नसामग्री अवश्य होंगी, किन्तु वे न तो स्वयं दूध है और न दही हैं। जब साधारण अनुभव की दृष्टि से दूध को दही का उपादानकारण माना जाता है, तब यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उपादानकारण जैसा पूर्व में था वैसा ही अब भी है और उसका स्वरूप भेदकधर्म से किसी प्रकार संक्रान्त नहीं हुआ। यहां पर वादी यदि यह कहे कि दधि की उत्पत्ति में द्रव्य रूप दूध का परमाणु केवल रूपान्तर को प्राप्त होता है किन्तु उसमें द्रव्यत्व का अभेद जैसा का तैसा बना रहता है तो ऐसी उपपत्ति का प्रयोग बीज और वृक्ष, खाद्य और प्राणीशरीर आदि अनेक स्थलों में नहीं हो सकेगा। यद्यपि नाना प्रकार के कार्य और उनके उपादान कारण के दर्शन से यह कथन कुछ अंशतक अवश्य युक्तिसंगत है कि, भेद का उत्थान (क्रियोत्पत्ति) होने पर ही कार्य-कारण में अभेद का अंश सदा बना रहता है, तथापि यह कभी नहीं कह सकते कि कार्योत्पत्ति से कारणद्रव्य में कोई परिवर्त्तन या परिणाम नहीं होता अथवा

परिशेषतः कार्यकारणसम्बन्ध अनिर्णेय है ।

कारण सम्पूर्ण रूप से अपने से सर्वथा भिन्न किसी और पदार्थ रूप से परिवर्त्तित होता है। परन्तु वास्तव में यह पाया जाता है कि, कार्योत्पत्ति के समय कारण में कुछ भेदक धर्म उत्पन्न होते हैं, जिसमें वास्तविक अभेद का अंश भी होता है। कार्यकारण-सम्बन्ध स्थल में भेद और अभेद दोनों ही प्रत्यक्षगोचर होते हैं और उनमें से प्रत्येक एक दूसरे से विशेषित और अवच्छेद युक्त होता है। सुतरां एक को अपर से अधिक या न्यूनसत्ताक मानने के लिए कोई भी उपयुक्त हेतु नहीं है। अतएव, अद्वैत-वेदान्तियों का कार्यकारणविषयक सिद्धान्त समीचीन युक्तितर्क से सिद्ध नहीं होता। इसपर वेदान्तियों की अवशिष्ट आपत्ति यह है कि, जब समसत्ताक भेद और अभेद का एकत्र अवस्थान होना विरुद्ध है, तब भेद और अभेद के सामञ्जस्य की व्यवस्था के लिए हमारा सिद्धान्त (कल्पित भेद सहित अभेद) माननीय होना चाहिए। इसके उत्तर में हमें यही कहना पड़ता है कि, जब विभिन्न सत्ता को मानने के लिए कोई अखण्डनीय युक्ति नहीं दे सकते, तब दुराग्रह को त्यागकर सरल हृदय से यही स्वीकार करना चाहिए कि कार्यकारण-सम्बन्ध की कोई समीचीन उपपत्ति नहीं है। यद्यपि कार्यकारणसम्बन्ध सर्वसम्मत और अनुभवसिद्ध है, तथापि तर्क की दृष्टि से मानों वह सदा के लिए अनिरूपित रह गया।

अब सत्स्वरूप ब्रह्म को जगत् का उपादान मानना कहांतक समीचीन है, इस विषय की समालोचना करते हैं। मृत्तिका और घट एक ही प्रत्यक्ष-क्रिया के द्वारा परस्पर अभिन्न रूप से अनुभवगोचर होते हैं (अतएव, इनमें उपादान-उपादेय भाव है,) इस दृष्टान्त के आधार पर स्थापित जो वेदान्तियों का यह सिद्धान्त कि, सत् भी ज्ञाता के निकट विषयविशेष (घट) के साथ अभिन्नरूप से प्रतीत होता है अतएव सत् भी मृत्तिका के समान उपादान है; पूर्व सत्यस्वरूप समालोचना प्रसङ्ग में खण्डित हो चुका है। अन्य दृष्टान्तों का (बीज-वृक्षादि, जहां उपादान कारण एक रूप से नहीं रहता) विवेचन न करके यदि

मृत्तिकाघटस्थलीय दृष्टान्त वेदान्तिसम्मत सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

मृत्तिका-घट और सुवर्ण-कुण्डलादि ही लिया जाय, तो भी उक्त सिद्धान्त, प्रकृत स्थल में प्रयुक्त नहीं हो सकता। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार सत्, चेतन और स्वप्रकाशता ये मूलतत्त्व के गुण नहीं, क्योंकि उक्त तत्त्व गुणरहित है। अतएव स्वप्रकाशचेतन-सत् उक्त तत्त्व का प्रकृत स्वरूप (गुण नहीं) है। यदि यह माना जाय कि मूल उपादानगत उक्त स्वरूप उससे उत्पन्न सब कार्यों में समानरूप से रहता है, तो जगत्प्रपञ्च में —प्रातीतिक रूप से बहुत्व एवं परस्पर रूप और गुणों से भिन्न होते हुए भी—प्रत्येक पदार्थ स्वप्रकाश, चेतन और सत् स्वभाव युक्त अवश्य होगा। फलतः अचेतन और अस्वप्रकाश वस्तु का संसार में अभाव होना चाहिये, जो कि सबके अनुभवविरुद्ध है। यह नहीं कह सकते कि, वस्तुतः स्वप्रकाश चेतन सत् ही सब पदार्थों का स्वरूपभूत होकर विद्यमान है, परन्तु वह अनुभवगोचर नहीं होता। जिन दृष्टान्तों के आधार पर वेदान्तीलोग कार्य-कारण सम्बन्ध के स्वरूप का निश्चय करते हैं, उनमें सर्वत्र द्रव्य का स्वभाव अपने प्रातीतिक भेद-सामग्री के साथ ही दिखाई देता है तथा उनमें से कोई भी ऐसा नहीं पाया जाता कि, जिसमें प्रातीतिक भेदक-धर्म द्रव्य के स्वरूप को इतना विकृत करता हो कि मूलद्रव्य के स्वरूप का परिचय ही प्राप्त न हो सके। भ्रान्तिस्थल में प्रातिभासिक असत्य सामग्री से अधिष्ठान का स्वभाव आवृत होता हुआ अवश्य पाया जाता है, परन्तु यहां पर प्रकृत कार्यकारण-सम्बन्ध का दृष्टान्त भ्रान्तिस्थलीय नहीं है, किन्तु यथार्थ ज्ञानस्थल का है। अतएव इस (यथार्थज्ञानस्थलीय) दृष्टान्त का कार्यकारण-सम्बन्ध के साथ सामञ्जस्य नहीं हो सकता कि जिसके आधार पर हम यह अनुमान कर सकें कि, अखिल जड़प्रपञ्च चेतन का कार्य है। यहां पर वेदान्तीलोग यह कह सकते हैं कि, प्रत्येक सांसारिक पदार्थ में सत् और चेतन सर्वत्र स्वरूपतः प्रत्यक्षगोचर होते हैं, परन्तु इससे प्रकृतस्थलीय आपत्ति का निवारण नहीं हो सकता। जब वे लोग स्वयं चेतन और जड़ में स्पष्ट भेद का प्रतिपादन करते हैं तब यह कैसे कह सकते हैं कि, अचेतन वस्तु वस्तुतः

चेतन है और वह अचेतन के स्वरूप में प्रत्यक्षगोचर होता है ? औरभी, अद्वैतवादियों के मतानुसार सत् शब्द का अर्थ स्वतःसिद्ध होता है, परन्तु यह स्वतःसिद्धत्व कार्य के स्वरूप में प्रत्यक्षगोचर नहीं होता। सुतरां उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणसम्बन्ध के अनुसार भी गुणरहित सत्-चेतन और गुणवान असत्-जडजगत् का कार्य-कारणसम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। और भी, कार्यकारण-सम्बन्ध का विचार करते समय हमलोग सर्वत्र कारण को कार्योत्पादन में समर्थ पाते हैं, ऐसा कहीं भी नहीं पाया जाता कि कारण, गुण या किया या शक्ति से रहित है, वह अपने स्वरूप में आप ही स्थित रहता है तथापि किसी कार्य को उत्पन्न करता है। परन्तु उक्त-वादीलोग ब्रह्म को उक्त गुण-क्रियादि से रहित मानते हुए भी उसे जगत्प्रपंच का कारण मानते हैं, जो कि स्पष्ट ही विरुद्ध कल्पना है। और भी, जहां पर उपादान कारण में स्वतः क्रिया नहीं होती वहां पर भी उसमें एक विशेष धर्म रहता है जिससे वह एक विशेष जातीय कार्य का कारण हो सकता है, तदनुसार उसमें किसी निमित्त कारण के व्यापार से उसमें कार्योत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। परन्तु वेदान्तमत में धर्मरहित चेतन को अद्वितीय मानते हैं, अतएव उक्त चेतन में किसी निमित्तकारण का व्यापार भी सम्भव नहीं है जिससे जगत् उत्पन्न हो सके। फिर हम सत् चित् को जगत् का मूल कारण कैसे मानलें ? और भी, यह नियम है कि कार्य और कारण परस्पर सापेक्ष होते हैं जिसके अनुसार ब्रह्म को भी सापेक्ष मानना होगा। सारांश यह कि, यदि ब्रह्म को मृत्तिका-घट के अनुसार जगत् का कारण मानें तो ब्रह्म को परिणामरहित, गुणरहित, शक्ति-रहित एवं सत्‌चित् स्वरूप नहीं कह सकते।*

*अद्वैतवेदान्ती उक्त मृत्तिका-स्थलीय सम्बन्ध (कल्पित भेद सहित वास्तव अभेद) का प्रयोग गुण और द्रव्य में करके, तदनुसार ब्रह्म को कल्पित गुणयुक्त और वास्तव में निर्गुण मानते हैं। परन्तु यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण, यदि द्रव्य के साथ गुण के सम्बन्ध को असत्य मानें तो द्रव्य और गुण के (यथा घट और रूपादि का) भेद को भी असत्य मानना होगा, फलतः

रज्जुसर्प के दृष्टान्त से ब्रह्म–अधिष्ठान में जगदध्यास की कल्पना संगत नहीं।

ब्रह्म जगद्–अध्यास का अधिष्ठान है, अब इस सिद्धान्त की समालोचना करते हैं।

[३]

अद्वैतवेदान्ती यह मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जु के अधिष्ठान में सर्प अध्यस्त होता है, उसीप्रकार ब्रह्म अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है, परन्तु यह कल्पना समीचीन नहीं है। जब कोई व्यक्ति दर्शनशक्ति की अपूर्णता से रज्जु के स्थान में सर्प को प्रत्यक्ष करता है, तब प्रत्यक्ष करनेवाले व्यक्ति के अज्ञान से रज्जु का प्रकृतस्वरूप आंशिक रूप से आवृत होता है और अन्य सहकारी कारणों के (सर्प-संस्कार, सादृश्यजनित संस्कार का उद्बोध, मन्दान्धकार, दूरत्व आदि के) प्रभाव से सर्परूप से प्रतिभात होता है। परन्तु उक्त दृष्टान्त ब्रह्म में नहीं घट सकता, क्योंकि ब्रह्म के अद्वितीय होने के कारण उसका दर्शन-करनेवाला अपूर्ण ज्ञानवान कोई अपर व्यक्ति नहीं है। ब्रह्म के साथ दूसरे किसी पदार्थ की सादृश्यता भी नहीं हो सकती। इसी प्रकार ब्रह्म के आंशिकरूप से आवृत और आंशिकरूप से अभिव्यक्त होने की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि निरंश और स्वप्रकाश होने के कारण, उसमें अंश और आवरण की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्म को अद्वैत मानने पर उससे भिन्न किसी पुरुष में ब्रह्म का ज्ञातृत्व, व्यावहारिक जगत् का संस्कार, उसका नियम, क्रम और सामञ्जस्य का ज्ञान होना भी असंगत है तथा

जगत् में अनुभवगोचर समस्त द्रव्यजात गुणरहित होंगे। अर्थात् इस नियम के अनुसार हमको यह कहने का अधिकार नहीं रहेगा कि घट में उपलभ्यमान विशेष आकार, रूप और गुण वास्तव में घट के ही हैं अन्य के नहीं, क्योंकि वे वस्तुतः घट के साथ सम्बन्धयुक्त नहीं हैं। सुतरां घट–पटादि सभी वस्तुओं को गुणरहित मानना होगा और निर्विशेष होने के कारण उनमें परस्पर कोई भेद भी नहीं रहेगा। अतएव तत्त्व की निर्गुणता प्रमाणित करने की यह रीति समीचीन नहीं है।

किसी सहकारी कारण की उपस्थिति भी असम्भव है । अतएव रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से ब्रह्म में जगत् के अध्यस्त होने की सम्भावना नहीं कर सकते ।

ब्रह्म-अधिष्ठान में जगत् का अध्यास होता है, इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के लिए यह प्रतिपादन करना आवश्यक है कि, (१) अधिष्ठान ब्रह्मजगत् के सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्र अस्तित्ववाला है (२) ब्रह्म का अस्तित्व त्रिकालाबाधित है; (३) ब्रह्म का प्रकृत स्वरूप आवृत होने के योग्य है, (४) इस आवरण की सिद्धि के लिये किसी अपर चेतन पुरुष की आवश्यकता नहीं है कि जिसके दृष्टिकोण की अपेक्षा से ब्रह्म में आवरण प्रतीत होता होः (५) ब्रह्म के प्रकृत स्वरूप का अनुभव होने पर जगत् की सत्यता निवृत्त होती है तथा इस (ब्रह्म का प्रकृतस्वरूप) यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने पर जगत् का अस्तित्व त्रिकाल में नहीं है ऐसा अनुभव होता है । उपरोक्त कल्पों के सिद्ध हुए बिना जगत् को ब्रह्माधिष्ठान में अध्यस्तरूप से प्रमाणित नहीं कर सकते । परन्तु इनकी सिद्धि असम्भव है, अब इस को प्रदर्शित करते हैं ।

(१) ब्रह्म यदि जगत्-सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्र अस्तित्ववान हो, तो वह प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

ब्रह्म के जगत्-सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्र अस्तित्ववान होने में कोई प्रमाण नहीं ह । निर्विशेष, निधर्मक एवं अखण्ड तत्त्व का स्वरूप, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता । किसी विषय के प्रत्यक्ष होने के लिए यह आवश्यक है कि, उस विषय का गुण इतने स्पष्टरूप से इन्द्रियके साथ संयुक्त हो कि उस काल में इन्द्रिय उसके गुण से अङ्कित (प्रतिबिम्बित) हो जाय तथा उसका आकार देश से सीमाबद्ध और काल में परिवर्तनशील हो। ब्रह्मरूप विषय के उपरोक्त गुणों से रहित होने के कारण, वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता । जिसमें चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने के योग्य कोई भी धर्म नहीं है, वह कैसे प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है ? ब्रह्म के प्रत्यक्ष द्वारा विदित न होने पर उसके साथ

हेतुका नियत सम्बन्ध भी ज्ञात नहीं हो सकता। फलतः, साध्य(ब्रह्म) के साथ हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान न होने पर अनुमान के द्वारा भी ब्रह्म का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो सकता। सम्बन्धिद्वय के नियत–सम्बन्ध की सिद्धि के लिए दोनों सम्बन्धियों का दर्शन प्रत्यक्ष के द्वारा होना चाहिए, जो (प्रत्यक्ष) कि ब्रह्म में सम्भव नहीं है, सुतरां ब्रह्म अनुमानगम्य भी नहीं है। किसी निधर्मक वस्तु को धर्मवान् कार्य के प्रति कारण रूप से अनुमान नहीं कर सकते। हमारे अनुभवराज्य के अन्तर्गत समस्त कारणजात सधर्मक पाए जाते हैं। यदि निधर्मक तत्त्व भी सधर्मक कार्य के कारणरूप से माननीय हो, तो कार्यगत गुणों को देखकर कारणगत गुणों का अनुमान भी निष्फल होगा। कार्य और कारण परस्पर सापेक्ष होते हैं, सुतरां निरपेक्ष निष्प्रपञ्च ब्रह्म अनुमानगोचर नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपमान प्रमाण से भी उक्त तत्त्व (ब्रह्म) की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा धर्मरहित तत्त्व के सदृश, जडचेतनात्मक जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी उपमा दी जा सके। उक्त तत्त्व के उदासीन, असङ्ग अथवा सर्वपदार्थों के सम्बन्ध से रहित मान्य होने के कारण, किसी घटना के घटित होने में उक्त तत्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव कोई अनुभव्य विषय का उपपादन के लिए उक्त तत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता बतला कर अर्थापत्ति से भी वह प्रमाणित नहीं हो सकता। यदि सृष्ट्यादि की व्यवस्था के निमित्त उक्त तत्त्व की आवश्यकता माननीय हो, तो उसको उदासीन और सर्वसम्बन्धरहित नहीं कह सकते। फलतः प्रमाण द्वारा उक्त तत्त्व की सिद्धि के निमित्त प्रयत्न करने पर, वेदान्तियों का सिद्धान्त स्वयं उनके सिद्धान्त से व्याहत होता है।

यहां पर यह आपत्ति हो सकती है कि, यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निर्विशेष ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, तथापि यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा उक्त ब्रह्म का साक्षात् अनुभव हो सकता है। क्योंकि यौगिक प्रत्यक्ष (अतीत, अनागत आदि अतीन्द्रिय घटनाओं का ज्ञान) के लिए विषय और इन्द्रिय के संयोग की

आवश्यकता नहीं होती, इन्द्रिय-सम्बन्ध के बिना ही विषय अपने आप अपरोक्षरूप से प्रतीत होता है, किन्तु यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है। उक्त अलौकिक स्थल में (यौगिक प्रत्यक्ष में) भी उसी विषय का दर्शन हो सकता ह, जो कि दृश्यधर्मयुक्त हो तथा उसी विषय का श्रवण हो सकता है, जो कि श्रोतव्य धर्मयुक्त हो। यौगिक प्रत्यक्ष की उपपत्ति कैसी भी हो (उपसंहारगत इंग्रेजी पादटिप्पनी द्रष्टव्य), किन्तु उससे यह कदापि प्रतिपादन नहीं हो सकता कि, जिसमें प्रत्यक्ष के योग्य कोई भी धर्म नहीं है ऐसा तत्त्व भी उक्त प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है। उक्त प्रत्यक्ष की यथार्थता का निश्चय करने के लिए सर्वसाधारण में भी यदा कदा अपरोक्षानुभव होने की घटना का उल्लेख करना आवश्यक है, अन्यथा केवल एक विशेष योगी के यौगिक प्रत्यक्ष से उसके द्वारा अनुभूत विषय की यथार्थता का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने संस्कार या भावना के द्वारा कदाचित् दूषित या भ्रान्त भी हो सकता है। परन्तु मूलतत्त्व के प्रत्यक्षस्थल में (यदि सम्भव हो) ऐसी सम्भावना नहीं है। अतएव यौगिक प्रत्यक्ष से भी धर्मरहित तत्त्व का स्वरूप यथार्थरूप से ज्ञात नहीं हो सकता।

उक्त निर्गुण तत्त्व का अनुभव समाधि के द्वारा भी नहीं हो सकता। समाधि दो प्रकार की हैं, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प समाधि में ध्याता का अहंकार सूक्ष्मरूप से रहता है तथा अनुभाव्य (ध्येय) विषय का स्वरूप स्पष्टरूप से भान होता है। उस काल में इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष या तन्मूलक प्रमाणजनित किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, केवल अनुभविता के वासनानुसार अनुरंजित विषय ही अनुभूत होता है। इसी कारण, समाधिकाल में विभिन्न साधकों के भावनाभेद से विभिन्न स्वरूप अनुभवगोचर होते है। वेदान्ती-साधक इस वासना के अनुसार समाधि में प्रवृत्त होते है कि यावत् प्रतीयमान-पदार्थजात सब सत्स्वरूप हैं, अतएव वे अन्य सब चिन्ताओं को त्यागकर इसी भावना की आवृत्ति करते रहते हैं जिसके फलस्वरूप उनको समाधि में सत्स्वरूप का ही

अनुभव होता है । इसी प्रकार सब स्वप्रकाश है ऐसी भावना करने पर उनको प्रकाश के समान भी प्रतीत होता है, परंतु विषयरूप से प्रतिभात होने के कारण, उक्त प्रतीयमान सत् और स्वप्रकाश को तात्त्विक स्वरूप का अनुभव नहीं कह सकते (सत्-चित् विषय नहीं किन्तु विषयी है), किन्तु वह केवल स्वमनःकल्पित आन्तरविषय मात्र है । अन्यमतावलम्बी साधकलोग भी इसी प्रकार समाधि में तत्त्व का अनुभव करते हैं, परन्तु उनकी भावना भिन्न प्रकार की होने से वे लोग ऐसा (सत् और स्वप्रकाश) अनुभव नहीं करते, किन्तु उनको भी अपनी अपनी भावना के अनुसार ही तत्त्व का स्वरूप प्रतीत होता है । इसी कारण, जो साधकलोग केवल सब विषयों को भूलने का ही प्रयत्न करते रहते हैं तथा किसी विषय-विशेष में मन नहीं लगाते उनको उस अवस्था में कुछ भी भान नहीं होता, केवल शून्यभाव की सूक्ष्म रूप से प्रतीति रहती है । अतएव पूर्वाभ्यास के अनुसार उत्पन्न जो व्यक्तिगत वासना है, उसी की कल्पना में स्थिर रहने के प्रयत्न (समाधि) को तत्त्वानुभूति नहीं कह सकते । फलतः समाधि में— अहंयुक्त भेद को उपस्थिति रहने के कारण— निर्गुण अद्वैततत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता । निर्विकल्प समाधि में अहंबोध के न रहने के कारण किसी पदार्थ के स्वरूप का परिचय नहीं मिल सकता।

अब यह प्रदर्शित करते हैं कि शाब्द-प्रमाण के द्वारा भी उक्त निर्गुण तत्त्व का बोध होना दुर्लभ है । यदि उक्त तत्त्व का श्रवण हो सकता हो, तो उसको वाणी का विषय मानना होगा । वाणी का विषय वही हो सकता है जो गुणयुक्त या धर्मयुक्त हो, सुतरां केवल ससंग ससीम और सविशेषण पदार्थ का ही कथन या श्रवण हो सकता है । अतएव गुणरहित सीमारहित और संगरहित तत्त्व के वचन या श्रवण का विषय नहीं होने के कारण, उसकी सिद्धि के निमित्त शब्द-प्रमाण का प्रदान करना भी निष्फल है । यहां पर वेदान्ती कहते हैं कि शक्यार्थ से तत्त्व का ज्ञान अवश्य सम्भव नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ से उसका बोध हो सकता है । यदि यह

मान भी लिया जाय तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, तत्त्व-विषयक किसका वचन प्रमाणरूप से मान्य हो? जिस व्यक्तिविशेष का वचन प्रमाणरूप माना जायगा, उसकी तत्त्वज्ञता के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण भी होना चाहिए। यदि वह भी अपर किसी व्यक्तिविशेष के वचन के ऊपर निर्भर रहता हो, तो इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। इस दोष के निवारण के लिए यही कहना पडेगा कि, किसी एक या अनेक व्यक्तिको यथार्थ तत्त्वज्ञता के सम्बन्धमें स्वतन्त्र प्रमाण हैं। अब प्रश्न यह है कि उन व्यक्तियों को किस प्रमाण से तत्त्व का यथार्थज्ञान प्राप्त होता है? प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, यौगिक प्रत्यक्ष और समाधि अनुभवादि वेदान्ती-सम्मत किसी भी प्रमाण से उक्त निर्गुण निधर्मक तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता, यह पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं। अतएव तत्त्व के विषय में साक्षात् प्रमाण का अभाव होने से, तद्विषयक शब्दप्रमाण भी यथार्थरूप से माननीय नहीं हो सकता। औरभी, शब्द अपने शक्यार्थ या लक्ष्यार्थ से किसी पदार्थ के गुण या धर्म को लेकर ही ज्ञापन कर सकता है, निधर्मक या निर्गुण (तत्त्व) को नहीं। सब वाक्यों का तात्पर्य और उनके निर्णय के अधीन निर्णय, विशिष्ट में दृष्ट होता है। अतएव, ब्रह्म जगत-सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्र अस्तित्ववान है, इसके प्रमाणित न होने पर, ब्रह्म को अधिष्ठान रूप मानकर जगत् को उसमें अध्यस्त मानना सर्वथा असंगत सिद्ध होता है।

(२) त्रिकालाबाधित अस्तित्ववाले ब्रह्म की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है।

यह द्वितीय कल्प भी प्रथम कल्प के समान ही प्रमाणाभाव के कारण निरस्त हो जाता है। जगदतीत ब्रह्म का स्वतन्त्र अस्तित्व है (यद्यपि इसमें प्रमाणाभाव है), यह कदाचित् किसी उपाय से जान भी लिया जाय, तो भी उसका त्रिकालाबाधितत्त्व किसी प्रकार भी यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। किसी पदार्थ की त्रिकालाबाध्यता ज्ञात होने के लिए यह आवश्यक है कि

उसका त्रैकालिक अस्तित्व प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यह सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान पदार्थ को ही विषय कर सकता है, अतीत और अनागत को नहीं। प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव का अप्रतियोगित्व यदि प्रत्यक्षगोचर हो तो नित्यत्व की भी सिद्धि हो सकती है (नित्य उसे कहते जो ध्वंस और प्रागभाव का प्रतियोगी न हो अर्थात् जिसका ध्वंस और प्रागभाव नहीं है), किन्तु इस प्रकार का प्रत्यक्ष हो सकना सम्भव नहीं; अतएव ब्रह्म का त्रिकालाबाध्य-स्वरूप प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। किसी पदार्थ के वर्त्तमान अस्तित्व के आधार पर हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि, वह अति प्राचीन भूतकाल में भी इसी स्वरूप से विद्यमान था तथा सुदूर भविष्यत् में भी ऐसा ही रहेगा। किसी पदार्थ के वर्तमानकाल में विकाराभाव के दर्शन से हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि वह तीनों काल में ही निर्विकार रहता है। इसी प्रकार शेष प्रमाणों के द्वारा भी ब्रह्म की त्रिकालाबाध्यता का ज्ञान नहीं हो सकता, यह पूर्व कल्प (ब्रह्मास्तित्व-खण्डन) में प्रदर्शित कर चुके हैं।*

*वेदान्तीलोग ब्रह्म के त्रिकालाबाधित्व के प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं कि, जो 'है' (सत्) वह कभी भी 'नहीं है' (असत्) ऐसा नहीं हो सकता, जिसका आदि और अन्त है वह आदि के पूर्व और अन्त के पश्चात् 'नहीं है', सुतरां जिसका आदि और अन्त है उसको 'है' ऐसा नहीं कह सकते। जो 'है' वह सब काल में और सब अवस्था में भी अवश्य "है" रूप होगा, अतएव जो 'है' उसको 'नहीं है' नहीं कह सकते; अर्थात् सत् कभी असत् नहीं हो सकता। परन्तु प्रकृतस्थल में तर्कशास्त्र के उक्त नियमों का प्रयोग समुचित नहीं है। तर्कशास्त्र में कालसामग्री के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु मानसिक और भौतिक प्रपञ्च के यथार्थ ज्ञान स्थल में उनका विशेष स्थान पाया जाता है। हमारे यथार्थ ज्ञानराज्य (अनुभवराज्य) के अन्तर्गत जो नियम उपलब्ध होते हैं उसके अनुसार ऐसी कोई उपपत्ति नहीं मिलती जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि, जो है वह सदा ही रहेगा और सब काल में अविकृत रहेगा। हमारे अत्यन्त सावधानी से सम्यक् दर्शन और परीक्षण पूर्वक विवेचन करने पर भी, विश्व का वर्तमान अस्तित्व यथार्थ रूप

सत्-धारणा के अनुसार सत् का पारमार्थिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) अद्वितीय ब्रह्म स्वतः आवृत होने के योग्य नहीं है।

अब तृतीय विकल्प पर विचार करते हैं कि, यदि ब्रह्म को असंग और अद्वैत सत्तावान मान भी लिया जाय तो भी उसके स्वरूप के आवृत होने की कल्पना सुसमञ्जस नहीं है। यदि ब्रह्म

से प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, किन्तु वह 'जो है वह सदा ही रहेगा' इस सिद्धान्त का साधक नहीं होता। यथार्थ अनुमान के द्वारा भी ऐसे विषयों का अस्तित्व अति उत्तम रूप से सिद्ध होता है, जो उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। स्वप्न में प्रतीयमान पदार्थ भी उस काल में सद्रूप से प्रत्यक्षगोचर होते हैं, किन्तु जागृत होने पर उनको असद् रूप स्वीकार करना पड़ता है, यद्यपि उक्तकाल में प्रत्यक्षगोचर विषयों के रूप और गुण को अस्वीकार नहीं कर सकते। अतएव यह कथन सर्वथा असंगत है कि अस्तित्ववान् का अस्तित्व त्रैकालिक होता है। यहां पर यह नहीं कह सकते कि जो पारमार्थिक रूप से 'है' वही 'नहीं है' नहीं हो सकता (अर्थात् पारमार्थिक से भिन्न व्यावहारिक 'है' का 'नहीं है' ऐसा हो भी सकता है); क्योंकि उसका पारमार्थिकत्व अभी विचार का विषय (साध्य) है, सिद्ध नहीं। सुतरां जो साध्य है उसको साधन रूप से नहीं कह सकते। और इस प्रकार का पारमार्थिक सत् प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं हो सकता, यह पूर्व ही कथन कर चुके हैं। उक्त नियम, हमको यह स्वीकार करने के लिए अवश्य बाध्य करता है कि, कोई पदार्थ एक ही काल में सत् और असत् नहीं हो सकता; किन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि जो पदार्थ एक काल में सत् है वह अपर में असत् नहीं हो सकता। और भी, उक्त तर्कशास्त्र की युक्ति से किसी पदार्थ का वास्तविक अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यह अवश्य है कि सत् की धारणा असत् की धारणा से विपरीत है और एक को अपर रूप से नहीं समझा जा सकता, किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि सद्-धारणा के अनुसार कोई पदार्थ (पारमार्थिक सत्) वस्तुतः हमारी भावना की सीमा के बाहर रहता है। अस्तित्ववान पदार्थों में जो 'अस्ति' की धारणा होती है उसकी परीक्षा कर हमलोग पाते हैं कि वह विभिन्न रूप से उत्पादित हो सकता तथा यह युक्ति से सिद्ध नहीं होता कि वह अद्वितीय तत्त्व है जिसका सब पदार्थ केवल परिच्छिन्न अभिव्यक्ति या प्रतिभासमात्र है।

ब्रह्म में सामान्य और विशेषरूप भेद नहीं रहने से अध्यास नहीं हो सकता।

निर्गुण, निरंश, अवस्था या धर्म के भेद से रहित, स्वप्रकाश और चेतन स्वरूप है, तो उसका आवरण नहीं हो सकता; जिससे कि वह अध्यस्त जगत् का अधिष्ठान बन सके। जगत् में अनुभूत प्रत्येक भ्रान्ति (यथा शुक्तिरजत, रज्जुसर्पादि) के अधिष्ठान में सामान्य और विशेष ये दो धर्म पाये जाते हैं; जिनमें से अधिष्ठानका विशेष धर्म (वस्तु का वह स्वभाव जिससे उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है) आवृत होकर, सामान्य धर्म अध्यस्त पदार्थ के स्वरूप में समवेत रहता है। यदि उक्त (आवृत) वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप आवृत होता हो तो उसमें और अध्यस्त पदार्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा जिससे उक्त वस्तु को अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान भी नहीं मान सकेंगे। यदि ऐसा हो तो किसी भी अधिष्ठान के आवृत होने पर कोई भी पदार्थ अध्यस्तरूप से प्रतीत हो सकेगा अर्थात् शुक्ति के आवृत होने पर सर्प की प्रतीति हो सकेगी और रज्जु के आवृत होने पर रजत की। फलतः अध्यस्त पदार्थों को अधिष्ठान की कोई आवश्यकता न होगी और वे स्वयं स्वतन्त्ररूप से आविर्भूत और तिरोभूत होंगे। अतएव, उक्त दोषों की निवृत्ति के लिए यह स्वीकार करना होगा कि, अधिष्ठान सर्वांश में आवृत नहीं होता, किन्तु उसके कुछ सामान्य धर्म अध्यस्त (प्रातिभासिक) पदार्थ में समवेत रहते हैं जिससे उनमें परस्पर सम्बन्ध बना रहता है। यह कहना भी निष्प्रयोजन है कि, यदि वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप ही अनावृत हो तो भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि किसी वस्तु में अध्यास होने के लिए सामान्य और विशेष धर्म का भेद रहना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि, वेदान्तीसम्मत ब्रह्म में अध्यास का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त मत के अनुसार ब्रह्म में किसी प्रकार का (सामान्य और विशेषरूप) भेद नहीं है। वह गुण, धर्म, अंश, रूप और अवस्था रहित है, अतएव इस प्रकार के पदार्थ में किञ्चिद्रूप से आवरण और किञ्चिद्रूप से अभिव्यक्ति की कल्पना नहीं हो सकती। वादी

के कथनानुसार ब्रह्म का विशेष धर्म अखण्ड अद्वितीयादि आवृत होकर, केवल सामान्य धर्म सत् चित् ही अध्यस्त जगत् के स्वरूप में अभिव्यक्त होता है, अतएव उसको जगत् का अधिष्ठान मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु वेदान्तियों का यह कथन स्वयं उनके सिद्धान्त का विरोधी है। यदि ब्रह्मका सामान्यस्वभाव सत्‌चित् होगा और परिपूर्णादि विशेष धर्म होगा तो ब्रह्म निधर्मक निर्विकार नहीं होगा। क्योंकि उक्त सिद्धान्त में ब्रह्म के सत् चित् आदि सामान्य धर्म और अखण्ड अद्वितीयादि विशेष धर्म परस्पर स्वरूपतः पृथक् नहीं हैं, किन्तु इन सब का एक अद्वितीय में ही एक रूप से समावेश रहता है; अतएव इन धर्मों का सामान्य और विशेष रूप से विभाग नहीं हो सकता। फलतः ब्रह्म के अखण्डादि धर्मों के आवृत होने पर सम्पूर्ण ब्रह्म स्वरूप ही आवृत होगा तथा सत्‌चित् की अभिव्यक्ति से सम्पूर्णस्वरूप ही अभिव्यक्त होगा, जिससे दोनों पक्षों में अध्यास का होना असम्भव हो जायगा। यह भी नहीं कह सकते कि उक्त सामान्यविशेषभाव कल्पित है, क्योंकि इस कल्पना की उत्पत्ति तो अध्यास के पश्चात् होती है। अर्थात् अध्यास होने के लिए आवरण होने के पूर्व, अधिष्ठान में अंशभेद और धर्मभेद होना चाहिए जिससे कोई अंश या धर्म आवृत होकर शेष की अध्यासरूप में अभिव्यक्ति हो सके, किन्तु यदि आवरण के पूर्व अधिष्ठान में धर्म या अंश भेद न हो तो उसका फल स्पष्ट है कि, या तो सम्पूर्ण स्वरूप ही आवृत हो जायगा अथवा पूर्णतया अभिव्यक्त रहेगा। वादी के मत में उक्त सामान्य और विशेष धर्म का विभाग आध्यासिक (अध्यास का कार्य) है, अतएव यह (विभाग) उक्त अध्यास का कारण नहीं हो सकता। सुतरां धर्म और अंश के भेद से रहित ब्रह्माधिष्ठान में जगत् का अध्यास किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं हो सकता।

(४) <u>ब्रह्म को अचेतन, सचेतन या स्वात्मचेतनावान नहीं कह सकते, अतएव वह आवृत भी नहीं हो सकता।</u>

हमारे साधारण अनुभवराज्य के अन्तर्गत जितने भी अध्यास

दृष्टिगत होते हैं, उन सब में यह नियमपूर्वक पाया जाता है कि, ज्ञाता की दर्शनशक्ति के अपूर्ण या व्यवधान युक्त होने पर वस्तु (अधिष्ठान) अपने यथार्थ स्वरूप को त्यागकर भिन्नरूप से प्रतिभासित होता है। अधिष्ठान के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सचेतन या अचेतन ही हो, किन्तु यदि वह सचेतन होता है, तो उसको स्वात्मचेतनावान या स्वात्म-अचेतनवान रूप से विभाग किया जा सकता है। यदि अधिष्ठान सर्वथा अचेतन हो तो वह अपने आपही उसके प्रकृत स्वरूप में या किसी मिथ्या स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो सकता, इसके सत्य या मिथ्या रूपसे प्रतिभास के लिये किसी अपर चेतन ज्ञाता का होना आवश्यक है। यदि वह वस्तु सचेतन हो, परन्तु स्वात्मचेतनावान न हो तो उसे केवल अपने इन्द्रिय-संयोग से उत्पन्न बाह्य विषय का ही ज्ञान हो सकता है, किन्तु वह उसके ज्ञान का विषय से पृथक् रूप से अपने आत्मा का कोई विशेष धारणा नहीं कर सकता। सुतरां ऐसा अधिष्ठान भी अध्यास का कारण नहीं हो सकता जो किसी दूसरे ज्ञाता के ज्ञान का विषय न हो, जिसको वह (ज्ञाता) अपूर्णरूप से प्रत्यक्ष करके उसके स्वभाव को आंशिक रूप से देखता हुआ उसमें भिन्नविषयों का अध्यास करता है। यदि कोई अधिष्ठानभूत वस्तु स्वात्मचेतनावान हो तो वह साधारण जाग्रदवस्था में अपना प्रातिभासिक स्वरूप को नहीं जान सकता, (अर्थात् अपने प्रति वह जो नहीं इस प्रकार से प्रतिभात नहीं होगा), परन्तु स्वप्न, उन्माद, संमोहन, ध्यान आदि अवस्थाओं में उसे अपने स्वरूप में अध्यास की प्रतीति हो सकती है। इस स्थल में भी विषय और विषयी का भेद अवश्य रहता है। यहां मानस संकल्प ही विषयरूप से परिकल्पित होता है और उससे भिन्न रहकर उसके साथ अपने को सम्बन्धयुक्त माननेवाला ज्ञातृचेतन, विषयी होता है। यहां पर हम एक स्वात्मचेतनावानद्रव्य के अन्तर्गत परस्पर अत्यन्त भिन्न विषय और विषयी भाव की सम्भावना कैसे हो सकती है, इसकी उपपत्ति प्रदान करने के लिये प्रवृत्त नहीं हो

रहे हैं, किन्तु यह एक अनुभवसिद्ध घटना है । वैसे अन्तर में वास्तव विषयविषयिसम्बन्ध के अभाव होने पर स्वात्मचेतनता सम्भव नहीं होगी, सुतरां अपने को अपने स्वरूपविषय में भ्रान्ति सम्भव नहीं होगा । अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि, केवल विषय-विषयी-भेदयुक्त स्वात्मचेतनावान वस्तु ही अधिष्ठान और अनुभव करनेवाला हो सकता है ।

अब प्रश्न यह है कि क्या ब्रह्म को इस अध्यस्त जगत् का अनुभविता और अधिष्ठान मान सकते हैं ? इसके उत्तर देने के पूर्व यह निर्द्धारण करना पडेगा कि ब्रह्म चेतन अचेतन या स्वात्म-चेतनावान, इनमें से क्या है ? यदि यह माना जाय कि ब्रह्म शुद्ध चेतनरूप और सर्वप्रकाशक होता हुआ भी स्वयं अपने स्वरूपगत विषय (अध्यास) का ज्ञाता नहीं है तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म किसी दूसरे ज्ञाता के ज्ञान का विषय है जिसको उसके आंशिकरूप से आवृत और आंशिकरूप से अभिव्यक्त स्वरूप में जगद्-अध्यास का अनुभव होता है । उस अनुभव करनेवाले परिच्छिन्न विषयी (जीव) की सत्ता को ब्रह्म से पृथक् और अध्यास-काल के पूर्व में भी विद्यमान रूपसे स्वीकार करना होगा, नहीं तो उक्त विषयी को ब्रह्म के आंशिक रूप से आवृत स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकेगा । परन्तु जगत् को अध्यास रूप से माननेवाले वेदान्तियों को यह पक्ष सम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मत में जीव भी जगद्-अध्यास के अन्तर्गत सत्तावान् है, स्वतन्त्र नहीं । यदि उक्त मत के अनुसार वास्तव में परिच्छिन्न विषयी (जीव) भी अध्यास का कार्य हो, तो अध्यास की उत्पत्ति जीवों के सम्बन्ध से उपपादन नहीं कर सकते । यहां पर वादी यदि यह कहे कि परिच्छिन्न विषयी और अध्यस्त जगत् दोनों अनादिकाल से हैं तो इसका उत्तर यह है कि, परिच्छिन्न विषयी और जगत् को अध्यस्तरूप मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक उपयुक्त और निर्दोष है कि ये नित्य, सत्य और अद्वैततत्त्व से स्वरूपतः सम्बद्ध हैं । अब वादी यदि यह कहे कि तर्क की दृष्टि से एक निधर्मक निर्विकार अद्वैत

ब्रह्म को स्वात्मचेतनावान मानकर जगदध्यास समञ्जस नहीं होता ।

सत् चित् के अस्तित्व को पूर्व में स्वतःसिद्ध रूप से अवश्य मानना पड़ता है, जिससे वह सिद्धान्त प्राप्त होता है कि, यह प्रतीयमान सविकार द्वैतप्रपञ्च उसकी प्रातिभासिक अभिव्यक्ति मात्र है, तो यह प्रश्न होगा कि क्या केवल इसी कारण से परिच्छिन्न विषयी को स्वतन्त्र अस्तित्ववान् नहीं मान सकते ? क्योंकि तर्क की दृष्टि से तो यही मानना पड़ता है कि निर्विशेष सद्रूप अधिष्ठान में अध्यास होने के पूर्व भी विषयी स्वतन्त्ररूप से विद्यमान रहता है ।

यदि उक्त विकल्प को त्यागकर यह माना जाय कि ब्रह्म स्वात्मचेतनावान् है और वह स्वप्न-मनोरथादि के समान इस अध्यास का अनुभवकर्ता भी स्वयं ही है; तो भी नाना प्रकार के अखण्डनीय दोष उपस्थित होते हैं । क्योंकि यदि ब्रह्म को स्वात्मचेतनावान मान लिया जाय तो वह एक ही काल में विषयी और विषय होगा अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप में विषयी चेतन से पृथक् विषयधर्म रहेगा जिससे वेदान्तमतानुसार विषय को अस्वप्रकाश मानना होगा । अस्वप्रकाश विषय के भी स्वरूप के अन्तर्गत होने पर ब्रह्म का जो आत्म-ज्ञान है उसको भी अवश्य अपूर्ण मानना होगा, जिससे कि उसका आंशिकरूप से आवृत स्वरूप उसके प्रति अभिव्यक्त हो सके । फलतः इस पक्ष के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप अविशिष्ट या समरूप नहीं रहेगा, क्योंकि उसमें विभिन्न अवस्थायें या धर्म भी हैं जो कि आंशिकरूप से आवृत और अनावृत हैं । केवल इतना ही नहीं इससे ब्रह्म का स्वरूप विकारवान् भी हो जायगा, क्योंकि मनुष्य के समान उसमें भी स्वप्न-मनोरथादि होते रहते हैं । परन्तु ये सब कल्पनायें ब्रह्म के साथ सुसमञ्जस नहीं होतीः अतएव यदि उक्त विभिन्न अवस्थायें स्वीकृत न हों, तो यह मानना उचित है कि वह नित्य ही अपने आप को द्वैतप्रपञ्च रूप से अभिव्यक्त करता है, फलतः जगत्प्रपञ्च को बाधित करके इसे आध्यासिक नहीं कह सकते ।*

*यहां पर यह प्रश्न होता है कि, ब्रह्म का आवरक कौन है ? वह आवरण-शक्ति ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्गत है अथवा बाह्य स्वतन्त्र रूप से ? प्रथम

कल्प संगत नहीं, क्योंकि हमारे अनुभव में ऐसा कोई पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता, जो अपनी शक्ति से अपने आप को आवृत कर सके। अतः आवृत और आवरक पदार्थ के एक हो सकने की कल्पना भी हमारे मन में उठ नहीं सकती। यदि यह माना जाय कि ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति ही ऐसी है जिससे वह अपने स्वरूप को आंशिक रूप से आवृत कर सकता है, तो ब्रह्म को शक्तिरहित क्रियारहित नहीं किन्तु स्वतः क्रियाशक्तियुक्त रूप से मानना होगा। अब इसपर यह प्रश्न होता है कि वह शक्ति क्या ब्रह्म में नित्य अवस्थित रहती है? है, तो क्या वह ब्रह्म के प्रकृतस्वभावगत है अथवा स्वरूपभूत न रहकर अपृथक्भूत है? यदि नित्य नहीं है तो क्या वह शक्ति ब्रह्म के स्वरूप में यदा कदा उत्पन्न होती रहती है? यदि आवरण-शक्ति को ब्रह्म-स्वरूप के अन्तर्गत मानें तो वह आवृत स्वप्रकाशस्वरूप, आवृत असंगरूप, आवृत पूर्णरूप और आवृत चेतनरूप होगा अर्थात् ब्रह्म स्वप्रकाश और साथ ही अस्वप्रकाश, असंग और साथ ही सभंग, पूर्ण एवं साथ ही अपूर्ण और चेतन के साथ ही अचेतन भी होगा। परन्तु किसी भी एक पदार्थ में ऐसी विरुद्ध कल्पना नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि यह आवरण-शक्ति स्वरूपभूत न होकर अपृथक्भूतरूप से नित्य सम्बद्ध है, तो भी दोष होगा (पृष्ठ १७३ द्रष्टव्य)। और भी, उक्त आवरण-शक्ति प्रकृत या अप्रकृत किसी भी स्वरूप से ब्रह्म में रहती हो, किन्तु यदि वह नित्य हो तो उससे उत्पन्न अध्यास के भी नित्य होने के कारण, उसकी (अध्यास की) निवृत्ति की सम्भावना कभी नहीं हो सकती। फलतः उसको अध्यास रूप से मानने में भी कोई हेतु नहीं रह जायगा जिससे जगदध्यासविषयक सिद्धान्त का मूल ही निर्मूलित होगा। उक्त आवरणशक्ति को पक्षान्तर में यदि ऐसा माना जाय कि वह ब्रह्म के प्रकृत स्वरूप में उत्पन्न होती है, तो उसकी उत्पत्ति के निमित्त किसी कारणविशेष को स्वीकार करना आवश्यक है। वह कारण पुनः ब्रह्म-स्वरूप के अन्तर्गत है अथवा नहीं? यदि वह स्वरूपान्तर्गत हो और नित्य भी हो, तो वही पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होगी। और भी, इसमें कुछ हेतु नहीं कह सकते कि कैसे कारण नित्य ही रहकर कार्य अनित्य होगा; अर्थात् कारण के नित्य होने पर कार्य की भी नित्यता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जिससे अध्यास की फिर भी असिद्धि ही होगी। यदि वह कारण भी अनित्य हो तो अनवस्था-दोष होगा अर्थात् अनित्य कारण की उत्पत्ति के लिए किसी

आवरणशक्ति को ब्रह्म के अन्तर्गत या बहिर्गत नहीं मान सकते।

(८) ब्रह्म के प्रकृतस्वरूप का अनुभव सम्भव न होने से, जगत्प्रपञ्च की असत्यता और त्रैकालिक अभाव प्रमाणित नहीं हो सकता।

हम किसी साक्षात् अनुभव के विषय को अध्यासरूप तभी जान सकते हैं, जबकि अधिष्ठान के प्रकृतस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर उक्त अध्यस्त विषय का यातो सर्वथा तिरोभाव हो जाता है अथवा उक्त यथार्थ ज्ञान के प्रकाश से यह स्पष्टरूप से प्रमाणित होता है कि, इस प्रत्यक्ष विषय का स्वरूप वास्तव में वह नहीं था जो प्रथम प्रतिभासित हुआ था। इन दोनों स्थलों में यह निश्चित सिद्धान्त प्राप्त होता है कि, इस वस्तु का स्वरूप वह कदापि नहीं था जैसा कि वह पूर्वकाल में प्रतीत हो रहा था। प्रकृतस्थल में हमको यह विचार करना है कि, क्या उक्त अध्यास के समस्त लक्षण इस दृश्यमात्र जगत् में भी घट सकते हैं? जगत् को अध्यास रूप सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि इसके अधिष्ठान (अद्वैतब्रह्म) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाय। अब प्रश्न है कि, क्या अद्वैत ब्रह्म भी किसी यथार्थ ज्ञान का विषय

अन्य अनित्य कारण को स्वीकार करना पड़ेगा। और भी, ब्रह्म स्वरूप में किसी भी शक्ति की उत्पत्ति को मानने पर—चाहे वह ब्रह्मगत कारण से उत्पन्न हो अथवा उससे बहिर्भूत किसी कारण से हो—यह भी स्वीकार करना होगा कि ब्रह्म स्वरूपतः विकारी या परिणामी है। परन्तु यह वेदान्तसम्मत ब्रह्म की कल्पना के साथ सुसमञ्जस नहीं होता। अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि वेदान्तीलोग आवरणशक्ति को (वह चाहे जिस स्वभाव की हो) ब्रह्म स्वरूप के अन्तर्गत नहीं मान सकते। किन्तु फिर, क्या वे यह स्वीकार कर लेंगे कि उक्त आवरणशक्ति अथवा उसका कारण, ब्रह्म स्वरूप से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है? यह पक्ष भी ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्त का विरोधी है। यदि अद्वैतवाद को त्यागकर आवरणशक्ति को ब्रह्म से पृथक् अस्तित्ववान मान भी लिया जाय, तो भी इनमें आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। अतएव अत्यन्त सम्बन्धरहित किसी बहिर्भूत शक्ति के द्वारा ब्रह्माधिष्ठान में जगत् का अध्यास होना प्रमाणित नहीं हो सकता।

हो सकता है? यदि ब्रह्म किसी भी यथार्थ ज्ञान का विषय होता हो, तो वह नित्य, निधर्मक और जगदतीत तत्त्व नहीं होगा, किन्तु एक व्यावहारिक धर्मयुक्त पदार्थमात्र होगा । उक्त तत्त्व की धारणा भी असम्भव है, क्योंकि धारणा का विषय होने पर वह एक सापेक्ष व्यावहारिक तत्त्व हो जाता है । और भी, परिच्छिन्न विषयी (जीव) को यह कैसे ज्ञात हो सकता है कि, जगत् एक अध्यस्त प्रतिभास है नकि सत्य वस्तुतत्त्व, जैसा कि जगत् के विषय में उसका अनुभव है । यह कदाचित् सम्भव भी हो सकता है, यदि वह जगदध्यास के अधिष्ठानभूत ब्रह्म को अपने यथार्थज्ञान का विषय कर सके, परन्तु यदि वह (जीव) स्वयं उक्त अध्यास का कार्य हो तो उससे इस ज्ञान की आशा कदापि नहीं हो सकती । क्योंकि जब तक अध्यास है तभी तक वह (जीव) भी है और ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के प्रकाशित होने पर अध्यास और तत्कार्य (जीव) दोनों ही नहीं रहेंगे । अतएव जीव को इस अध्यास के अभाव का अनुभव कभी भी नहीं हो सकेगा, जिससे उसको निश्चय हो सके कि यह जगत् अध्यास रूप है । अथवा यदि ऐसा मान लिया जाय कि जगत् के अन्तर्गत होते हुए भी जीव में कुछ जगदतीत धर्म हैं जिससे वह जगत् को अतिक्रमण कर सकता है, तो भी दोषों की सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती । इस पक्ष में भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्म में अध्यास निवृत्ति के पश्चात् भी वास्तविक धर्म रहते हैं जो जीव के अनुभव के विषय होते हैं । ऐसा होने पर वेदान्तियों ने जो असङ्ग निधर्मक और अद्वैत ब्रह्म को मानते हुए जगत् की व्यवस्था के लिए अध्यास को स्वीकार किया है, वह व्यर्थ हो जायगा । क्योंकि इससे यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्म वास्तव में अद्वैत नहीं किन्तु द्वैत है, जिससे जगद्व्यवस्था के लिए अध्यास को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । समाधिकाल में जगत् के ज्ञान का तिरोभाव होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि, जगत् मिथ्या था, अतएव तिरोभाव को प्राप्त हुआः क्योंकि जगत् के ज्ञान का अभाव सुषुप्ति

और मूर्छावस्था में भी पाया जाता है। इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है कि किसी काल में जीव को ऐसा भी यथार्थानुभव प्राप्त होता है कि, जगत् वास्तव में कभी नहीं था, अतएव इसका अस्तित्व त्रिकाल निषिद्ध है। आगे चलकर इस विषय की अधिक आलोचना करेंगे।

उल्लिखित विचार से यह प्रतिपन्न हुआ कि ब्रह्माधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है, यह सिद्धान्त विचारसह नहीं। अतएव इस सिद्धान्त के आधार पर जो जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित होता है वह भी समीचीन नहीं है।*

*अद्वैतवेदान्तीलोग यह प्रदर्शन करते हैं कि, विचार के द्वारा कार्यकारणात्मक सापेक्ष जगत् का स्वरूप निर्द्धारित नहीं हो सकता। सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद विचारसह नहीं हैं। इसी प्रकार जगत् के मूल कारण को भी क्रियाशील अथवा निष्क्रिय रूप से विवेचित नहीं कर सकते (क्रियाशील होने पर अनवस्था होगी और निष्क्रिय होने पर अतिप्रसगदोष होगा, शक्तिनियमाधीन शक्यनियम होने से परस्पराश्रयदोष होगा)। अद्वैतवादीसम्मत यह सिद्धान्त कि तर्क के द्वारा कार्य-कारण भाव का निरूपण नहीं हो सकता, समालोचक को सर्वथा मान्य है, परन्तु इससे जगत् की अध्यस्तता सिद्ध नहीं हो सकती। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार प्रथम ही ब्रह्म को अखण्ड अद्वितीय और सत्स्वरूप मान लिया जाता है तथा पश्चात् उसकी सत्-स्वरूपता के साथ तुलना करके जगत् को असत् या मिथ्या कहा जाता है। परन्तु जबकि उक्त प्रकार का ब्रह्म लौकिक अनुभव या समाधि-प्रज्ञा से विदित नहीं हो सकता तथा अनुभव-मूलक युक्तितर्क से भी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, तब उसे प्रथम ही सत्य मानकर जगत् की सत्ता को उसकी सत्ता के आधीन मानना और मिथ्या अथवा असत्य कहना अनुचित है। जब तक कि जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक उसे अध्यस्त मानकर अधिष्ठान या अवधि की जिज्ञासा नहीं हो सकती तथा यह युक्ति प्रदान कर सकते कि निरधिष्ठान भ्रम और निरवधिक बाध सम्भव नहीं है। हमको केवल जगत् ही दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह किसी के साथ सम्बद्ध भी है अथवा नहीं, इसके जानने का हमारे पास कोई

उपाय नहीं है । अवधि के स्वरूप का निर्णय करने के लिए उक्त सम्बन्ध-ज्ञान का होना आवश्यक है, यदि एकादश सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त नहीं है, तो जगत् की अवधिरूप से ब्रह्म स्वरूप का निर्वचन भी नहीं कर सकते । शब्दप्रमाण से भी उक्त अवधिभूत धर्मरहित तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द अपने शक्यार्थ वा लक्ष्यार्थ से किसी धर्म को लेकर ही वस्तु को बोधित करेगा, गुण और धर्मरहित पदार्थ को ज्ञापन करने के लिए शब्द के पास शक्ति नहीं है । समाधिकाल में भी उक्त तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता, यह प्रथम ही निर्विकल्प और सविकल्प समाधि के विवेचन में प्रदर्शित कर चुके है । पूर्वोक्त समाधि स्थल में साधक निश्चयात्मक ज्ञानशून्य होता है और शेषोक्त में अपनी व्यक्तिगत भावना का अनुभव करता है । निर्विकल्प-समाधि मन की एक विशेष अवस्था (निरोधावस्था) है जो अभ्यास के तारतम्य से वृद्धि या न्यूनता को प्राप्त होती रहती है । अद्वैतवादी-साधक निर्विशेष ब्रह्म को साक्षीरूप आत्मा मानते हैं । अतएव उक्त समाधि से व्युत्थित होकर यही कल्पना करते हैं कि मैंने उस काल में निर्विशेष तत्त्व का साक्षात्कार किया था, उस तत्त्व से एक हुआ था । पूर्वलिखित विचार से यह प्रदर्शित हो चुका है कि अद्वैतवादियो का मूलतत्त्व-विषयक विचार सदोष है, सुतरां उक्त सिद्धान्तमूलक निर्विकल्प समाधि के अनुभव का वर्णन भी विचारशून्य केवल साम्प्रदायिक मात्र है । उस काल में निश्चयात्मक बुद्धि का अभाव होने से निर्विकल्पावस्था का निरूपण नहीं हो सकता, अतएव समाधि-अनुभव के द्वारा अवधिभूत तत्त्व का साक्षात्कार या उक्त तत्त्व के साथ अभिन्नता-प्राप्ति-विषयक कल्पना का निर्णय भी नहीं हो सकता । अब यदि यह कहा जाय कि, उक्त तत्त्व के ज्ञाता पुरुषलोग (उपनिषद में) उस अवधिभूत तत्त्व को अवाङ्मनसगोचर कहकर वर्णन करते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि वक्ता स्वयं अपने वाक्य की प्रमाणता का लोप कर रहा है । क्योंकि यदि उच्चारणकर्त्ता व्यक्ति स्वयं उसे नहीं जानता, तो उसके उच्चारित शब्द में प्रमाणत्वबुद्धि नहीं हो सकती और यदि वह जानता है तो उसका उक्त कथन निरर्थक है । जो कदाचित् भी कोई आकार से बुद्धि में आरोहित नहीं है उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते । ऐसा पदार्थ रहने से हम उसे नहीं जान सकते और हम जहांतक जान सकते हैं वहांतक उसका अस्तित्व नहीं रह सकता । विचार या युक्ति के

क्रोड़पत्र

यहां पर वर्तमान सांख्ययोगाचार्य श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्यकृत (बंगभाषा में लिखित योगदर्शन के परिशिष्ट में ग्रथित) "अध्यासवादखण्डन" उद्धृत करता हूं। "उपमा और उदाहरण का भेद मायावादीलोग भलीप्रकार नहीं समझते। मायावादीलोग 'घटाकाश' और 'महाकाश' को उपमा के स्वरूप में व्यवहार नहीं करते किन्तु उदाहरण के स्वरूप में करते हैं। उपमा प्रमाण नहीं है। उसके द्वारा समझने में कथञ्चित् सहायता मात्र होती है। उदाहरण से उत्सर्ग या नियम सिद्ध होता है; वह युक्ति का हेतुस्वरूप अंग होता है। "आत्मा आकाशवत् है" ऐसी उपमा शास्त्र में है, किन्तु मायावादीलोग उसको उपमा रूप से व्यवहार न करके उदाहरण रूप से व्यवहार करते हैं। वे लोग कहते हैं कि आकाश का घटकृत उपाधि होता है, किन्तु उससे आकाश लिप्त या स्वरूपच्युत नहीं होता। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि, उपाधि के द्वारा पदार्थ-विशेष की स्वरूपच्युति नहीं होती। परमात्मा भी तज्जातीय पदार्थ है। अतएव उपाधि के द्वारा उसके स्वरूप की भी विच्युति नहीं

द्वारा भी किसी निर्विशेष को अवधिभूत रूप नहीं जान सकते, क्योंकि अनुमान या युक्ति, अनुभवमूलक कार्यकारण भाव अथवा सामान्य-विशेषभाव के ऊपर निर्भर रहते हैं। प्रकृत में अनुभूत कार्यकारणभाव के अनुसार उक्त निर्विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती यह पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं, अतएव युक्ति के द्वारा भी असंग और निर्विशेष अवधिभूत तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। अपने अनुभव का भी वह विषय नहीं हो सकता, यह पूर्व ही कह चुके हैं। अतएव उपर्युक्त जिन साधनों के आधारपर शब्दप्रमाण प्रतिष्ठित होता है उनके खण्डित होने पर इस विषय में शब्दप्रमाण ही निर्मूलित हो जाता है। अतएव, सारांश यह सिद्ध हुआ कि—अधिष्ठान सत्ता से सत्तावान होकर जो न्यूनसत्ताक प्रतीत होता है वह अनिर्वचनीय होता है, इस लक्षण के अनुसार जगत् को अनिर्वचनीय या अध्यस्त या मिथ्या नहीं कह सकते।

होती । परन्तु उक्त पक्ष समीचीन नहीं । उदाहरण वास्तव होना चाहिए; किन्तु मायावादी का आकाशरूप उदाहरण वास्तव पदार्थ नहीं, किन्तु वैकल्पिक पदार्थ है; अर्थात् वह शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य पदार्थविशेष है । आकाश नामक जो भूत है, जिसका गुण शब्द है—वह उस ' घटाकाशका" आकाश नहीं । कारण, घट के मध्य में शब्द करने से वह अनेक परिमाण से घट के द्वारा रुद्ध होता है, अतएव घटमध्यस्थ, शब्दगुणक, आकाशभूत वस्तुतः ही घट के द्वारा संच्छिन्न होता । उसके द्वारा मायावादी के ब्रह्म को निर्लिप्तता और अपरिच्छिन्नता स्वभाव सिद्ध होने का नहीं । और एक वैकल्पिक आकाश है, जिसकी अपर संज्ञा अवकाश और दिक् है । वह पञ्चभूतका निशेधमात्र है । निषेध या अभाव पदार्थ, शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्य पदार्थ है । मायावादी का आकाश भी इस वैकल्पिक आकाश है । विश्व के उर्द्ध और अधः जहां देखोगे वहां ही पञ्चभूत हैं । (आकाश=शब्दमय बाह्य सत्ता, वायु=स्पर्शमय बाह्य सत्ता, तेज=रूपमय बाह्य सत्ता, जल=रसमय बाह्य सत्ता, क्षिति=गन्धमय बाह्य सत्ता है; बाह्य जगत् शब्दस्पर्शादि पञ्चगुणमय है)। शब्द, स्पश, रूप, रस और गन्ध में से कोई एक गुण नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं है । पृथ्वी और अन्तरिक्ष, वायु-आलोकादि से पूर्ण हैं । घट के मध्य में भी वायु आलोकादि पाञ्चभौतिक पदार्थ से पूर्ण रहते हैं । अभौतिक आकाश कहीं भी नहीं रहता । वस्तुतः शब्दादि गुण-वियुक्त स्थान की कल्पना करनी भी असाध्य है । तब यह कह सकते हो "जिस स्थान में शब्दस्पर्शादि नहीं रहें, उसी स्थान को मैं आकाश कहता हू"। उसका लक्षण होगा शब्दादि-शून्य स्थान । किन्तु शब्दादि से शून्य स्थान धारणा के योग्य नहीं है, सुतरां तादृश आकाश को शब्दादिशून्य अकल्पनीय पदार्थ कहना होगा, अर्थात् नाम है किन्तु वस्तु नहीं है ऐसा पदार्थ है । अतएव उस वाङ्मात्र आकाश के गुण को उदाहरण स्वरूप मान करके किसी वस्तु को प्रमाणित करने के लिये जाने पर उस प्रमाण का मूल विकल्पमात्र होगा । "घटरूप उपाधि के द्वारा आकाश परिच्छिन्न

या लिप्त नहीं होता" ऐसा कहने का अर्थ यह होगा कि "घटोपाधि के द्वारा आकाश-नाम से अकल्पनीय अवस्तु-लिप्त या परिच्छिन्न नहीं होता"। अतएव एतन्मूलक युक्ति के द्वारा आत्मा की अपरिच्छिन्नता का अवधारण किस प्रकार किया जा सकता है, सो पाठक स्वयं विचार करें। काल्पनिक पदार्थ के उपमास्वरूप से व्यवहृत होने में कोई दोष नहीं है, ऐसा व्यवहार करके हमलोग अनेक दुरूह विषय की कथञ्चित् धारणा कर लेते हैं। काल्पनिक आकाश भी इसीप्रकार शास्त्र में व्यवहृत होता है। उसको उदाहरण स्वरूप मानकर अपनी युक्ति की भित्ति बनाना ही दोष है। "आत्मा आकाशवत्" इसका अर्थ यह है कि, आकाश जैसे रूपरसादि से रहित पदार्थ है आत्मा भी ऐसे ही रूपादिहीन है। दृष्टान्त का एकांश मात्र ग्राह्य होता है, अतएव काल्पनिक आकाश का उतना अंशमात्र ग्रहण करना चाहिए-चन्द्रमुख के सदृश।

उस वैकल्पिक आकाश को शङ्कर ने अध्यासवाद का भी नेमिस्वरूप किया है। शङ्कर कहते हैं कि, प्रत्यक्ष विषय में ही अध्यास होगा, सो ऐसा नियम नहीं है क्योंकि अज्ञलोक अप्रत्यक्ष आकाश में भी तलमलिनतादि का अध्यास करते हैं। यह उदाहरण अद्वैतवादानुसारी अध्यास-व्याख्या की भित्तिस्वरूप है। किन्तु यह उदाहरण सदोष है। वह युक्तिस्थ उदाहरण "अप्रत्यक्ष आकाश" पदार्थ है। पहले प्रदर्शित हुआ कि अप्रत्यक्ष आकाश अवास्तव और वैकल्पिक पदार्थ है। आकाशभूत अप्रत्यक्ष नहीं। वह शब्दगुण के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जैसे रूप गुण के द्वारा तेजभूत प्रत्यक्ष होता है। और यह भी सत्य नहीं है कि अप्रत्यक्ष आकाश में तलमलिनतादि का अध्यास होता है। जिस आकाश में या अन्तरिक्ष में (Sky में) तलमलिनता का अध्यास होता है वह तेजोभूतादि के द्वारा पूर्ण है। तेज का ही गुण है नीलिमा। अन्तरिक्ष से आगत नीलरश्मि चक्षु में प्रविष्ट होकर नीलज्ञान उत्पादन करता है। अतएव वह अध्यास नहीं, अन्तरिक्षस्थ नीलरूप का दर्शन मात्र है और अन्तरीक्ष में अन्य किसी रूप का अध्यास होने पर भी (जैसे

गन्धर्वनगर) वह अप्रत्यक्ष किसी पदार्थ में नहीं होता; किन्तु वहां का प्रत्यक्ष तेजोभूत में ही होता है । अध्यास किन्तु प्रत्यक्ष अन्तरिक्ष में ही होता है । अन्तरिक्ष का जो रूप देखा जाता है वह वहां के तेजोभूत का गुण है, और उसमें कल्पित जो भी रूप (hallucination) दिखाई पड़े वह प्रत्यक्ष द्रव्य में ही अध्यस्त होता है; अप्रत्यक्ष आकाश में नहीं । जिसको साधारण रूप से आकाश कहा जाता है वह वस्तुतः अप्रत्यक्ष द्रव्य नहीं; परन्तु वह चक्षुग्राह्य रूपगुणशाली दिगन्तव्यापी तेजोभूत मात्र है । गंभीरता के कारण उसमें तलमलिनता का बोध होता है । फलतः इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष द्रव्य में ही अध्यास होता है, अप्रत्यक्ष द्रव्य में नहीं । अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षता के अध्यास का उदाहरण कहीं भी नहीं पाया जाता ।...सुतरां केवल "अद्वैत शुद्ध चैतन्य" रूप पदार्थ के द्वारा अध्यासवाद संगत करने की सम्भावना नहीं हो सकती ।...दो सत् पदार्थ के(अर्थात् जिसमें अध्यास होता है वह और जिसका गुण अध्यस्त होता है; स्मृति स्वयं ही मनोभाव या सत्पदार्थ है और स्मृति का विषय भी सत्पदार्थ है) बिना अध्यास होने का उदाहरण विश्व में नहीं मिलता । शंकर ने जो आकाश का उदाहरण दिया है वह अलीक उदाहरण है ।....विवर्त्तवाद के जितने भी उदाहरण हैं, उनमें एक भ्रान्ति का द्रष्टा और दूसरा ज्ञेय पदार्थ का दो प्रकार का ज्ञान (जैसे भ्रान्त व्यक्ति, शुक्तिका और रजत) अवश्यम्भावी है । स्वगत, स्वजातीय, और विजातीय भेद शून्य एक पदार्थ के द्वारा विवर्त्तवाद कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता ।"

रज्जुसर्पस्थल में अज्ञान को प्रकाशादि के न्याई सहकारिकारण मानना समुचित है ।

[४]

अद्वैतवेदान्तीलोग रज्जु आदि में प्रतीयमान सर्पादि भ्रांति का उपादानकारण अज्ञान को मानते हैं और इसी दृष्टान्त के आधार पर यह अनुमान करते हैं कि, इसी प्रकार निर्विकारब्रह्माधिष्ठान में प्रतीयमान जगद्-अध्यास का उपादान भी मूलाज्ञान है । अब यह सिद्धान्त समालोचना करते हैं । रज्जु की अज्ञानावस्था में सर्प अनुभवगोचर होता है, जबतक उक्त अज्ञानावस्था रहती है तभी तक सर्प की भी स्थिति रहती है और अज्ञान की निवृत्ति होने पर सर्प भी निवृत्त हो जाता है; इस अनुभव के आधार पर वेदान्तियों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, अज्ञान ही रज्जु में स्थित सर्प का उपादान कारण है । परन्तु यह सिद्धान्त समीचीन नहीं । उपर्युक्त तीनों हेतु (देखिए पृष्ठ १८४) को यदि यथार्थ मानभी लिया जाय तो भी इससे यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि अज्ञान ही अध्यस्त पदार्थ का उपादान कारण है, क्योंकि वे उपादानकारण तथा कार्य के कोई सहकारिकारण में समरूप से पाए जाते हैं । दृष्टान्तस्वरूप, प्रकाश के बिना रूप का दर्शन नहीं होता, जबतक प्रकाश की उपस्थिति रहती है तभीतक रूप भी प्रत्यक्षगोचर होता है और प्रकाश के न रहने पर रूप भी प्रतीत नहीं होता । इससे क्या यह अनुमान करलें कि प्रकाश ही उक्त प्रत्यक्षरूप का उपादान कारण है? इसीप्रकार शब्द और वायु का सम्बन्ध है; क्योंकि हम तभी तक शब्द को श्रवण कर सकते हैं जबतक कि वायु रहता है । इससे क्या वायु को भी शब्द का उपादान कारण मान लिया जाय ? इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जिनमें नित्य सहकारी कारण के ऊपर भी वस्तु का अस्तित्व निर्भर करता है, किन्तु केवल इसी हेतु से उसको उपादान कारण नहीं मान लेते । सूत्रों का विशेष प्रकार से रक्खा जाना (संस्थान को) ही वस्त्र के प्रति कारण होता है, जिसके न होने पर वस्त्र भी नहीं हो सकता । तो क्या उक्त सूत्र-विन्यास को ही वस्त्र का उपादान मान लेंगे ?

उपरोक्त हेतु दोनों स्थलों में विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी हम उसे उपादान नहीं मानते । अतएव यह प्रमाणित नहीं होता कि अज्ञान नित्य सहकारी कारण नहीं है, किन्तु वह भ्रान्त प्रत्यक्ष के विषय का उपादान कारण है ।

उपरोक्त हेतु का प्रयोग नियमपूर्वक सभी अध्यासों में भी नहीं हो सकता । मृगतृष्णास्थल में वस्तु के प्रकृत-स्वरूप-विषयक अज्ञान के निवृत्त होने पर भी भ्रान्ति (जल) प्रत्यक्ष होता रहता है । यह हम निश्चितरूप से जानते हैं कि, सूर्य एक महान् और स्थिर पदार्थ है जिसके चारों ओर पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह घूमते रहते हैं; तथापि हमको सूर्य क्षुद्रपरिमाणवाला, उदय और अस्त होनेवाला तथा गतिशील रूप से प्रत्यक्ष होता है । जब हम धूमयान (रेल) या अपर किसी शीघ्रगमनशील (नौका आदि) यान पर भ्रमण करते हैं, तब यद्यपि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि हम चल रहे हैं और हमारे चारों तरफ दृश्यमान वृक्षों की पंक्ति और पदार्थ स्थिर हैं, तथापि वस्तुतः यही प्रत्यक्षगोचर होता है कि, वृक्ष और दृश्यमान पदार्थ ही हमारे विपरीत दिशा में चल रहे हैं । इन सब घटनाओं को देखते हुए भी हम यह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि, अधिष्ठान-विषयक अज्ञान ही अध्यस्त पदार्थ का उपादान कारण और उसके साक्षात्कार में हेतु है । यहां पर वादी के द्वारा ऐसी व्यवस्था दी जा सकती है कि भ्रान्ति-प्रत्यक्षस्थल में इन्द्रियदोष, दूरत्व, संस्कारादि उक्त कार्य की उत्पत्ति और स्थिति में अज्ञान के सहकारी कारण होते हैं । परन्तु अधिष्ठान-विषयक अज्ञान के न रहने पर भी यदि सहकारी कारणों के द्वारा ही अध्यास की उत्पत्ति और स्थिति हो सकती है, तब हम वादी के इस कथन को युक्तिसिद्धान्त रूप से कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि एकमात्र अज्ञान ही उपादान कारण है और अपर सब उसके सहकारी मात्र हैं ।

हमको प्रायः इसी प्रकार की विभिन्न घटनाओं का अनुभव हुआ करता है, जिनमें अज्ञान है परन्तु फिर भी अध्यास की उत्पत्ति नहीं होती । दृष्टान्तस्वरूप, सुषुप्तिकाल में सभी पदार्थ-विषयक

नाना अध्यासस्थल में विभिन्न हेतु प्रयोजक होने से अज्ञान की निरुपादानता प्रमाणित होती है ।

ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान रहता है, किन्तु वहां पर कोई भी अध्यास उत्पन्न नहीं होता। अन्य प्रकार के दृष्टान्तों में यथा शुक्ति-रजत और रज्जु- सर्पादि में, अज्ञान रहता है और अध्यास भी उत्पन्न होता है। इससे भिन्न मृगतृष्णा-जल, महान् सूर्य की क्षुद्रता और स्थिर वृक्षों की गति आदि दृष्टान्तों में अज्ञान का सर्वथा अभाव है, किन्तु फिर भी अध्यास उपस्थित रहता है। उक्त विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तों के दर्शन से हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि अज्ञान और अध्यास में नियत सम्बन्ध भी है। इस विषय में साधारणतया हमारा यह अनुभव है कि केवल अज्ञान की उपस्थिति ही अध्यास को उत्पन्न नहीं कर सकती, किन्तु जब अध्यास उत्पन्न होता है तब अज्ञान उस अध्यास के प्रधान हेतु के साथ नियत-साहचर्य को प्राप्त होता है। यथा प्रकाश की कमी से रज्जु में सर्प प्रतीत होता है तथा पूर्ण प्रकाश के होने पर उक्त सर्प का अध्यास निवृत्त हो जाता है। यहां पर पर्याप्त प्रकाश का अभाव ही सर्प की प्रतीति में प्रधान हेतु है जिसके साथ अज्ञान का नियत साहचर्य सम्बन्ध रहता है; अर्थात् प्रकाश का अभाव होने पर अधिष्ठान-विषयक अज्ञान रहता है तथा न होने पर अज्ञान भी नहीं रहता। किन्हीं घटनाओं में अज्ञान के अनुपस्थित रहने पर भी अध्यास उपस्थित रहता है। इनमें अन्य किसी घटना के साथ अध्यास का नियत साहचर्य पाया जाता है। यथा नौका का चलना ही अचल वृक्षों के चलायमान प्रतीत होने में प्रधान हेतु है, जिसके न रहने पर वृक्ष भी स्थिर रूप से दिखाई देने लगते हैं। यहां पर अज्ञान का सर्वथा अभाव है किन्तु नौका-चलन रूपी हेतु के भाव मात्र से ही अध्यास की प्रतीति हो सकती है, अतएव इस स्थल में नौका की चलन-क्रिया को ही अध्यास के साथ नियत साहचर्य सम्बन्धवान् स्वीकार करना होगा। इस प्रकार जब हम प्रत्येक अध्यास-स्थल में विभिन्न हेतु को प्रधान रूप से प्रयोजक पाते हैं, तब यह कैसे स्वीकार करलें कि एकमात्र अज्ञान ही समस्त अध्यासों का प्रकृत उपादान कारण है, सहकारी मात्र नहीं।

अज्ञान के निरुपादानता में युक्ति प्रदर्शन ।

यदि अज्ञान और अध्यास के नियत सम्बन्ध को किसी प्रकार सिद्ध कर भी लिया जाय, तो भी अज्ञान को अध्यास के प्रति उपादानकारणरूप से मानने में कोई हेतु नहीं है। जहां पर अध्यस्त पदार्थ का प्रतिभास अज्ञानकृत मान भी लिया जाता है वहां पर भी क्या अज्ञान को उपादानकारणरूप सिद्ध करने में कोई हेतु अज्ञान में विद्यमान है ? वहां पर प्रत्यक्ष करनेवाले व्यक्ति-विशेष के प्रति रज्जु और शुक्ति ही अध्यस्त सर्प और रजतरूप से स्वतः अभिव्यक्त होते हैं, शुक्ति सर्परूप से और रज्जु रजत-रूप से भासमान नहीं होता। अतएव अध्यस्त पदार्थ के स्वरूप के निर्माण करने में अधिष्ठान का स्वरूप ही प्रधान हेतु (उपादान) होता है। अधिष्ठान के अनुरूप ही अध्यास होता है, अधिष्ठान की सत्ता से ही अध्यस्त पदार्थ सत्तावान होता है और अध्यस्त की प्रतीति के लिये अधिष्ठान का उपस्थित रहना आवश्यक रहता है। सुतरां अधिष्ठान को ही अध्यस्त पदार्थ का प्रकृत उपादान कारणरूप से मानना युक्तिसंगत है। अधिष्ठान के अपने यथार्थ स्वरूप से भिन्न रूप में स्वतः अभिव्यक्त होने के लिये अन्य अनेक सहकारी कारण हैं, जिनमें से अधिष्ठान का प्रकृत स्वरूपविषयक अज्ञान भी एक कारण है। एक ही रज्जु में माला, धारा, दण्ड और सर्पादि विभिन्न अध्यास के उत्पन्न होने में अपर सहकारी सामग्री ही कारण हैं। सुतरां उक्त स्थल में अज्ञान एक आवश्यक सहकारी सामग्री रूप से अवश्य प्रमाणित हो सकता है, किन्तु उसको उपादान कारणरूप से मानने में कोई भी युक्ति नहीं है। उक्त अधिष्ठान (रज्जु) को भी—मृत्तिका-घट, सूत्र-वस्त्र दूध-दही आदि के समान—अध्यस्त (सर्प) का उपादान रूप नहीं मान सकते। यदि वह अध्यस्त पदार्थ का प्रकृत उपादानकारण होता, तो अध्यस्त पदार्थ का बाह्य अस्तित्व रहताः यद्यपि कारण की अपेक्षा इसकी सत्ता न्यून होती तथापि इसे प्रत्यक्ष करने वाले सभी ज्ञाताओं के प्रति यह एक रूप से प्रतिभासित होता, जैसा कि इन्द्र-धनुष और आकाश-नीलिमादि स्वतन्त्र अस्तित्व वाले पदार्थों

में पाया जाता है । परन्तु रज्जु-सर्पादि दृष्टान्तों में तो यह पाया जाता है कि, एक रज्जु किसी व्यक्ति के द्वारा सर्प रूप से गृहीत होता है, किन्तु अपर व्यक्ति के द्वारा नहीं । यहां पर यह नहीं कह सकते कि अज्ञान, किसी व्यक्तिविशेष के प्रति अधिष्ठान के प्रकृत स्वरूप को आवृत करके केवल उसी के प्रति अपने आपको अध्यस्त पदार्थ रूप से प्रतिभासित करता है । क्योंकि यहां पर यह प्रश्न होगा कि, अज्ञान का बाह्य अस्तित्व है या आभ्यन्तर? कहना न होगा कि, उक्त दोनों ही विकल्प उक्त घटना की सन्तोषप्रद उपपत्ति नहीं दे सकते । यदि अज्ञान का बाह्य अस्तित्व माना जाय तथा उसे अधिष्ठानगतरूप से मानें, तो इसमें कोई हेतु नहीं मिलता कि वह एक ही काल में प्रत्यक्ष करनेवाले अनेक व्यक्तियों में से केवल एक को ही क्यों अपना अध्यस्तरूप प्रदर्शित करता है तथा अन्य व्यक्तियों को नहीं? यदि पक्षान्तर में अज्ञान को आन्तर प्रत्यक्ष-करनेवाला ज्ञातृगत मानें तो प्रत्यक्षीकृत अध्यस्तविषय को बाहर-रहनेवाला नहीं मान सकते, क्योंकि उपादान कारण के अन्दर रहने पर उसका कार्य प्रत्यक्ष के योग्य बाह्यविषयरूप नहीं हो सकता; नहीं तो अध्यास का प्रत्यक्ष होना भी असम्भव हो जायगा । और भी, यदि अज्ञान केवल कुछ काल के लिए भी ज्ञाता के स्वरूप में अन्तर्गत हो, तो भी इसमें कोई हेतु नहीं निर्देश कर सकते कि, क्यों वह एक काल में एक वस्तु के स्वरूप को आवृत और विक्षिप्त करेगा अथच अपर को नहीं । अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, केवल अज्ञान या बाह्य अथवा आन्तर अज्ञानसंयुक्त अधिष्ठान को, अध्यस्तविषय का उपादान कारणरूप प्रमाणित नहीं कर सकते । फलतः वेदान्तीलोग-अधिष्ठान और उससे संबन्धयुक्त अज्ञान के द्वारा-आध्यासिक कार्यकारणभाव की उपपत्ति भी नहीं दे सकते । सारांश यह कि रज्जु-सर्प में अज्ञान का उपादानकारणत्व सिद्ध न होने पर इसके आधार पर समस्त अध्यस्त जगत् का उपादानरूप मूलाज्ञान का अनुमान भी नहीं हो सकता ।*

*यहां प्रश्न हो सकता है कि, भ्रान्तिस्थलीय विषय की उत्पत्ति, प्रत्यक्ष के पूर्व में होती है या पश्चात् अथवा साथ ही साथ? यदि प्रत्यक्ष के पूर्व में

होती हो तो उसको स्वतन्त्र अस्तित्ववान बाह्य विषय रूप स्वीकार करना होगा, सुतरां वह भ्रान्ति है, यह प्रमाणित नहीं होगा । वह प्रत्यक्ष के पश्चाद्भावी भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो अभीतक उत्पन्न ही नहीं हुआ उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी नहीं हो सकता । उसको प्रत्यक्ष के साथ ही साथ उत्पन्न होने वाला भी नहीं कह सकते, क्योंकि विषय के पूर्व में उपस्थित हुए बिना इन्द्रिय-सन्निकर्ष सम्भव नहीं है । अतएव उसकी उत्पत्ति के प्रथम या द्वितीय क्षण में भी प्रत्यक्ष का होना असम्भव है । और भी, वेदान्तियों के मतानुसार ज्ञान दो प्रकार का है, एक स्वरूप ज्ञान (नित्य साक्षी चेतन) और दूसरा वृत्तिज्ञान । वृत्तिज्ञान के भी दो भेद हैं, एक मनोवृत्ति और दूसरी अज्ञानवृत्ति । अब प्रदर्शन करते हैं कि, इस मत के अनुसार केवल चेतन के द्वारा उक्त भ्रान्तिस्थलीय सर्प को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । इन्द्रियसन्निकर्षजनित परिणाम के बिना साक्षी-चेतन के लिए उक्त सर्प को जान सकना सम्भव नहीं । यदि ऐसा सम्भव होता, तो अन्धव्यक्ति को भी रज्जु में सर्प की प्रतीति होना सम्भव होता और सुखदुःख भी चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय हो सकते । ऐसा मानने पर भ्रान्तिस्थलीय सर्प के स्मरण की भी उपपत्ति नहीं हो सकती । प्रातिभासिक पदार्थ पूर्व में अज्ञात नहीं रहता, सुतरां उसका आकार धारण करना मनोवृत्ति के लिये सम्भव नहीं । अज्ञानवृत्ति चक्षुरूप या चक्षुजन्य नहीं होता, अतएव उसके द्वारा प्रातिभासिक पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता । और भी, रज्जु आदि बाह्यपदार्थगत अज्ञान को मान करके ही यह कहा जाता है कि, रज्जु किञ्चिद्रूप से ज्ञात और किञ्चिद्रूप से अज्ञात् होकर प्रातिभासिक पदार्थ का आश्रय होता है, सो बाह्य देश में स्थित अज्ञान को मानना अनुभवविरुद्ध और विचाररहित है; यह आगे प्रतिपादन करेंगे । और भी, जब भ्रान्तिस्थल में प्रतीयमान पदार्थ के स्वरूप निर्णय करने में इन्द्रियदोषादि नाना दोषों को स्वीकार किया जाता है, तब यह निश्चय करना भी कठिन होता है कि, वहां पर प्रातिभासिक विषय उत्पन्न होता है; क्योंकि सम्भव है भ्रान्तिदोष से दुष्ट विचार का निर्णय भी अननुरूप हो तथा वहां पर कुछ भी उत्पन्न न होता हो । पदार्थों की अनिर्वचनीयता की सिद्धि के लिये भ्रान्तिप्रत्यक्ष को ही प्रमाणभूत मानकर वहां पर अनिर्वचनीय की उत्पत्ति मानना भी समीचीन नहीं, क्योंकि व्यवहार के योग्यवस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर ही उसे प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा विषयरूप स्वीकार करना

अज्ञान को विक्षेप का कारण नहीं मान सकते।

[५]

वेदान्तमत में निर्विकार ब्रह्म में सविकार जगत् की उपपत्ति के लिए ब्रह्म के अतिरिक्त एक अज्ञान भी माना गया है, जो ब्रह्म के साथ नित्य सम्बद्ध होता हुआ भी उससे स्वतन्त्र अस्तित्ववान नहीं है। अब हमको यह विचार करना है कि, असंग निरुपाधिक अपरिणामी स्वप्रकाश तत्त्व के साथ नित्य सम्बद्ध रूप से अज्ञान की उपस्थिति की सम्भावना कैसे हो सकती है तथा इस कल्पित अज्ञान से सोपाधिक उत्पत्तिशील परतन्त्र जगत् की उपपत्ति कहां तक सम्भव है? यदि हम अपने बाह्यजगत् के अनुभव के आधार पर अज्ञान की धारणा करें, तो उसको ज्ञेयविषय का आवरणस्वरूप मानना होगा तथा अपने आभ्यन्तर अनुभव (सुषुप्ति में कोई विषय को ज्ञात न होना) के अनुसार यह कहना होगा कि, वह ज्ञान का अभावरूप है। यदि हम इसी अज्ञान की धारणा को भ्रान्ति-अनुभव के विश्लेषण से ग्रहण करें (यथा रज्जु में सर्प, मरुभूमि में जल, अति विस्तृतत्व स्थिर सूर्य को क्षुद्र एवं गतिशील आदि) तो यह पाया जाता है कि अज्ञान प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञाता के ज्ञेय विषय (रज्जु, मरुभूमि, सूर्य) के यथार्थ स्वरूप को आवरण करता है। परन्तु केवल अज्ञान से यह प्रतिपादित नहीं होता कि रज्जु में केवल सर्प ही क्यों प्रतिभात होता है न कि अपर कोई वस्तु तथा मरुभूमि के आवृत होने पर जल ही क्यों दिखाई देता है? इसी प्रकार सूर्य भी क्षुद्र एवं उज्ज्वल गोलाकार रूप से ही क्यों दिखाई पड़ता है किसी अन्य रूप से क्यों नहीं प्रतिभात हो जाता? अतएव अज्ञान को केवल आवरणरूप मान लेना ही अध्यासोत्पत्ति की व्यवस्था के लिये यथेष्ट नहीं है। किञ्च, अज्ञान को जगत्कारण

पड़ता है, अव्यावहारिक वस्तु का नहीं। अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि रज्जु-सर्पादि-स्थल में अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति के सुसिद्ध न होने के कारण, अधिष्ठान के साथ उक्त अनिर्वचनीय पदार्थ का तादात्म्य मानना भी सुचित नहीं, अतएव उक्त दृष्टान्त के बल पर आध्यासिक तादात्म्य की संभावना नहीं हो सकती।

मानने का अर्थ यह होगा कि ब्रह्म का ज्ञान सीमाबद्ध एवं अपूर्ण है; ब्रह्म यदि निःसीम और पूर्ण ज्ञानवान होता तो उसमें अज्ञान का अभाव होने के कारण जगत् की उत्पत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि अज्ञान एक सापेक्ष वस्तु है, ज्ञान की क्रिया और ज्ञान के विषय के उल्लेख बिना अज्ञान की कल्पना सम्भव नहीं। अतएव ब्रह्म में ज्ञानाभाव को स्वीकार कर अज्ञान को स्थान देने पर ही जगत् की उत्पत्ति हो सकेगी; जो कि वेदान्तसम्मत सर्वज्ञब्रह्मवाद के विरुद्ध है।

अज्ञान को हम किसी भी रूप से मानें, परन्तु उससे यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि, स्वप्रकाश जगदतीत तत्त्व के साथ उसका कोई सम्बन्ध है। अज्ञान यदि ज्ञानाभावरूप हो अथवा ज्ञेयविषय के प्रकृत स्वरूप का आवरक भावरूप हो, दोनों रूप से उसे ज्ञान का सह-सम्बन्धी मानना होगा, परन्तु जगदतीत तत्त्व का न कोई ज्ञानक्रिया है और न कोई ज्ञानविषय है। अद्वैत अपरिणामी शुद्ध जगदतीत चेतन, अज्ञान का ज्ञाता या विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी ज्ञान का ज्ञाता या विषय रूप नहीं है। अद्वैत स्वप्रकाश तत्त्व को ऐसा भी नहीं मान सकते कि वह स्वयं अपने स्वरूप को संपूर्ण या आंशिक रूप से आवृत करता है, क्योंकि ऐसी धारणा के साथ साथ यह भी कल्पना करनी पड़ती है कि उसके स्वरूप में ज्ञाता और ज्ञेय, ज्ञातृधर्म और ज्ञेय-धर्म तथा अंशभेद हैं, जोकि उसके अद्वैतत्व के विरुद्ध हैं। जबकि वादी को कोई ऐसा अपर सत्य पदार्थ का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है जिसका प्रकृत स्वरूप इस जगदतीत तत्त्व के प्रति अज्ञात रहे, अथवा कोई अन्य ज्ञाता का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है जिसके प्रति इस जगदतीत तत्त्व का प्रकृत स्वरूप आवृत रहे, तब अज्ञान को किसी भी रूप से उस जगदतीत तत्त्व के साथ सम्बद्ध मानना सर्वथा असंगत है। अज्ञान को उक्त तत्त्व के स्वरूपगत धर्मरूप से (वास्तव या अवास्तव) भी नहीं मान सकते। क्योंकि उसको सर्वथा धर्मरहित स्वप्रकाश माना जाता है तथा अद्वैत ज्ञातृज्ञेयरहित

तत्त्व के सम्बन्ध में हम किसी अज्ञान की धारणा भी नहीं कर सकते । हमारी बुद्धि के अनुसार अज्ञान के जो जो अर्थ हो सकते हैं उनमें से कोई भी अर्थ उक्त अद्वैत तत्त्व के साथ सुसंगत नहीं होता । जगदतीत तत्त्व के साथ आवरण की धारणा भी सुसमञ्जस नहीं है, क्योंकि यदि उक्त तत्त्व का अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से आवृत हो; तो व्यावहारिक प्रपञ्च सद्रूप से प्रतिभात नहीं होता तथा यदि किसी विशेष स्वरूप मात्र को आवृत माना जाय, तो उतने अंश को उससे पृथक् करके उसे गुणरूप से मानना होगा अथवा यह कहना होगा कि उक्त तत्त्व विशेष-धर्मयुक्त है, निधर्मक नहीं । परन्तु यह सिद्धान्त वेदान्तियों को सम्मत नहीं हो सकता ।

वेदान्तीलोग कहते हैं कि अज्ञान एक शक्ति है जो नित्य ही अद्वैत तत्त्व के द्वारा प्रकाशित होकर उसी को प्रतिभात होता है तथा ज्ञाता और ज्ञेय रूप द्वैतप्रपञ्च की अभिव्यक्ति का कारण है; किन्तु मूलतत्त्व के प्रकृतस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर वह (जगत्) नाश को प्राप्त होता है, अतएव उसे अज्ञान या उसका कार्य कहना उचित है । वेदान्तियों के इस कथन के विरुद्ध समालोचक की यह आपत्ति है कि, तत्त्वस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से द्वैतप्रपञ्च का सर्वथा विनाश हो जाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है; प्रत्युत इस अज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान का सम्भव होना ही व्यावहारिक जगत् के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है । वेदान्त-मत में ज्ञान को मन का परिणामरूप माना गया है, अतएव अद्वैत ब्रह्म को ज्ञान-सम्बन्ध से रहित ज्ञानातीत कहा जाता है । अब यदि उक्त मत के अनुसार तत्त्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्भव हो, तो वह मन की विशेषवृत्ति मात्र होगी । यदि वह ज्ञान, जगत् और उसके मूल (अज्ञान) का नाशक भी हो, तो मन को जगत् से भिन्न मानना पड़ेगा, न कि उसके अन्तर्गत अज्ञान का कार्यरूप । यह स्पष्ट है कि ऐसा मानने पर तत्त्वज्ञान से समूल जगत्प्रपञ्च का नाश नहीं होगा और वेदान्तियों का उक्त कथन निरर्थक होगा ।

जगत् ज्ञाननिवर्त्य नहीं होने से अज्ञानकृत नहीं ।

इसके अतिरिक्त हमारे साधारण अनुभव के अनुसार हमें यह बात समझ में नहीं आती कि, हमारा ज्ञान किसी ऐसे पदार्थ को भी अपना विषय कर सकता है जो जगत् से सर्वथा पृथक् एवं जगदतीत हो अथवा उक्त जगत्सम्बन्ध-रहित तत्त्व ही जगत् के अन्तर्गत हमारे मन की उपस्थिति के बिना ही अनुभूत हो जाय । यह कदाचित् हो भी सकता है कि मन किसी अवस्थाविशेष में उक्त तत्त्व के कल्पितस्वरूप में एकाग्र होकर एकाकारता को प्राप्त हो तथा द्वैतप्रपञ्च से सर्वथा उदासीन होकर उसकी उपस्थिति के ज्ञान से रहित हो जाय, परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि, यह व्यावहारिक प्रपञ्च मिथ्या या अध्यस्त है तथा उक्त जगदतीत तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से नाश को प्राप्त होता है । अतएव, जब यह प्रतिपादित नहीं होता कि उक्त जगदतीततत्त्व के यथार्थ ज्ञान से जगत् समूल नष्ट हो जाता है, तब इस जगत् को अज्ञान का कार्यरूप भी नहीं कह सकते ।*

*जगत् सत्य है या मिथ्या, यह निर्णय करने के लिए उसके मूलस्वरूप का विवेचन करना आवश्यक होगा । जगत् यदि पृथिव्यादि चार प्रकार के परमाणुओं से आरम्भित हो (न्यायवैशेषिक-मीमांसक सम्मत), या चार प्रकार के परमाणुओं का समूहरूप क्षणिक हो (बौद्धविशेष), या एकजातीय परमाणु का अवस्थान्तर हो (जैन), तो जगत् को सत्य कहना होगा । जगत् यदि ज्ञानाकारमात्र हो (बौद्ध), तो बाह्यप्रपञ्च अलीक होगा तथा प्रकृति का परिणाम हो (सांख्य), तो सत्य होगा । सांख्याचार्यलोग जगत् के सभी वस्तुओं को पारमार्थिक सद्रूप से अङ्गीकार करते हैं । अधिक क्या कहें, इस मत में घटपटादिपर्यन्त भी सत् होते हैं, क्योंकि ये अपने कारण प्रकृति से अतिरिक्त नहीं होते और प्रकृति नित्य है, इसलिये ये भी नित्य हैं । कार्य सर्वदा कारणरूप से ही विद्यमान रहता है केवल उसका आविर्भाव और तिरोभाव होने से उसका उत्पन्न या विनष्टरूप से व्यवहार होता है । नैयायिकों का सत्यत्व ठीक इसी प्रकार नहीं है । वे कार्य को उत्पत्ति के पूर्व में असत् कहते हैं । जगत् यदि ब्रह्म का परिणाम हो, तो वह सत्य होगा तथा विवर्त्त हो तो वह मिथ्या होगा ।

सत् यदि क्षणिक पदार्थरूप (परिणामरहित) हो, तो जगत् का स्थिरत्व

असत्य होगा तथा सत् यदि परिणाम-स्वभाववाला भिन्न भिन्न पदार्थरूप (स्थिर) हो (जैन), तो जगत् सत्य हो जायगा । सत्त्व यदि वर्त्तमानत्व, काल-सम्बन्धत्व या देशसम्बन्धत्व या धात्वर्थ होगा तो जगत् सत्य होगा । सत् यदि व्यापक नित्य जातिरूप धर्म हो (नैयायिक) जिसके साथ समवेत होकर प्राक्-असत् कार्यपदार्थ सद्रूप से प्रतिभात होता हो, तो जगत् सत्य है । ऐसा ही सत् यदि अस्तित्वरूप व्यापक धर्म हो, तो भी जगत् सत्य होगा । सत् यदि जड और मूल-उपादान कारण हो (सांख्य), जिसकी अभिव्यक्ति ही यह सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्च हो, तो जगत् सत्य होगा । सत् यदि परिणामी बुद्धिरूप हो (साख्यमत में "जानता हूं" यह प्रत्यय निरन्तर सद्रूप से भासमान रहता है), तो जगत् सत्य होगा । सत् यदि चेतनायुक्त अद्वितीय तत्त्व हो (वैष्णव), जिसका परिणाम या विलास या गुणभूत यह जगत् हो, तो भी यह सत्य होगा । सत् यदि चेतनस्वरूप अद्वितीय अधिष्ठान हो (विभिन्न व्यक्ति या उनके अननुगत या अनुगत धर्म या अद्वितीय धर्मी नहीं), तो जगत् के उसमें स्वरूपतः न रहने से अथच उसी सत्ता से उसमें प्रतिभात होने से, वह उक्त अद्वितीय सत् से विलक्षण होगा तथा अपरोक्ष होने से असद्विलक्षण भी होगा, अतएव उसे सदसद्विलक्षण या अनिर्वचनीय या मिथ्या कहना होगा । परन्तु ऐसा सत्स्वरूप, प्रमाण से या विचार से सिद्ध न होने से उसके विवर्त्तरूप से जगत् का निर्द्धारण नहीं कर सकते । इसी से ज्ञानज्ञेयात्मक जगद्रूप मानते हुए स्वप्रकाश अद्वैत ज्ञानस्वरूप में ज्ञेयरूप जगत्प्रपञ्च को मिथ्या नहीं कह सकते । ऐसे ही जगदुपादन अज्ञान (माया) के असिद्ध होने से चेतनाधिष्ठित अनिर्वचनीय अज्ञानमूलक मान कर भी जगत् को मिथ्या नहीं कह सकते । अज्ञानमूलक मान्य न होने से ही शून्यवादी का कथन भी खण्डित होता है जानना । (अद्वैतवेदान्तमत में बाह्यविषय कुछ भी सत् नहीं, वह मायामात्र है । शून्यवादीलोगों ने विवेचन किया है कि, वास्तव बाह्य विषय के न रहने पर भी यदि माया द्वारा बाह्य व्यवहार का निर्वाह हो सके, तो आत्मा को स्वीकार करने का भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । बाह्य व्यवहार की न्याई अध्यात्म व्यवहार का भी निर्वाह माया के द्वारा ही हो जायगा । इस रूप से शून्यवाद या नैरात्म्यवाद का आविर्भाव हुआ है) ।

अज्ञान की संख्या के निर्णय के अधीन जीवेश्वरभाव का निर्णय है ।

इसके अतिरिक्त यदि तथाकथित तत्त्व के पूर्णज्ञान से जगत् यथार्थतः नाश को प्राप्त होता है, तो किसी एक व्यक्ति के द्वारा उक्त ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर ही समस्त जगत् का नाश हो जाना चाहिये । किन्तु वेदान्तियों के मत में तो उक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष के प्रति भी व्यावहारिक जगत् का प्रतिभास वैसा ही बना रहता है जैसा कि अन्य अज्ञानियों के प्रति तथा उक्त यथार्थ ज्ञान का जगत्-प्रतिभास से कोई विरोध भी नहीं होता । सुतरां अज्ञान का ही इस द्वैतप्रपञ्च का मूल मानने में क्या हेतु रह जाता है ?

उपर्युक्त विवेचन से यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस द्वैतप्रपञ्च का मूल अज्ञान नहीं हो सकता, तथापि उक्त मत की सर्वाङ्गीण असमीचीनता के प्रदर्शन के लिए अब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि, अज्ञान किसी भी रीति से हो, परन्तु स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अविकारी निधर्मक अनन्त अद्वैत स्वरूप के साथ सम्बद्ध है तथा वह उक्त तत्त्व के प्रकृतस्वरूप को आवृत करके उसी को द्वैतप्रपञ्च रूप से प्रतिभात भी करता है ।*

*यदि अज्ञान केवल एक हो या अनेक मात्र हो तो जीव से भिन्न ईश्वर सिद्ध नहीं होगा; अर्थात् यदि अज्ञान केवल एक है तो एक अविभक्त चेतन के साथ केवल एक अज्ञान का सम्बन्ध होने पर केवल एक ही जीव हो सकेगा और अन्य जीवलोग जीव नहीं किन्तु जीवाभास होंगे । यदि अज्ञान विभिन्न और अनेक हो, तो एक चेतन के साथ उन अनेक अज्ञानों के सम्बन्ध से केवल अनेक जीव होंगे, न कि ईश्वर भी । यदि अज्ञान अंशयुक्त समष्टिरूप हो, तो चेतन के साथ अंश और समष्टि इन दोनो भावों के सम्बन्ध से युगपत् ही जीवत्व और ईश्वरत्व होगा । अब यह प्रदर्शन करते हैं कि अज्ञान के एकत्व और अनेकत्व का निर्णय नहीं हो सकता, अतएव ईश्वर और जीव का स्वरूप भी अनिर्णीत रह जाता है । अज्ञान का एकत्व या बहुत्व स्वप्रकाश साक्षी के द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता । साक्षीचेतन के अहंरहित अवस्थारहित और नित्य होने के कारण उसके द्वारा संख्या का ज्ञान हो सकना सम्भव नहीं है । तात्पर्य यह कि, १, २, ३, आदि संख्या की

साक्षीचेतन द्वारा अज्ञान की संख्या का निर्णय नहीं हो सकता ।

गणना के लिये जिस अहं ने एक को गिना है उसी अहं को दो आदि गिनने के काल में भी रहना चाहिये तथा २ की गिनती के समय १ का स्मरण भी होना चाहिए । इसी प्रकार २ की गिनती (निर्णय) के समय ३ आदि के अभाव (प्रागभाव) का ज्ञान तथा १ के अभाव (प्रध्वंसाभाव) का ज्ञान होना भी आवश्यक है और इस अभावज्ञान के निमित्त जिसका अभाव है उसके स्मरण का होना भी आवश्यक है । अतएव जहां पर स्मृतिरूप-परिणाम नहीं, वहां पर संख्या-ज्ञान का होना भी सम्भव नहीं । साक्षीचेतन को एकरस नित्य स्वप्रकाशरूप मान लेने पर उसे ध्वंस का प्राप्त होनेवाला नहीं कह सकते, अतएव उक्त चेतन के ध्वंस से कोई संस्कार (ज्ञान का विनाशरूप अथवा सूक्ष्मावस्था) भी उत्पन्न नहीं हो सकता, जिसके उदित होने पर स्मरण की क्रिया हो सके । और भी, अहं के सम्बन्ध के बिना स्मरण का होना सम्भव नहीं है । स्मरण के लिये पूर्व और परभावी अहं की एकता का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु साक्षीचेतन में अहंबोध का सर्वथा अभाव है । अतएव, जब कि संख्या-ज्ञान के हेतु (पूर्ववर्त्ती और परभावी काल का ज्ञान, क्रम का ज्ञान, तुलना, विषयगत धारावाहिकता का ज्ञान, अहं की पूर्वापर काल में उपस्थिति का ज्ञान, स्मरण) में से कोई भी परिणामरहित साक्षीचेतन में सम्भव नहीं है, तब उसके द्वारा अज्ञान की संख्या का निर्णय भी नहीं हो सकता । यद्यपि वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार अज्ञान साक्षीसिद्ध रूप से माना जाता है, तथापि यह नहीं कह सकते कि उसका एकत्व या बहुत्व भी साक्षी के द्वारा जाना जा सकता है । जैसे कि उनके मत में अज्ञान की भावरूपता और अभावरूपता साक्षी के प्रति अज्ञात रहता है ।

मन के द्वारा भी अज्ञान की संख्या का निश्चय नहीं कर सकते, क्योंकि अज्ञान मन का विषय नहीं है । उक्त मत में मन आदि समस्त करणों से उत्पन्न ज्ञान की अभावावस्था जो सुषुप्ति है उस काल में भी अज्ञान को ज्ञात-रूप से माना जाता है, अतएव मन के लय काल में भी अज्ञान की उपस्थिति मान्य होने के कारण, अज्ञान की संख्या का निर्णय उत्पत्ति-प्रलयशील मनोवृत्ति के द्वारा नहीं हो सकता । और भी, संख्या-ज्ञान का कारण मन है, यदि उसी मन के द्वारा अज्ञान ज्ञेय नहीं हो तो उसकी संख्याका निर्णय कौन करेगा

मन के द्वारा अज्ञान की संख्या का निर्णय नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त मनोवृत्तिरूप ज्ञान, अज्ञान का विरोधी होता है; फलत: ज्ञानरूपी मनोवृत्ति के उदय होने से अज्ञान सर्वथा तिरोभाव को प्राप्त होगा और कदापि अनुभूत नहीं हो सकेगा। किसी पदार्थ–विषयक अज्ञान की स्थिति काल में साथ ही मनोवृत्तिरूप ज्ञान की स्थिति नहीं हो सकती। अज्ञान के अनुभव के समय, अज्ञान–निवर्त्तनकारी यथार्थज्ञान के अभाव को अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा अज्ञान का अनुभव ही नहीं होगा। अतएव मनोवृत्तिरूप ज्ञान को अज्ञान का निवर्त्तक नहीं, किन्तु उसको अज्ञान का निवृत्तिरूप कहना होगा। आवरणस्वभाववाले अज्ञानकी निवृत्ति के लिये किसी ऐसी वस्तु की उत्पत्तिका होना आवश्यक है, जो अज्ञान का निवर्त्तक अथवा निवृत्तिस्वरूप हो। मनोवृत्तिरूप ज्ञान को अज्ञान का निवर्त्तक नहीं कह सकते, क्योंकि जो जिसकी निवृत्ति का कारण (निवर्त्तक) होता है वह उसके पूर्व अव्यवहित रूप से रहता है, किन्तु उक्त मनोवृत्तिरूप ज्ञान, किसी वस्तु-विषयक अज्ञान के पूर्व में अव्यवहित रूप से रहता हुआ कभी नहीं पाया जाता, अतएव मनोवृत्ति अज्ञान का निवर्त्तक नहीं, किन्तु निवृत्तिस्वरूप है। अज्ञान के अनुभव काल में उक्त मनोवृत्ति नहीं रहती तथा मनोवृत्ति के उदय होने पर अज्ञान की विषयरूपता नहीं रहती, अतएव उक्त मनोवृत्ति को अज्ञान का निवृत्तिस्वरूप ही मानना होगा। इस से यह सिद्ध होता है कि मनोवृत्ति के द्वारा अज्ञान नहीं ज्ञात हो सकता, फलत: इसके द्वारा अज्ञान की संख्या का भी निर्णय नहीं हो सकता। यदि प्रथम मनोवृत्ति उदित होती और उसके पश्चात् अज्ञान निवृत्त होता तो, उस मनोवृत्ति अज्ञान को कुछ काल के लिये ज्ञात हो सकता, अर्थात् ज्ञान और अज्ञान इन दोनों का युगपत् अनुभव होता, जिससे एक को निवर्तक और अपर को निवर्त्य मान लेते; किन्तु एक ही विषय में युगपत् ज्ञात और अज्ञातत्व का अनुभव कभी नहीं होता। यदि मनोवृत्ति के द्वारा अज्ञान विषयीकृत होता तो अज्ञान और उस वृत्ति का विरोध भी नहीं होता, जिससे ज्ञान के द्वारा अज्ञान–निवृत्ति की सम्भावना ही नहीं होती। और भी, यदि दो पदार्थ परस्पर विरोधी हों तो एक की उपस्थिति दूसरे की अनुपस्थिति को बोधित करती है। अतएव अन्धकार और तीव्र आतप के समान ज्ञान और अज्ञान के परस्पर विरोधी होने से एक की संख्या का अपर के द्वारा निर्णय हो सकना असम्भव है।

अज्ञानकृत ईश्वरत्व-जीवत्व के स्वरूप का निर्णय योगजनित नहीं हो सकता ।

अब यदि उपरोक्त सिद्धान्त को स्थापित करना हो, तो अज्ञान का स्वरूप इस प्रकार से निरूपित होना चाहिये कि जिससे द्वैतप्रपञ्च का स्वरूप प्रतिपादित हो सके । यह जगत् नियम और सामञ्जस्य से पूर्ण प्रतिभात होता है, जिसमें समस्त घटनाएं विश्व-नियम के अनुसार नियमित और सञ्चालित होती हैं । मन देहयन्त्र के साथ मिलकर कार्य करता है और उपायों के अवलम्बन से तदनुकूल फल की भी प्राप्ति होजाती है । प्रत्येक प्राणी-देह की रचना में— साङ्गोपाङ्ग पूर्णता के दर्शन से—अद्भुत रचना-कौशल्य का परिचय मिलता है, इत्यादि । यह जगत् केवल भौतिक-नियमपूर्ण नहीं है, किन्तु इसमें नैतिक नियम भी हैं; यह सिद्धान्त वेदान्तियों को भी सम्मत है । अब कार्यजगत् में दृश्यमान जो नियमन और उद्देश्य हैं उनकी उपपत्ति के लिए हमको— अपने अनुभव राज्य में सिद्ध जो व्याप्ति का नियम है उसके अनुसार— यह मानना आवश्यक है कि, कारण में भी विचारशक्ति और नियमनशक्ति है । गुण-धर्म-रहित निर्विकार अद्वैततत्त्वमें इन सब शक्तियों का वास्तवरूप से

यहा पर यह कहा जा सकता है कि हमारी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली कोई व्यक्ति अज्ञान की सख्या का निर्द्धारण करके ईश्वर के स्वरूप का निर्णय करेगा । परन्तु यह भी असम्भव है, क्योकि अज्ञान मन की पहुच के बाहर है, अतएव अधिकतर शक्तिशाली मन के द्वारा भी उक्त सख्या का निर्द्धारण नहीं हो सकता । और भी, यदि किसी व्यक्तिविशेष के मन को स्वीकार भी कर लिया जाय कि वह अज्ञान की सख्या को निर्द्धारित करके ईश्वर के स्वरूप विषय में स्थिर सिद्धान्त को पहुंच सकेगा, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उक्त व्यक्ति की मनोवृत्ति अज्ञान को और तन्मूलक अज्ञातत्व को निवृत्त नहीं करती । फलत: उसको किसी भी वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं हो सकेगा और इस जगत् में उसके लिये जीवन धारण करना ही कठिन हो जायगा । साराश यह सिद्ध हुआ कि, अज्ञान की संख्या का निर्द्धारण करना असम्भव होने के कारण तन्मूलक ईश्वरत्व और जीवत्व के स्वरूप का निर्णय भी कभी नहीं हो सकता । (मूलाज्ञान या "देवात्म-शक्ति"-माया मनोगम्य न होने से उसका दर्शन ध्यानयोग से नहीं हो सकता) ।

स्वरूपगत होना असम्भव है, अतएव इनको जगत्प्रपञ्च के कारणरूप से कल्पित मूल अज्ञान में स्वरूपान्तर्गतरूप से मानना होगा। परन्तु जगदतीत तत्त्व के प्रकृत स्वरूप को आवृतमात्र करने की शक्ति, उपर्युक्त शक्तियों से भी युक्त है, ऐसा नहीं मान सकते। किसी जीव की किसी विषय-सम्बन्धी अज्ञानता को देखकर तथा भ्रान्ति-काल में उसका प्रत्यक्ष करनेवाले व्यक्तिविशेष के प्रति किसी पदार्थ के प्रकृतस्वरूप को आवृत होता हुआ देखकर, हमको अज्ञान की धारणा होती है। इसके अनुसार यदि अज्ञान को अनिर्वचनीय भावपदार्थ माना जाय जो तत्त्व के प्रकृतस्वरूप को केवल आवृतमात्र करता है, तो उससे जगत् में दिखाई पड़ने वाले नियम और सामञ्जस्य की उपपत्ति नहीं हो सकती। विशेषत: जब कि तथा-कथित अध्यास कोई विषय का, (जिससे हम पूर्व में अपर स्थलों में परिचित था), आकस्मिक प्रत्यक्षरूप नहीं, किन्तु वह विशिष्ट नियम के अनुसार समञ्जस से सम्बद्ध और क्रम से नियमित कल्पनातीत विषय और घटनाओं के प्रवाहरूप से प्रतिभात होता है, तब कोई अधिष्ठान के स्वरूप का केवल अज्ञान इसका उपपादन नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन है कि—देश और काल से असीम जगत् जिसमें असंख्य घटनाओं की विचित्रता परस्पर सम्बद्ध और नियमित रूप से प्रवृत्त होते हुए पाए जाते हैं तथा जिन ध्रुव नियमों के आधार पर सुदूर भविष्यत् में होने वाली घटनाओं का भी निश्चित् रूप से निर्देश किया जा सकता है—उक्त अज्ञान के द्वारा ब्रह्म स्वरूप के केवल आवृत होने से ही सुव्यवस्थित हो सकती हैं।

वेदान्तियों का यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है कि, निर्विकार स्वप्रकाश तत्त्व के द्वारा प्रकाशित होकर अज्ञान उपरोक्त शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तथा उक्त तत्त्व भी शक्तिसंयुक्त अज्ञान से उपहित होकर शक्तिमान रूप समझा जाता है। अज्ञान के उक्त तत्त्व के द्वारा प्रकाशित होते हुए भी यह कदाचित् मान लिया जा सकता है कि, वह उक्त तत्त्व का आवरक और अन्यथा-प्रतिभास का कारण है,

अज्ञान द्वारा ब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता ।

परन्तु हम ऐसी कल्पना कदापि नहीं कर सकते कि, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान सृष्टिकारिणी शक्ति भी है, जो कि इस विचित्र नियम और सामञ्जस्यपूर्ण जगत् की उत्पत्ति और स्थिति में समर्थ है । निर्विकार निधर्मक निष्क्रिय स्वात्म-अचेतनवान तत्त्व भी केवल प्रकृतस्वरूप के आवृत होने पर ज्ञान-इच्छा-विवेचन-नियमन आदि गुणों से युक्त सक्रिय स्वयंपरिणामी और स्वात्मचेतनावान् सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता । यदि अनन्त जगदतीत चेतन को तथा अनन्त जगदतीत पूर्णता को शुद्ध सत्स्वरूप से पृथक् करके अवशिष्ट शुद्ध सत्स्वरूप को अद्वैततत्त्व का वस्तुतः धर्म माना जाय, तो अज्ञान के द्वारा उन पूर्णतादि धर्मों के आवृत होने का अर्थ यह होगा कि, वह शुद्ध सद्रूप से प्रतिभासित होता है, किन्तु उसके आवृत होने का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह इस सामञ्जस्यपूर्ण जगत् की उत्पत्ति और स्थिति में समर्थ सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और स्वात्मचेतनावान है । और भी, यदि अज्ञान ब्रह्म तत्त्व के साथ सम्मिलित न होकर किसी जीवके साथ संयुक्त होता, तो वह परिणाम को प्राप्त होकर उस जीवके लिए असीम वैचित्र्यमय सर्वदेशकालव्यापी अद्भुत नियम और सामञ्जस्ययुक्त जगत्रूप से प्रतिभासित नहीं हो सकता था । यदि यह स्वीकृत हो तो यह भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत् के कारण अज्ञान में, जगत्प्रपञ्च में अभिव्यक्त असीम आश्चर्यकारी शक्ति और गुण उक्त तत्त्व से प्राप्त होते हैं जिससे वह नित्य संयुक्त रहता है; तथा वह अज्ञान उक्त तत्त्व को इस प्रकार विचित्र कालिक और दैशिक जगदाकार से प्रतिभात करा सकते हैं, क्योंकि उनके स्वस्वरूप में उक्त तत्त्व के इस प्रकार से प्रतिभात होने की शक्ति और सम्भावना हैं । यह स्वीकार करने पर यही मानना होगा कि उक्त तत्त्व वस्तुतः धर्मरहित और शक्तिरहित नहीं है, किन्तु उसके स्वरूप में नित्यरूप से असीम शक्ति और अनन्त गुण निवास करते हैं, जैसा कि इस दृश्यमान जगत्प्रपञ्च से ज्ञात होता है । परन्तु यह सिद्धान्त वेदान्तसम्मत पक्ष से विरुद्ध है । यदि अज्ञान को उक्त प्रकार वाला जगत् का कारण मानें, तो

उसको पुनः ज्ञानाभाव या आवरणरूप न मानकर असीम ज्ञान और अनन्तसामर्थ्ययुक्त भावरूप क्रियाशक्ति मानना चाहिए। यदि अज्ञान-शक्ति को ऐसा न मानकर अद्वैततत्त्व के स्वरूपगत रूप से मानें, तो उक्त तत्त्व को धर्मरहित शुद्ध स्वप्रकाश सत्स्वरूप या निर्विकार स्वात्म-अचेतनवान ज्ञानस्वरूप न मानकर असीम क्रियाशक्तियुक्त एक महान् स्वात्मचेतनवान पुरुषरूप से मानना होगा। (इस पक्ष की समालोचना भी हो चुकी है)। यह स्पष्ट है कि वेदान्त-सिद्धान्त के साथ इस पक्ष का सामञ्जस्य नहीं होता तथा ऐसा मानने पर अज्ञान शब्द से साधारणतया जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उसका परित्याग करना पड़ेगा। यदि अज्ञान का अर्थ उपरोक्त क्रियाशक्ति समझा जाय और उसको अद्वैततत्त्व के स्वरूपगतरूप से माना जाय, तो उसको मिथ्या और उसके कार्य को अध्यासरूप कहने का कोई अधिकार नहीं रहेगा। अतएव, निष्पक्ष युक्ति-तर्क के द्वारा विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुचते हैं कि, गुण और धर्मरहित अद्वैततत्त्व ही जगत्कारण अज्ञान के साथ संयुक्त होकर ईश्वरभाव को प्राप्त होता है, इस प्रकार का अद्वैत-सिद्धान्त विचारसह नहीं है।*

*अज्ञान को अनिर्वचनीय मानकर पुनः उसको जगत् का कारणरूप कहने से अद्वैतवादी की प्रतिज्ञा भंग होती है। केवल अद्वैतवादी की प्रतिज्ञा ही नहीं प्रत्युत सभी दार्शनिक विचारवानो की यह पद्धति है कि, जिसे हम विचार द्वारा निरूपण नहीं कर सकते उसे सिद्धान्तरूप से मान भी नहीं सकते। अद्वैतवादियों ने भी परमाणुवाद, प्रकृतिवाद, सगुणब्रह्मवाद आदि वादो के खण्डन के समय यही प्रदर्शन किया है कि, ये सभी सिद्धान्त विचारसह नहीं हैं अतएव विचारवानों को माननीय नहीं हो सकते। सुतरां यदि अद्वैतवादियो के अज्ञान में भी जगत्कारण के उपयोगी सामग्रियों का अभाव हो तथा उसका आंशिक या सम्पूर्ण परिणाम विचारसह न हो, वह सावयव, निरवयव और उभयरूप से निर्णीत न हो (सावयव होने पर कार्य होगा, निरवयव होने पर विश्वपरिणामी नहीं होगा, विरोध के कारण उभयरूप नहीं होगा), तो उसे जगत् का कारण मानना केवल

तृतीय अध्याय

आत्मा

पिछले अध्याय में विभिन्न वादियों का ईश्वर-विषयक मतभेद प्रतिपादन और परीक्षण करके अब इस अध्याय में आत्मस्वरूप-विषयक मतभेद का प्रदर्शन और उसकी समालोचना करते हैं। यद्यपि अहंबोध ("मैं हूं") सब का अनुभवसिद्ध है तथापि इससे अहं के मूल या स्वरूप का परिचय नहीं मिलता; सुतरां इसका विवेचन करते हुए विभिन्न वादीलोग आत्मस्वरूप के विषय में विभिन्न सिद्धान्तों में पहुंचे हैं।

क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धसम्प्रदाय के मत में "अहं" इस आकार का ज्ञान भिन्न और चिरस्थायी आत्मा नहीं है। इस अहंज्ञान का नाम आलयविज्ञान है। वह क्षणिक अर्थात् क्षणकालमात्रस्थायी है। पूर्वजात 'अहंज्ञान' परक्षण में ही अपने सदृश एक और अहंज्ञान को उत्पन्न करके विनष्ट होता है। इस प्रकार से नदी-प्रवाह की न्याईं तथा दीपशिखा की न्याईं "अहं अहं अहं" ऐसे आकार से प्रतिक्षण जायमान (उत्पत्तिशील) आलयविज्ञान का प्रवाह ही आत्मा है। इस मत में प्रत्यभिज्ञा के समय जो 'अहं' की एकता अनुभूत होती है, वह एक प्रकार की भ्रान्ति मात्र है। अपर अनेक

प्रतिज्ञाविरुद्ध तथा विचारविरुद्ध ही नहीं, किन्तु दुराग्रह भी है। किसी निर्दोष सिद्धान्त के न मिलने पर अन्त में सदोष सिद्धान्त को ही मान लेना, विचारवानों के लिये शोभनीय नहीं है। अतएव यह कहना विचारसंगत और सरलता का सूचक है कि, हम जगत्कारण के स्वरूप का निर्द्धारण नहीं कर सकते। इस जगत्-समस्या के समाधान के लिये जितने भी सिद्धान्त अद्यावधि स्थापित हुए हैं तथा कल्पना किये जा सकते हैं, उन सबों के विचारविसंगत प्रतिपन्न होने पर अन्त में यही कहना पड़ता है कि, जगत् रहस्यमय है और रहस्यमय ही रहेगा।

दार्शनिकों के मत में प्रत्यभिज्ञा, बौद्धों के समान सादृश्यजनित भ्रान्ति नहीं, किन्तु वह एक यथार्थज्ञान है (न कि बौद्धसम्मत स्मृति और अनुभव रूप दो प्रकार का ज्ञान), जिसका विषय पूर्वापरकालस्थायी एक ही वस्तु होता है। उनमें से वैष्णवलोग देह, इन्द्रिय और मन से अतीत ज्ञानाश्रय (न कि बौद्धसम्मत क्षणिक ज्ञानस्वरूप) को आत्मा (अहं-प्रत्यय का विषय ज्ञानस्वरूप नित्य) मानते हैं । जैनमत में अहंप्रत्ययगम्य आत्मा वैष्णवसम्मत "धर्मभूत" (आत्मा से भिन्न तथा नित्य) ज्ञान का आश्रयरूप मान्य नहीं होता; इस मत के अनुसार ज्ञान आत्मा का परिणाम है, सुतरां 'अहं' आत्मा का स्व रूपभूत धर्म है । यह आत्मा का परिणामरूप 'अहं' जैमिनि और भट्ट को भी सम्मत है । न्याय, वैशेषिक और प्रभाकर मत में 'अहं' एक ज्ञानरूप गुण (जडस्वभाव आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पत्तिशील) है; इस मत में आत्मा अहमाकार से परिणत नहीं होता । उपरोक्त कतिपय मतों में ज्ञान का आश्रय गुणवान और कर्त्तारूप से आत्मा मान्य होता है, किन्तु सांख्य-पातञ्जलमत में आत्मा ज्ञानस्वरूप (नित्य, बौद्धसम्मतक्षणिक नहीं), निर्गुण और अकर्त्ता है । अद्वैतवेदान्तमत में भी सांख्यपातञ्जल के समान अहंकार अन्तःकरण का परिणाम है जो साक्षी (निधर्मक नित्य ज्ञानस्वरूप; सांख्य में बहु, वेदान्त में एक) आत्मा के द्वारा प्रकाशित होता है (ज्ञानाश्रयरूप से भासमान अहमर्थ जीवात्मा नहीं, किन्तु अन्तःकरणविशेष अहंकार है)। परन्तु वह अन्तःकरण अद्वितीय-आत्मा की सत्ता और भान से ही सिद्ध होता है, स्वतः नहीं; अतएव उसके साथ आत्मा का आध्यासिक (अवास्तव) तादात्म्य है । आत्मा के व्यापक होने पर भी अहंकार के साथ अन्योन्याध्यास रहने के कारण, आत्मा भी प्रादेशिक (केवल अन्तःकरण में सीमित) रूप से प्रतीत होता है । सुतरां "मैं जानता हूं" "मैं सुखी हूं" इत्यादि अनुभव भ्रमरूप हैं, जो अन्तःकरण के धर्म हैं तथा भ्रान्ति से आत्मा में आरोपित होते हैं ।

अब आत्मविषयक उपरोक्त मतों को कथञ्चित् उपपत्ति के

सहित वर्णन करते हैं । बौद्धमत के अनुसार आत्मा साक्षी या ज्ञानाश्रयरूप नहीं है । कारण, इस प्रकार के किसी आत्मपदार्थ का अनुभव किसी को नहीं होता । सबका अनुभव यही है कि एक ज्ञान के पश्चात् अपर ज्ञान उत्पन्न होता है, जो अपने आपको स्वयं जानता है । अतएव बौद्धमत में आत्मा, निराश्रय स्वप्रकाश क्षणिक ज्ञान के अतिरिक्त और कोई ज्ञाता या साक्षीरूप वस्तु नहीं है । वैष्णवादि कितने सम्प्रदाय आत्मा को ज्ञान का आश्रयरूप मानते हैं । यदि सभी ज्ञान स्वतन्त्ररूप से स्वयंप्रकाश हो, तो उनकी युगपत् धारणा करने वाले ज्ञाता का अभाव होने के कारण, परस्पर तुलना नहीं हो सकेगी जिससे कि उनका परस्पर सम्बन्ध ज्ञात हो सके । यदि ज्ञान परस्पर सम्बन्धरहित ही मान्य हों, तो स्मृति-संस्कार की (एक आश्रय में होनेवाला अनुभव पश्चात् उसका नाश या सूक्ष्मावस्था पश्चात् उस सूक्ष्मावस्था या संस्कार का उद्‌बोध या स्मृति की) उपपत्ति नहीं होगी । वैष्णवमत में उपरोक्त ज्ञानाश्रय आत्मा अणुपरिमाण है । जैनलोग कहते हैं कि, अणुपरिमाण आत्मा शरीर के एक देश में अवस्थित रहता हो तो उसका धर्म (चेतना) सर्वशरीर-व्यापी रूप से अनुभूत नहीं हो सकता । अतएव अणुपरिमाण आत्मा का समस्त शरीर में व्यापक उपलब्धि(चेतना)मानने की अपेक्षा, सम्पूर्ण शरीर में व्यापक उपलब्धि प्रत्यक्ष अनुभूत होता इसलिये आत्मा को देहसमपरिमाण मानना अधिक संगत है । नैयायिकादि कतिपय दार्शनिकों के मत में आत्मा व्यापक है । उनका कथन यह है कि, जैनमत में आत्मा घटपटादि के समान परिच्छिन्न अर्थात् प्रदेश-विशेष में सीमाबद्ध है । ऐसा होने पर घटादि के समान आत्मा को भी अनित्य अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील स्वीकार करना होगा । किन्तु आत्मा की उत्पत्ति और विनाश में कोई प्रमाण नहीं है, सुतरां आत्मा देह-परिमाण अर्थात् अनित्य नहीं हो सकता । यदि आत्मा का नित्यत्व-सिद्धान्त अव्याहत बनाए रखना हो तो, यातो उसे अणुपरिमाण (परमाणु के समान), नहीं तो महत् परिमाण (आकाश के समान)

मानना होगा । परन्तु अणुपरिमाण पक्ष के खण्डित होने पर अवशेष आत्मा को महत् अर्थात् व्यापक-परिमाण ही मानना पड़ेगा ।

अब व्यापक आत्मवादियों में आत्म-स्वभाव के विषय में जो मतभेद है अर्थात् आत्मा चिद्रूप या अचिद्रूप है, उसका संक्षेपतः प्रदर्शन करते हैं । न्यायवैशेषिक मत में आत्मा स्वभावतः जड है, किन्तु मनःसंयोगादि के द्वारा आत्मा में ज्ञान या चेतना का आविर्भाव होता है । ज्ञानोत्पत्ति के कारण मनःसंयोगादि सुषुप्तिकाल में नहीं रहते, इसीलिये उस काल में आत्मा की चेतनता भी नहीं रहती । अतएव आत्मा स्वभाव से ही चेतन नहीं है, किन्तु मनःसंयोग होने पर उसमें चेतनता उत्पन्न होती है, इसीलिए आत्मा को चेतन कहा जाता है । घटज्ञान के उत्पन्न होने पर 'मैं घटत्व रूप से घट को जानता हूं' इत्याकारक अनुव्यवसाय होता है । जीव के मन के द्वारा ही उस ज्ञान का प्रकाश होता है । इस मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय का कारण मन के द्वारा ही उस समय उस आत्मा को भी प्रत्यक्ष होता है । प्रभाकर मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान ('यह घट है' ऐसा व्यवसाय), ज्ञानान्तर ('मैं घट को जानता हूं') से गृहीत होता है ऐसा स्वीकार करने पर, वह ग्राहक ज्ञान भी ज्ञानान्तर से ग्राह्य होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी । सुतरां उक्त आत्माश्रित अनित्य ज्ञान स्वयंप्रकाश है तथा वह अपने को, आत्मा को और विषय को प्रकाशित करता है । मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट आत्मा को खद्योत (जुगनूं) के सदृश चिदचिद्रूप मानते हैं । आपके विवेचन की रीति यह है कि, सुषुप्तिकाल में ज्ञान का अत्यन्ताभाव नहीं होता । उसकाल में भी अनुभव होता है, तभी सुषुप्ति में आत्मा को अपनी जडता का अनुभव हुआ था । सुतरां जडरूप से अनुभूत होने के कारण, आत्मा अचिद्रूप भी है तथा अनुभव-कर्त्ता होने के कारण, चिद्रूप है ही । किन्तु सांख्य और पातञ्जल मत में यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है । कारण, चिद्रूपत्व और अचिद्रूपत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव इन दोनों विरोधी धर्मों का एक ही समय में एक ही वस्तु में

समावेश नहीं हो सकता। खद्योत सावयव पदार्थ है, उसमें अंशभेद से चिद् और अचिद्रूपता का एकत्र समावेश होना सम्भव है। किन्तु आत्मा निरवयव अर्थात् निरंश है, सुतरां आत्मा में इन दोनों के एकत्र समावेश के लिए अवकाश नहीं है। सुषुप्ति में जाड्यांश का अनुभव अवश्य होता है, परन्तु सांख्यपातञ्जल कहते हैं कि, वह जाड्यांश आत्मा का नहीं, किन्तु प्रकृति का स्वरूप है। इसी प्रकार सांख्यपातञ्जल मत के अनुसार नैयायिकों का मत भी संगत नहीं। आत्मा के स्वभावतः अप्रकाश या अचेतन होने पर उसमें प्रकाश नामक गुण कदापि नहीं हो सकता। जन्यप्रकाशगुण के प्रति अर्थात् प्रकाशगुण की उत्पत्ति के प्रति अवयव का प्रकाश-गुण ही कारण है। आत्मा में अवयव नहीं है, सुतरां उसमें जन्यप्रकाशगुण की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। प्रभाकरमतानुसार स्वप्रकाश ज्ञान को किसी का आश्रित मानना समुचित नहीं है। अपने में समवेत ज्ञान के द्वारा स्वयं वेद्य होनेपर आत्मा का वैरूप्य हो जायगा। एकही प्रकाशन-क्रिया में एकका ही आश्रयत्व और विषयत्व स्वीकार करने से कर्त्ता-आश्रय क्रिया के प्रति गौण होगा तथा वही क्रिया के द्वारा व्याप्त होनेपर कर्मरूप से प्रधान भी होगा। अतएव ज्ञान को आत्माश्रित एवं अनित्य न मानकर स्वप्रकाश और नित्य मानना चाहिए तथा इस साक्षी ज्ञान (चैतन्यस्वरूप) से प्रकाशित ज्ञानाश्रय (परिणामी) किसी पदार्थविशेष को भी साथ ही मानना उचित है, नहीं तो स्मरण की उपपत्ति नहीं होगी। सुतरां एक परिणामी, ज्ञान का आश्रय बुद्धि भी माननीय होगी तथा उसके सिद्धिप्रद अपरिणामी साक्षी रूप से पुरुष या आत्मा भी मान्य होगा। "मैं जानता हूं" इत्याकारक ज्ञातृ-प्रत्यय सर्वदा समरूप से प्रवाहित होता रहता है (यह ज्ञानात्मक प्रत्यय निद्राकाल में भी विद्यमान रहता है)। संवेदनशीलता अर्थात् जानते रहना ही बुद्धि का स्वरूप है, सुतरां बुद्धि परिणामी है; इसीसे वह अभंग सत्तारूप से निरन्तर भासमान होती हुई भी वस्तुतः अविकारी सत्ता नहीं है। अतएव साधारणतया "मैं हूं" या "अस्मि" इत्याकारक प्रवाह ही बुद्धि

है । "मैं हू" वह भी "मैं जानता हूं" इस जानने का नाम बुद्धि का संवेदन है । "मैं हूं" इस संवेदन के पश्चात् "मैं हू वह मैं जानता हूं" इस प्रकार का जो अनुरूप संवेदन होता है उसको प्रतिसंवेदन कहते हैं । बुद्धि का वह प्रतिसंवेदी पदार्थ ही पुरुष (आत्मा है । बुद्धि जिस प्रकार से नाना विषयों को जानती है, प्रतिसंवेत्ता पुरुष उस प्रकार से नहीं जानता, किन्तु वह केवल जानने मात्र को जानता है अर्थात् ज्ञमात्र, दृशिमात्र या स्वबोधमात्र है ।* जानने के या बुद्धि के विषय नाना हैं, इसलिए बुद्धि परिणामी है: किन्तु जो "जानने" का जानना वह परिणामी नहीं (वह सदा द्रष्टामात्र होने के कारण परिणामी नहीं है), उसके अवस्थान्तर की कल्पना नहीं हो सकती ।

उक्त अहं-परिणामी अन्तःकरण और उसका प्रकाशक साक्षी-चेतन अद्वैतवेदान्तमत में भी मान्य होता है । यदि सब को प्रकाशित करने वाला एक अपरिणामी नित्य साक्षी आत्मा न स्वीकार किया जाय, तो क्रमिक-ज्ञान एक अपर को अपना विषय नहीं कर सकेंगे, फलतः ज्ञानों का एकत्र रहना तथा भविष्य में अतीत का स्मरण होना भी सम्भव नहीं होगा । अतएव अद्वैतमत में परिणाम और उनका परस्पर कार्य-कारणभाव भी साक्षी से ही प्रकाशित होता है । सांख्यमत में साक्षी आत्मा केवल बुद्धि का प्रकाशक है, परन्तु वेदान्तमत में अद्वैतचेतन (दृश्य के धर्म, भेद या बहुत्व, साक्षी में नहीं रह सकते) प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों में अनुस्यूत है जो अज्ञातत्व धर्मयुक्त बाह्य पदार्थों का

*शब्दस्पर्शादि विषयों जब श्रत्रादि इन्द्रियों से सम्बद्ध होते हैं, तब बुद्धि श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा विषय को व्याप्त करके विषयाकार से चिह्नित होती है और वही बुद्धि स्वगत विषयमुद्राकार को पुरुष नामक आत्मा में समर्पण करती है । इस प्रकार मुद्रामुद्रित प्रतिमुद्रान्वाय से विषयमुद्रित बुद्धि में संक्रान्त पुरुष विषय-सम्बन्धीरूप से विषय को अनुभव करता है ।

भी प्रकाशक है। *

*सांख्य और अद्वैतवेदान्त मत में भेद यह है कि, सांख्यमत में बुद्धि एक जागतिक शक्ति (प्रकृति) का परिणाम है; प्रकृति जड है, वह स्वतः अस्तित्ववान है किन्तु स्वतः प्रकाश नहीं; जड़ प्रकृति स्वयं क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकती, अतएव विभिन्न तत्त्वाकार से अभिव्यक्त होने के लिए वह अनेक स्वत.सिद्ध और स्वप्रकाश आत्माओ के साथ अनादि सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है; वे आत्मा अनेक हैं तथा प्रकृति और उसके परिणामों से सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु उक्त वेदान्तमत में बुद्धि (अन्तःकरण) एक जागतिक अज्ञान (अनिर्वचनीय अविद्या) का परिणाम है, जो न तो स्वतः अस्तित्ववान है और न स्वतः प्रकाश, जो अपने अस्तित्व के लिए और विभिन्न प्रातिभासिक पदार्थों में अभिव्यक्त होने के लिए—एक स्वतःसिद्ध एवं स्वप्रकाश साक्षी आत्मा की सत्ता और प्रकाश की अपेक्षा रखती है, जिससे अज्ञान और उसके परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हुए भी प्रतिभासतः भिन्न हैं। (सांख्यमत में अविद्या एक वृत्तिविशेष का साधारण नाममात्र है, वेदान्तियों के सदृश एक सर्वव्यापी भावरूप द्रव्यविशेष नहीं; जिस प्रकार अन्य समस्त वृत्तियां पारस्परिक सहायता से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अविद्यारूप विपर्यय भी प्रमाण और स्मृति आदि की सहायता से ही उत्पन्न होता है। वह अनिर्वचनीय नहीं किन्तु "अतद्रूपप्रतिष्ठमिथ्याज्ञान" रूप से उसका निर्वचन किया जा सकता है)। सांख्यमत में प्रत्येक 'अहं' विशेष विशेष आत्मा के द्वारा प्रकाशित और अभिव्यक्त होते हैं, जो आत्माएँ एक दूसरे से सत्ता–स्वरूप से भिन्न अथच स्वभावतः अभिन्न होते हैं। किन्तु वेदान्तमत में एक अद्वैत विश्वात्मा से ही सभी 'अहं' प्रकाशित, अभिव्यक्त और अस्तित्ववान होते हैं। सांख्यमत में प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् साक्षी है तथा प्रत्येक नित्य, अनन्त, निर्विकार, निर्धर्मक, स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश पदार्थ है, किन्तु वेदान्तमत में केवल एक, अद्वितीय, नित्य, अनन्त, निर्विकार, निर्धर्मक, स्वत सिद्ध और स्वतःप्रकाश आत्मा है, जो नानारूप से प्रतिभासमान समस्त आत्माओं का (अन्तःकरणों का) एक प्रकृत आत्मा है। सांख्यमत में दृश्य बुद्धि और द्रष्टा आत्मा दोनों तुल्य–सत्य है, यद्यपि एक परिणामी तथा अपर सर्वथा अपरिणामी है। परन्तु वेदान्तमत में दृश्य पदार्थ, द्रष्टृ-तत्त्व का अवास्तव अभिव्यक्ति रूप मात्र है

यहां पर प्रसंगवश अद्वैतवेदान्ती और न्यायवैशेषिकों का सिद्धान्त-भेद संक्षेपतः प्रथित करते हैं। अद्वैतवाद में परब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नित्य नहीं है और मायापहित परब्रह्म ही जगत् का मूल उपादान-कारण है, किन्तु

अज्ञातसत् बाह्यपदार्थ का प्रकाशक साक्षी—आत्मा है। वेदान्त और न्यायमत।

उक्त अज्ञातत्व के प्रकाशक साक्षी को निम्नलिखित युक्ति से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। यथा:—देहादि विषय प्रमाण के प्रति कर्म हैं, इस कारण कर्मरूप से वे प्रमाणोत्पत्ति में हेतु (निमित्त कारण) भी होते हैं। हेतु होने से प्रमाणोत्पत्ति के पूर्व प्रमाण के द्वारा देहादि विषयों में अज्ञातत्व बुद्धि भी नहीं होगी। कारण, प्रमाण की प्रवृत्ति हेतु-दर्शन के पश्चात् ही होती है, देहादि विषय रूप हेतु के दर्शन (इन्द्रिय-सन्निकर्ष) से पूर्व प्रमाणोत्पत्ति ही नहीं होगी, जिससे अज्ञातत्व-धर्मयुक्त देहादि विषय की सिद्धि हो सके। अर्थात् विषयसन्निधि के पूर्व प्रमाण के न रहने से उससे अज्ञातत्वयुक्त देहादि विषय की सिद्धि नहीं हो सकती, अथच अज्ञात विषयों के सिद्धिप्रदरूप से किसी के न रहने से प्रमाण के पूर्व में विषयाभाव के कारण, प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होगी। देहादि विषय को स्वतःसिद्ध अथवा असिद्ध नहीं कह सकते, अन्यथा प्रमाण का प्रमाणत्व ही लुप्त हो जायगा। सिद्ध का साधन या असत् का व्यञ्जन (प्रकटीकरण) सम्भव नहीं। प्रमाण के, अज्ञातत्व का ज्ञापक और उत्पादक न होने से, प्रमाण के पूर्वकाल में अज्ञातत्व और उत्तरकाल में ज्ञातत्व ये दोनों प्रमाणातीत साक्षी के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। यदि अज्ञातरूप से साक्षी द्वारा विषय नहीं किया जाता तो प्राक्-अज्ञात ऐसी परामर्श नहीं होती।

"आरम्भवाद" में काल और आकाश प्रभृति के समान परमाणुसमूह भी नित्य है और परमाणुसमूह ही जन्यद्रव्य का मूल उपादान-कारण है। अद्वैतवाद में आत्मा एक है, किन्तु आरम्भवाद में आत्मा अनेक है। अद्वैतवाद में आत्मा चैतन्यस्वरूप है (चैतन्य या ज्ञान उसका गुण नहीं), किन्तु आरम्भवाद में आत्मा चैतन्यस्वरूप नहीं, किन्तु चैतन्य या ज्ञान उसका गुण है। उनमें से परमात्मा का चैतन्य नित्य है और जीवात्मा का चैतन्य अनित्य है। सुतरां समयविशेष में जीवात्मा जड भी हो जाया करता है। अद्वैतवाद में जीवात्मा वस्तुतः निर्गुण है; ज्ञान, इच्छा और सुखदुःखादि अन्तःकरण के ही धर्म हैं, किन्तु आरम्भवाद में जीवात्मा सगुण है और ज्ञान, इच्छा और सुखदुःखादि जीवात्मा के ही वास्तव-गुण हैं। अद्वैतवाद में अनादि मिथ्या या अनिर्वचनीय "माया" स्वीकृत हुआ है, किन्तु आरम्भवाद में ऐसी "माया" स्वीकृत नहीं होती। सुतरां आरम्भवाद में जगत् सत्य है, किन्तु अद्वैतवाद में मायामूलक जगत् मिथ्या या अनिर्वाच्य है।

❀ क्रोड़पत्र ❀

दृष्टिसृष्टिवाद

उक्त रीति से बाह्य पदार्थों को अज्ञातसत्तावान मानने से दृष्टिसृष्टिवाद खण्डित होता है। दृष्टिसृष्टिवादियों का मत यह है कि, दृष्टि (ज्ञान) के पूर्व तथा पश्चात् सृष्टि नहीं होती, दृष्टि-समकालीन ही सृष्टि होती है। इस विषय में वे लोग स्वप्न और भ्रान्ति का दृष्टान्त देते हैं। उनका कहना है कि, जिस प्रकार रज्जु में सर्प और स्वप्न-प्रपञ्च के पदार्थ अपने कारणभूत अवयवों से क्रमशः उत्पन्न होने के अनन्तर प्रतीत नहीं होते, किन्तु उनकी दृष्टि-समकालीन सृष्टि होती है; उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च की भी अज्ञात दशा में स्वतन्त्र अवस्थिति नहीं होती। अब प्रसङ्गवशात् इस वाद की भी यहाँ पर समालोचना करते हैं। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार अज्ञातसत्तावान बाह्य पदार्थ के मान्य न होने से भ्रान्ति और अभ्रान्ति (यथार्थज्ञान) की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। बाह्य पदार्थ में भ्रान्ति या अध्यास होने के लिए यह आवश्यक है कि, वह पदार्थ किञ्चिद्रूप से ज्ञात और किञ्चिद्रूप से अज्ञात हो (क्योंकि सर्वथा ज्ञात या अज्ञात पदार्थ में भ्रान्ति नहीं हो सकती)। यह तभी हो सकता है जबकि बाह्य पदार्थ को अज्ञातसत्तावान माना जाय जिससे वह किञ्चिद्रूप से ज्ञात और अज्ञात हो सके। अधिष्ठान के ज्ञान से जो भ्रान्ति का—अनुभवसिद्ध—उच्छेद होता है, वह भी तभी सम्भव है जब कि अधिष्ठान का विशेष धर्म प्रथम अज्ञात रहे तथा पुनः बाध-काल में ज्ञात हो। जहां पर एक भ्रान्ति के पश्चात् पुनः उसी में दूसरी भ्रान्ति होकर पूर्व भ्रान्ति बाधित होती है, वहा पर अधिष्ठान के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न रहने से भ्रान्ति का समूल उच्छेद नहीं होता एवं मूल अधिष्ठान किञ्चिद्रूप से अज्ञात ही रहता है। अतएव भ्रान्ति और बाध की व्यवस्था के लिए बाह्य पदार्थ को अज्ञातसत्तावान अवश्य मानना होगा। और भी, भ्रमस्थल में धर्मी-अंशका (इदंत्व का) ज्ञान तो यथार्थ होता

है, किन्तु विशेषण अंश का ज्ञान यथार्थरूप से गृहीत न होने से भ्रम होता है। अतएव जब धर्मी-अंश में यथार्थता है तब उक्त दृष्टान्त को देकर समस्त ज्ञान मात्र को ही भ्रमरूप नहीं कह सकते।

दृष्टिसृष्टिवादीलोग स्वप्न का दृष्टान्त देकर सभी व्यवस्था (इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जनित ज्ञान, प्रत्यभिज्ञा, नियत प्रवृत्ति आदि विषयों का उपपादन) कर लेना चाहते हैं, परन्तु यह संगत नहीं है। जाग्रत् और स्वप्न ये दोनों अवस्थाएं तुल्य रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं, नहीं तो स्वप्न का स्वप्नत्व ही असिद्ध हो जायगा। (स्वप्न के स्वप्नत्व का निश्चायक जाग्रत् होता है, यदि स्वप्न स्वतन्त्र हो तो, जाग्रत् से स्वप्न का स्वप्नत्व ही सिद्ध नहीं होगा) । सुतरां यह मानना होगा कि, जाग्रत्-प्रत्ययजन्य संस्कारों की सहायता से ही स्वप्नदर्शन होता है, नकि स्वप्नप्रत्यय की सहायता से जाग्रदनुभव होता है। जिसप्रकार मनोराज्य और ध्यानावस्था में संस्कार या तीव्र भावना के दोष से नानापदार्थों के दर्शन होते हैं, ठीक उसी प्रकार, स्वप्न में भी निद्रादि दोष से नानाप्रकार का प्रपञ्च अनुभवगोचर होता है। अतएव तीव्रमनोरथादि स्थल में बाह्य-रूप से प्रतिभात होने पर भी जैसे वे बहिःपदार्थ नहीं होते और उनके तथा-कथित नियम की तुलना भी निरपेक्ष बाह्य पदार्थों के नियम के साथ नहीं हो सकती, वैसे ही स्वप्न-प्रपञ्च के अनुसार निरपेक्ष जाग्रदवस्था का भी विचार नहीं हो सकता। और भी, स्वप्नप्रपञ्च व्यक्तिगत होता है जो सर्वसाधारण जाग्रत्प्रपञ्च से बाधित होता है। स्वप्न और जाग्रत् में बाध और अबाध ये दो विरुद्ध धर्म विद्यमान हैं।

यहां पर वादी को यह शंका हो सकती है कि जाग्रत् और स्वप्न में कोई विशेष (भेद) उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि दोनों में विषय का अनुभव तुल्य है; अदर्शन ही उन दोनों का बाध माना जाता है, जोकि दोनों स्थल में तुल्य है। परन्तु यह भी समीचीन नहीं है। क्योंकि जैसे पूर्वदिवस में अनुभूत जाग्रत्कालीन पदार्थ

जाग्रत् की न्याई स्वप्न सत्यव्यवहारस्थल नहीं है

आज भी जाग्रत्काल में संवादगोचर होता है, तैसे स्वप्न में अनुभूत पदार्थ पुनः स्वप्नान्तर में या जागरित में संवादप्राप्त उपलब्ध नहीं होता। और भी, स्वप्नदृष्ट पदार्थों का विसंवाद भी वहीं के अनुभव से सिद्ध होता है। कारण, वहां पर कभी गौ उपलब्ध होती है और उसी समय वह अश्व, मनुष्य या किसी अन्यरूप में परिवर्त्तित होती हुई देखी जाती है। स्वप्न में जाग्रत्-व्यवहार के उचित देशादि भी सम्भव नहीं है। यदि स्वप्नद्रष्टा बाहर गमन करता हो, तो प्रश्न यह होता है कि, वह प्रकृत शरीर से ही गमन करता है या उसके सदृश अन्य से अथवा उससे विलक्षण शरीर से? प्रथम कल्प संगत नहीं है। ऐसा होने पर शयनदेश में उसका दर्शन न होता। द्वार बन्द किये हुए गृह के मध्य में रहने वाले शरीर का बाहर गमन या आगमन सम्भव नहीं है। द्वितीय और तृतीय कल्प भी संगत नहीं हैं। पूर्वशरीर के सदृश शरीर का या शरीरान्तर का परिग्रह युक्तिसंगत नहीं ह। कारण, ऐसा होने पर पूर्वशरीर का नाश हो जाने के कारण, वहां पुनः उत्थान नहीं होता। अतएव शरीर के भीतर ही स्वप्नदर्शन होता है। परन्तु वहां पर स्वाप्निक पदार्थ के योग्य देश नहीं है तथा उचित काल भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मुहूर्तमात्र पर्यन्त सुप्तपुरुष, स्वप्न में अनेक दिनों के व्यतीत होने का अनुभव करता है तथा उचित वस्तु का भी वहां पर होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ईंट, पत्थर और मिट्टी आदि के बिना ही वहां पर अकस्मात् बड़े बड़े प्रासादादि निर्मित उपलब्ध होते हैं। अतएव जाग्रत् की न्याई स्वप्न सत्य-व्यवहारस्थल नहीं होता किन्तु मिथ्या ही वहां व्यवहार होता है। यद्यपि जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों का स्वकाल में बाधितत्व का भास न होने के कारण, व्यवहार की तुल्यता होती है; तथापि उक्त उपपत्ति से स्वप्न की जाग्रत् से विलक्षणता उपपन्न होती है तथा प्रत्येक दिन उसका बाध (मिथ्यात्वनिश्चय) उपलब्ध होता है इसलिए भी उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है (कहीं पर सत्यार्थ-सूचकत्व होने पर भी, स्वप्न का स्वरूपतः सत्यत्व नहीं है)। अतएव

स्वप्नका उच्छेद होने से स्वप्न जाग्रत् से विलक्षण है।

स्वाप्न-पदार्थ निद्रादि दोष से दुष्ट जाग्रद्वासनामय होने से व्यावहारिक (अज्ञातसत्तावान) पदार्थ से विलक्षण है।

यदि जागत्-प्रत्यय भी वास्तव में स्वप्न के सदृश भ्रान्तिमात्र होगा, तो उससे स्वप्नज्ञान उच्छिन्न नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि जाग्रत्कालीन जो स्वप्न का मिथ्यात्वनिश्चय है उससे प्रकृत का बाध नहीं होता, किन्तु रज्जु में सर्प-भ्रान्ति होने के पश्चात् पुनः उसीमें दण्डभ्रान्ति के समान विरोध-प्रत्यय मात्र है: तो इसका अर्थ यह होगा कि स्वप्न का मिथ्यात्वबोध भी (जो सर्वानुभवसिद्ध है)—जाग्रत्-प्रत्यय (भ्रान्ति) के अन्तर्गत होने के कारण भ्रान्ति मात्र है, वास्तव में स्वप्न का उच्छेद नहीं हुआ किन्तु भ्रम से हमको ऐसा प्रतीत होता है। फलतः वेदान्तियों की यह प्रतिज्ञा भी भङ्ग होगी कि, प्रतीति के अनुसार ही वस्तु का स्वरूप निर्धारित होना चाहिए, क्योंकि प्रतीति तो हमको होती है स्वप्न के उच्छेद का, किन्तु वास्तव में उच्छेद हुआ नहीं है। उक्त सर्वानुभव-विरुद्ध सिद्धान्त को मानने पर हमारे अनुभव (प्रत्यक्ष प्रमाण) का कोई मूल्य नहीं रहेगा तथा संसार में किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सकेगा। जहां पर दो विरोधी प्रातिभासिक पदार्थों के दर्शन होते हैं वहां पर उक्त अवस्था का उच्छेद नहीं होता, किन्तु स्वप्न का उच्छेद सर्वानुभवसिद्ध है। यदि उक्त सिद्धान्तानुसार उच्छिन्नरूप से प्रतीयमान को भी वास्तव में अनुच्छिन्न मानें तो भ्रान्तिस्थल में अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति मानना भी निरर्थक है, क्योंकि वहां पर भी ऐसा सम्भव है कि, बाह्य पदार्थ के उत्पन्न न होने पर भी उत्पत्ति की प्रतीति मात्र होती है। फिर तो असत्ख्याति अथवा अन्यथाख्याति आदि पक्षों को मानना होगा और दृष्टिसृष्टिवाद के अनुकूल कोई दृष्टान्त ही नहीं मिलेगा। और भी, यदि जाग्रत् में स्वप्न का मिथ्यात्वनिश्चय होते हुए भी उसे विरोधी-प्रत्यय मात्र कहा जाय, तो प्रत्ययानुसार ज्ञानसमकालीन ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूप त्रिपुटी मानकर दृष्टिसृष्टिवाद को मानना ही निष्फल है। सुतरां उक्तवादी-सम्मत बाह्य पदार्थ का

अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वह भी अनुभव के बल पर ही मान्य होता है ।

जाग्रत्-उपलब्धि को स्वप्न के दृष्टान्त से स्वप्नवत् अनुमान करना समीचीन नहीं, क्योंकि जाग्रत् का अनुभव और विषय (पक्ष) सप्रमाण-सिद्ध है, किन्तु स्वप्नज्ञान अथवा स्वप्न के विषय (दृष्टान्त) प्रमाण-सिद्ध नहीं । दृष्टिसृष्टिवादीलोग स्वप्नज्ञान का दृष्टान्त देकर जाग्रदवस्था के समस्त ज्ञान को भ्रमरूप सिद्ध नहीं कर सकते। सभी अवस्थाओं में समस्त ज्ञानों के भ्रमरूप होने पर जगत् में यथार्थज्ञान ही नहीं रहेगा जिसकी अपेक्षा से भ्रम-ज्ञान की सिद्धि हो सके । यथार्थज्ञान के उत्पन्न होने पर ही पूर्वज्ञान भ्रमज्ञान का भ्रमत्व निश्चय किया जाता है: यदि समस्त ज्ञानमात्र ही भ्रमरूप हों तो 'अमुक ज्ञान भ्रम है' ऐसा कथन ही निरर्थक है । हेतु न रहने के कारण केवल दृष्टान्त के द्वारा वादी का मत सिद्ध नहीं हो सकता । जिस प्रकार वादी स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् को मिथ्या कहते हैं, उसी प्रकार प्रतिवादी भी जाग्रत् के दृष्टान्त से स्वप्न को सत्य कहेगा । स्वप्नज्ञान के समान समस्त ज्ञान को ही भ्रमरूप कहने पर प्रधानज्ञान अर्थात् उससे विपरीत यथार्थज्ञान के अस्तित्व को भी अवश्य स्वीकार करना होगा, नहीं तो भ्रमज्ञान नहीं हो सकेगा । कारण, जिस विषय में प्रधानज्ञान ही सर्वथा अलीक है, उस विषय में भ्रमज्ञान भी नहीं होता । ऐसे ज्ञान को भ्रम नहीं कह सकते तथा इसके लिए कोई सर्वसम्मत दृष्टान्त भी नहीं है । यथार्थज्ञान के सर्वथा न रहने पर प्रमाण की भी सत्ता नहीं रहेगी । कारण, यथार्थ-अनुभूति के साधन को ही प्रमाण (अज्ञात वस्तु का ज्ञापक) कहते हैं । यदि उक्त प्रमाण के बिना भी कोई सिद्धान्त स्थापित हो सकता हो—तो वस्तुसिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता न रहने पर—विपरीत पक्ष भी स्थापित हो सकेंगे तथा दोनों पक्षों की सत्यासत्यता का निर्णय भी नहीं हो सकेगा । इस प्रकार प्रमाण और अप्रमाण में भेद को माने बिना परपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का साधन

नहीं होगा । परपक्ष के खण्डन के लिए यह प्रदर्शित होना आवश्यक है कि, मेरा सिद्धान्त अबाधित अनुभव (प्रमाण) के अनुकूल है, किन्तु तुम्हारा ऐसा नहीं है । परन्तु यह तभी सम्भव है, जबकि बाह्य पदार्थ के स्वरूप को अज्ञात और निरपेक्षसत्तावान माना जाय जो वादी और प्रतिवादी दोनों को समानरूप से प्रतिभात होता हो; तभी उसके स्वरूप का प्रमाणपूर्वक विवेचन करके निश्चय (सिद्धान्त) किया जा सकता है, अन्यथा नहीं । सुतरां दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार विचार ही निर्मूलित होगा एवं प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकेगी । पूर्वकालीन बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वतन्त्र होने से ही प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि उक्त प्रत्यभिज्ञा को भी भ्रान्ति कहेंगे तो वादीसम्मत स्थिर आत्मा की सिद्धि होनी कठिन है, क्योंकि वहां पर भी क्षणिकवादी कहेंगे कि उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिमात्र है । (इससे नित्य आत्माश्रित आत्मविषयक अज्ञानमूलक जगत् सिद्ध न होने से दृष्टिसृष्टिवाद की कल्पना नहीं हो सकती)।*

*दृष्टिसृष्टिवादीसम्मत "मायागन्धर्वनगर" "मृगतृष्णिका" आदि दृष्टान्त संगत नहीं । माया आदि स्थलों में जो भ्रम उत्पन्न होता है, वह निमित्तविशेष को लेकर ही होता है । मायाप्रयोग करनेवाले का मन्त्रादि साधन और द्रव्यविशेष का ग्रहण ही उस स्थल में भ्रमज्ञान का निमित्त है, क्योंकि उसके बिना भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता । गन्धर्वनगर का भ्रम भी निमित्तविशेष से ही उत्पन्न होता है । आकाश में हिम या मेघ के नगराकार में सन्निविष्ट होने पर दूरस्थ व्यक्ति को तादृश हिमादि ही गन्धर्वनगररूप से प्रतीत होता है । वहां पर नीहारादि का नगराकार में सन्निवेश और द्रष्टा की दूरस्थता ही उक्त भ्रम का निमित्त है । द्रष्टा यदि उक्त आकाशस्थ हिमादि के समीप में स्थित हो, तो उसको उक्त भ्रम भी नहीं होगा (उक्त गन्धर्वनगर में मेघ और पूर्वदृष्ट गृहादि का सादृश्यज्ञान भी निमित्त है) । इसीप्रकार मरुमरीचिका में जल का भ्रम भी निमित्तविशेषजन्य है । मरुभूमि में सूर्य के किरण जब भौम उष्मा के साथ (मरुभूमि में सूर्यकिरण पतित होने पर वह उस मरुभूमि से उद्गत उत्कट उष्मा के साथ) संसृष्ट होकर स्पन्दनयुक्त होते हैं, तब उसमें जल का सादृश्यप्रत्यक्ष होने पर दूरस्थ व्यक्ति को (मृगादिको को) जल का भ्रम होता है । किन्तु निकटस्थ व्यक्ति को भ्रम

प्रमाणप्रवृत्ति के विचार द्वारा दृष्टिसृष्टिवाद का खण्डन ।

यहां पर यह विचारणीय है कि, अविद्यमान (असत्) प्रमेय में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है अथवा विद्यमान (सत्) प्रमेय में ? प्रथम पक्ष समुचित नहीं । यदि प्रमेय के बिना ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती हो, तो प्रमाणोत्पत्ति में प्रमेय का क्या प्रयोजन रह जायगा ? ऐसा होने पर प्रमेय के अपलाप का प्रसङ्ग होगा । द्वितीय पक्ष अर्थात् विद्यमान प्रमेय में ही प्रमाण का सम्भव और प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानने पर यह प्रश्न होगा कि, प्रमेय की सत्ता का प्रभाव प्रमाण को प्रवृत्त करता है अथवा प्रमाण अपने स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है ? आद्य पक्ष को स्वीकार करने पर जो लोग प्रमाण को कारकरूप से मानते हैं, उनके मत में प्रमाण निरर्थक होगा एवं व्यञ्जक (अज्ञात का ज्ञापक) रूप से प्रमाण की सफलता मानने पर बाह्यपदार्थ को अज्ञातसत्तावान भी मानना होगा । यदि अन्तिम पक्ष को ग्रहण किया जाय अर्थात् प्रमाण के ही बल से पदार्थ सत्तावान होता हो, तो तुच्छप्रतिपादक वाणी के द्वारा भी प्रमेय की सत्ता व्यवहारयोग्य होगी । यदि यावत् वस्तुमात्र की सत्ता प्रमाणबल से ही हो, तो बन्ध्यापुत्रादि के प्रतिपादक वाक्य भी—प्रमेयसत्ता के ज्ञापक होने के कारण—प्रमाणस्वरूप होंगे अर्थात् सदर्थसत्ता को उत्पन्न करेंगे । शब्दमात्र के द्वारा शब्दार्थ के आश्रयभूत बन्ध्यापुत्रादिकों की भी सृष्टि होगी । अतएव यह

नहीं होता, अतएव उक्त भ्रम में दूरस्थता भी निमित्त है । सूर्य के किरण ही पृथ्वी के बाष्प से संयुक्त होकर चञ्चल जल की न्याई प्रतीत होते हैं तथा मरुभूमि की असमानता और विस्तृतता से अगाध तरङ्गपूर्ण जलाशय का भ्रम होता है; अतएव उक्त सभी इसमें कारण हैं । उक्त प्रकार सूर्य-रश्मि (सूर्यरश्मिमात्र से नहीं) तथा सूर्यरश्मितप्त उषरभूमि (मरु) के बिना उक्त जलभ्रान्ति नहीं होती । इसी प्रकार स्थानविशेष में, कालविशेष में तथा व्यक्तिविशेष को ही भ्रमज्ञान होता है, सर्वत्र सभी समय सभी व्यक्तियों को नहीं होता, अतएव भ्रमज्ञान निर्निमित्तक नहीं है । भ्रमज्ञान में निमित्त यथार्थ सत्तावान होता है, अतएव माया आदि के दृष्टान्त से दृष्टिसृष्टिवादी, प्रमाण और प्रमेयविषयक सम्पूर्ण ज्ञान को ही भ्रमसिद्ध नहीं कर सकता ।

प्रतिपन्न होता है कि, प्रमेय के बल से ही सत्ता होती है, प्रमाण के बल से नहीं। अर्थात् प्रमाण के बल से पदार्थ की सत्ता उत्पन्न नहीं होती, प्रमाण का फलभूत अभिव्यक्ति सत् की ही होती है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण के विषय बाह्यपदार्थ हैं जो प्रमाण की प्रवृत्ति के पूर्व अज्ञातरूप से सत् होते हैं। विषय का अस्तित्व प्रमाणोत्पत्ति के पूर्व से रहता है तभी इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जनित प्रत्यक्षज्ञान, हेतुज्ञानजनित साध्य-सत्त्व का अनुमिति रूप ज्ञान तथा दूसरों के बोध के लिये शब्दों का प्रयोग, क्षुधा-निवृत्ति के निमित्त भोजन में प्रवृत्ति, धूम का अवलोकन कर वह्नि-प्राप्ति की चेष्टा आदि प्रवृत्तियां उपपन्न होती हैं। 'यह वही पदार्थ है' इस प्रकार पूर्वदृष्ट के साथ दृश्यमान का एकत्व-बोध भी अज्ञातसत्ताविशिष्ट बाह्यपदार्थ को स्वीकार करने से ही सुव्यवस्थित हो सकता है। दृष्टिसृष्टिवाद को स्वीकार करने पर संसार के सभी दैशिक, कालिक और वस्तुगत स्वभाव के नियम निश्चित नहीं रहेंगे। इस प्रकार खगोल, भूगोल और भौतिक-विज्ञान विषयक शास्त्र न केवल निरर्थक ही होंगे, प्रत्युत असम्भव भी हो जायेंगे। अतएव अनुभवविरोध, विचारविरोध, प्रवृत्तिविरोध, व्यवहारविरोध और नियम-विरोध होने के कारण, दृष्टिसृष्टिवाद कदापि माननीय नहीं हो सकता।

अद्वैत-सिद्धान्त समालोचना

पाठकों को स्मरण होगा कि अद्वैतवेदान्तीलोग बाह्यविषय को अज्ञातसत्तावान सिद्ध करके उसके प्रकाशक-रूप से नित्य साक्षीचेतन को मानते हैं। बाह्य पदार्थों के अज्ञात-सत्तावान सिद्ध होने पर 'दृष्टिसृष्टिवाद' के लिए अवकाश नहीं रह जाता, यह हम प्रसङ्गवशात् प्रदर्शन कर चुके। अब अपना प्रकृत विषय, अर्थात् अद्वैतवेदान्तियों का आत्मविषयक-सिद्धान्त समालोचनीय है। यह हम पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि साक्षीचेतन के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए यह सिद्ध

होना चाहिए कि, मन अपने परिणामों का (ज्ञानाकार वृत्तियों का) स्वयं ज्ञाता नहीं हो सकता, अतएव एक नित्य निर्विकार ज्ञाता-तत्त्व (साक्षी) का होना आवश्यक है । इस सिद्धान्त की सिद्धि के समय अद्वैतवादीलोग यह कहते हैं कि, वृत्ति (ज्ञान), मन या अन्तःकरण का परिणामरूप होने के कारण, उससे अभिन्न है तथा उक्त ज्ञानरूप से परिणत मन—उक्त ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश के होते रहने पर भी—स्थिर अनुगत पदार्थरूप से विद्यमान रहता है, परन्तु ऐसा मानना युक्ति-संगत नहीं है । यदि परिणाम और परिणामी अभिन्न हों, तब परिणामी (आश्रय) के अवस्थित रहने पर उसका परिणाम (विशेषज्ञान) भी स्थित रहेगा, इसप्रकार वृत्ति (ज्ञान) का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं हो सकेगा । यदि मन एक हो और उसके परिणाम उससे अभिन्न हों, तो ज्ञान का बहुत्व नहीं हो सकेगा । परन्तु ज्ञान का बहुत्व तथा उनकी क्रमिक उत्पत्ति और नाश का अनुभव सबको होता है । पक्षान्तर में यदि मन और उसके परिणामों को अभिन्न मानते हुए साथ ही ज्ञानों की उत्पत्ति और नाश को भी स्वीकार किया जाय, तो एक परिणाम के तिरोभूत हो जाने पर सम्पूर्ण मन को ही विलीन हो जाना चाहिए, क्योंकि वे परस्पर अभिन्न हैं । यदि परिणाम का तिरोभाव या नाश हो जाने पर भी परिणामी अवस्थित रहता हो, तो उन दोनों की अभिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती । सुतरां परिणाम और परिणामी में अभेद मानकर मन या अन्तःकरण में ज्ञानोत्पत्ति की व्यवस्था सयुक्तिक उपपादित नहीं हो सकती । यदि इस दोष के निवारण के लिए यह माना जाय कि वे परस्पर भिन्न हैं, तो वृत्ति या ज्ञान को मन का परिणाम रूप मानने में कोई हेतु नहीं रहेगा; क्योंकि उक्त परिणाम (ज्ञान) मनोबाह्य विषयों के समान होगा तथा मन केवल एक अपरिणामी साक्षीरूप से विद्यमान रहेगा । ऐसी स्थिति होने पर उन ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिए किसी एक अपर साक्षी-चेतन को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि उक्त अपरिणामी मन ही साक्षी का काम कर लेगा । इस पक्ष के अनुसार

(ज्ञान के मनोगत न होने पर) आभ्यन्तर और बाह्य विषय के भेद से अनुभव में भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि अपरिणामी साक्षी-मन के लिए, आभ्यन्तर-विषयक अनुभव तथा बाह्य-विषयक अनुभव दोनों ही बाह्य-अनुभवरूप होंगे। इस प्रकार मन और ज्ञान के भिन्न होने पर इन दोनों में कोई सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिससे बाह्य विषयों का अनुभव आभ्यन्तरस्थ मन को हो सके। अतएव विशेषज्ञान को मन से भिन्न या अभिन्न मानकर ज्ञान का स्वरूप उपपन्न नहीं होता जिससे कि उक्त ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए साक्षी-चेतन की आवश्यकता प्रतीत हो।*

*यदि मन और उसमें उत्पन्न होने वाले विशेषज्ञान को भिन्नाभिन्न रूप स्वीकार किया जाय, तो भी भेदाभेद पक्ष में जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जायगा (भेदाभेदवाद का खण्डन गत अध्याय में कर चुके हैं)। समसत्ताक भेद और अभेद को स्वीकार करने पर वेदान्ती-सम्मत अनिर्वचनीयवाद को तिलाञ्जलि देना होगा तथा भेदाभेद-विलक्षण अनिर्वचनीय कहने पर, परिणाम असिद्ध हो जायगा। जहां पर परिणाम प्रत्यक्षसिद्ध होता है, किन्तु तर्क द्वारा असिद्ध होता है, वहा पर उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर वह माननीय हो जाता है, यथा दुग्ध का दधि रूप से परिणाम। (दुग्ध का स्वभाव विनष्ट या स्थित होने पर दोनो ही पक्षो मे उसका दधिभाव अयुक्त होता है; यद्यपि यहां पर भी नैयायिकवैशेषिक लोग परिणाम को नहीं मानते, उनके मत में दुग्ध के विनष्ट होने पर दुग्धारम्भक परमाणुओ से ही दधि का आरम्भ होता है)। इसीप्रकार अन्तःकरण का परिणाम विचार द्वारा अयुक्त होने पर भी यदि प्रत्यक्षसिद्ध होता तो उसका परिणाम मानना ही पड़ता है। परन्तु प्रकृत में ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण प्रत्यक्षसिद्ध न होने के कारण (उक्त ज्ञान का प्रतिपादन विभिन्न रूप से भी पाया जाता) विचारासिद्ध परिणाम मान्य नहीं हो सकता। सुतरां इस विषय में केवल अनिर्वचनीय के कथन मात्र से ही वस्तु-सिद्धि नहीं हो सकती। किसी के स्वरूप को विचारविरुद्ध बतलाकर पुनः उसी स्वरूप को मान लेना तथा उसी के बलपर तत्त्वविषयक सिद्धान्त मे पहुंच जाना न्यायसंगत पद्धति नहीं है।

निर्विकार साक्षी-चेतन मानकर विशेषज्ञानकी व्यवस्था नहीं हो सकती ।

विशेषज्ञान को मन का परिणाम रूप मानकर तथा मन का परिणामी पदार्थ रूप से उत्पत्तिविनाशशील अस्थायी ज्ञानों में एकता को अव्याहत बनाए रखने वाला मानने पर, प्रश्न यह होता है कि, एक निर्विकार उदासीन चेतन की उपस्थिति मन के इन परिणामों का उपपादन कैसे कर सकता है ? यदि चेतन को मन के परिणामों का वस्तुतः ज्ञाता माना जाय, तो उन परिणामों को चेतन के ज्ञान का विषयभूत भी अवश्य मानना होगा । ऐसा होने पर मन के परिणामों के (विषयों के अस्थायी ज्ञानों के) साथ ही साथ चेतन को भी वास्तविक विकारी मानना होगा। विशेषज्ञान का ज्ञान, उनके संस्कारों को सूक्ष्मरूप से अपने पास संगृहीत रखना और स्मरण काल में उनको प्रबुद्ध कर देना; इन सबों को इस पक्ष में चेतन की ही क्रिया कहना होगा । किन्तु ऐसा चेतन नित्य निर्विकार रूप से नहीं माना जा सकता; कारण, संस्कारों को प्राप्त करना और उनका संग्रह अपने पास रखना, यह भी एक विशेष प्रकार के परिणाम को सूचित करता है तथा कालान्तर में उनको प्रबुद्ध कर देने के लिए भी एक विशेष क्रिया की आवश्यकता होती है । इसीप्रकार नाना परिणामों को एकत्र और नियमित रखने के लिए भी शक्ति और प्रयत्न का होना आवश्यक है । किन्तु शक्ति, क्रिया एवं परिणाम रहित रूप से मान्य साक्षी में उक्त क्रियाओं की कल्पना नहीं हो सकती, अतएव एक निर्विकार साक्षी-चेतन को मानकर उक्त विशेषज्ञान की व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि उक्त सब क्रियाएं मन की ही क्रिया हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि मन ही स्वयं अपने परिणामों का ज्ञाता है तथा वही इनके संस्कारों को संगृहीत रखता है तथा समय पर उद्बुद्ध भी करता है । यदि एसा हो, तो साक्षी चेतन को मानना निरर्थक है । मन यदि अपने परिणामों को जानता हो, तो ज्ञाता-रूप मन और विषयरूप (परिणाम रूप) मन, अथवा समरूप से विद्यमान अपरिणामी मन तथा विभिन्न परिणामी आकार से प्रतिभात मन, इसप्रकार मन के स्वरूप को विभक्त करना होगा । यदि एक

ही व्यावहारिक मन के ऐसे दो धर्म युक्तिसंगत रूप से स्वीकार किये जा सकें, तो साक्षी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है । अब यदि यह कहा जाय कि उक्त शक्ति-क्रिया आदि चिदाभास के स्वरूपगत हैं अर्थात् वे परामर्श अद्वैत साक्षी-चेतनगत नहीं, किन्तु मन में प्रतिबिम्बित चेतन में हैं, तो यह विचार करना होगा कि, क्या आभास भी ज्ञातारूप से माना जा सकता है । उक्त प्रतिबिम्बित आभास भी मन के समान ही है, अर्थात् न तो निर्विकार है और न स्वप्रकाश । वह मन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर मन के परिणामों के साथ साथ स्वयं भी परिणत होता रहता है । सुतरां पारमार्थिक साक्षी-चेतन से पृथक् रूप से माने गए हुए प्रतिबिम्बित चेतन को यथार्थ प्रकाशक तथा मानस परिणामों को रखने वाला तथा समस्त मानस परिणामों का एक यथार्थ ज्ञाता नहीं मान सकते । यदि प्रतिबिम्बित आत्मा को ऐसा माना जाय कि, वह मन में प्रतिबिम्बित और सम्बद्ध होता हुआ भी उसके परिणामों के साथ स्वयं परिणत या विकृत नहीं होता, तो उसे यह नहीं मान सकते कि, वह मन से विशेषित या उसके साथ तादात्म्य प्राप्त है। इस दृष्टि से तथाकथित प्रतिबिम्बित आत्मा (चिदाभास) का न तो कोई व्यक्तित्व है और न कोई व्यावहारिक स्वभाव ही है । उसको तब एक अनन्त निर्विकार स्वप्रकाश चेतन से सर्वथा अभिन्न मानना होगा और यह कहना होगा कि, विश्वचेतन ही मन में परिदृश्यमान होकर ऐसा (चिदाभास रूप से) अनुभूत होता है और इसी लिए (अन्तःकरणावच्छिन्न होने के कारण) वह व्यक्तिगतरूप से भी प्रतिभात होता है । यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय, तो व्यक्तित्व के उपपादन के लिए उक्त विश्वात्मा का आश्रय लेना पड़ेगा (न कि चिदाभास का) और वह विश्वात्मा ही अन्तःकरणगत धर्मों का ज्ञाता, उसके संस्कारों का संरक्षक और स्मरण का उद्बोधक होगा । इन सब क्रियाओं के करने में केवल एक स्वात्मचेतनावान स्वात्म-परिणामी शक्तिमान एवं क्रियाशील पुरुषविशेष ही समर्थ हो सकता है (जहां

तक हम अपने अनुभव के आधार पर अनुमान कर सकते हैं)। परन्तु ऐसा होने पर वह पुरुष–उक्त मत के अनुसार–एक व्यावहारिक पदार्थमात्र होगा, जिसके प्रेरक अथवा आश्रयरूप से एक और पारमार्थिक तत्त्व की कल्पना करनी होगी, जो पुनः पूर्वोक्त दोषों को प्राप्त होगा। फलतः इस प्रकार की युक्तियों से ज्ञानादि की व्यवस्था सूपपन्न नहीं होती।

साक्षी-चेतन के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अपर युक्ति यह है, यदि मन के परिणामों का अनुभवकर्त्ता अपर कोई साक्षीचेतन न हो—जो कि मन के परिणामों से अतीत और मन के विकारों से निर्विकार रहता हो—तो मन के दो परिणामों में परस्पर कार्यकारणभाव का निर्णय भी नहीं हो सकेगा। अतएव मनःपरिणामों में कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए (यथा नृत्य-ज्ञान कारण, और तज्जन्य सुख कार्य) यह आवश्यक है कि एक ऐसे साक्षी–चेतन के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय, जो मन के दो परिणामों में से एक का पूर्वभावित्व (नृत्यज्ञान) और अपर का पश्चाद्भावित्व (सुख) तथा इन दोनों के आपस में नियतसम्बन्ध का ज्ञाता हो। परन्तु इस रीति से निर्विकार साक्षीचेतन को मानकर के भी यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि, वह उक्त कार्यकारण-सम्बन्ध का ज्ञाता है; क्योंकि उसका स्वरूप निर्विकार और एकरस होने के कारण, वह ऐसे सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञाता नहीं हो सकेगा। दो पदार्थों में कार्यकारणसम्बन्ध के ज्ञान का विश्लेषण करने पर हमलोग यह पाते हैं कि उसमें कारण का ज्ञान, कार्य का ज्ञान और उन दोनों में साक्षात् नियत पौर्वापर्यरूप साहचर्यज्ञान रहते हैं। अब, जब कि कार्य और कारण दोनों ही मानस परिणाम हैं, तब इनके ज्ञातारूप से मान्य साक्षीचेतन, केवल इनका अनुभव मात्र करेगा ऐसा नहीं, किन्तु वह इनकी तुलना भी करेगा और इन दोनों में पौर्वापर्यसम्बन्ध का भी निश्चय करेगा। जब कि कार्य, कारण के पश्चाद्भावी है तब कार्य के अनुभवकाल में कारण साक्षात् अनुभव का विषय नहीं होगा और इन दोनों

में कार्यकारणसम्बन्ध को स्थापित करने के समय, दोनों ही अतीतकालीन घटना होंगे। फलतः पूर्वभावी मानस परिणाम की धारणा को परभावी मानस परिणाम की धारणा के साथ तुलना करने पर ही उनमें नियत पौर्वापर्यरूप सम्बन्ध का स्थापन हो सकेगा। अब यदि उक्त माने हुए साक्षीचेतन को इस कार्यकारण-सम्बन्ध के ज्ञान का मूलरूप माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह चेतन, केवल वर्त्तमान काल में उपस्थित मानसपरिणामों को ही जानता है, ऐसा नहीं, किन्तु वह अतीतकालीन घटनाओं (कारण) के संस्कारों का भी संग्रह रखता है तथा उनको पुनः उत्पन्न (स्मरण) करके वर्तमानकालीन घटना (कार्य) के साथ उसकी तुलना करने के पश्चात् उन दोनों में नियत कार्यकारणभाव का निश्चय करता है। इससे यह सूचित होता है कि चेतन, उन धारणाओं के आकार में स्वतः परिणत होता है तथा साथ ही उनको अपने अनुभव का विषय भी बना सकता है अर्थात् उन परिणामों की तुलना और उनमें सम्बन्ध-निश्चय की क्रिया चेतन में है। परन्तु साक्षीचेतन में इन सब सामर्थ्य और क्रिया तथा स्व-एकत्व के सहित स्व-परिणाम को मानने का अर्थ यह होगा कि, वह अपने नित्य निर्विकार निष्क्रिय और उदासीन स्वभाव का परित्याग भी किया करता है।*

*इसी प्रकार धाराज्ञानस्थल में भी साक्षीचेतन की निर्विकारता बनी नहीं रह सकती। किसी एक विषय के धारावाहिक-ज्ञान के पश्चात् उसका ज्ञाता-पुरुष स्मरण करता है कि, मैंने इतने काल तक केवल इसी वस्तु का अनुभव किया था। केवल एक निर्विकार उदासीन साक्षीचेतन को मानकर उक्त धारावाहिक अनुभव की उपपत्ति नहीं हो सकती। जब कि साक्षीचेतन को उक्त धारा-ज्ञान तथा उसके विषय से तथा धारा-ज्ञान में आपतित प्रथम ज्ञान के स्मरणपूर्वक द्वितीयज्ञान के साथ उसको सम्बद्ध कराने वाली मानस सामग्री से सर्वथा संगरहित माना जाता है, तब उसको उनका ज्ञाता या स्मर्त्तारूप नहीं मान सकते, क्योंकि वह इस ज्ञान और स्मरण के उपपादन में कुछ भी सहायक नहीं हो सकता। यदि पक्षान्तर में ऐसा माना जाय कि वह चेतन उनको

कालातीत निर्विकार चेतन से कालकृत क्रम का अनुभव नहीं हो सकता ।

यदि मन के विशेष परिणाम स्वप्रकाशचेतन के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और चेतन के प्रकाश से संयुक्त होकर उसके साथ प्रातिभासिक रूप से तादात्म्य को प्राप्त होते हैं और चेतन के अनुभवयोग्य भी होते हैं; तब तो मानस परिणामों का पौर्वापर्य तथा उनका परस्पर सम्बन्ध, साक्षीचेतन के अनुभव के विषय ही नहीं होंगे: क्योंकि यह सम्बन्ध मानस परिणाम रूप नहीं। कालकृत क्रम उस चेतन के अनुभव का विषय कैसे हो सकता है, जिसका कालकृत पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। चेतन निर्विकार परिणामरहित स्वप्रकाश पदार्थ है, अतएव उसे सर्वदा पौर्वापर्य-रहित नित्य काल का अनुभवस्वरूप होना चाहिए। उसको कालकृत पौर्वापर्य का अनुभवकर्त्ता मानने का अर्थ यह होगा कि वह पूर्वकालीन घटना के साथ पूर्वरूप से परिणत होता है और परकालीन घटना के साथ पररूप से। इस प्रकार वह पूर्वीय परिणाम के संस्कार को अपने में संगृहीत रखकर उसके साथ उत्तरकालीन घटना की तुलना करके उनमें पौर्वापर्य तथा कार्यकारणभाव का निश्चय करता है, अर्थात् वह कालकृत विकारों के अनुसार स्वयं भी परिणाम को प्राप्त होता रहता है। परन्तु उक्त अद्वैतवादियों को यह सिद्धान्त अभीष्ट नहीं है। अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, सर्वथा निर्विकार चेतन के उल्लेखमात्र

अपने ज्ञान और स्मरण का विषय करता है, तो यह मानना होगा कि, वह स्वतः परिणाम और विकार को प्राप्त होता है। ऐसा होने पर उक्त वादी के मतानुसार, उक्त चेतन के लिये भी अपर एक ज्ञाता-चेतन का होना आवश्यक होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। वृत्तिज्ञान को स्वीकार करके भी इस दोष का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर वह वृत्तिज्ञान अपने विषय के सहित निर्विकार साक्षीचेतन का विषय होगा, अथवा वह अपर किसी वृत्तिज्ञान का विषय होगा। प्रथम पक्ष में उपरोक्त आपत्ति पुनः उपस्थित होगी और द्वितीय में अनवस्था होगी। अतएव धारा-ज्ञान की उपपत्ति देने के लिए साक्षी की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है।

आध्यासिक सम्बन्ध खण्डित होने से परिणामी मन और निर्विकार चेतनका सम्बन्ध निरूपित नहीं हो सकता ।

से मानस परिणामों में कार्यकारणसम्बन्ध का ज्ञान उपपादित नहीं हो सकता ।*

*अविकृत चेतन और परिणामी मन इन दोनों में किसी वास्तविक सम्बन्ध या सन्निधान को सिद्ध करने में असमर्थ होकर अद्वैतवेदान्ती यह कहते हैं कि, वह सम्बन्ध आध्यासिक या अनिर्वचनीय है । परन्तु उनका यह कथन समुचित नहीं । इस आध्यासिक सम्बन्ध का निरूपण करने के लिए वे लोग रज्जुसर्पादिभ्रान्तिस्थल का उदाहरण देते हैं, जहां पर उनके मतानुसार अज्ञान-उपादानमूलक अनिर्वचनीय सर्प की उत्पत्ति होती है और रज्जु के साथ उसका आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध होता है । परन्तु इन सब विचारविरुद्ध कल्पनाओं का खण्डन हम गत अध्याय में कर चुके हैं । अतएव वेदान्तियों का आध्यासिक तादात्म्य ही अप्रसिद्ध है, इसके उल्लेख से परिणामी मन के साथ निर्विकार चेतन का सम्बन्ध निरूपित नहीं हो सकता । किञ्च, सम्बन्ध के स्वरूप-निर्णय की भी आवश्यकता तभी होती, जब कि निर्विकार निर्विशेष साक्षी का अस्तित्व तथा मन का सापेक्ष अस्तित्व और उसका दृश्यत्व अथवा परप्रकाश्यत्व, किसी स्वतन्त्र रीति से निर्णीत होता । अथवा यह सन्तोषजनक विचारपूर्वक प्रतिपादित होता कि, एक ही साक्षी विभिन्न मन के सम्बन्ध से अनेक आत्मारूप से प्रतिभात होता है तथा उस मानस सम्बन्ध से उसका स्वरूप किञ्चित् मात्र भी संक्रांत या विकृत नहीं होता एवं सभी मनोवृत्तियां उस एक ही साक्षी से प्रकाशित, एकीभूत, अभिव्यक्त और नियमित होती हैं । किन्तु वादी के पास इनको सिद्ध करने के लिए कोई भी युक्तिसंगत उपाय नहीं है, अतएव किसी ऐसे अव्यावहारिक सम्बन्ध की कल्पना करनी व्यर्थ है । यदि उक्त सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक अनुभवराज्य में परिचित सभी प्रकार के सम्बन्धों से विलक्षण पाया जाता, तब उक्त सम्बन्धमूलक घटनाओं के उपपादन के लिए एक विलक्षण सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती । परन्तु ऐसी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती । वेदान्तियों को यह स्वीकार करना होगा कि, एक विश्वात्मा ही अनेक साक्षी-चेतनरूप से आरोपित होता है तथा उसमें उपाधिपना, विशेषता और पृथक्-स्वभाव भी मानस परिणामों से उत्पन्न होते हैं । सुतरां जिसे उपहित, विशेषित और व्यक्तिगत आत्मा कहा जाता है, वह मानस परिणामों का फल है, तथा उक्त उपहित आत्मा इस प्रकार

मनोवृत्ति और अज्ञान के सम्बन्ध को अनिर्वचनीय कहकर मान लेना या अनादि मानना विचारविसंगत है ।

व्यावहारिक स्वभाववाला सिद्ध होता है । यदि व्यक्तित्व के बोध की सम्भावना तथा ज्ञानादि में व्यक्तिगत पार्थक्य के उपपादन के लिए उक्त आत्माओं का आश्रय लिया जाय, तो यह पक्ष अन्योन्याश्रय से दूषित होता है । कारण, यहां पर प्रश्न यह होगा कि, व्यावहारिक मन को व्यक्तिगत अहं का बोध कैसे होता है ? इसका उत्तर यही दिया जाता है कि, व्यक्तिगत आत्मा के प्रति उसके सम्बन्ध से । पुनः प्रश्न यह होता है कि अनन्त निर्विकार साक्षीचेतन, एक विशेषित परिणामी व्यक्तिगत आत्मा के स्थान में कैसे आ सकता है ? इसका भी उत्तर यही दिया जाता है कि, व्यक्तिगत व्यावहारिक मन के प्रति उसके सम्बन्ध से । अर्थात् मन के 'अहं–बोध' की सिद्धि, आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध होने से सिद्ध होता है तथा आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध, मन का आत्मा के साथ सम्बन्धयुक्त होने से सिद्ध होता है । यह स्पष्ट है कि इस उपपादन को युक्तिसंगत नहीं कह सकते । अतएव वेदान्तमत में साक्षीचेतन और वृत्तिज्ञान दोनो ही केवल माने हुए सिद्धान्त हैं, जिसमें प्रत्येक का अस्तित्व और स्वरूप अपर के उल्लेख से प्रमाणित होता है । मुतरां उनके सम्बन्ध को अनिर्वचनीय रूप से मानना यौक्तिकपद्धति में आवश्यकरूप से ग्राह्य नहीं हो सकता । यहां पर उक्त अन्योन्याश्रयदोष के परिहार के लिए यह कहा जाता है कि, उनका सम्बन्ध अनादि है, अतएव यह पक्ष दूषित नहीं है । परन्तु सम्बन्ध के अनादित्व कथन–मात्र से, क्या हम अपनी विचारबुद्धि को सन्तुष्ट कर सकते हैं ? यदि उनमें से कोई भी एक, दूसरे के सम्बन्ध से निरपेक्ष नहीं है, तब उनके विषय में ऐसा विचार नहीं कर सकते कि वे पृथक् हैं । फलतः हमारा सर्वसाधारण का अनुभव और युक्तियुक्त रीति हमको यही मानने के लिए प्रेरणा करती है कि, हमारी व्यावहारिक आत्मा स्वतःपरिणामी, स्वप्रकाश और स्वात्मचेतनावान है और यही इसका प्रकृतस्वरूप हैं । स्वत-प्रकाश और परत-प्रकाश्य तथा निर्विकार–अपरिणामी और सविकार–परिणामी ये दोनो धर्म भी इसी के हैं । कोई भी विचारवान व्यक्ति उक्त दो पृथक् स्वरूपों में (निर्विकार-विकारी और स्वप्रकाश-अप्रकाश में) सम्बन्ध का आविष्कार भी तभी कर सकेगा, जब कि वह उनके पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करके उनके सम्बन्ध का स्वरूप निर्णय कर सके तथा उनके सम्बन्ध का हेतु प्राप्त हो सके । परन्तु आत्मा और मन के सम्बन्ध को अनादि कहने

बाह्य-पदार्थ के अज्ञातत्वधर्म के विषय में दो विकल्प ।

साक्षीचेतन के अस्तित्व को प्रमाणित करने की अपर युक्ति यह है कि, बाह्य पदार्थ का अज्ञानत्वधर्म तथा उस धर्म के उपादानकारण-स्वरूप अज्ञान के प्रकाशित होने के लिए स्वप्रकाश साक्षी-चेतन का होना आवश्यक है। यहां पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, क्या यह अज्ञानत्वधर्म किसी विशेष ज्ञाता के सम्बन्ध से निरपेक्ष होकर बाह्य पदार्थ में बहिर्गत रूप से रहता है, अथवा वह किसी विशेष ज्ञाता के साथ सम्बन्धयुक्त होकर केवल आभ्यन्तर रूप से प्रतिभात होता है? यदि इसे शेषोक्तरूप से माना जाय, तो उक्त अज्ञानत्वधर्म का निवास केवल किसी व्यक्ति के ही हृदय में होगा, नकि व्यक्ति के सम्बन्ध से अत्यन्त पृथक् बाह्य वस्तु में। जब तक उस विशेष व्यक्ति और बाह्य पदार्थ में कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, तब तक उस धर्म को विषयमें-रहनेवाला नहीं मान सकते। अतएव यह मानना निरर्थक होगा कि, हमारे ज्ञान के पूर्व अज्ञानत्वधर्म वस्तुत विषय में था और हमारे द्वारा उस विषय के ज्ञात होने पर वह ध्वंस को प्राप्त हुआ। और भी, यदि उक्त अज्ञानत्वधर्म-हमारे द्वारा उस विषय के ज्ञात होने के पूर्व से-उस पदार्थ में विद्यमान होता, तो हम उस धर्म

मात्र से यह सूचित होता है कि, उनका पृथक् अस्तित्व असिद्ध है। उस सम्बन्ध का स्वरूप भी ऐसा अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है, जिसका स्वरूप हमारे अनुभवराज्य के अन्तर्गत किसी वास्तव सम्बन्ध से निरूपित नहीं हो सकता। यौक्तिकरीति से अनिरूपणीय इस सम्बन्ध के हेतु को भी एक भावरूप अज्ञान माना जाता है, जिसका स्वरूप भी सत् या असत् रूप से निर्वचन के योग्य नहीं है। ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थ को मानकर उसके सम्बन्ध को भी अनिर्वचनीय मान लेना, विचारवानो के लिये शोभनीय नहीं है। यदि किसी साक्षात् घटना की युक्तिसंगत उपपत्ति देने के लिए ऐसे किसी सिद्धान्त की शरण लेनी पडे, जो स्वयं युक्ति से अनिर्णेय, अनिर्वचनीय और विचारविसङ्गत हो, तो यह स्वीकार कर लेना अधिक युक्तिसङ्गत और सरलतासूचक होगा कि, ये घटनायें युक्ति से उपपादन के योग्य नहीं हैं।

को जानने में कभी समर्थ नहीं होते। कारण, जबतक वह धर्म पदार्थ में विद्यमान था तब तक हमको उस पदार्थ का तथा उसके धर्म का भी कोई ज्ञान नहीं था और जब वह पदार्थ हमको ज्ञात होगया, तब वह अज्ञातत्व भी वहाँ नहीं रहा। जबकि पदार्थ-विषयक हमारा ज्ञान और उसका अज्ञातत्व, दोनों परस्पर विरोधी हैं, तब वे आपस में कभी मिल नहीं सकते, जिससे कि हमारे ज्ञान को पदार्थ का अज्ञातत्व ज्ञात हो। अतएव जबकि वस्तुविषयक हमारे ज्ञान के पूर्व, अस्मत्सम्बन्धी विषयगत अज्ञातत्वरूप भावरूप धर्म की उपस्थिति, युक्ति से प्रमाणित नहीं हो सकती, तब उस धर्म के उपादानकारणरूप से भावरूप अज्ञान की उपस्थिति को उस विषय में स्वीकार करना अनावश्यक है, और उसका अस्तित्व भी प्रमाणित होने के योग्य नहीं है। फलतः इस अज्ञान के सिद्धिप्रद और प्रकाशकरूप से साक्षीचेतन का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। किञ्च, यदि ऐसा अज्ञातत्वधर्म वस्तुगत रूप से स्वीकृत हो, तो उस वस्तु को न जानने वाले प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा से उस वस्तु में असंख्य अज्ञातत्वों को मानना होगा, जिससे कि वह वस्तु एक अज्ञातत्व-धर्म-युक्त न होकर, असंख्य अज्ञातत्व-धर्मयुक्त होगा। और ऐसा होने पर उन अज्ञातत्वों के उपादानरूप से अज्ञान भी असंख्य होंगे। सुतरां जो चेतन, अस्मत्सम्बन्धी अज्ञातत्वधर्म के उपादान अज्ञान का प्रकाशक माना जाता है, वही युष्मत्सम्बन्धी अज्ञान का भी प्रकाशक है और एक ही है, ऐसा प्रमाणित नहीं हो सकता। हमारे में भी अनेक वस्तु-विषयक अज्ञातत्व के उत्पादन के लिए असंख्य अज्ञानों को स्वीकार करना होगा। यदि विभिन्न व्यक्ति तथा विभिन्न विषय-सम्बन्धी ऐसे विभिन्न अज्ञान स्वीकृत न हों, तो एक व्यक्ति के द्वारा एक ही पदार्थ का ज्ञान, सर्वपदार्थ-विषयक सर्व व्यक्ति के अज्ञानों को नाश करने वाला होगा। सुतरां किसी भी व्यक्ति को कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रहेगा। अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, यदि हम ऐसे सिद्धान्त को मानलें कि पदार्थों में आन्तर अज्ञातत्व-धर्म

रहता है, जो साक्षी-चेतन से प्रकाशित, ज्ञाननाश्य और अज्ञानोत्पादित है, तो हमको पदार्थ-विषयक ज्ञान-प्राप्ति को, सयुक्तिक प्रतिपादित करने की आशा छोड़ देनी होगी ।

अब प्रथम पक्ष का विवेचन करते हैं कि अज्ञातत्व प्रत्येक पदार्थ का बाह्यगत धर्म है, जो बाह्य अज्ञान से उत्पन्न होकर साक्षी-चेतन से सिद्ध और प्रकाशित होता है । यहां पर प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर देना होगा । वे यह कि-क्या ज्ञातत्व और अज्ञातत्व परस्पर विरोधी हैं ? तथा—अज्ञातत्व एक है या अनेक ? प्रथम प्रश्न के विषय में वक्तव्य यह है कि, यदि वे विरोधी न हों, तो किसी व्यक्ति के प्रति किसी पदार्थ के ज्ञात होने के पश्चाद् भी, वह उसके प्रति अज्ञात ही रहना चाहिए । कारण, यद्यपि उस पदार्थ-विषयक ज्ञान के होने पर उसमें ज्ञातत्व-धर्म उत्पन्न होता है, तथापि —विरोधी न होने से—अज्ञातत्वधर्म तिरोभूत नहीं होता । अर्थात् एक ही पदार्थ एक ही काल में एक ही व्यक्ति के प्रति ज्ञात और अज्ञात होना चाहिए, परन्तु यह सम्भव नहीं है । यदि ज्ञातत्व और अज्ञातत्व दोनों विरोधी हों, तो जिस समय कोई व्यक्ति किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है, उस समय उस पदार्थ में ज्ञातत्व-धर्म के उत्पन्न होने से अज्ञातत्वधर्म नष्ट हो जाता है । फलतः बाह्यगत अज्ञातत्वधर्म के नष्ट होने पर वह पदार्थ सब के प्रति ज्ञातरूप से प्रतिभात होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं होता । यहां पर ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि, यद्यपि अज्ञातत्वधर्म बाह्यगत है, तथापि पदार्थ का ज्ञान के लिए पदार्थ और विशेष व्यक्ति के इन्द्रिय-सन्निकर्ष का होना आवश्यक है अथवा पदार्थज्ञान पदार्थाकार मनोवृत्ति का सापेक्ष होता है । जब ज्ञान, पदार्थ के अज्ञातत्व का नाशक होता है, उस समय वह अज्ञान का सर्वथा नाश नहीं कर डालता; किन्तु विशेष व्यक्ति-सम्बन्धी ज्ञान, केवल उसी व्यक्ति-सम्बन्धी अज्ञातत्व का ही नाशक होता है। इसीलिये इन्द्रिय-सन्निकर्षादि से जिस व्यक्ति में ज्ञान का उदय होता है, उसी के लिए अज्ञातत्व भी तिरोभूत होता है, परन्तु इन्द्रिय-सन्निकर्षादिरहित

अन्य व्यक्तियों के लिए वह अज्ञातत्व वैसा ही बना रहता है । अब इस व्याख्या के अनुसार ज्ञान को आभ्यन्तर वस्तु कहना होगा, यद्यपि पदार्थगत अज्ञातत्व और उसका उत्पादक अज्ञान, बाह्य है । यहां पर प्रश्न यह है कि, विशेष व्यक्ति के द्वारा प्राप्त पदार्थ-ज्ञान (चाहे उसकी प्राप्ति का कैसा भी उपाय क्यों न हो) क्या उस विषय में ज्ञातत्व-धर्म को भी उत्पन्न करता है ? यदि करता हो तो, विषयगत अज्ञातत्वधर्म को नष्ट किए बिना, वह ज्ञातत्वधर्म कैसे उत्पन्न हो सकता है ? किसी व्यक्ति को एक ही बाह्य वस्तु में अज्ञातत्वधर्म की उपस्थिति काल में ही ज्ञातत्व-धर्म की प्रतीति कैसे सम्भव है ? यदि ऐसा हो सकता हो, तो यह मानना होगा कि, ज्ञातत्व और अज्ञातत्व रूप दो विरोधी धर्म एक ही विषय के समरूप से परिचायक है, परन्तु हम लोग ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते । और भी, ज्ञान का यदि व्यक्ति के धर्म रूप से माना जाय, तब प्रश्न यह होता है कि, तब वह ज्ञान के विषय में ज्ञातत्व-धर्म का उत्पादन कैसे करेगा ? वेदान्तियोंने बाह्य पदार्थ में बाह्यगत अज्ञातत्व की उपस्थिति से उसके उपादानरूप बाह्यगत अज्ञान का अनुमान किया है, क्योंकि उपादान-कारण और कार्य इन दोनों का समदेशस्थ होना आवश्यक है ।*

*अज्ञातत्व के बाह्यगत अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कतिपय वेदान्तग्रन्थों में भ्रान्तिस्थलीय दृष्टान्त दिया गया है । रज्जु में प्रातिभासिक सर्प की उत्पत्ति को देखकर यह स्वीकार करना पडता है कि उसका उपादानभूत अज्ञान भी उसी रज्जुदेश में रहता है । परन्तु यह दृष्टान्त सङ्गत नहीं है । इसमें व्यावहारिक सत्यपदार्थ की प्रतिष्ठा के लिए भ्रान्तिस्थलीय दृष्टान्त लिया गया है, जो कि सन्तोषजनक पद्धति नहीं है । वह भ्रान्तिरूप तभी सिद्ध हो सकता है, जब कि उक्त रज्जु किञ्चिद्रूप से ज्ञात और किञ्चिद्रूप से अज्ञात हो । अतएव बाह्य अज्ञातत्व को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होते समय, उसी अज्ञातत्व (साध्य) को प्रथम ही साधनरूप से मानना पडता है । किञ्च, अज्ञानोपादानक ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति के, पूर्व ही खण्डित हो जाने पर, इस रीति से बाह्यपदार्थगत अज्ञातत्व प्रमाणित नहीं हो सकता ।

इस प्रकार की युक्ति से बाह्य विषयगत अज्ञान के भावरूपत्व की सिद्धि हो सकती हो, तो उनको यह भी मानना पड़ेगा कि विषय में ज्ञातत्व-धर्म का कारणरूप ज्ञान का भी बाह्यगत अस्तित्व है। ऐसा होने पर ज्ञान और अज्ञान, इन दोनों का बाह्यगत अस्तित्व रहेगा और ये दोनों एक दूसरे को निवृत्त नहीं करेंगे। सुतरां उनके कार्य—ज्ञातत्व और अज्ञातत्व—भी सर्वदा प्रत्येक पदार्थ के धर्मभूत होंगे, जिससे प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक के प्रति निरन्तर ज्ञात और अज्ञात रहेगा। परन्तु यह निर्विवाद है कि, ऐसा सिद्धान्त सर्वसम्मति से भ्रान्त समझा जायगा।

यहां पर यह कह सकते हैं कि ज्ञातत्व, पदार्थ का बाह्यगत धर्म नहीं है, किन्तु वह केवल एक मानस परिणाममात्र है। अतएव उसके कारणभूत ज्ञान का अस्तित्व भी बाह्यविषयगत रूप से स्वीकार किया जाना आवश्यक नहीं है। परन्तु अज्ञानत्व के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, वह हमारे किसी प्रयत्न या मानस परिणाम का कार्य नहीं है, तथापि हम उसका नित्य अनुभव करते हैं; अतएव उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक ऐसे नित्य अनुभूत विषय के अस्तित्व को अस्वीकार करना, मानें एक यथार्थ अनुभव को ही अस्वीकार करना है। अब इसके उत्तर में प्रश्न यह होता है कि, वह कौनसा अनुभव है जो हमको बाह्य पदार्थ में अज्ञातत्वधर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है? वह अनुभव यही होगा कि, जिस विषय को मैं अभी जान रहा हूं, वह मेरे ज्ञान के पूर्व भी अस्तित्ववाला था और मैंने उसे इतने काल तक नहीं जाना था। किसी अस्तित्ववान पदार्थ-सम्बन्धी मेरे ज्ञान का अभाव, उसी वस्तु में भावरूप अज्ञातत्व-धर्म की उपस्थिति को भी स्वीकार करने के लिए मेरे को कैसे बाध्य कर सकता है, यह हमारी साधारण बुद्धि में आरूढ नहीं होता। हमारी बुद्धि साधारणतया केवल इतना ही स्वीकार कर सकती है कि, अज्ञान हमारे में किसी रीति से सम्बद्ध है, जिससे हमारे ज्ञान को विषय में प्रसारित होने के लिए बाधा पहुंचती है अथवा अज्ञान ने हमारे मन में

आवरण डाल रखा है, जिससे विषय के दर्शन में बाधा होती है। यदि मेरा किसी विषय-सम्बन्धी ज्ञान, मुझको यह अधिकार नहीं देता कि मैं उस पदार्थ में ज्ञातत्व के बाह्यगत अस्तित्व का अनुमान करूं, तो मेरा किसी विषय-सम्बन्धी अज्ञान भी मुझको यह अधिकार नहीं देता कि मैं उस पदार्थ में अज्ञातत्व के बाह्यगत अस्तित्व को स्वीकार करूं। यदि हमारे किसी पदार्थ-विषयक ज्ञान से, हमारे लिए यह युक्तिसंगत न हो कि, हम किसी विशेष ज्ञाता पुरुष से असम्बद्ध बहिस्थ ज्ञान के अस्तित्व का अनुमान करें, तो किसी विषय-सम्बन्धी हमारे अज्ञान के अनुभव से भी हमारे लिए यह युक्तिसंगत नहीं होगा कि, हम किसी व्यक्ति से असम्बद्ध बहिस्थ अज्ञान का बाह्यगत अस्तित्व अनुमान करें। अतएव किसी अस्तित्ववाले विषय के ज्ञात होने के पूर्व, जो हमारा ज्ञानाभाव का अनुभव है, उससे यह प्रतिपादित नहीं हो सकता कि, विषय में बाह्यगत अज्ञातत्व-धर्म है और उसके कारणरूप अज्ञान का बाह्यगत अस्तित्व है।

और भी, यह एक सर्वसम्मत नियम है कि दो विरोधी धर्म एकही समय एक ही पदार्थ में उपस्थित नहीं रह सकते। सुतरां, एक ही पदार्थ-विषयक ज्ञान और अज्ञान, हमारे में एक ही काल में नहीं रह सकते। मेरे में उत्पन्न किसी पदार्थ का ज्ञान, उस पदार्थ-विषयक मद्गत पूर्वकालीन अज्ञान का अवश्य नाश करेगा। परन्तु यदि अज्ञान को मुझ से स्वतन्त्र बाह्यगत अस्तित्ववाला माना जाय और यदि उस अज्ञान को विषय में अज्ञातत्व-धर्म का कारण माना जाय, तब हमारे आभ्यन्तरदेश में उत्पन्न होने वाला ज्ञान, उस बहिर्देशस्थ अज्ञान का नाश करके अज्ञातत्व को कैसे निवृत्त कर सकेगा ?

यदि हम यह स्वीकार करलें कि साक्षीचेतन द्वारा सिद्ध और प्रकाशित एक भावरूप अज्ञानकृत अज्ञातत्व-धर्म, वास्तव में विषय में ही उत्पन्न होता है; तब द्वितीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, वह अज्ञातत्व एक है या बहु ? यदि एक ही हो, तो इस धर्म के तिरोभाव को भी एक घटना रूप ही मानना होगा, (जो कि

एक ही बार उत्पन्न होता है-चाहे वह किसी भी कारण से क्यों न उत्पन्न होता हो) तथा विषय के ज्ञान न होने में यदि उक्त अज्ञातत्व-धर्म ही हेतु हो, तो उसका तिरोभाव होने पर वह विषय सार्वजनीन रूप से ज्ञात होना चाहिए। इसमें यदि यह आपत्ति की जाय कि, पदार्थ का साक्षात्-ज्ञान होने के लिए अपर सहकारी कारण (यथा इन्द्रिय सन्निकर्ष, मनःपरिणाम आदि) भी आवश्यक होते हैं; तब प्रश्न यह होगा कि, उन तथाकथित सहकारी कारणों की उपस्थिति और अनुपस्थिति मात्र से ही पदार्थ-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति सिद्ध हो सकती है या नहीं ? यदि ऐसा हो सकता हो, तो विषय में अज्ञातत्व-धर्म का उत्पादक एक भावरूप अज्ञान की कल्पना अनावश्यक है। वादी के सिद्धान्त को मानकर भी कि—ऐसा नहीं हो सकता- एक ऐसा उदाहरण लिया जाय जिसमें यथार्थ ज्ञान उत्पादन की सभी सामग्री सम्पूर्ण हो, तब क्या हम लोग यह स्वीकार नहीं करेंगे कि, विषय का आवरणकारी या विषय में अज्ञातत्व धर्म का उत्पादनकारी अज्ञान नष्ट हो गया है ? यदि उस स्थल में अज्ञान और अज्ञानकृत अज्ञातत्व-धर्म, ज्ञान के द्वारा नाश को प्राप्त होता हुआ माना जाय, तो इसका अर्थ क्या यह नहीं होगा कि सहकारी कारण की उपस्थिति मात्र ही अज्ञातत्व या अज्ञान की निवृत्ति में मूल प्रयोजक है ? किसी एक व्यक्ति के ज्ञान से पदार्थ में बाह्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर फिर वह कौनसा अपर हेतु रह जाता है, जिससे वह पदार्थ अन्य सभी व्यक्तियों को ज्ञात नहीं होता ? क्या फिर भी हम लोगों को यह मानना होगा कि अज्ञान का नाश होने पर भी अन्य व्यक्तियों के सहकारी कारण की उपस्थिति के अभाव से वह पदार्थ अपर के प्रति ज्ञात नहीं होता ? अथवा यह मानना पड़ेगा कि पदार्थगत अज्ञातत्व और अज्ञान के विद्यमान होते हुए भी, कोई व्यक्ति सहकारी कारणों की सहायता से उस पदार्थ को जान सकता है; अथवा अज्ञान और अज्ञातत्व की अनुपस्थिति होते हुए भी अन्य व्यक्ति सहकारी-कारण के अभाव से उस पदार्थ को नहीं जान सकता ? अतएव

हम लोग उयभतःपाशरज्जु में आवद्ध के समान किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। सारांश यह कि, एक भावरूप अज्ञानमूलक बाह्यगत अज्ञातत्वधर्म के सिद्धान्त को मानकर, हम लोग किसी पदार्थ-विषयक ज्ञान और ज्ञानाभाव का उपपादन नहीं कर सकते। यह कहना व्यर्थ है कि, यह सिद्धान्त कितना भ्रान्त और नितान्त कठिन होगा, यदि हम ऐसा मानें कि, व्यावहारिक ज्ञान का विरोधी तथा ज्ञानाभावरूप अज्ञान एक भावरूप पदार्थ है, जो समस्त विषयों को आवृत्त करके उनमें अज्ञातत्वधर्म को उत्पन्न करता है, जिससे सभी पदार्थ सभी व्यक्तियों के प्रति ज्ञात नहीं होते।

यदि उक्त दोषों के निवारण के लिए अज्ञातत्व का बहुत्व स्वीकार किया जाय, तो भी यह सिद्धान्त निर्दोष नहीं हो सकता। यह बहुत्ववाद का सिद्धान्त हमारे आपाततः अनुभव के अनुकूल अवश्य है, क्योंकि बहुत से व्यक्ति अनेक पदार्थों को जानते हैं तथा अन्य कितने ही व्यक्ति अनेक पदार्थों को नहीं भी जानते। प्रत्येक पदार्थ अनेक व्यक्तियों के प्रति ज्ञात और अपर अनेक व्यक्तियों के प्रति अज्ञात होता है। परन्तु इस मत के अनुसार यह मानना पड़ता है कि, प्रत्येक पदार्थ एक ही काल में अनिर्दिष्ट अज्ञातत्व की संख्यावाला तथा साथ ही असंख्य ज्ञातत्वधर्मवाला भी है। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उस पदार्थ को जानने-वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ने पर, अज्ञातत्व की संख्या न्यून होती जायगी और ज्ञातत्व की संख्या वृद्धि को प्राप्त होती रहेगी। इस मत के अनुसार यह अनुभवविरुद्ध कल्पना भी करनी पड़ेगी कि, एक ही वस्तु में असंख्य अज्ञातत्वधर्म भरे पड़े हैं और प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान से वे निष्क्रिय जड़ पदार्थ (अज्ञातत्व) बारम्बार तिरस्कृत होते रहते हैं और पुनः पुनः लौटकर आते रहते हैं। चाहे यह सिद्धान्त कैसा भी अद्भुत क्यों न प्रतीत होता हो, तर्क की दृष्टि से हम इसे स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु इन अनेक अज्ञातत्वों का परस्पर विभाग कैसे होगा? यदि इनमें परस्पर विलक्षण भेद के चिह्न न माने जांय, तो वे अभिन्न होकर एक में

परिणत हो जायेंगे और ऐसा होने पर पूर्वोक्त एकत्ववाद के दोष यहां भी उपस्थित होंगे । यदि वे विभाग के योग्य हों, तो प्रत्येक अज्ञातत्व धर्म को विशेष विशेष लक्षणों वाला अवश्य मानना होगा । परन्तु उन लक्षणों में विशेषता या विलक्षणता भी तभी उत्पन्न होगी, जब कि प्रत्येक व्यक्ति के विलक्षण ज्ञान उस पदार्थ के साथ संयुक्त होकर पदार्थगत अज्ञातत्व को विलक्षण धर्मों से विशेषित करेंगे; उस पदार्थ को न जानने वाले किसी व्यक्ति के सम्बन्ध-व्यतिरेक से उक्त अज्ञातत्व-धर्म कैसे विशेषित हो सकते हैं? अतएव यदि किसी पदार्थ में असंख्य अज्ञातत्वधर्मों की धारणा करली हो, तो यह भी अवश्य मानना पडेगा कि, वह पदार्थ अतीत, वर्तमान और भविष्यत् के समस्त व्यक्तियों के साथ सम्बन्धयुक्त है, जिन व्यक्तियों को इस पदार्थ के साथ सम्बन्धयुक्त होने का अथवा अन्य किसी प्रकार से ज्ञान प्राप्त होने का कोई अवसर न तो अतीत में था, न वर्त्तमान में है और न भविष्य में ही होगा । इससे यह सूचित होता है कि, जगत् में ज्ञान के समस्त विषय और समस्त व्यक्तियों में साक्षात् सम्बन्ध है । किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसे विचारविरुद्ध सिद्धान्त को मानने के लिये हम विवश नहीं किए जा सकते ।

उपरोक्त अज्ञातत्व-विषयक प्रश्न, अज्ञान में भी उत्पन्न होता है । क्या एक ही अज्ञान को इन सब अज्ञातत्वों का उपादानरूप माना जाय अथवा विभिन्न अज्ञातत्वों के उपपादन के लिए अज्ञान में भी विभिन्नता माननी पडेगी? यह स्पष्ट है कि किसी पदार्थ में अज्ञातत्वधर्म का उत्पादक और सिद्धिप्रद अज्ञान(कारण) के नाश के बिना अज्ञातत्वधर्म (कार्य) नाश को प्राप्त नहीं हो सकता और अज्ञातत्वधर्म के नष्ट हुए बिना पदार्थ का ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता । सुतरां किसी पदार्थ के ज्ञान का अर्थ होगा, उस पदार्थगत अज्ञातत्व के मूलरूप अज्ञान का नाश । अब यदि जगत्भर में सम्पूर्ण पदार्थों के अज्ञातत्व का कारणभूत एक मात्र अज्ञान हो, तो केवल एक ही व्यक्ति के एक ही पदार्थविषयक ज्ञान से

सम्पूर्ण जगत् भर का अज्ञान नष्ट हो जायगा । फलतः प्रत्येक पदार्थगत कार्यरूप अज्ञातत्व के भी तिरोभूत होने से, प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञात होने लगेंगे (यद्यपि वे पदार्थ साक्षात् रूप से ज्ञात नहीं हैं) और इस प्रकार किसी विषय का ज्ञान होना और न होना दोनों ही बराबर हो जायेंगे अर्थात् ज्ञातत्व और अज्ञातत्वधर्म के निर्विशेष होने पर उनमें कोई भेदव्यवहार नहीं रहेगा । फिर अज्ञातत्व को ज्ञातत्व की अपेक्षा एक विशेष धर्म मानकर उसके सिद्धप्रदरूप से अज्ञान की कल्पना भी व्यर्थ हो जायगी । सारांश यह है कि सम्पूर्ण विषयगत अज्ञान की एकता मानने पर वादी को एक ऐसे अनुभवविरुद्ध सिद्धान्त को मानने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिसको वे कदापि स्वीकार नहीं कर सकते ।

यदि पक्षान्तर में प्रत्येक पदार्थगत अज्ञातत्व के कारणभूत अज्ञान को भी पृथक् पृथक् माना जाय, तो जानना और न जानना रूप घटना की उपपत्ति के लिये असंख्य भावरूप अज्ञानों को मानना होगा । यहां पर भी अज्ञानों में परस्पर भेदनिर्णय के लिए एक अज्ञान को दूसरे से विलक्षण रूप वाला स्वीकार करना होगा । परन्तु यह विलक्षणता तभी हो सकेगी, जबकि सभी पदार्थ प्रत्येक विलक्षण ज्ञाताओं के विलक्षण मनों से सम्बन्धयुक्त हों और इस प्रकार उन पदार्थों में अनुगत अज्ञान भी विलक्षण विशेषणों से विशिष्ट हों । यदि कोई अज्ञान उक्त प्रकार से पदार्थ और मन के साथ सम्बन्धयुक्त होकर विशेषित होता हो, तो यह भी मानना होगा कि, वह सम्बन्ध अज्ञान के पूर्वकाल में ही है, क्योंकि यह नियम है कि जो जिससे विशेषित होता है वह उससे पूर्वभावी होता है । ऐसा होने पर यह भी स्वीकार करना होगा कि, प्रत्येक पदार्थ—देश और काल के दूरत्व की अपेक्षा न रखता हुआ—प्रत्येक मन के साथ सम्बन्धयुक्त है । यदि हम इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसी कल्पना करने को तैयार भी हों, तो भी प्रश्न यह होता है कि, ऐसे प्रत्येक मन के साथ असंख्य विषयों का सम्भावित साक्षात् सम्बन्ध और प्रत्येक पदार्थ के साथ असंख्य मनों का

सम्भावित साक्षात् सम्बन्ध कैसे निर्णीत और उपपादित हो सकता है ? दो पदार्थों में जिन सम्बन्धों का सयुक्तिक निर्णय किया जाता है, उनमें से यहां पर कोई भी प्रयुक्त नहीं हो सकता तथा उन सम्बन्धों के निर्णय के योग्य किसी उपपत्ति का प्रदान भी नहीं हो सकता। यदि ऐसा सम्बन्ध स्वीकृत हो, तो इससे यह सिद्धान्त स्थापित होगा कि, मन और विषयों में एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध का नाम अज्ञान है तथा मन और विषय में अन्य विशेष प्रकार के सम्बन्ध का नाम ज्ञान है। ये दोनों प्रकार के सम्बन्ध भी ऐसे होंगे, जो एक ही मन और एक ही विषय में रहते हुए भी एक अपर को नाश किए बिना, प्रतिभात नहीं हो सकेंगे। परन्तु ऐसा सिद्धान्त वादी के मत से समञ्जस नहीं होता। यदि अज्ञान को मन और विषय में एक विशेष प्रकार का सम्बन्धरूप माना जाय, तो मन को निरपेक्ष अस्तित्ववाला तथा विषयों में अज्ञानत्वधर्म को उत्पन्न करनेवाला एक भावरूप पदार्थ नहीं मान सकते।

इस विवेचन से यह प्रतिपन्न होता है कि, जबकि पदार्थों में भावरूप अज्ञानत्वधर्म और उसका कारणरूप भावरूप अज्ञान सयुक्तिक सिद्ध नहीं हो सकता, तब उसके प्रकाशक और सिद्धिप्रद रूप से निर्विकार चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा, निर्हेतुक होकर स्वयं खण्डित हो जाती है।

उपरोक्त विचार के द्वारा बाह्य विषयगत भावरूप अज्ञान की असिद्धि प्रदर्शित करके अब यह प्रतिपादन करते हैं कि, अज्ञान के साक्षी रूप से निर्विकार चेतन सिद्ध नहीं हो सकता। यहां पर प्रश्न यह होता है कि, वेदान्तिसम्मत भावरूप अज्ञान के साथ मन का तथा चेतन का क्या सम्बन्ध है ? यदि अज्ञान को ऐसा माना जाय कि वह मन के साथ ही साथ रहता है, तो जैसे विशेष विषयाकार ज्ञान को मन का परिणामरूप माना जाता है, वैसे ही उस विशेष विषयाकार मानस परिणाम से सम्बन्धयुक्त विशेष-अज्ञान को भी आश्रयभूत समष्टि अज्ञान का परिणामरूप मानना

होगा । अब यदि अज्ञान के ये परिणाम साक्षी-चेतन के ज्ञान के विषय हों, तो मन के विशेष परिणामों को साक्षी चेतन के विषयभूत मानने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे सभी इस स्थल में भी उपस्थित होंगे । और भी, यदि अज्ञानों के विशेष परिणामों को साक्षी-चेतन अनुभव करता हो, तो प्रश्न यह होता है कि, अज्ञान के विशेष परिणामों के चले जाने पर उनके द्वारा त्यागे हुए संस्कार किसमें सुरक्षित रहते हैं, जिससे कि वे पश्चात् स्मरण के विषय हो सकें । यदि यह कहा जाय कि, वे साक्षी चेतन में सुरक्षित रहते हैं, तब यह मानना होगा कि चेतन केवल अज्ञान के परिणामों का ज्ञाता या प्रकाशक मात्र ही नहीं, किन्तु उनके संस्कारों को प्राप्त करने वाला, अपने में संगृहीत करके रखने वाला तथा कालान्तर में स्मरणरूप से उनको उत्पन्न करने वाला भी है । ऐसा होने पर साक्षी-चेतन को अज्ञान के प्रभाव से अविकृत या निर्विकार नहीं मान सकते । यदि पक्षान्तर में अज्ञान के संस्कार स्वतः अज्ञान में ही सुरक्षित रहते हों तो स्मरण भी ज्ञानाकार न होकर अज्ञानाकार ही होगा अर्थात् स्मरण का होना ही अनुचित हो जायगा । स्मरण, एक ज्ञानाकार वस्तु है, सुतरां इसको ज्ञानशक्ति का ही परिणाम मानना उचित है, नकि अज्ञानशक्ति का । यदि कोई विशेष विषय का अज्ञान, ज्ञानशक्ति से भिन्न अज्ञानशक्ति का परिणाम हो, तो वह अज्ञानशक्ति से उद्‌बुद्ध न होकर ज्ञानशक्ति के परिणाम रूप से कैसे उद्‌बुद्ध होगा ? यहां पर ऐसा कह सकते हैं कि, अज्ञान और मन परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि जिससे अज्ञान के परिणाम मनःपरिणाम रूप से प्रतिभात होते हैं । किन्तु उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर इसका उत्तर यही होगा कि, साक्षीचेतन ही उन दोनों का ज्ञाता या प्रकाशक होने के कारण, उन दोनों में सम्बन्ध का स्थापन करता है । परन्तु, फिर भी प्रश्न यह होता है कि, अज्ञान और मन जिस चेतन से प्रकाशित होते हैं, उसके साथ अज्ञान का क्या कोई यथार्थ सम्बन्ध है, जिस हेतु से वह चेतन के द्वारा प्रकाशित होता है ? यह हम पूर्व ही

निर्विकार चेतन मानने से अज्ञान का स्मरण उपपन्न नहीं हो सकता। सुषुप्ति से व्युत्थितपुरुष के ज्ञान को अज्ञानवृत्ति मानने से वादीसम्मत स्मरणकी उपपत्ति नहीं होती।

देख चुके हैं कि, जिस समय हम मन और चेतन के सम्बन्ध का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उस समय नाना प्रकार के दोष उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार यदि हम साक्षी चेतन के साथ भावरूप परिणामी अज्ञानशक्ति के सम्बन्ध की धारणा का निर्णय करने लगे, तो वही पूर्वोक्त दोष यहां पर भी उपस्थित होंगे। अथवा यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि चेतन, अज्ञान और मन के परिणामों से उदासीन और अविकृत रहकर ही उनको प्रकाशित कर सकता है, तो भी वह अज्ञान के परिणाम को मन के ज्ञानाकार परिणाम में परिवर्तित करके उसको स्मरण रूप में पुनराविर्भूत कैसे कर सकता है? यह समझ में नहीं आता।*

*उक्त विचार से यह भी प्रतिपन्न होता है कि, वेदान्तिसम्मत सुषुप्तिकालीन अज्ञान के प्रकाशकरूप से साक्षीचेतन सिद्ध नहीं हो सकता। सुषुप्ति से व्युत्थित पुरुष के—"मैंने वहां पर कुछ नहीं जाना" इस ज्ञान का स्मरणरूप मानकर वेदान्तीलोग सुषुप्तिकाल में निर्विकल्प अज्ञानवृत्ति को मानते हैं अर्थात् वे लोग "मैंने" इस अहंकार को जाग्रत्कालीन अनुभव और "कुछ नहीं जाना" इस अज्ञान को स्मरणरूप मानकर उस परिणामी (अज्ञानवृत्ति) के साक्षीरूप से निर्विकार चेतन को मानते हैं। परन्तु यह पक्ष विचारसङ्गत नहीं है। सुषुप्तपुरुष के व्युत्थानकालीन ज्ञान को स्मरणरूप मानने के पूर्व, उसके पूर्वभावी अनुभव और संस्कार की व्यवस्था प्रदर्शित होनी आवश्यक है, क्योंकि अनुभव, संस्कार और स्मृति एकाश्रयगत होते हैं। यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब सुषुप्तव्यक्ति जाग्रदवस्था में आकर अपने सुषुप्तिकालीन अनुभव को स्मरण करने लगता है, उस समय भी उसका सुषुप्तिकालीन निर्विकल्पज्ञान वैसा ही बना रहता है अथवा उसका निर्विकल्पस्वरूप नष्ट हो जाता है? यदि उसको वैसे ही अपने पूर्वरूप में स्थित रहकर स्मरण करता हुआ माना जाय, तो जाग्रत्कालीन विशिष्टबोध (विशेष्य–विशेषण सहित ज्ञान) की उपपत्ति नहीं होगी। यदि यह कहा जाय कि, स्मरण के समय उसका पूर्वरूप नष्ट हो जाता है अर्थात् उक्त वृत्ति सविकल्परूप से परिणाम को प्राप्त होकर सुषुप्ति को स्मरणगोचर करती है,

सुषुप्ति से व्युत्थितके ज्ञान को अन्तःकरणवृत्ति मानकर स्मरणकी व्यवस्था नहीं हो सकती ।

तो जिसने अनुभव किया था उसके न रहने पर उसका स्मरणकर्तृत्व भी माननीय नहीं हो सकता । अतएव सुषुप्तिकालीन निर्विकल्प अज्ञान का जाग्रत् में परिणाम मानकर, स्मरण की व्यवस्था नहीं हो सकती और इससे वह जाग्रत में अन्तःकरणरूप से परिणत होकर स्मरण करता है, सो भी मान्य नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि निर्विकल्प (सुषुप्ति) और सविकल्प (व्युत्थान) इन दोनों अवस्थाओं में अनुगत अज्ञान के द्वारा स्मृति की व्यवस्था हो सकती है, तो यह भी सङ्गत नहीं । कारण, इस पक्ष में वह अनुगत अज्ञान अवस्थाओं से भिन्न होने के कारण (अवस्था अननुगत अथच अज्ञान अनुगत), अवस्थारहित होगा, सुतरां उससे स्मृति की उपपत्ति भी नहीं होगी तथा उसे परिणामशील भी नहीं कह सकेंगे । और भी, अवस्था उसका स्वरूपभूत मान्य होने पर व्यभिचारी अवस्थाओं के साथ उसकी अनुगति नहीं हो सकेगी, सुतरां अज्ञान के द्वारा स्मृति की व्यवस्था नहीं होगी । अज्ञान को इस प्रकार अवस्थायुक्त होकर अनुगत या अवस्थारहित मानने पर उसके अतिरिक्त किसी साक्षी को मानने का प्रयोजन भी नहीं रहेगा ।

अब यदि उक्त स्मृति को अन्तःकरणवृत्ति मानें, तो सुषुप्ति में उसकी अवस्थिति माननी होगी और ऐसा होने पर—अहंयुक्त विशेष्य-विशेषण ज्ञान के कारण (अहं ज्ञाता, अहं भोक्ता)—सुषुप्ति ही भंग हो जायगा । यह नहीं कहा जा सकता कि, सुषुप्ति में अन्तःकरणवृत्ति सूक्ष्मरूप से अज्ञान में रहती है और पश्चात् वहाँसे व्युत्थित होकर स्मरण करती है, क्योंकि इस सूक्ष्मवृत्ति को अज्ञान से भिन्न या अभिन्न या भिन्नाभिन्न रूप से निर्णय नहीं कर सकते, उसके साथ अज्ञान का सम्बन्ध भी (संयोग, समवाय, तादात्म्य, स्वरूप) निरूपित नहीं हो सकता और सम्बन्ध का निर्णय न होने पर यह भी नहीं माना जा सकता कि अन्तःकरणवृत्ति वहाँ पर रहती है । और भी, ऐसा कहने से वृत्ति को उक्त कारण की (अज्ञान की) सत्ता से व्यतिरिक्त अथच उसमें सूक्ष्मरूप से रहनेवाली मानना होगा । अतएव वादीसम्मत सिद्धान्त को (कारणसत्ता से कार्यसत्ता भिन्न नहीं) अव्याहत रखने के लिए यह भी स्वीकार करना होगा कि, अन्तःकरण सुषुप्ति में अज्ञानरूप होकर अज्ञान में सुप्त रहता है । उक्त सूक्ष्मावस्था कारणावस्थारूप होने से "वहाँ अहं है" ऐसा नहीं कह सकते (क्योंकि अज्ञान

सुप्तोत्थित के ज्ञान को स्मरणरूप मानने में बाधा। वादीसम्मत स्मरण की अन्यप्रकार उपपत्ति की असमीचीनता।

के साथ तादात्म्यप्राप्त अहं में अहंभाव नहीं रह सकता), सुतरां अहंरहित अज्ञान अनुभव करता है और अहं स्मरण करता है, ऐसा विचारविसङ्गत कल्पना करना होगा। और भी, वहां पर सूक्ष्मरूप से अहं के मानने पर सुषुप्ति और व्युत्थान में, "अहं" के एकरस होने के कारण, व्युत्थान में अहं प्रकट होकर अनुभवगोचर होता है, ऐसा वादीसम्मत पक्ष खण्डित होगा तथा अहंरहित किसी भी अवस्था के सिद्ध न होने से चेतन को ज्ञातृत्वभावरहित साक्षी नहीं मान सकेंगे। और भी, उक्त ज्ञान को स्मरणरूप मानने में भी बाधाएँ हैं, क्योंकि सुषुप्ति के अव्यवहित पश्चात् ही व्युत्थान होता हुआ पाया जाता है और अकस्मात् जाग्रत् में भी उक्त प्रकार का ज्ञान होता है, सुतरां इन दोनों में (सुषुप्ति और जाग्रत् में) काल का व्यवधान न रहने से मध्यकाल में किसी प्रकार का संस्कार नहीं रह सकता, जिसके उद्बोध से स्मरण हो सके। और भी, सुषुप्तिकालीन ज्ञान को निर्विकल्प मानकर उसका स्मरण मानना अप्रसिद्ध कल्पना है (निर्विकल्प प्रत्यक्षस्थल में, विशिष्टज्ञान के पूर्वभावी विशेष्य और विशेषण का निर्विकल्पज्ञान, अनुमेय मान्य होता है, न कि स्मृति)।

उक्तरीति से यह प्रदर्शित हुआ कि अज्ञानवृत्ति को और अन्तःकरणवृत्ति को मानकर उक्त स्मरण की उपपत्ति नहीं होती, उसके साक्षीरूप से चेतन को मानना तो दूर रहा। यहां पर वादीलोग विचार द्वारा चेतन के अस्तित्व को सिद्ध न करके पहले से ही चेतन को मानकर उक्त स्वकल्पित स्मरणज्ञान की उपपत्ति इस प्रकार करते हैं कि, चेतन की उपाधि (अज्ञान) के नाश से उपहित भी नष्ट हो जाता है (जिससे सुषुप्तिकालीन अज्ञान का स्मरण होता है)। अब उपाधि और उपहित के नाश के विषय में विचारणीय यह है कि, व्युत्थानकाल में यदि अज्ञान का वही निर्विकल्परूप रहे, तो व्युत्थान का व्याघात होगा और स्मरण भी नहीं हो सकेगा। अतएव यही मानना होगा कि, निर्विकल्प रूप अज्ञान के नाश को ही व्युत्थान कहते हैं, किन्तु फिर भी अज्ञान का यदि पूर्णरूप से नष्ट होता हुआ माना जाय तो स्मरण कौन करेगा? क्योंकि उस समय (सुषुप्ति) के अज्ञान के संस्कार का ग्रहण करनेवाला अज्ञान सम्पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है। यह भी नहीं कह सकते कि, उक्त अज्ञान के संस्कार मनोवृत्ति में संगृहीत रहते हैं, जो कि व्युत्थित होने पर पुनः उत्पन्न होते हैं; क्योंकि उक्त मत के अनुसार सुषुप्तिकाल में मनोवृत्तियां निश्चेष्ट और विलीन

साक्षीचेतन और मन के आध्यासिक सम्बन्ध-विषयक सिद्धान्त समाधानरूप नहीं हैं।

इसका समाधान वेदान्तीलोग इस प्रकार करते हैं कि, मन और अज्ञान दोनों ही चेतन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर एकत्र सम्बन्ध प्राप्त होते हैं और इस रीति से अज्ञान के परिणाम के संस्कार, मन में संक्रान्त या संगृहीत होकर कालान्तर में स्मृतिरूप से प्रबुद्ध होते हैं। परन्तु यह समाधान भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण, आध्यासिक तादात्म्य को मानने से जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे अन्यत्र प्रदर्शित किये जा चुके हैं। इसलिए विवश होकर सरलतापूर्वक यही स्वीकार करना उचित है कि, यह समस्या समाधान के योग्य नहीं है। और भी, इस आध्यासिक तादात्म्य को स्वीकार करने पर प्रश्न यह होता है कि, ज्ञान और अज्ञान, क्या एक ही काल में चेतन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होते हैं या भिन्न भिन्न काल में? यदि भिन्न भिन्न काल में होते हों तो, एक पदार्थ के ज्ञान के समय अपर पदार्थों का अज्ञान नहीं रहेगा। फलतः हमारा यह स्मरण करना भी मिथ्या हो जायगा कि, अमुक पदार्थ के ज्ञान के समय हम अन्य पदार्थों से अनभिज्ञ थे। यदि वे एक ही काल में होते हों, तो प्रश्न यह होगा कि, चेतन के साथ तादात्म्य के समय ज्ञान और अज्ञान, अपने अपने स्वभाव को पृथक् पृथक् रखते हैं या नहीं? यदि उनका स्वभाव एक दूसरे से पृथक् न रहता हो, तो किसी पदार्थ के साक्षात् ज्ञान

रहती है। अब उपहित के विषय में प्रश्न यह होता है कि, उपहित अज्ञानरूप है या अजन्य? यदि वह जन्य होगा तो नाश को प्राप्त होकर अपने संस्कार को कहां पर रखेगा, जिससे प्रबुद्ध होने पर पुनः स्मरण हो सके? और इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि अजन्य हो, तो उसका नाश न होने से वह एकाकार ही बना रहेगा, अतएव उसको स्मरण नहीं कह सकेंगे। और भी, उक्त मत में अज्ञान को परिणामी माना जाता है। परिणाम-ज्ञान के लिए परिणामों में परस्पर भेद को भी जानना आवश्यक होगा। भेद-ज्ञान के लिए जिसका भेद है और जिसमें भेद है, उनकी उपस्थिति का ज्ञान तथा उनमें तुलनाबुद्धि भी होनी चाहिए। परन्तु निर्विकार चेतन में इनका होना असम्भव है।

के समय अपर पदार्थों का अज्ञान सम्भव नहीं होगा क्योंकि उस समय ज्ञान के साथ अज्ञान भी ज्ञानाकार रूप से ही प्रतीत होगा। यदि उस तादात्म्य के समय भी वे भिन्न भिन्न ही रहते हों, तो यह धारणा करनी कठिन है कि, ये दो परस्पर विरोधी शक्ति, आपस में एक दूसरे का निषेध या नाश क्यों नहीं करेंगे ? यदि वे एक दूसरे का साक्षात् नाश न करते हों, तो यह भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि, एक ही चेतन के साथ उनका तादात्म्य होता हुआ भी वे परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं। सुतरां यह उपपादित नहीं होता कि, अज्ञान के परिणाम के संस्कार ज्ञानशक्ति में संगृहीत होकर कालान्तर में स्मृतिरूप से ज्ञान के परिणामाकार में प्रवुद्ध हो सकते हैं। अतएव अन्त में यही कहना होगा कि, अज्ञान के परिणाम को वस्तुतः चेतन ही अनुभव करता है तथा उसके संस्कार को अपने में संग्रह करके पश्चात् ज्ञानाकार परिणाम में उसको प्रवुद्ध करता है अथवा ज्ञानशक्ति को प्रदान करता है। ऐसा होने पर चेतन एक उदासीन निर्विकार निष्क्रिय पदार्थ नहीं रहेगा, किन्तु वह एक क्रियाशील, विकारशील और वृत्तिज्ञान में परिणत होने वाला होगा।*

*इससे यह सिद्ध होता है कि, वेदान्तीलोग जो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के सिद्धप्रदरूप से साक्षीचेतन को मानते हैं, वह ऐसा नहीं रहेगा। ये तीनों अवस्थाएं एक ही काल में नहीं होते, किन्तु क्रम से होते हैं, अतएव यही कहना पड़ेगा कि, वे स्मृति की सहायता से जाने जाते हैं। परन्तु ऐसी स्मृति नित्य निर्विकार चेतन में सम्भव नहीं है। स्मृति होने के लिए यह आवश्यक है कि, चेतन में पूर्वावस्था का अनुभव सूक्ष्मरूप से रहे और वह उसमें पश्चात् प्रवुद्ध हो। अतएव चेतन को ऐसा मानना होगा कि, वह अवस्था के परिणाम या विकार से युक्त है। यहां पर वेदान्तीलोग वृत्ति (मानस परिणाम) को मानकर व्यवस्था करना चाहते हैं, परन्तु उनका यह प्रयत्न निष्फल है। क्योंकि ऐसी कोई वृत्ति विचार से सिद्ध नहीं होती। यहां पर प्रश्न यह होगा कि, प्रत्येक विशेष अनुभव की उत्पत्ति और नाश में क्या उक्त अनुभव का ज्ञाता (ज्ञानाकारवृत्ति का आश्रयरूप मन या अन्तःकरण) भी परिणाम को प्राप्त

होता है या नहीं ? यदि यह कहा जाय कि, ज्ञाता भी परिणाम को प्राप्त होता है, तो पुनः प्रश्न यह होगा कि, सम्पूर्ण ज्ञाता ही परिणाम को प्राप्त हो जाता है, या उसका कुछ अंशमात्र ? यदि सम्पूर्ण का ही परिणाम होता हो तो, विशेष अनुभव के ध्वंस को प्राप्त होने पर उसके साथ ही ज्ञाता भी ध्वस्त हो जायगा, फिर स्मरण कौन करेगा ? अपनी अनुभूत अवस्था के नाश के साथ ही ज्ञाता के भी नाश को प्राप्त होने पर, यह नहीं कह सकते कि वह उस अवस्था के ध्वंस का साक्षी और स्मरणकर्तारूप से रहता है । यदि यह कहा जाय कि, ज्ञाता का केवल एक अंश ही परिणाम को प्राप्त होता है, तो उस अवस्था के तिरोधान के साथ ही साथ ज्ञाता का वह अंश भी तिरोभाव को प्राप्त होगा, जिसने अनुभव किया था । अतएव स्मरण करनेवाला भी कोई नहीं रहेगा । यह भी नहीं कह सकते कि, अंश का जो अनुभव है वह सम्पूर्ण के द्वारा स्मृतिगोचर होता है । यदि वह सम्पूर्ण उसके अपने अंश से भिन्न हो, तो वह अपने अंश के अनुभव को न तो स्मरण कर सकेगा और न उसमें और अंश में कोई सम्बन्ध ही स्थापित हो सकेगा । यदि अभिन्न हो, तो वह सम्पूर्ण भी उस अंश के साथ ध्वंस को प्राप्त होगा (फिर उसे सम्पूर्ण भी नहीं कह सकते) तथा अनुभूत पदार्थों का स्मरण करनेवाला कोई ज्ञाता भी नहीं रहेगा । यदि यह कहा जाय कि परिणामी अवस्था और उसके अनुभव की उत्पत्ति और नाश से उसका ज्ञाता विकृत नहीं होता, तो उसको उक्त माने हुए अपरिणामी साक्षीचेतन से पृथक् अपर कोई पदार्थ नहीं मान सकते तथा उक्त ज्ञानाकारवृत्ति को भी उसका परिणामरूप नहीं कह सकते । अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, स्मरण के उपपादन के लिये मन या वृत्तिज्ञान को मानना निरर्थक है, क्योंकि ऐसा मानने पर यातो ऐसा होगा कि, विशेष अवस्था के अनुभव के नाश के साथ वह भी नाश को प्राप्त होगा, अथवा वह उन अवस्थाओं के अनुभवों से सर्वथा अविकृत रहकर उनके किसी भी संस्कार को अपने में नहीं रखेगा, जिससे उनको पुनः उत्पन्न (स्मरण) भी नहीं कर सकेगा । अतएव केवल-चेतन या नित्य-चेतन के साथ वृत्तिज्ञान को मानकर, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप अवस्थात्रय के स्मरण का उपपादन नहीं हो सकता ।

अज्ञानकी उपपत्तिके लिए साक्षीचेतनका एक या अनेक मानना समुचित नहीं।

उपरोक्त विचार से यह प्रतिपन्न हुआ कि साक्षीचेतन, अज्ञान की उपयुक्त उपपत्ति प्रदान नहीं कर सकता। प्रकृत विचारस्थल में अज्ञान विषय के साथ अज्ञान के बाह्यगत अस्तित्व को मानने पर, हमारी कठिनाई और भी वृद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रसंग में पुनः यह प्रश्न होता है कि, ज्ञान को प्रकाशित करनेवाला साक्षीचेतन भी, क्या वही है, जो बाह्यविषयगत अज्ञान को सिद्ध और प्रकाशित करता है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वादी को यह स्वीकृत नहीं हो सकता कि वे दोनों भिन्न हैं, क्योंकि उन दोनों को भिन्न मानने पर असंख्य स्वप्रकाशचेतन मानना पड़ेगा। यदि अद्वैतवादीलोग इस मत को मान भी लें, तोभी वे लोग उन चेतनों में परस्पर सम्बन्ध को किसी भी रीति से स्थापित नहीं कर सकते। आभ्यन्तर ज्ञान और बाह्य अज्ञान को प्रकाशित करनेवाले चेतन की एकता के विषय में जो सिद्धान्त है, उसको प्रथम प्रमाणित करना होगा। प्रमाण के बिना केवल कथन मात्र से ही उक्त सिद्धान्त किसी विचारवान को सम्मत नहीं हो सकता। तर्क की दृष्टि से जो एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है, वह यह है कि; साधारण अनुभव के उपपादन के लिये यही एकमात्र उपयुक्त उपाय है कि, आन्तरज्ञान और बाह्य अज्ञात-सत्तावान विषय को प्रकाशित करनेवाला, एक अद्वैतचेतन मान लिया जाय। अब हम लोगों को यहां पर यह विचार करना है कि; क्या पदार्थों के ज्ञान और अज्ञान-सम्बन्धी घटनाओं के उपपादन के लिए एक साक्षीचेतन को मानना आवश्यक है? और क्या ऐसे चेतन से इन घटनाओं की उपपत्ति हो सकती है? इस विषय में वेदान्तियों का मत यह है कि, पदार्थाकार मानसपरिणामरूप ज्ञान और बाह्य पदार्थों में अज्ञातत्वधर्म का उत्पादक मन से पृथक् भावरूप अज्ञान, ये दोनों एक ही चेतन के द्वारा सिद्ध और प्रकाशित होते हैं। तथा उनको यह भी सम्मत है कि, ज्ञान और अज्ञान दोनों ही साक्षीचेतन के साथ तादात्म्यप्राप्त हैं और इसी तादात्म्य के कारण वे दोनों प्रकाशित होकर

अपनी अपनी क्रिया करते हैं। साथ ही वे लोग ज्ञान और अज्ञान को परस्पर विरोधी भी मानते हैं।

अब, जबकि ज्ञान प्रकाशित होता है और इसी कारण उसको चेतन के साथ तादात्म्यप्राप्त भी मानना पड़ता है, तब उसका विरोधी अज्ञान भी उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर कैसे रह सकता है, यह समझ में आना कठिन है। यदि ये दो विरोधी होते हुए भी एकत्र रह सकते हों, तो ज्ञान के विषयभूत पदार्थ में रहनेवाला अज्ञान भी ज्ञान के उदय होने पर तिरोभाव को प्राप्त नहीं होना चाहिए। किन्तु यदि उस पदार्थ के ज्ञान होने पर उसमें स्थित अज्ञान न रह सकता हो और तिरोभूत हो जाता हो, तो केवल एक व्यक्ति के ज्ञान से ही उस पदार्थ में स्थित सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं होता। तब एक अद्वैतचेतन को मानकर यह कैसे उपपादित हो सकता है कि, एक वस्तुविषयक ज्ञान, अन्य समस्त वस्तुविषयक अज्ञानों के साथ एक ही समय में उदित हो सकता है? यदि इस दोष के निवारण के लिए अद्वैतचेतन को ऐसा माना जाय कि, वह मनविशेष के साथ तथा उसके सम्बन्ध से बाह्यविषयों के साथ भी सम्बन्धयुक्त होकर विशेषित होता है, तो औरभी नाना दोष उपस्थित होंगे तथा इनकी युक्तिसंगत उपपत्ति प्रदान करने में कोई भी समर्थ नहीं होगा कि, विषयों में माने गए हुए अज्ञातत्व-धर्मों का परिचय हमको कैसे प्राप्त होता है? मन के साथ सम्बन्धयुक्त होने के कारण, साक्षी-चेतन मन से विशेषित हो सकता होगा, किन्तु अज्ञातत्वधर्म बाह्यपदार्थ में है और उसका कारण अज्ञान भी बाह्य प्रदेश में है। अतएव साक्षी-चेतनके साथ बाह्यदेशीय अज्ञान के सम्बन्ध की कल्पना युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती। इस मत के अनुसार ऐसा प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता कि, 'मैं बाह्य पदार्थ को नहीं जानता हूं'। तात्पर्य यह कि, पदार्थावच्छिन्न जो चेतन है उसमें स्थित तूलाविद्या (अज्ञान) को, मनोऽवच्छिन्न ज्ञाता के साथ सम्बद्ध रूप से अनुभव नहीं कर सकते। यह कल्पना अवश्य कर सकते

हैं कि, मनोऽवच्छिन्न चेतन में अज्ञान है, अतएव अज्ञान उक्त चेतन से दूर नहीं है । परन्तु यह भी संगत नहीं होता । पदार्थावच्छिन्न चेतन के साथ सम्बद्ध जो मूलाविद्या है, उसको मनोऽवच्छिन्न मूलविद्या से अभिन्न या एक नहीं कह सकते तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि, चेतन के साथ केवल उसके सम्बन्धमात्र से ही बाह्यपदार्थगत अज्ञातत्व, प्रत्यक्ष का विषय हो सकेगा । कारण, ऐसा होने पर अव्यवस्था होगी, जिसके फलस्वरूप पदार्थ का साधारण-ज्ञान (लौकिक प्रत्यक्ष) होने के बहुत पहिले से ही उसके अज्ञातत्व का प्रत्यक्ष होने लगेगा । यह भी नहीं मान सकते कि, पदार्थगत अज्ञातत्व के निवर्त्तक मानसज्ञान के द्वारा अज्ञातत्वधर्म प्रकाशित होता है, क्योंकि पूर्वोक्त के साथ शेषोक्त का कोई सम्बन्ध नहीं है । सुतरां इस विवेचन से यह प्रतिफलित होता है कि, तथाकथित साक्षीचेतन से प्रकाशित बाह्यपदार्थगत अज्ञातत्व के साथ हमारा परिचय किसी भी रीति से उपपादित नहीं हो सकता । अतएव बाह्यविषयगत अज्ञातत्व के प्रकाशित होने के लिए साक्षीचेतन का होना आवश्यक है, यह वेदान्त-सिद्धान्त निराधार सिद्ध होता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि, साक्षीचेतन के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, किम्वा प्रमाण के सिद्धिप्रद रूप से किसी साक्षी को मानना भी विचारसह नहीं है ।*

*उक्तरीति से बाह्यपदार्थगत अज्ञातत्व के प्रकाशकरूप से चेतन के प्रमाणित न होने पर, सुषुप्तिकालीन अज्ञातत्व के प्रकाशकरूप से स्वप्रकाशचेतन का सिद्ध होना भी कठिन है । यहां पर प्रश्न यह होता है कि, ऐसा मानने में वेदान्तियों के पास क्या प्रमाण हैं ? उस काल में चेतन क्या अपने आप को जानता है ? यदि जानता हो, तो अपना विषय आप ही बन सकेगा अर्थात् वह स्वयं ज्ञाता होगा और साथ ही ज्ञेय भी होगा । अतएव वादी के मतानुसार वह ज्ञातारूप से स्वप्रकाश और ज्ञातारूप से परप्रकाश्य या अस्वप्रकाश होगा । यदि उसके स्वरूप में ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व ये दोनों ही सम्भव हों, तो मानस-परिणामों के ज्ञातारूप से एक पृथक् साक्षीचेतन को मानने की क्या आवश्यकता

सुषुप्ति–विचारसे वादीसम्मत साक्षी–चेतनका स्वप्रकाशत्व प्रमाणित नहीं हो सकता।

अब यह प्रदर्शित करते हैं कि एक ही चेतन को मानकर भी व्यवस्था होनी कठिन है। वेदान्तियों का कहना है कि, एक ही विश्वचेतन समस्त जगत् को व्याप्त कर रहा है, अतएव वह सभी मनों में अनुगत, उनमें प्रतिबिम्बित और उनकी उपाधि से विशेषित हो रहा है। अब प्रश्न यह है कि, क्या विश्वचेतन प्रत्येक मन में सम्पूर्णरूप से उपस्थित होकर उनसे विशिष्ट होता है अथवा विभिन्न मनों के साथ सम्बन्धयुक्त होने के लिए और उनकी उपाधि से विशेषित होकर उनमें प्रतिभात होने के लिए,

है? किञ्च, यदि साक्षीचेतन ही स्वयं ज्ञाता और स्वयं ज्ञेय बन सकता हो, तो अन्तःकरण और चेतन ये दोनो ही पर्यायवाची या एक ही पदार्थ के नाम होंगे, क्योंकि हमको ऐसा एक ही विषय साक्षात् अनुभूत होता है तथा अपर की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण भी प्राप्त नहीं होता। सुषुप्ति के उदाहरण से भी अन्तःकरण और साक्षीचेतन की पृथग्वस्तुता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जाग्रत्काल में हमको सुषुप्तिकालीन स्वात्मचेतनता का स्मरण नहीं होता और न उस (सुषुप्ति) काल में साक्षीचेतन का ही मन की विलीनावस्था का भान होता है। और भी, सुषुप्ति और मूर्च्छादि काल में भी शरीर, मन और बाह्य विषय सब उपस्थित रहते हैं, उस समय भी चेतन का स्वप्रकाशत्व उनमें प्रतिबिम्बित क्यों नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि, मानसपरिणामों का अभाव होने के कारण, स्वप्रकाशचेतन अपने आपको उनमें प्रकट नहीं कर सकता अथवा स्वयं भी अपने आपको नहीं जान सकता, तो इससे यह सिद्ध होता है कि, चेतन का स्वप्रकाशत्व, चेतनसम्बद्ध मानसपरिणामों का सापेक्ष है। ऐसा होने पर प्रतिपक्षी यह मान सकते हैं कि, चेतन का स्वप्रकाशत्व उसका स्वरूपभूत नहीं है, किन्तु वह चेतन और मन के परस्पर सम्बन्ध का अथवा उनकी क्रिया और प्रतिक्रिया का फल है। क्योंकि चेतन के साथ मन का संयोग होने पर ही उसमें स्वप्रकाशत्वधर्म की उपपत्ति होती है और संयोग के न होने पर नहीं होती, अतएव इस अन्वय-व्यतिरेक से भी यही सिद्ध होता है कि, स्वप्रकाशत्व उसका स्वरूपभूत नहीं किन्तु आगमापायी धर्म है। सारांश यह कि, युक्तिसंगत रीति से वादीसम्मत चेतन का स्वप्रकाशत्व प्रमाणित नहीं हो सकता।

उसको पृथक् पृथक् अंशों में विभक्त होना पड़ता है । द्वितीय विकल्प मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि देश और काल से अतीत स्वप्रकाश तत्त्व को अंशों में (व्यक्तिगत आत्मा के बहुत्व में) विभक्त नहीं कर सकते । चेतन के सर्वव्यापक होने का अर्थ यह होता है कि, वह समस्त व्यावहारिक विषय तथा सम्पूर्ण ज्ञाताओं के आश्रय और प्रकाशक रूप से सर्वत्र पूर्णरूप में विद्यमान हैं । यदि सर्वव्यापकता का अर्थ यही हो, तो ऐसा होने पर एक ही विश्वचेतन सभी मनों के परिणामों का ज्ञाता या अनुभविता अवश्य होगा तथा प्रत्येक मन इसके ज्ञान या अनुभव के साधन होंगे । फलतः एक अविभक्त व्यक्तित्व-रहित सर्वसाक्षी विश्वात्मा, असंख्य व्यावहारिक मनों में पाये जाने वाले पृथक् पृथक् व्यक्तित्व और चेतनता में परस्पर विभिन्नता का उत्पादक कैसे होगा ? यदि उस सर्वव्यापी विश्वात्मा का शरीरभूत यह जगत् हो, तो एक ही व्यक्ति का ज्ञान और अज्ञान अथवा सुख और दुःख सभी व्यक्तियों के द्वारा क्यों नहीं अनुभूत होते ? विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानादिकों का पर्यवसान अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन में होता है; यदि वह चेतन एक और विश्वव्यापी हो, तो वह एक ही काल में ज्ञाता और अज्ञाता, सुखी और दुखी कैसे हो सकता है ? इत्यादि समस्याओं के समाधान के लिये यदि आभासविषयक सिद्धान्त को ग्रहण किया जाय, तो उस आभास को भी अन्तःकरण के साथ साथ सुखाकार और दुःखाकार में परिणत होता हुआ मानना होगा । फलतः सुखादि आकार में परिणत उस आभास को अपने अनुभव का विषय बनाने वाला एक पृथक् साक्षी चेतन को स्वीकार करना पड़ेगा, जोकि उक्त विश्व चेतन के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता । सुतरां पूर्वोक्त दोष होगा ।

एकात्मवाद को मानकर ज्ञानादि की व्यवस्था कैसे नहीं हो सकती, इसका पुनः वर्णन करते हैं । भिन्न भिन्न मन के परिणामरूप ज्ञान स्वतःप्रकाश नहीं होते, सुतरां उनके प्रकाशित होने के लिए स्फुरण की आवश्यकता रहती है । वह स्फुरण विभक्त नहीं हो सकता,

क्योंकि वह एक निरंश विश्वचेतन का स्वभावभूत है तथा उसको विभक्त करने पर वह अपने साक्षीत्व से रहित होकर ज्ञेयकोटि के अन्तर्गत हो जायगा, जिससे उसको परिच्छिन्न और जड मानना पडेगा । सुतरां स्फुरण को एक कहना होगा । अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार मन के द्वारा उपहित चेतन को भी एक ही मानना होगा । यदि उसे भी भिन्नभिन्नरूप माना जाय, तो उस भेद के प्रकाशक को स्फुरणरूप कहना होगा । सुतरां इस पक्ष में उक्त उपहित चेतन के स्फुरणरूप न होने से, मनोगत ज्ञानादि का स्फुरण भी उसमे सम्भव नहीं हो सकता, अतएव अन्ततोगत्वा ज्ञानादि के स्फुरण को एकरूप ही मानना पडेगा । मानसपरिणामों के अध्यस्तरूप मान्य होने से, उनमें स्फुरणरूप अधिष्ठान की अनुगति को भी अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता का भान होने पर ही अध्यस्त की भी सत्ता का भान होता है । अतएव मानसपरिणामरूप ज्ञान में भेद होते हुए भी, केवल उस जड-परिणाम में स्फुरण के असम्भव होने से (यदि जडपरिणाम भी स्वयं स्फुरित हो सकता हो, तो साक्षी को स्वीकार करना व्यर्थ होगा) तथा स्फुरणरूप अधिष्ठान के एक अद्वैत और देशकालातीत होनेसे, व्यक्तिगतज्ञान में विभिन्नता की व्यवस्था नहीं हो सकती । यहां पर वेदान्तीलोग आकाश का दृष्टान्त देकर व्यवस्था करना चाहते हैं, परन्तु यह समीचीन नहीं है । चेतन का सर्वव्यापक स्वरूप, आकाश की सर्वव्यापकता के समान नहीं है, क्योंकि आकाश का विभिन्न अंश विभिन्न विषयों के साथ संसक्त है, किन्तु चेतन निर्लेप या असंग है । किञ्च, वेदान्तमत के अनुसार आकाश उत्पत्तिशील और सावयव पदार्थ है तथा वह ज्ञेयकोटि के अन्तर्गत है । ज्ञेय विषय के स्वरूप की उपमा से ज्ञाता का स्वरूप-निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होना समुचित नहीं है । अतएव सारांशरूप से यह प्रतिपन्न होता है कि, ज्ञानादिकों में स्फुरण का भेद सम्भव न होनेसे, वेदान्तमत के अनुसार ज्ञानादि की व्यवस्था नहीं हो सकती ।

सांख्यपातञ्जलमत

सांख्य-पातञ्जल मतवादी यह कहते है कि, एकात्मवाद में उक्त रीति से नानाप्रकार के दोष होते हैं, इसलिए हमलोग आत्मा का बहुत्व (प्रत्येक अहं के पश्चात उससे पृथक् साक्षी-आत्मा) मानते हैं। अनादि विद्यमान एक प्रकृति और असंख्य पुरुषों के (आत्माओं के) अनादि संयोग से समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं: किसी पुरुषविशेष की इच्छा जगत् का मूलकारण नहीं हो सकती, कारण, इच्छा स्वयं संयोगज पदार्थ है। ग्राह्य और ग्रहण का मूलकारण अव्यक्त प्रकृति है और पुरुष नामक ग्रहीता का स्वरूप चिन्मात्र है। (इस प्रकार का ज्ञानरूप पदार्थ बहुत्व-के-द्वारा ससीम नहीं होता। "बहु होने पर ससीम होगा" यह नियम, देशाश्रित बाह्य पदार्थ के पक्ष में सर्वथा प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु देशाश्रयशून्य पदार्थ में उस नियम का अपलाप होता है)। आत्मा निर्विकार, निर्विशेष और स्वप्रकाश है।

समालोचना

अब उक्त पक्ष समालोचनीय है। वादीलोग यह कहते हैं कि 'अहं' किसी व्यक्ति का परिणामी-आत्मारूप होने के कारण स्वत सिद्ध नहीं है, अतएव इससे एक अपरिणामी स्वतःसिद्ध आत्मा का अस्तित्व अवश्य बोधित होता है (देखिए पृष्ठ २९५-९६)। किन्तु इस कथन को यथार्थरूप से तभी स्वीकार कर सकते हैं, जबकि उस अपरिणामी से परिणामी में अवतरण करने के लिए कोई युक्तिसंगत मार्ग हो अथवा कोई ऐसा समीचीन उपाय पाया जाता हो जिससे उस अपरिणामी आत्मा के स्वरूप से परिणामी आत्मा और उसके परिणाम अनुमित हो सकें तथा उक्त माना गया हुआ अपरिणामी आत्मा, परिणामी आत्मा की अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण उपपत्ति प्रदान कर सके। साक्षीस्वरूप का विचार करने पर हमलोग यह देख चुके कि हैं. साक्षी-आत्म-वादीलोग भी ऐसा उपपादन

नहीं कर सकने । और भी, वादी ने भी प्रत्येक स्थल में परिणामी तत्त्व से परे एक स्वतःसिद्ध अपरिणामी तत्त्व को मानने की आवश्यकता अनुभव नहीं किया है । मूलशक्ति प्रकृति परिणाम–स्वभाववाली (अनभिव्यक्तावस्था में भी) होती हुई भी स्वतःसिद्धरूप से मानी जाती है । सुतरां प्रत्येक व्यक्ति का अनुभूत 'अहं' परिणामीस्वभाव है, इससे यह सुसिद्ध नहीं होता कि अपरिणामी बहु साक्षी-आत्मा भी हैं । यह प्रमाणित करने के लिए यह प्रतिपादन करना आवश्यक है कि, साक्षी-आत्मा का बहुत्व परिणामी आत्मा के बहुत्व को और उनके अनुभवों को उपयुक्तरूप से उपपादन करने में समर्थ है । परन्तु ऐसा प्रतिपादन प्राप्त नहीं होता ।

इस मत के अनुसार सभी आत्मा (पुरुष) अनन्त, निष्क्रिय और स्वप्रकाश माने जाते है, सुतरां प्रकृति के ऊपर आत्मा के बहुत्व का प्रभाव, एक आत्मा के प्रभाव की अपेक्षा गुणगत या परिमाणगत विभिन्न नहीं हो सकता । सुतरां अनेक साक्षी–आत्मा मानना निरर्थक है । औरभी, आत्मा और प्रकृति दोनों अनन्त और निरंश हैं, सुतरां यह नहीं मान सकते कि, विभिन्न आत्मा प्रकृति के विभिन्न अंशों के साथ सम्मिलित हैं और उनसे विभिन्न बुद्धि-अहं आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं । प्रत्येक आत्मा सम्पूर्ण प्रकृति के साथ अवश्य सम्मिलित होगा और उसमें परिणाम को भी अवश्य उत्पन्न करेगा तथा प्रकृतिका कोई भी अनभिव्यक्त अंश बाकी नहीं रह सकता । अतएव यदि सभी बुद्धि तथा अहं आदि एक ही प्रकृति से अभिव्यक्त हों, तो उस प्रकृति का इन सबो में विभक्तरूप से स्वतः परिणत होने का स्वभाव सिद्ध होगा, और उसके उपपादन के लिए आत्मा का बहुत्व कुछ भी सहायक नहीं हो सकेगा । जो परिणाम, एक आत्मा के साथ प्रकृति के मिलन के फल से नहीं हो सकता, वह अनेक आत्माओं के साथ उसके मिलने के फल से भी नहीं हो सकेगा । किञ्च, यदि आत्मा और अहं में कोई साक्षात् ज्ञात सम्बन्ध न हो (निरवयव असंग उदासीन का किसी के साथ संयोगादि हो ही नहीं सकता) और यदि

अनेक साक्षी-आत्मवाद में सुखदुःखादि की अव्यवस्था । वादीसम्मत विषयो-पलब्धि-प्रक्रिया असंगत है ।

प्रकृतस्वरूप से आत्मा, अहं में होने वाले घटनाओं से किसी प्रकार से भी संश्लिष्ट न हो, तो क्या यह कहना निरर्थक नहीं कि, प्रत्येक व्यक्तिगत 'अहं' एक व्यक्तिगत आत्मा को बोधित करता है (यद्यपि आत्मा को व्यक्तित्वका बोध नहीं है)।

उक्त मत में सुखदुःखादि की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। यदि सभी पुरुष सर्वव्यापक होंगे, तो एक प्रकृति के (व्यापक) द्वारा प्रदर्शित भोग को सभी समानरूप से भोगेंगे। परिणामशील प्रकृति के सन्निधि में (समीप) पुरुषों में देशकृत या कालकृत विशेषतायें नहीं हैं, जिससे कि प्रकृति पक्षपातिनी होकर प्रत्येक आत्मा के प्रति विभिन्नरूप से भोगों को प्रदर्शित करे। यदि यह कहा जाय कि, अदृष्ट के वैषम्य से भोगादि की व्यवस्था होती है, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि अदृष्ट को बुद्धिगतरूप से माना जाता है तथा उस बुद्धि के व्यापक और एक होने के कारण (जैसा कि वादी को मान्य है) बुद्धि के साथ युगपत् सर्वपुरुषों की सन्निधि है। अदृष्ट को मानने से जो अव्यवस्था होती है उसका प्रदर्शन आगे भी करेंगे।*

*सांख्यपातञ्जलसम्मत आत्मा की विषयोपलब्धि-विषयक प्रक्रिया भी (२५६ पृष्ठ पादटिप्पणी में प्रदर्शित) समीचीन नहीं है। विषयमुद्रित-बुद्धिमें पुरुष का संक्रमण होने पर, किम्वा पुरुष में बुद्धि का संक्रमण होने से पुरुष विकारी होगा; इससे वादी का यह मत कि पुरुष सदैव निर्विकार असंग और उदासीन है, सो भंग हो जायगा। संक्रमण शब्द का युक्तिसंगत अर्थ यही हो सकता है कि, अवयव द्वारा व्याप्ति या एकीभाव (अग्नितप्त लौहपिण्ड के समान परस्पर संयोग से एकतापत्ति) अथवा प्रतिबिम्बित होना। प्रथम दो पक्षों में पुरुष का विकारत्वादि दोष स्पष्ट है। तृतीय पक्ष भी युक्तिसह नहीं है। कारण, ऐसा प्रतिबिम्ब उसी स्थल में पाया जाता है जहां पर विषय, देशविशेष में सीमित और अवासहित होता है। परन्तु पुरुष देशकालातीत निरंशरूप से मान्य होता है। जहां पर आकाश को जल में प्रतिबिम्बित होता हुआ पाया जाता है, वहां पर अनन्त नीरूप आकाश नहीं प्रतिबिम्बित होता

न्यायवैशेषिकमत

न्याय और वैशेषिक मतवादी यह कहते हैं कि, पूर्वोक्त मत में (साक्षी-आत्मवाद में) बुद्धिवृत्ति और उसका प्रकाशक नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा मान्य होने से नाना दोष होते हैं। अतएव हमलोग ऐसी विषयाकार में परिणामिनी बुद्धिवृत्ति और उसका साक्षी निर्गुण आत्मा नहीं मानते। हमारे मत में विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से ही आत्मा में ज्ञान नामक गुण की उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध और ज्ञानोत्पत्ति के मध्य में वृत्ति नामक कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञान के प्रति आत्मा समवायिकारण और आत्ममनःसंयोग असमवायिकारण हैं (आत्मा और मन का संयोग होने पर आत्मा में ज्ञानादि गुण

किन्तु साक्षात् दृश्यमान नीलीमामात्र प्रतिबिम्बित होती है। और भी, प्रतिबिम्ब वहीं पर पड सकता है जहा कि एक पदार्थ के कुछ गुण अपर पदार्थ में प्रवेश कर सकते हों। परन्तु पुरुष असंग है अतएव उसमें प्रतिबिम्ब की सम्भावना नहीं हो सकती। हमारे विचार से हमलोग ऐसी कोई निर्दिष्ट धारणा नहीं कर सकते कि, नीरूप, देशातीत और अनन्तस्वरूप पदार्थ भी, अपर देशिक पदार्थों में प्रतिबिम्बित हो सकता है। और भी, उक्त विषय में कोई प्रमाण भी नहीं पाया जाता। बुद्धिपुरुषसंक्रमण से पुरुष को विषय का अवभास होता है, यह किसी को प्रत्यक्ष नहीं है। यहा पर अनुमान भी सम्भव नहीं है, क्योंकि व्याप्तिग्रहण का स्थल नहीं है। यदि यह कहो कि विषय और आलोक (प्रकाश) की व्याप्ति गृहीत हो सकती है, तो यह भी समीचीन नहीं। क्योंकि वे दोनो सावयव और गतिमान हैं सुतरा उनका संक्रमण उपपन्न होने पर भी उससे (अवयव और गति से) रहित पुरुष में वह अनुपपन्न है। अतएव बुद्धि और पुरुष के परस्पर संक्रमण में कोई प्रमाण नहीं है; तथा असङ्ग, पूर्ण और अकल के सक्रमण को मानना युक्तिविरुद्ध भी है।

की उत्पत्ति होती है)। ज्ञान आत्मसमवेत होता है, इसलिए आत्मा चेतन है ।*

*यहां पर प्रसंगवश सांख्य (तथा पातञ्जल) और न्याय(तथा वैशेषिक) का मतभेद प्रदर्शन करते हैं। सांख्यमतमें जगत् का मूल कारण प्रकृति है जो सत्त्व-रज-तमोगुणात्मिका और रूपादिरहित है । न्याय मत में पार्थिव, आप्य, वायवीय और तैजस ये चार प्रकार के परमाणु ही जगत् के मूल कारण हैं जो रूपादिगुणयुक्त है। साङ्ख्य के द्वितीय पदार्थ का नाम महत्तत्त्व है। बुद्धि, प्रज्ञा प्रकृति महत्तत्त्व के नामान्तर हैं । इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम या वृत्ति उत्पन्न होती है, उस वृत्ति का नाम ज्ञान हैं । मलिन दर्पण के मुख के प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण की मलीनता के साथ मुख का जैसे अतात्त्विक सम्बन्ध होता है, वैसे ही बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान के साथ पुरुष का अतात्त्विक सम्बन्ध होता है । ऐसे सम्बन्ध को पुरुष की उपलब्धि कही जाती है। इस प्रकार से सांख्याचार्यलोग बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि का भेद स्वीकार करते है, किन्तु न्यायमत मे बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, ये सब एकार्थक शब्द हैं, बुद्धि का द्रव्यत्व और उसकी वृत्ति न्यायसम्मत नही । इनके मत में बुद्धि, उपलब्धि या ज्ञान गुण पदार्थ के अन्तर्गत हैं । साङ्ख्य का तृतीय पदार्थ अहंकार तत्त्व है । अहंकार-तत्त्व भी द्रव्य पदार्थ रूप से अंगीकृत है, किन्तु नैयायिकलोग अहंकार नामवाले किसी द्रव्य को नहीं मानते । साङ्ख्यमत में अभिमान अहंकार की असाधारणवृत्ति है, किन्तु न्यायमत मे वह ज्ञानविशेष मात्र है । साङ्ख्यमत में एकादशेन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र अहंकार के कार्य हैं। पञ्चतन्मात्र से पञ्च प्रकार के पृथिव्यादि परमाणु और परमाणु से स्थूल पृथिव्यादि भूतों की उत्पत्ति हुई हैं । नैयायिक इन्द्रियो को मानते हैं (इस मत में ज्ञानेन्द्रिय सर्वसम्मत होने पर भी कर्मेन्द्रिय सर्वसम्मत नहीं है) किन्तु वे लोग इन्द्रिय को अहंकार से उत्पन्न होनेवाला नहीं मानते । मन अभौतिक अवश्य है, किन्तु इन्द्रियां भौतिक हैं, सुतरां पृथिव्यादि द्रव्यों के अन्तर्गत है: मन एक स्वतन्त्र द्रव्य पदार्थ है । इस मत मे परमाणु की अपेक्षा और कोई सूक्ष्मद्रव्य नही है, सुतरां वे लोग सांख्यसम्मत परमाणु की अपेक्षा सूक्ष्म, तन्मात्र नामक किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते । पञ्चभूत और आत्मा उक्त दोनो वादी स्वीकार करते

समलोचना

उक्त वादीलोग आत्मा को ज्ञान का समवायिकारण और ज्ञान के आत्मसमवेत होने से आत्मा को चेतन कहते हैं। उनके मत में मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अब यह मत समालोचनीय है। समवाय मानना युक्तिसंगत नहीं। अत्यन्तभिन्न दो सम्बन्धियों से अत्यन्तभिन्न समवाय, दोनों सम्बन्धियों से असंबद्ध होकर यदि उनको सम्बन्धयुक्त कर सकता हो, तो वह सबको सब के साथ सम्बन्धयुक्त क्यों नहीं कर देता? क्योंकि असम्बन्ध और सम्बन्धिभिन्नस्वरूपत्व सबों में समान है। उक्त समवाय यदि दो सम्बन्धियों से संबद्ध होकर उनको सम्बन्धयुक्त करता हो, तो उस सम्बन्धी और समवाय के सम्बन्धयुक्त होने के लिए अपर एक सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी। वह अपर सम्बन्ध भी इसी प्रकार सम्बन्धान्तर से सम्बन्धयुक्त होगा और इस रूप से अनवस्था होगी। इस दोष के निवारण के लिए समवाय का स्वरूपसम्बन्ध (सम्बन्धी का स्वरूप ही सम्बन्धरूप है) मान्य होता है। परन्तु यह भी सगत नहीं। इससे "स्वं न स्वीयं" (आप कभी अपना नहीं हो सकता) इस प्रकार के सार्वजनीत अनुभव का बाध होता है और आत्माश्रयप्रसंग होता है। और भी, स्वरूपसम्बन्ध को मानने पर प्रश्न यह होगा कि, वह सम्बन्ध क्या एक सम्बन्धी का स्वरूप है या उभय सम्बन्धी का स्वरूप है? यदि उक्त सम्बन्ध एक सम्बन्धिस्वरूप हो, तो घट का भी घट सम्बन्ध क्यों नहीं होता? यदि ऐसी प्रतीति के नहीं होने से

हैं। परन्तु सांख्याचार्यलोग पुरुष (आत्मा) का कोई धर्म नहीं मानते, उनके मत में पुरुष चैतन्यस्वरूप असंग और निर्लिप्त है (आत्मा जन्यधर्म का आश्रय न होने से कर्ता नहीं है)। नैयायिक मत में आत्मा असंग और निर्लिप्त नहीं है: आत्मा चैतन्यस्वरूप नहीं, किन्तु चेतनता या ज्ञान, उसका गुण है (जन्यज्ञान का आश्रय होने से ज्ञाता है); ज्ञानादि आत्मा के स्वाभाविक धर्म न होने पर भी स्वकीय धर्म या वास्तव धर्म हैं।

ऐसा माननीय न होता हो, तो वक्तव्य यह है कि, यदि वस्तु है, तो प्रतीति भी होगी ही। और भी, इस मत के अनुसार ज्ञान और ज्ञान का साधन समान हो जायगा। दृष्टान्तस्वरूप, घट का चाक्षुषज्ञानस्थल लीजिये। चक्षुजनित घटज्ञान, घट के साथ चक्षु का सम्बन्धरूप है। अब यदि घट के साथ चक्षु के इस सम्बन्ध को घट का ज्ञानरूप कहा जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि चक्षु स्वतः ज्ञानरूप है और ऐसा होने पर "ज्ञान" शब्द के स्थान पर "चक्षु" शब्द का भी व्यवहार हो सकेगा। परन्तु यह सर्वथा असंगत है। यदि सम्बन्ध स्वरूपद्वयरूप हो, तो "घटीयज्ञान" ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा। घटीयत्व का अर्थ घटसम्बन्ध का आधारत्व होता है, इसप्रकार ज्ञान भी घटसम्बन्ध के मध्य में प्रविष्ट हो जायगा। किन्तु अपने में स्वयं आप रहना सम्भव नहीं है। और भी, अपर व्यक्ति का ज्ञान ज्ञानत्वरूप से गृहीत होता ह, तथापि ऐसा संशय होता है कि-अपर व्यक्ति घट जानता है या नहीं, अपर व्यक्ति के ज्ञान का विषय घट है या नहीं? सो स्वरूपसम्बन्ध को सम्बन्धिद्वयरूप मानने से नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान और घट ये दोनों ही स्वरूप सम्बन्धीरूप है और वे निश्चित हैं। अतएव स्वरूपसम्बन्ध एक सम्बन्धी या दो सम्बन्धीरूप से निरूपण के योग्य नहीं है। स्वरूपसम्बन्ध के असिद्ध होने पर उस सम्बन्ध को मानकर समवायस्थलीय अनवस्था दोष का निवारण नहीं हो सकता। अब यदि यह कहा जाय कि स्वरूपसम्बन्ध सम्बन्धिस्वरूप से अतिरिक्त है, तो यहां भी उपरोक्त रीति से अनवस्था होगी। और भी, सम्बन्धी से अतिरिक्त मानकर भी उसे लाघवतः एक ही कहना होगा और इसी कारण, इससे विलक्षण समवाय सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि समवाय का प्रयोजन (न्यायवैशेषिकमत में समवाय एक है तथा सम्बन्धियों से पृथक् है) स्वरूपसम्बन्ध से ही सिद्ध हो जायगा। और भी, वादी के मतानुसार समवाय के स्वरूपसम्बन्ध की कल्पना आवश्यक होने से, "घट में रूप" "नील घट" ऐसे प्रतीतिसिद्ध सम्बन्ध का भी

स्वरूपात्मकत्व मानना ही न्यायसंगत है। (अभावविशिष्ट प्रत्यक्ष) की न्याई रूपादिविशिष्ट प्रत्यक्ष का भी स्वरूपसम्बन्ध मानना उचित है)। सबका स्वरूप अविशेष होने पर भी, जिन दो की विशिष्टबुद्धि अनुभवसिद्ध होती है, उन दोनों स्वरूपों का ही संसर्ग स्वीकृत होता है। (स्वरूप की अपने से अभिन्नता होने के कारण संसर्गान्तर की अपेक्षा नहीं रहती)। अतएव अक्लिप्त (अनिर्णीत) समवायरूप पदार्थ मान्य नहीं हो सकता। रूपादि, द्रव्याश्रितरूप से ही प्रमाण द्वारा सिद्ध हैं नकि द्रव्यसमवेतरूप से; ऐसा मानने पर समवाय के विषय में वादियों का विवाद नहीं हो सकता। अतएव यह प्रतिपन्न होता है, कि, वादिसम्मत स्वरूपसम्बन्ध को मानकर भी समवाय सिद्ध नहीं होता। उक्त स्वरूपसम्बन्ध भी अनुभवबाधित तथा विचारासिद्ध कहा जा चुका है। (सर्वत्र स्वरूपसम्बन्ध को मानने से घट के निमित्तकारण में भी घट का स्वरूपसम्बन्ध रहने से वहां पर उपादान के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी)। अतएव यह सिद्ध हुआ कि, जब समवाय का अस्तित्व आकाशकुसुम के समान अलीक है, तब आत्मा, ज्ञान का समवायिकारण है और ज्ञानसमवेत होने से आत्मा चेतन है, यह सिद्धान्त निराधार हो जाता है।*

*उक्त वादियों को सुषुप्तिकाल में ज्ञान का अभाव मान्य होने के कारण, ज्ञान और आत्मा में सर्वथा भेद मान्य होता है तथा आत्मा के साथ अपृथक्सिद्ध होकर ज्ञान गुण की प्रतीति होने से (जाग्रत् और स्वप्न में) आत्मा और ज्ञान का समवाय भी मान्य होता है। अब यह प्रदर्शन करते हैं कि, उक्त ज्ञानाभाव का अनुमान करने के लिए वादी लोग कोई योग्य हेतु प्रदर्शित नहीं कर सकते। वादी के द्वारा प्रदान किये हुए कतिपय हेतुओं में से तीन मुख्य हेतु विचार्य हैं—अस्मरण, ज्ञानसामग्री-अभाव और व्यवहाराभाव। प्रथम हेतु साध्य (ज्ञानाभाव) का साधक नहीं है। सुषुप्तिकाल में मैं ज्ञानवान था, ऐसा स्मरण अभी (जाग्रत् काल में) नहीं होता, केवल इसीलिए वहां पर ज्ञानाभावको सिद्धरूप से मान लेना विचारसंगत नहीं है। ज्ञान के पश्चात् उसका नाश या

सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव प्रमाणित नहीं होने से वादीसम्मत आत्मवाद खण्डित होता है।

सूक्ष्मावस्थारूप संस्कार होता है, तदनन्तर उसका उद्बोध या स्मरण होना है, यहां पर संस्कारक्षण में (अनुभव के नाश से लेकर स्मरणोदय के पहले) अस्मरण रहता, परन्तु इससे उसके पूर्व में होने वाले ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं हो सकता। और भी, जिसका ज्ञान होता है उसका स्मरण भी अवश्य होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। गमनकर्त्ता को मार्ग में तृणादिको का स्पर्श होता है, किन्तु उसका (उपेक्षाज्ञान के विषय का) स्मरण नहीं होता; केवल इस हेतु से तृणादिकों के स्पर्शज्ञानाभाव को मान लेना उचित नहीं है। स्वप्नावस्था में जिन सब विषयों का ज्ञान होता है, सुप्तोत्थित पुरुष की स्मृति में वे समस्त नहीं रहते। जाग्रदवस्था में भी जिन अनेक विषयों का ज्ञान होता है, उन सबका भी सर्वदा स्मरण नहीं रहता। अतएव सुप्तोत्थित को स्मरण नहीं होता, केवल इसीलिए सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता। द्वितीय हेतु भी समीचीन नहीं अर्थात् ज्ञानसामग्री के अभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान भी संगत नहीं है। एकमात्र कार्य (ज्ञान) के द्वारा ही सामग्री का ज्ञान होता है। अतएव सामग्री के अभाव का ज्ञान कार्याभाव के ज्ञान के द्वारा जानना पड़ेगा, परन्तु प्रकृतस्थल में अभी कार्याभाव (ज्ञानाभाव) का निर्णय ही नहीं हुआ, सुतरां इसमें सामग्री के अभाव का अनुमान कैसे होगा? प्रकृत अनुमान के द्वारा ज्ञानाभाव का निर्णय होने पर सामग्री-अभाव का निर्णय होगा और सामग्री-अभाव का निर्णय होने पर, ज्ञानाभाव का अनुमान होगा, इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। तृतीय हेतु भी सदोष है अर्थात् सुषुप्तिकाल में हमारे मे वस्तुविषयक कोई व्यवहार नहीं रहता इससे अपने ज्ञानसामान्याभाव का अनुमान नही कर सकते हैं। कारण, सुषुप्तिकाल में आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता; सुतरां आत्मा मे व्यवहार का अभावरूप जो हेतु विद्यमान है, वह भी उस काल मे प्रतीत नही होता। इस कारण, अनुमान का धर्मी और साधन का ज्ञान रूप कारण संघटित होने की सम्भावना नहीं है। अतएव सुषुप्तिकालीन आत्मा में कार्याभाव रूप (ज्ञान कारण है और व्यवहार उसका कार्य है) हेतु के द्वारा ज्ञानसामान्य के अभाव का जो अनुमान है, वह सिद्ध नहीं हो सकता। फलत. सुषुप्ति में ज्ञानाभाव के सिद्ध न होने से तन्मूलक वादी की कल्पना (आत्मा से ज्ञान का भेद, आत्मा का जडत्व, ज्ञान का आत्मगुणत्व, समवाय आदि) समीचीन नहीं है।

आत्मा और मन के औपाधिक संयोगसम्बन्ध नहीं मान सकते ।

अब आत्मा और मन के सयोग से आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त समालोचनीय है । जिस स्थल में संयोग होता है, उसी आश्रय में अवच्छेदक-भेद से (अपर प्रदेश में) उसका अभाव भी होना है । यहां पर मन और आत्मा दोनों निरवयव हैं अतएव भागरहित भी हैं, सुतरां उनमें अवच्छेदक-भेद नहीं है जिससे उनका संयोग भी नहीं हो सकता । यहां पर वादी कहेंगे कि निष्प्रदेश में भी औपाधिकप्रदेश विरुद्ध नहीं है अर्थात् औपाधिक प्रदेश को लेकर संयोग हो सकेगा, अतएव आत्मा और मन में औपाधिक संयोगसम्बन्ध होता है; परन्तु यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं । जो उपाधि है, वह उपधेय के साथ सम्बद्ध होकर ही उपधेय को अवच्छिन्न करेगा अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अर्थात् सम्बन्ध के बिना भी यदि उपधेय को अवच्छिन्न करेगा, तो कोई भी एक उपाधि सबको अवच्छिन्न कर सकेगा, क्योंकि सम्बन्धाभाव सबों में तुल्य है । अतएव यही मानना पड़ेगा कि, जो सम्बद्ध है वही भेदक भी हो सकता है । अब विचार्य यह है कि, आत्मा के साथ जो उपाधि का सम्बन्ध है, वह क्या स्वरूपसम्बन्ध है या संयोगसम्बन्ध । प्रथम (स्वरूप) सम्बन्ध नहीं हो सकता । स्वरूपद्वयात्मक जो सम्बन्ध है वह, सम्बन्धिद्वय के व्यापक होने से, अपर सम्बन्धी का भेदक ही नहीं होगा अर्थात् आत्मा और उपाधिरूप से स्वीकृत वस्तु का स्वरूपसम्बन्ध, सम्बन्धिद्वयस्वरूप होने से, स्व-उपहित आत्मा से अपर आत्मा का व्यावर्त्तक (भेदक) नहीं होगा । द्वितीय (संयोग) सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । क्योंकि निरवयव आत्मा में प्रदेशभेद के बिना संयोग सम्भव नहीं है । उपाधि का जो संयोग है, उसका नियामक जो प्रदेशभेद है, उसके भी अपर एक उपाधि के सम्बन्धाधीन होने से अनवस्था होगी । अर्थात् उपाधि का संयोगसम्बन्ध, आत्मादि को उपहित करने के लिए यदि अपर एक उपाधि की अपेक्षा रखेगा, तो वह उपाधि भी अपर उपाधि की अपेक्षा करेगा, इस रीति से अनवस्था होगी । तात्पर्य यह कि, सयोग और

संयोगाभाव एक काल में एक ही स्थल में नहीं रह सकते। अतएव प्रदेशभेद से उन दोनों की वृत्ति (स्थिति) है, ऐसा कहना होगा। निरवयव में प्रदेशभेद नहीं होता, सुतरां उपाधि के साथ निरवयव का संयोग सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।

आत्मा के साथ मन का एकदैशिक संयोग माना नहीं जा सकता, क्योंकि निरवयव में एकदेश नहीं होता। उसके स्वतः निरवयव होने पर भी उसमें अपर उपाधि से अवच्छिन्न प्रदेश का होना सम्भव है, ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उपाधिसम्बन्ध का भी तुल्य योगक्षेमत्व (इसी प्रकार) मानना पड़ेगा। और भी, एक देश के सिद्ध होने पर उपाधिसम्बन्ध की सिद्धि होगी तथा उसके सिद्ध होने पर एकदेश की सिद्धि होगी, सुतरां अन्योन्याश्रयदोष होगा। अतएव एकदेश में रहने वाला संयोग प्रकृतस्थल में सम्भव नहीं है। अब यदि यह कहा जाय कि, संयोग प्रदेशवृत्ति नहीं है किन्तु व्याप्यवृत्ति (सर्वदेश को व्याप्त करके रहने वाला) है: संयोग को—रूपादि के सदृश व्याप्यवृत्तित्व होने से—प्रदेशभेद की अपेक्षा नहीं है, तो यह भी समीचीन नहीं। क्योंकि एक ही भूतल में घटसंयोग और उसका अभाव अनुभूत होने से व्याप्यवृत्तिता नहीं होती। संयोग वहीं पर रहता है जहां उसका अत्यन्ताभाव भी रहता है। यदि यह कहा जाय कि, ऐसा होने पर निरवयव में भी संयोग और उसका अत्यन्ताभाव ये दोनों रहेंगे, तो यह संगत नहीं। कारण, अत्यन्ताभाव और प्रतियोगी (जिसका अभाव है वह) एक प्रदेश में नहीं रहते, उनका प्रदेशभेद नियम से होता है, अन्यथा विरोध को तिलाञ्जलि देना होगा। और भी, विभुका (आत्मा या आकाश का) जो विशेषगुण (सुख शब्द आदि) है उसका ऐसा स्वभाव होता है कि वह अपना कारण जो संयोग (निमित्तसंयोग) है, उससे अन्यून और अनतिरिक्त प्रदेश में रहता है। विभुमें गुण का उत्पादन करने वाला जो संयोग है, वह यदि सर्वात्मा में रहेगा, तो विभुके विशेषगुण की सर्वत्र उपलब्धि होगी। अर्थात् संयोग के व्याप्यवृत्तिवान होने से—

आत्मा और मन का संयोग मानना वादीसम्मत सिद्धान्त के विरोधी है।

वादी के मतानुसार निमित्तसंयोग द्वारा अवच्छिन्न देश में—समवायसम्बन्ध से जो रहते हैं वे (शब्दसुखादि) भी व्याप्यवृत्तिवाले होंगे। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। ज्ञानेच्छादि की उपलब्धि शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही होती है, घटादि-अवच्छिन्न आत्मा में नहीं। अतएव संयोग का व्याप्यवृत्तित्व माना नहीं जा सकता।

सारांश यह कि संयोग, आश्रय के एक देश में रहता (अव्याप्यवृत्ति) है, यही संयोग का स्वभाव है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकता, संयोग भी अपने स्वभाव को अतिक्रमण करके नहीं रह सकता। किन्तु निरवयव पदार्थ में संयोग अव्याप्यवृत्तिवाला नहीं हो सकता, क्योंकि निरवयव पदार्थ में एकदेश नहीं है। सुतरां निरवयव पदार्थ का संयोग नहीं हो सकता। वादी के मत में आत्मा और मन दोनों निरवयव हैं। इसलिए उनका संयोग असम्भव है। पक्षान्तर में सयोग के स्वभाव का अर्थात् अव्याप्यवृत्तिता का व्यभिचार स्वीकार करके यदि आत्म-मन.संयोग की व्याप्यवृत्तिता ही अंगीकार की जाय, तो यह कहना होगा कि, आत्म-मनःसंयोग, आत्मव्यापी अर्थात् आत्मा को व्याप्त करके अवस्थित है। किन्तु यह भी संगत नहीं होता। क्योंकि वादी के मत में आत्मा विभु या परम-महत्-परिमाणवाला है और मन अणुपरिमाण है। मनःसंयोग के आत्मव्यापी होने के लिए मन को भी परम महत् परिमाणवाला होना चाहिए, तभी व्याप्यवृत्तिता (सर्वदेशीय संयोग) हो सकती है। किन्तु वादी के मत में मन अणुपरिमाण है। व्यापक आत्मा में युगपत् ही सम्पूर्ण सुखादि ज्ञानोत्पत्ति के निरास के लिए तथा क्रमिक ज्ञान की व्यवस्था के लिए, वादीलोग अणुरिमपाणवाले मन को अङ्गीकार करते हैं; यदि उक्त मन भी विभु होगा, तो उसमें भी युगपत् सम्पूर्ण विषयसम्बन्धी ज्ञानोत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा जो कि वादियों के स्वसिद्धान्त के विरुद्ध है। अतएव मनःसंयोग से आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त

स्थापन नहीं कर सकते । (इससे निरवयव परमाणुओं का संयोग भी निराकृत होता है ।*

अब यह प्रदर्शन करते हैं कि वादी के मत में सुखदुखादि की व्यवस्था भी नहीं हो सकती । क्योंकि उक्त मत के अनुसार सभी जीव विभु हैं और उनका सभी मूर्त पदार्थों के साथ सर्वदा समानरूप से संयोग है । मन आदिकों के भिन्न होने पर भी सब आत्माओं के साथ उनका सम्बन्ध समान है, अतएव अव्यवस्था होगी । विशेष विशेष अभिमान से भी व्यवस्था नहीं हो सकती, कारण, अभिमान के भी मनःसंयोग से जनित होने के कारण,

*इसीसे वादीसम्मत व्यवसाय–अनुव्यवसाय प्रक्रिया भी खण्डित होती है । यहां पर प्रष्टव्य यह है कि, जिस आत्ममन.संयोग के द्वारा व्यवसाय ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे अनुव्यवसाय ज्ञान भी उत्पन्न होता है या अपर किसी संयोग के द्वारा ? प्रथम पक्ष समीचन नहीं है । क्योंकि असमवायिकारण के (संयोग के) क्रम के बिना कार्य का क्रम नहीं हो सकता । उक्त ज्ञान संयोगान्तर के द्वारा होता है, ऐसा द्वितीय पक्ष भी समुचित नहीं है। क्रियादिसंयोगान्त (प्रथम क्षण में क्रिया की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में पूर्व संयुक्त द्रव्य के साथ विभाग, तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश और चतुर्थ क्षण में उत्तर संयोग की उत्पत्ति) में अनेक क्षणो का व्यवधान होने से, जायमान अनुव्यवसाय क्षण में व्यवसाय के नष्ट होने पर उसकी प्रत्यक्षविषयता नहीं होगी । ज्ञानत्वनिर्विकल्प के अनन्तर व्यवसाय का नाश होने पर अनुव्यवसाय का वर्तमान ज्ञानविषयत्व नहीं होगा । इसीप्रकार आन्तर ज्ञानसुखादि के स्थल में भी जानना चाहिए (यथा नृत्यज्ञान के सुखजनक होने का प्रत्यक्ष)। वहां पर प्रथम क्षण में इष्टज्ञान, द्वितीय क्षण में सुखोत्पत्ति, और सुखत्व का अवश्य वेद्यत्व होने से तृतीय क्षण में सुखत्व का निर्विकल्पक ज्ञान (और उस क्षण में इष्टज्ञान का नाश भी होगा), चतुर्थ क्षण में सुखसविकल्पक ज्ञान और पञ्चम क्षण में अनुव्यवसाय होता है, ऐसा कहना होगा । परन्तु सुखसविकल्पक पूर्व क्षण में (सुखत्व के निर्विकल्पक क्षण में) इष्टज्ञान का नाश होने पर पञ्चम क्षण में विषयाभाव के कारण अनुव्यवसाय ही नहीं होगा । अतएव आत्मा में संयोगजनित ज्ञान उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त विचारसह नहीं है ।

और उस संयोग के भी साधारण संयोगमात्र होने से, अभिमान की भी व्यवस्था कैसे होगी ? यदि कहो कि ऐसा अदृष्टविशेष ही प्रत्येक आत्मा में समवेत है, जिसके आधीन धर्मव्यवस्था होती है, तो यह भी असंगत है । कारण, अदृष्ट नाम धर्माधर्म का है और वे विहित-निषिद्ध क्रियाजनित होते हैं, यह वादी का ही मत है । वहां पर जिस आत्ममनःसंयोग से प्रयत्न उत्पन्न होता है, उसी को व्यवस्था कैसे होगी, क्योंकि उसका मूल मनःसंयोग की व्यवस्था में हेतु नहीं है । मन की क्रिया से ही संयोग होता है । क्रियायुक्त मन जहां पर है, वहां सर्वत्र आत्मायें हैं । क्योंकि व्यापकों के लिए अव्याप्त देश कहीं नहीं है । अतएव अदृष्ट द्वारा भी व्यवस्था नहीं होती, सुतरां तन्मूलक धर्म भी सांकर्य को प्राप्त होता है ।

जैनमत

उपरोक्त मत में ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न (आत्मा को जडस्वभाव) मानने से तथा समवाय सम्बन्ध को मानने से, नाना प्रकार के दोष होते हैं । उक्त मत में ज्ञान का ध्वंस निरन्वय होने से संस्कार ज्ञानावस्थाविशेषरूप नहीं होता तथा संस्कार के एक स्वतन्त्र गुणरूप मान्य होने से वह ज्ञानवासनारूप नहीं हो सकता । अतएव उससे स्मृति नामक पूर्वज्ञान के सदृश ही नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसी कल्पना नहीं कर सकते । अतएव उक्त दोषों की निवृत्ति के लिए आत्मा को परिणामी कर्त्तारूप (प्रमाता होने के कारण कूटस्थ नहीं) और ज्ञान को उसका (आत्मा का) परिणाम (भिन्नाभिन्न) मानना उचित है । चिद्रूप आत्मा द्रव्य रूप से सर्वावस्था में अभिन्नरूप से अनुगत है तथा पर्याय (क्रमभावी अवस्था) रूप से प्रति-अवस्था में भिन्न होने से व्यावृत्त भी है । प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा उसके शरीरमात्र में व्यापक है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मगुण की उपलब्धि शरीर में ही होती है, पर-देह में अथवा अन्तराल में नहीं । प्रत्येक जीव में ज्ञानादि की

व्यवस्था के लिए आत्मा को सावयव (देहपरिमाण) मानना होगा। (जैनमत में जीवात्मा अनन्त अवयवोंवाला है; बृहत-शरीर में जीव के अवयव विकसित और क्षुद्र-शरीर में संकुचितरूप से रहते हैं)।*

*यहां पर प्रसङ्गवश पूर्वोक्त साक्षीवादी (सांख्य, योगी और अद्वैतवेदान्ती) और जैनमत में आत्मविषयक मतभेद का प्रदर्शन करते हैं। उक्त (साक्षीवादी के) मत में सुखदुःख आदि मन के विकार हैं, आत्मा के नहीं; किन्तु जैनमत में सुखादि आत्मा के वास्तविक विकार हैं मन के नहीं। उक्त मत में आत्मा कूटस्थ-नित्य (अपरिणामी) है; किन्तु जैनमत में आत्मा परिणामी-नित्य है अर्थात् द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य हैं अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ("सर्वे भावाः परिणामिनः")। उक्त मत में आत्मा और वृत्ति (मनःपरिणाम) परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, जैनमत के अनुसार आत्मा के स्थूलसूक्ष्म चेष्टा को वृत्ति कहना होगा। उक्त साक्षीवादी कहते हैं कि, चित्त परिणामी है, उसकी वृत्तियां कभी अज्ञात नहीं रहती, इसलिए आत्मा अपरिणामी है; किन्तु जैनलोग कहते हैं कि—जैसे चित्त परिणामी है वैसे ही आत्मा भी परिणामी है। आत्मा को परिणामी मान लेने पर भी चित्त के सदा-ज्ञातत्व में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि चित्त ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का धर्म है। धर्म होने से वह आत्मा में सन्निहित होने के कारण, कभी अज्ञात नहीं रहता। उक्त मत में आत्मा चैतन्य और स्वयंप्रकाश है; किन्तु जैनमत में आत्मा चैतन्य और स्वप्रकाश होता हुआ भी परप्रकाश्य है (अनुभवसिद्ध होने से स्वप्रकाश है और आवरण दशा में विषय के सम्बन्ध के अधीन होने से परप्रकाश्य है)। उक्त मत में आत्मा निर्गुण है, किन्तु जैनमत में आत्मा अनन्तगुणों का आधार है। उक्त मत में आत्मा सर्वथा कूटस्थ होने से निर्लेप है, किन्तु जैनमत में आत्मा एकान्त-निर्लेप नहीं है, उसमें संसार-अवस्था में कथञ्चित् लेप का होना भी संभव है। उक्त मत में आत्मा व्यापक है; किन्तु जैनमत में आत्मा देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला मान्य होता है।

समालोचना

अब उक्त पक्ष समालोचनीय है। इस मत के अनुसार आत्मा को परिणामी मानने पर यह स्वीकार करना होगा कि, देह के बाल्ययौवनादि परिणामों के साथ साथ आत्मा भी परिणत होता रहता है। उस समय वह अन्य अवस्थाओं या आकारों को अपनी स्मृति या अनुभव का विषय नहीं बना सकेगा, क्योंकि अनुभव के लिए वे अवस्थायें उस समय अनुपस्थित हैं, तथा आत्मा का स्थिर और अपरिणामी स्वरूप मान्य न होने पर अस्थिर आत्मा उन परिणामों का स्मरण भी नहीं कर सकेगा। यदि आत्मा को ऐसा स्वभाववाला माना जाय कि, वह परिणामप्राप्त किसी आकार में रहता ही है, तो इन आकारों में परस्पर पृथकत्व होने के कारण, यह भी अनुभवगोचर नहीं हो सकता कि, वे एक ही आत्मगत या उसके परिणाम हैं। अतएव यदि आत्मा इनको अपने परिणामरूप से अनुभव करे तो आत्मा को ऐसा मानना होगा कि, वह समस्त विभिन्न आकार या अवस्थाओं का एक ही द्रष्टा या अनुभविता है अर्थात् इन आकारों के परिवर्तन से वह परिणाम को प्राप्त नहीं होता, किन्तु निर्विकार अस्तित्ववाला है। आत्मा को तब परिणत अथच अपरिणत, विकारी अथच निर्विकार, परिवर्त्तनशील अवस्थाओंवाला अथच इन सब अवस्थाओं से परे रहने वाला, मानना होगा। परन्तु ये कल्पनायें विरुद्ध हैं, अतएव माननीय नहीं हो सकते। यदि आत्मा को ऐसा कहा जाय कि, यद्यपि वह अपने क्रमभावी विशेष अवस्थाओं के विकार से परिणाम को प्राप्त होता है तथापि इसकी द्रव्यगत एकता सुरक्षित रहती है, तो प्रश्न यह है कि, क्या आत्मा स्वतः अपरिणत रहकर ही विकारवान विशेष अवस्थाओं के प्रति सम्बद्ध होता है अथवा परिणाम को प्राप्त होकर? यदि शेषोक्त कल्प माने, तो यह निर्णय करना होगा कि वह परिणाम, द्रव्य में अवस्थाओं के विकार को बोधित करता है या नहीं। यदि अवस्थाओं का विकार

बोधित नहीं होता, तो वस्तुतः कोई परिणाम नहीं है । यदि अवस्थाओं का विकार स्वीकृत हो, तो जबकि वे अवस्थायें आत्म-द्रव्य के स्वरूपभूत हैं, तब अवस्थाओं का विकार स्वतः चेतनस्वरूप के विकार को बोधित करेगा । सुतरां यह मानना विरुद्ध होगा कि द्रव्यरूप से आत्मा सम रहता है । अर्थात् तब आत्मा केवल विकारी अवस्थाओंवाला होगा और निर्विकार द्रव्य नहीं रहेगा । यदि पुनः ये विकारी अवस्थायें अपर अनुगत आश्रयगत हों, तो पुनः उक्त प्रश्न उत्थापित होगा और अनवस्था होगी। यदि प्रथम कल्प मानें, तो प्रश्न यह है कि, विकाररहित भेदरहित आत्मा और बहु विकारी विशेष अवस्थायें इन दोनों में क्या सम्बन्ध है, जिससे कि शेषोक्त के विकार को प्रथमोक्त के विकाररूप से कहा जाय ? कहना व्यर्थ है कि, ऐसा कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता । विकारी अवस्थायें अपने आश्रय के साथ असम्बद्ध होंगे और उन अवस्थाओं में रहनेवाला अवस्थान्तररहित आत्मा का कोई भी यथार्थ परिणाम नहीं हो सकता । एक निर्विकार नित्य पदार्थ, अवस्थाओं के क्रमिक या युगपत् विकार से विकृत नहीं हो सकता । जिसका परवर्त्ती अवस्था से पूर्ववर्त्ती अवस्था में कोई विशेष भेद नहीं है, वह परिणाम को प्राप्त होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । अतएव जो वस्तुतः नित्य और निर्विकार है ऐसे आत्मा के क्रमिक या युगपत् किसी विकारी धर्म या अवस्था से युक्त मानना समुचित नहीं है, सुतरां उसके परिणाम की कल्पना नहीं हो सकती । और भी, यदि आत्मा को नित्य अथच अवस्थावाला माना जाय, तब अवस्थाओं को अवस्थावाले पदार्थ से अभिन्न मानने पर यातो यह होगा कि, विशेष अवस्थाओं की उत्पत्ति और नाश के अनुसार स्वतः आत्मा की उत्पत्ति और नाश आदि होंगे, अथवा यह होगा कि आत्मा की न्याई अवस्थाओं का भी नित्यत्व होगा; किम्वा यह हो सकता है कि उन दोनों को सम्बद्ध करनेवाले किसी अतिरिक्त पदार्थ के न रहने के कारण, अवस्थायें आत्मा के प्रति सम्बन्धयुक्त नहीं होंगी । अतएव यदि

आत्मा में अवस्थायें रहती हो, तो आत्मा को नित्य एक अनुगत चेतनरूप नहीं मान सकते ।*

अब विचार्य—ज्ञानसुखादि कार्य आत्मा से भिन्न हैं, अभिन्न हैं अथवा भिन्नाभिन्न हैं । यदि भिन्न हैं, तो ज्ञानसुखादि को आत्मसम्बन्धी रूप से किस प्रकार कहा जाता है, क्या सत्ता मात्र से, अथवा आत्मा से जन्य होने से या उसका जनक होने से या उसका समवायी होने से ? वह सुख या ज्ञान यदि सत्ता मात्र से आत्मसम्बन्धी हो, तो आत्मा के समान सब पदार्थ चेतन होते क्योंकि विज्ञान की सत्ता अविशेष (सम) है; तथा सब सुखी भी होते क्योंकि आनन्दसत्ता भी अविशेष है । अब यदि विज्ञान के आत्मजन्य होने के कारण उसको आत्मसम्बन्धी माना जाता हो, तब भी विज्ञान के समान अपर कितने पदार्थों को चेतन होना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा जन्यमानत्व उन पदार्थों में अविशेष है । यदि यह कहा जाय कि आत्मा के जनक होने से 'आत्मा के' हैं, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि वादी के पक्ष में विज्ञान द्वारा आत्मा उत्पादित नहीं होता; यदि ऐसा हो तो स्मरण की अनुपपत्ति होगी । यदि आत्मसमवायी रूप से विज्ञान को आत्माका माना जाय तो यह पक्ष वादी को सम्मत नहीं हो सकता; क्योंकि वादी के मत में समवायी मान्य नहीं है ।

उपरोक्त भिन्नत्व पक्ष में दोषों को देखकर यदि यह कहा जाय कि आत्मा से अभिन्न रूप से सुखदुखोपभोगस्मरणादि कार्य उत्पन्न होते हैं, तो इसका यह अर्थ होगा कि आत्मा उत्पन्न

*इसीसे भट्टसम्मत आत्मपरिणामवाद भी खण्डित हो जाता है । परिणामीके अनित्यत्व का नियम होने से आत्मा का भी अनित्यत्व प्रसक्त होगा । और भी, एक ही आत्मा की ज्ञानाज्ञानरूपता युक्तियुक्त नहीं है । जड और अजड का एकत्व और अंशांशित्व भी अनुपपन्न है । अतएव आत्मा द्रव्यबोधात्मक है, यह पक्ष ही अनुपपन्न है । भट्टसम्मत परिणामी-व्यापक-आत्मा के खण्डित होने पर (आगे भी प्रदर्शित होगा), आत्मा निश्चयन्याय से व्यापक है तथा व्यवहारन्याय से देहपरिमाणवाला है, ऐसा जैनसिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है ।

होता है। आत्मा के उत्पत्तिशील होने पर स्मरण और अनुमान की उपपत्ति नहीं होगी तथा सुखादि के समान उससे अभिन्न आत्मा का भी नानात्व होगा। यदि एक ही आत्मा हो तो सुखादिकों की भी एकता की प्राप्ति होगी, फलतः एकत्व होने पर अनुभव का ही अवस्थान होने से स्मृत्यनुमानादि सिद्ध नहीं होंगे। यदि सुखादि के भेद से आत्मा भिन्नता को प्राप्त न हो तब सुखादि के साथ अभेद नहीं हो सकता तथा अभेद मानने पर भी आत्मा के नानात्व की प्राप्ति होती है। अतएव, भेद और अभेद ये दोनों पक्ष समीचीन नहीं है।

अब यदि उपरोक्त दोषों के निवारण के लिए सुखादिकार्य को आत्मा से भिन्नाभिन्न माना जाय, तो प्रश्न होगा कि, यह क्या आकार के भिन्न होने से होता है अथवा कार्य या कारण के भिन्न होने से? यदि आकार मात्र से भिन्नता मान्य हो तो भिन्नभिन्न स्वभाववालों की एकता नहीं हो सकती, क्योंकि सुखादि कार्यों का अनुभव उनके सुखादि स्वभाव से ही होता है, वे किसी आकृति-विशेष से अनुभवगम्य नहीं हैं। अतएव आकार अर्थात् स्वभाव ही उनका तात्त्विक स्वरूप है, जिसके (तात्त्विक स्वरूप के) भिन्न होने पर एकता नहीं हो सकती। वादीसम्मत भिन्नतापूर्वक एकता के लिए यह आवश्यक है कि वे सुखादि कार्य परस्पर आकार परिहार पूर्वक स्वात्मरूप से एकत्र स्थित हों तथा साथ ही अभेद के त्याग पूर्वक भिन्नबुद्धि के विषयरूप से अवस्थित हों। किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि उक्त स्वभाव (आकार) की एकता होने पर वे भिन्नबुद्धि के विषय नहीं हो सकते तथा अनेकता होने पर उनका अभेदरूप से एकत्र अवस्थान नहीं हो सकता। इसीप्रकार कारण की भिन्नता होने पर भी कार्य में भेद कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि भिन्नकारण से भी अभिन्नकार्य दृष्टिगत होता है। मृत्पिण्डादि अनेक भिन्नकारण घट रूप एक अभिन्नकार्य को उत्पन्न करते हैं। एक ही कारण के द्वारा अनेक कार्य भी उत्पन्न होते हुए दिखाई देते हैं (घट, शरावादि), अतएव कारण-भेद या कार्य-भेद

से वस्तु में भेद नहीं होता किन्तु आकार-भेद से होता है । सुख और आत्मा में आकार का भेद स्पष्ट है, सुतरां अभेद कहना असंगत है । इस विषय में और भी प्रश्न हो सकता है कि, सुख, आत्मा से जिस आकार से भिन्न है उसी आकार से अभिन्न भी है अथवा आकारान्तर से । वह यदि उसी आकार से अभिन्न हो, तो वादी को उसका एकान्त-अभेद भी मानना पड़ेगा और यदि आकारान्तर से अभिन्न हो, तो आकारान्तर सुख नहीं है क्योंकि उसका अभेद होने पर भी सुख का भेद होता है । सारांश यह कि जैनसिद्धान्त का अनुसरण करने पर हमको यह मानना पड़ेगा कि, जो नित्य है वही अनित्य भी है । परन्तु नित्य और अनित्य की एकता भी हमारे अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि सुख और आत्मा का भेद होता है । अतएव उक्त जैनसिद्धान्त उपपन्न नहीं हो सकता ।

अब जैनसम्मत सिद्धान्त कि, आत्मा देह के सब अंशों को व्याप्त करता है, समालोचनीय है । इस पक्ष में आत्मा को यातो बहु अंशयुक्त मानना होगा, जिससे कि आत्मा के विभिन्न अंश देह के विभिन्न अंशों के साथ सम्बद्ध हो सकें अथवा यह मानना होगा कि, आत्मा स्वतः किसी अंश से युक्त न होकर देह के सब अंशों में व्याप्त है । प्रथम कल्प के अनुसार यह विचार करना है कि, ज्ञानादि कैसे उपपादित हो सकते हैं ? चेतनता क्या अंशसमष्टिरूप आत्मा का धर्म है या आत्मा के किसी विशेष अंश का धर्म है ? यदि देह के विशेष अंश को व्याप्त करनेवाला आत्मा का विशेष अंश, ज्ञानशक्तियुक्त हो तो, प्रत्येक अंश का ज्ञान अपर प्रत्येक अंश के ज्ञान से पृथक् होगा । चक्षु के साथ सम्बद्ध अंश, रूप को अवश्य प्रत्यक्ष कर सकेगा, किन्तु शब्दगन्धादिकों को कदापि नहीं । जिह्वा को व्याप्त करनेवाला अंश केवल रस को ही प्रत्यक्ष करेगा किन्तु अपर विषयों को नहीं । ऐसे ही अपर अंश में भी जानना चाहिए । परन्तु इस प्रकार से विषय का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है तथा यह कैसे जाना जा सकता है

कि, यह रूपगन्धादियुक्त वही विषय है, जो भिन्न भिन्न इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षगोचर हुआ था । इस रीति से यदि आत्मा के विभिन्न अंश विभिन्न अनुभववाले हों, तो स्मृति का उपपादन कैसे होगा ? यदि, पक्षान्तर में, चेतन को सम्पूर्ण आत्मा का धर्म माना जाय नकि अंशमात्र का, तो यह मानना होगा कि सम्पूर्ण आत्मा प्रत्येक अंश में विद्यमान है । यदि सम्पूर्ण प्रत्येक अंश में रहे, तो सम्पूर्ण और अंश में भेद ही क्या रह जायगा ? अंशों की समष्टि को स्वतः सचेतन ज्ञातारूप से मानना समुचित भी नहीं है । अब यदि आत्मा को ऐसा माना जाय कि वह स्वतः अंशयुक्त न होता हुआ भी शरीर के सब अंशों में व्याप्त है, तो प्रश्न यह है कि इस व्याप्ति का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ सम्पूर्ण देहव्यापी दैशिक व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी व्याप्ति मानने से अंश की धारणा भी अवश्य आती है ।

अब जीव के अनन्त-अवयव विषय में समालोचना करते हैं । प्रथमतः जो देह-परिमाण है तथा जो देह-मात्र में परिच्छिन्न है, उसके अवयवों की अनन्तता की कल्पना ही असंगत है । जो देशविशेष में सीमाबद्ध होगा वह असीम और अविनाशी नहीं हो सकता । द्वितीयतः प्रश्न यह होता है कि, जीव के अनन्त अवयव, समान-देश में अर्थात् एक स्थान में रह सकते हैं या नहीं ? प्रथम कल्प में कहना होगा कि एक जीवावयव जिस स्थान में रह सकता है , समस्त जीवावयव भी उसी स्थान में अवस्थित रह सकेंगे । किन्तु ऐसा होने पर जीव की प्रथिमा (महत्त्व) नहीं हो सकेगी । उक्त रीति से एक अवयव का जो परिमाण उसकी अपेक्षा अनन्त अवयवों का परिमाण अधिक नहीं हो सकेगा । सुतरां शरीर-परिमाण न होकर अणु-परिमाण हो जायगा । जीवावयवों का समानदेश न होने से या भिन्नदेशत्व होने से, अनन्त जीवावयव परिच्छिन्न देह में अवस्थित नहीं रह सकते । सुतरां देह के बहिर्भाग में भी जीवावयव की अवस्थिति को स्वीकार करना पड़ता है । प्रदीप-प्रभा की न्याईं विरल और निविड़भाव

से अवयव का संयोग स्वीकार करने पर, प्रदीप-प्रभा की न्याई जीवावयव का और प्रदीप की न्याई जीव का अनित्यत्व अपरिहार्य हो जाता है। और भी, प्रदीप-प्रभा के विरलावयव संयोगस्थल में प्रकाश की अल्पता, और निविडावयव संयोगस्थल में प्रकाश का आधिक्य देखने में आता है। तदनुसार जीव का भी बृहत्-शरीर में अवयव-संयोग की विरलता होने से प्रकाश की या ज्ञान की अल्पता और क्षुद्र शरीर में (कीटादि में) अवयव-संयोग की निविडता होने से प्रकाश या ज्ञान का आधिक्य स्वीकार करना पड़ेगा, जोकि अत्यन्त असंगत है। किञ्च, शरीरादि के समान आगत और अपगत जीवावयव वादीसम्मत सर्वावस्थायी आत्मा या आत्मा के अवयव नहीं हो सकता। अतएव आत्मा सावयव या देहपरिमाण नहीं हो सकता।

वैष्णवमत

उक्तरीति से आत्माश्रित ज्ञान को आत्मा का परिणाम मानने से नानाप्रकार के दोष होते हैं। अतएव ज्ञानाश्रय आत्मा को परिणामरहित (निर्विकार स्थिर) मानना उचित है। (इस मत में आत्मा "साक्षी" रूप से मान्य नहीं होता)। "मैं जानता हूं" "मेरे को ज्ञान उत्पन्न हुआ" इसप्रकार जीव से पृथक्रूप से उस ज्ञान का अनुभव होने से ज्ञान को जीवनिष्ठ जीव-गुणभूत मानना उचित है। अतएव आत्मा को ज्ञानस्वरूप अथच ज्ञानगुणयुक्त मानना चाहिए (समवाय नहीं)। जीव-स्वरूपभूत ज्ञान, गुणभूत ज्ञान से अन्य है, वह केवल द्रव्य ही है, गुण नहीं। गुणभूत ज्ञान द्रव्य(व्यापक, नित्य, संकोचविकाशशील) है, तथापि वह गुणात्मक भी होता है, जैसे दीप की प्रभा द्रव्यरूप होने पर भी दीप-गुणभूत होती है। अदृश्य (द्रष्टा) आत्मा को नित्य या अविनाशी मानना होगा, अतएव वह अवश्य ही निरंश और निरवयव पदार्थ होगा और निरंश पदार्थ या तो सर्वव्यापक अथवा अणुपरिमाण ही हो सकता है। और जब आत्मा को सर्वव्यापक मानना युक्तिसंगत नहीं, तब उसको अवश्य

अणुपरिमाणवालाही स्वीकार करना होगा। देहाभ्यन्तरप्रदेशमें रहनेपर भी आत्मा का प्रभाव सर्वशरीरव्यापी होता है (पुष्पगन्धादि के न्याई)।

समालोचना

अब उक्त पक्ष समालोचनीय है। यदि वा भौतिक परमाणु को ही सत्यपदार्थरूप से स्वीकार करलें, तो भी सत्य आध्यात्मिक परमाणु को अनुमान करने का क्या हमारे पास कोई युक्ति है? हमलोग क्या ज्ञाता, भोक्ता और इच्छा-करनेवाले अनुभविता के स्वरूप को, ज्ञान, भोग और इच्छा के विषयों के स्वरूप की उपमा से निर्णय कर सकते हैं? सर्वव्यापकरूप से किसी पदार्थ की धारणा तथा अणुपरिमाणरूप से उसकी धारणा, देश के उल्लेख को बोधित करता है और जिसमें देश का उल्लेख है, वह भौतिक विषय है। और भी, सर्वव्यापक आत्मा को मानने में जो दोष होते हैं, वे अणु-आत्मवाद में भी होते ही हैं, क्योंकि वे लोग अणु-आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को सर्वव्यापक मानते हैं, सुतरां वह आत्मा को जगत् में सर्वविषयों के साथ सम्बद्ध करायगा, इससे अव्यवस्था होगी। ऐसा व्यापक और नित्य धर्मभूतज्ञान का संकोच-विकाश मानना भी संगत नहीं है। और भी, सर्वव्यापकता का अर्थ यदि सम्पूर्ण देश में सब विषयों और दृश्यों के साथ सम्बद्ध होना है, तो देश के एकस्थल में रहना केवल देश के उस स्थल में विषय या दृश्य के प्रति सम्बन्धपने को बोधित करेगा। तब यह कैसे मान सकते हैं कि, अणुपरिमाण आत्मा सम्पूर्ण जीवित देह में सम्बद्ध है? जब कि अणुपरिमाण आत्मा के रहने का देश, उस स्थल में अपर किसी विषय को धारण नहीं कर सकता, तब इस दृष्टि से आत्मा को किसी भी वस्तु के साथ सम्बद्ध होना नहीं चाहिए।

वादी ने आत्मा के साथ देह के विभिन्न अंशों के सम्बन्ध को दृष्टान्तों की उपमा से वर्णन करते हैं। इसकी समालोचना में वक्तव्य यह है कि, जबकि आत्मा का अणुस्वभाव और सम्पूर्ण देह में उसका सम्बन्ध, स्वतन्त्र यौक्तिक हेतु से सिद्ध नहीं होता,

तब ऐसा दृष्टान्त देना निष्फल है । उन दृष्टान्तों से केवल सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हो सकता हो, किन्तु उनसे उसका स्वरूप प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि कोई सन्तोषजनक यौक्तिक प्रमाण प्राप्त नहीं होता । उनके कथित दृष्टान्त भी सुसंगत नहीं है । दीप-प्रभा-दृष्टान्त समीचीन नहीं । प्रभा गुण नहीं है, वह द्रव्य पदार्थ है । प्रदीप निविडावयव तेजोद्रव्य और प्रभा प्रविरलावयव तेजोद्रव्य है । केवल स्वरूप से ही स्थित प्रदीप प्रकाश-व्यवहार का हेतु नहीं है, किन्तु सर्वत्र प्रसृत अपनी प्रभा (किरणों) के द्वारा उस उस पदार्थ को व्याप्त करके ही, गृह-प्रकाशक होता है । आत्मामें ऐसी प्रभा नहीं है, क्योंकि वह निरवयव है । तेज-अवयव ही प्रभा है, यह प्रसिद्ध है; अतएव यह दृष्टान्त ही विषम है । (वादीलोग एक प्रभागुण के भागविशेष में वैलक्षण्य की कल्पना करते है, वह भी निरवयव गुण में अत्यन्त अदृष्ट-कल्पना है) । अतएव अणु-आत्मा, प्रभा की न्याई अपने किसी अंश को प्रसारित नहीं कर सकता । अणु-आत्मा के ज्ञान को उसका स्वरूप या गुण कहकर भी सकलशरीरव्यापी उपलब्धि की उपपत्ति नहीं होती । स्वरूपपक्ष में स्वरूप का अणुमात्रत्व स्वीकृत होने से तावन्मात्र ज्ञान की व्याप्ति असम्भव है । गुणपक्ष में गुण, गुणी को परित्याग करके प्रदेशान्तर में अवस्थित नहीं हो सकता । गन्ध के आश्रयभूत पुष्पादि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव वायु के द्वारा सञ्चालित होकर नासापुट में प्रविष्ट होते हैं, जिससे गन्ध की उपलब्धि सम्पन्न होती है । प्रभा, जैसे अनुद्भूत-स्पर्श और उद्भूत-रूप युक्त होने के कारण, स्पर्श के द्वारा जानी नहीं जा सकती, चक्षु के द्वारा ही जानने में अर्थात् देखने में आती है; ऐसे ही नासिकापुट में प्रविष्ट पुष्पादिका सूक्ष्मांश भी अनुद्भूत-स्पर्श और उद्भूत-गन्ध-युक्त होता है, इसीलिए द्रव्यांश समझा नहीं जा सकता, केवल गन्ध (उसका गुणमात्र) समझा जा सकता । सुतरां जब किसी पदार्थ के गुण, उस पदार्थ को त्याग नहीं सकते और वे उस स्थल में अभिव्यक्त भी नहीं हो सकते जहां पर वह

पदार्थ उपस्थित नहीं, तब अणुपरिमाण जीवात्मा की गुणभूत उपलब्धि सकल-देह व्यापिनी होगी, यह नहीं कहा जा सकता ।

औरभी, अदृश्य आध्यात्मिक अणु-आत्मा और दृश्य अनाध्यात्मिक देशव्याप्त देह का सम्बन्ध निरुपण के योग्य नहीं है । यह संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा सम्बन्ध केवल समस्वभाव और दैशिक धर्मयुक्त दो द्रव्यों में ही रह सकता है । यह समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा और देह में नित्य और स्वभावगत सम्बन्ध नहीं है, किन्तु आत्मा देह से अतीत भी हो सकता है और अशरीरि अवस्था में भी रह सकता है, ऐसा मान्य होता है । यह तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा भौतिक-देह से वस्तुतः भिन्नरूप से मान्य होता है । यह कह सकते हैं कि उनमें सम्बन्ध का होना सम्भव है, क्योंकि दोनों द्रव्य हैं । परन्तु यदि द्रव्य की धारणा को विश्लेषण किया जाय, तो यह प्रतीत होता है कि, अदृश्य आध्यात्मिक पदार्थ और दृश्य भौतिक पदार्थ सम-अर्थ से द्रव्य नहीं है । केवल सत्ता, दो पदार्थ के सम्बन्ध में हेतु नहीं हो सकता । और भी, आत्मा ज्ञाता, भोक्ता, इच्छावाला और कर्त्तारूप से मान्य है; और ज्ञान, भोग, इच्छा और क्रिया उसके धर्मरूप से मान्य हैं । यदि वे आत्मा के स्वभावगत धर्म हैं, तो उन धर्मों के क्रियाशील स्वभाव, आत्मा के स्वभावगत स्वरूप के विकारी स्वभाव को बोधित करेगा । परन्तु एक अणुपरिमाण द्रव्य उसकी एकता को अव्याहत रखते हुए विकारि-स्वभाववाला नहीं हो सकता । यदि वे उसके स्वभावगत धर्म न हों, तो आत्मा के स्वभावगत स्वरूप को अज्ञात और अज्ञेय मानना पड़ेगा और उसके अस्तित्व की कल्पना निष्फल होगी ।

बौद्धमत

हमारे अन्दर या बाहर हमलोग दृश्य से पृथक् किसी पदार्थ को, भेदरहित किसी अभेद को, विकारी विषय और क्रिया से परे किसी अदृश्य तत्त्व को प्रत्यक्ष नहीं करते; अतएव हमलोग किस प्रमाण के बलपर ऐसे अदृश्य आत्मा का यथार्थ अस्तित्व अनुमान कर सकते हैं, जो दृश्य और अनुभव्य से पृथक् और अतीत रहता हुआ उनका स्थिर ज्ञाता और नियामक हो! यद्यपि ऐसा तर्क अवश्य किया जा सकता है कि, अनुभव्य दृश्य पदार्थ के परे किसी ऐसे अदृश्य तत्त्व को मानना हमारी विचारबुद्धि की मूल चाहना है। विकारी अस्थायी पदार्थों का हेतुरूप और आश्रयरूप किसी निर्विकार स्थिर पदार्थ को माने बिना हमारी विचारबुद्धि सन्तोष को प्राप्त नहीं होती। अतएव उक्तप्रकार के आत्मा का अस्तित्व अनुभव (अर्थापत्ति) के बल से प्रमाणित होता है। परन्तु यह कोई निश्चयकारी तर्क नहीं है। जो यहांपर विचारबुद्धि का मूल चाहना कही गई है, वह वस्तुतः एक मानसिक चाहना है। हमारे अनुन्नत विचारबुद्धि की मानसिक चाहना को, किसी स्वतन्त्र तत्त्व के वस्तुगत या वास्तव अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाणरूप से नहीं माना जा सकता। औरभी, जिसे हम साधारणतः विचार के मूल नियमरूप से मानते हैं वह सर्वथा मूलरूप नहीं है। अनेक वंशपरंपरा से किसी जाति के विचारों में प्रचलित दृढमूल कल्पनायें अनेक स्थलों में मूल नियमरूप से गिने जाते हैं। विचार की उच्च से उच्चतर स्तर में उन्नति होने पर, निम्नस्तर के विचार के तथाकथित मूलनियम परिवर्त्तित होते हुए पाये जाते हैं। और भी, वादीकथित अर्थापत्ति को यथार्थ प्रमाण तब मान सकते हैं, जब कि पूर्वकालीन अनुभव के आधार पर दो प्रकार के विषयों में नियत सम्बन्ध सुसिद्ध होता हो (जैसे कि, भोजन ग्रहण करने से स्थूलता का तथा भोजन के ग्रहण न करने से दुर्बलता का) तथा ऐसा एक विषय हमारे समक्ष वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष

है । परन्तु आत्मा का दृश्य-चेतन और दैहिक जीवन के साथ किम्वा निराकार अदृश्य तत्त्व का विकारी दृश्यों के साथ नियत सम्बन्ध का साक्षात् अनुभव, कहीं भी सिद्ध नहीं होता । अतएव उक्त अर्थापत्ति, प्रमाणरूप से इस स्थल में प्रयुक्त नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त विवेचन से आत्मविषयक दो प्रकार की कल्पना पाई जाती हैं यथा, आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है अथवा आत्मा ज्ञानाश्रय है । आत्मा को नित्य ज्ञानस्वरूप मानने से निर्विशेष और निर्विकार भी मानना पड़ता है, जिससे निर्विकार (साक्षी) और सविकार की (मन की) सम्बन्धविषयक कठिनता आ उपस्थित होती है । आत्मा को ज्ञानाश्रय मानने से आश्रय और आश्रित का सम्बन्धविषयक विचार आ उपस्थित होता है । वे सम्बन्ध दो ही प्रकार (समवाय और तादात्म्य) के हो सकते हैं; अर्थात् ज्ञान को आत्मारूप आश्रय से सर्वथा भिन्न या उस आश्रय का परिणाम, (भिन्नाभिन्न) माना जा सकता है; दोनों ही स्थलों में नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं । अतएव आत्मा को नित्य-ज्ञानस्वरूप या ज्ञानाश्रय नहीं मानना चाहिए । नित्यपदार्थ क्रमिक या युगपत् अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता (उसके सर्वदा विद्यमानता के कारण क्रमिकत्व सम्भव न होने से तज्जन्य कार्य का क्रमिकत्व सम्भव नहीं होता), किन्तु ज्ञानसुखादि के अर्थक्रियाकारी प्रतीत होने से वे उत्पत्ति-नाशशील पदार्थरूप से मान्य होते हैं । वे निराश्रय हैं । प्रसर्पण-धर्मशील (गतिमान) मूर्त्त पदार्थों के अधःपतन के निरोध के लिए आश्रय की कल्पना होती है । ज्ञानादि के गतिशून्य होने से उनका अधःपतन सम्भव नहीं, सुतरां उसके लिए आत्मारूप आश्रय की कल्पना निरर्थक है । वे ज्ञानादि स्थिर नहीं हैं तथा क्रमोत्पन्न होने से उनको स्थिर मानने की भी आवश्यकता नहीं है । (इस मत में केवल क्रम या परिवर्त्तन Change मान्य होता है, परन्तु बाह्य-सम्बन्ध या समवाय से क्रमयुक्त अथवा स्वरूपतः परिवर्त्तनशील पदार्थ किम्वा क्रम या परिवर्त्तन का साक्षीरूप क्रमरहित परिणामरहित पदार्थ मान्य नहीं) । अतएव प्रतिपन्न हुआ कि, स्थिरात्मवाद में

बौद्धसम्मत क्षणभंगवादका प्रतिपादनकी रीति ।

सम्बन्धविषयक कठिनता के निवारण के लिए तथा ज्ञानादि के आश्रय को मानने का प्रयोजन न रहने के कारण तथा स्थिरत्व की सिद्धि न होने से ज्ञानादि को निराश्रय और क्षणिक (क्षणावस्थितरूपवस्तु) अनुमान करना होगा । इस क्षणिक ज्ञान में हमलोगों को आत्मबुद्धि और स्थिरत्वबुद्धिरूप भ्रान्ति होती है, ऐसा कहना होगा । सदृश सन्तानान्तर्वर्त्ती सभी क्षण एकरूपवाले होते हैं, इसलिए वे एक ऐसे प्रतीत होते हैं अर्थात् सदृशक्षण-परंपरा की उत्पत्ति होती है, इसलिए एकत्व की भ्रान्ति होती है (दीप-शिखा में जैसी होती है) ।*

*बौद्धमत में अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुमात्र का स्वभाव है, और इसी हेतु से वे लोग प्रत्येक वस्तु को क्षणिकरूप से निश्चय करते हैं । यह सम्भव नहीं है कि वस्तु सत् हो अथच अर्थक्रिया न करता हो । वस्तु को यातो केवल एक ही कार्य का उत्पादक अथवा एक ही काल में अनेक कार्यों का उत्पादक किंवा एक कार्य के पश्चात् अपर इस क्रम से अनेक कार्यों का उत्पादक मानना होगा । प्रथम और द्वितीय पक्ष के अनुसार वस्तुका क्षणिकत्व सिद्ध होता है; एकक्षणस्थायी पदार्थ के द्वारा ही सकृत् (एकवार) कार्योत्पादन हो सकता है । तृतीय पक्ष माननीय नहीं हो सकता । कारण, अनेक कार्यों को क्रम से उत्पन्न करना ही यदि वस्तु का स्वभाव हो, तो वह वस्तु क्रम से प्रत्येक क्षण में सदृश कार्य को उत्पन्न करती रहेगी, इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकेगा । इसप्रकार एक ही वस्तु संसार में अनन्तकाल तक असंख्य वस्तुओं को उत्पन्न करती रहेगी । यदि इसको मान भी लिया जाय, तो भी किसी वस्तु से प्रथम-क्षण में ही उत्पन्न जो कार्य है उसके अनन्तर द्वितीय क्षणभावी कार्य भी उस वस्तु से प्रथम क्षण में ही क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? कारण, कार्य को उत्पन्न करनेवाली वस्तु यदि अक्षणिक हो तथा अपने नियत कार्यों को उत्पन्न करना ही उसका स्वभाव हो, तो वह सकल क्षण में समस्त कार्यों को क्यों उत्पन्न नहीं करेगी ? जो कारण जिस कार्य के सम्पादन में समर्थ है, वह कारण उस कार्यसम्पादन में विलम्ब नहीं कर सकता । "समर्थस्य क्षेपायोगात्"। वस्तु को अक्षणिक मानने पर उसमें असंख्य कार्यजनन का सामर्थ्य भी स्वीकार

समालोचना

बौद्धमत में प्रवृत्तिविज्ञान नामक नीलादि विषयज्ञान और आलयविज्ञान नामक अहंप्रत्ययरूप आत्मा मान्य होता है। अब यहांपर प्रश्न होता है कि, "अहं" ऐसा प्रत्यय मात्र ही आत्मा है या उसका सन्तान (प्रवाह) आत्मा है ? प्रथम पक्ष में उस आलयविज्ञान (अहं) के क्षणिक होने से "अहं" (मैं) के साथ "मैं इसको जानता हूं" ऐसे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का तथा कर्तृ, कर्म और क्रिया का अनुसन्धान नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञान ("इसको जानता")

करना होगा, सुतरां उसके इस सामर्थ्य को निरुद्ध कौन करेगा ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान नहीं हो सकता। सुतरां पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा यही सिद्ध होता है कि भाववस्तु मात्र एक ही क्षण में कार्योत्पादन में समर्थ होती है। कार्यजनकत्व ही उसका स्वभाव होने के कारण, वह बहुक्षणस्थायी कदापि नहीं हो सकती, फलतः भाववस्तुमात्र ही क्षणिक है। (अतएव आत्मा भी क्षणिक है)। उत्पत्ति, स्थिति और लय विश्व का क्रम नहीं, किन्तु उत्पत्ति और लय ही विश्व का क्रम है। वस्तुमात्र ही उत्पत्ति के पर-क्षण में लय होता है। स्व स्व-क्रियाकारी काल में स्व स्व क्षणिक अस्तित्व या क्षणकाल के लिये विद्यमानता ही, वस्तु की सत्ता है। अतएव इस मत में, कारण, कार्यरूप से परिवर्तित होकर नहीं रहता, किन्तु प्रत्ययरूप धर्म निरुद्ध या शून्य हो जाता है; उसके पश्चात् कार्य या प्रतीत्यरूप धर्म उदित होता है; कार्य और कारण में वस्तुगत कोई सम्बन्ध नहीं, वे निरन्वय हैं। यद्यपि ऐसी प्रसिद्धि है कि कार्य की कारण में अपेक्षा होती है, कारण का भी कार्य में व्यापार होता है, परन्तु बौद्धमत में कारण का अनन्तरभावित्व ही कार्य की कारण में अपेक्षा होती है। कार्योदयकाल में सदा सन्निहितत्व ही कारण का कार्य में व्यापार होता है। पदार्थसमूह क्षणिक होने से जन्मातिरिक्त-व्यापारशून्य हैं। पश्चात् अवस्थिति न होने से व्यापार नहीं होता, क्योंकि निराधार व्यापार अयुक्त है। अतएव आनन्तर्य मात्र ही कार्यकारणभाव-व्यवस्था का हेतु है, न कि उनका व्यापार। जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है। यही "प्रतीत्य-समुत्पाद" है (अस्मिन् सति इदं भवति)।

और आलयविज्ञान ("मैं हूं") परस्पर एक दूसरे को नहीं जानते । यदि यह कहा जाय कि "मैं इसको जानता हूं" ये तीन ज्ञान हैं नकि एक ही ज्ञान इन तीनों का ग्राहक है, तो यह भी समुचित नहीं । कारण, ऐसा होने पर भी परस्पर एक दूसरे को न जान सकने से आत्मा को विषय की सिद्धि नहीं होगी, सुतरां सब व्यवहारों का लोप हो जायगा । यदि यह मानलें कि क्रम से इन तीन ज्ञानों की उत्पत्ति होने के पश्चात् उनका संकलनात्मक उक्त चतुर्थ ज्ञान उत्पन्न होता है. तो भी संगत नहीं होता, क्योंकि उस चतुर्थ का भी पूर्व के ही समान योगक्षेम होने से उन तीनों का ग्राहक उक्त चतुर्थ नहीं हो सकता, अन्यथा पूर्व के तीन और चतुर्थ का समकालीनत्व हो जाने से क्षणिकवाद की हानि होगी, और यदि ऐसा न हो, तो ग्राह्य–ग्राहक–भाव का अतिप्रसंग होगा । अतएव आलयविज्ञानमात्र को आत्मा मानने पर प्रवृत्तिविज्ञान के विषय के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं हो सकता, सुतरां सम्पूर्ण जगत् ही अप्रकाशित हो जायगा । यदि वादी यह कहे कि हमको द्वितीयकल्प सम्मत है अर्थात् आलयविज्ञान का सन्तान ही आत्मा है, जिसके स्थिर होने के कारण पूर्वोक्त दोष नहीं होता, तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि सन्तानी के अतिरिक्त सन्तान का निरूपण नहीं कर सकते । क्रम से गमनशील पिपीलोका की व्यक्ति के अतिरिक्त उनकी पंक्ति नामवाली और कोई पृथक् वस्तु नहीं है । ज्वाला और जलप्रवाह में भी निरन्तर गमनशील व्यक्ति के अतिरिक्त सन्तान नामवाली पृथक् कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती । मणियों में सूत्र की न्याई क्रमयुक्त विज्ञानों में सन्तान नामवाला अन्य पदार्थ किसी के द्वारा उपलब्ध नहीं होता । अतएव सन्तान नामक कोई वस्तुभूत द्रव्य ही नहीं है, उसका आत्मत्व या स्थिरत्व तो दूर रहा । और भी, प्रश्न यह है कि, सन्तानी का सन्तान स्वयंप्रकाश है या परप्रकाश्य ? आद्य नहीं हो सकता, वह यदि सन्तानी रूप विज्ञान से भिन्न हो, तो घट: की न्याई अन्य द्वारा वेद्य होगा, उससे अभिन्न होने पर क्षणिक होने के कारण सन्तानत्व नहीं

हो सकता । द्वितीय पक्ष भी अनुचित है. उसका प्रकाशक यदि क्षणिक होगा, तो दो तीन व्यक्ति का ग्राहक नहीं होने के कारण सन्तान का प्रकाशकत्व नहीं हो सकता । एकक्षण में सन्तान किसी को भी अवभासित नहीं होता । सन्तान के ग्राहक को यदि अक्षणिक स्वीकार किया जाय, तो सन्तानात्मवाद की हानि होगी, उसके भी अन्य के द्वारा वेद्यत्व होने पर अनवस्था होगी तथा स्वप्रकाश होने से अनिष्टापत्ति भी होगी । अतएव आलयविज्ञान या उसका सन्तान आत्मा नहीं है, यह सिद्ध हुआ ।*

*यहांपर प्रसगवश क्षणिकवाद के खण्डन का दिक्दर्शन करात हैं । मकल पदार्थ क्षणिक होने पर प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । पदार्थ का क्षणिकत्व-सिद्धान्त प्रत्यक्ष-वाधित होने से वह अनुमानसिद्ध नहीं हो सकता । सर्वसम्मत कोई क्षणिक पदार्थ नहीं है (अन्त्य शब्द क्षणद्वयस्थायी है), जिसको दृष्टान्त देकर वस्तुमात्र का क्षणिकत्व सिद्ध किया जा सके । क्षणिकत्व-सिद्धान्त मे कार्यकारणभाव नहीं हो सकता; कार्यकारणभाव अन्वय--व्यतिरेकगम्य है, अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान अनेकक्षण--सम्पाद्य है; एकमात्र क्षण के बीच में किसी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश का कारण सम्भव नहीं हो सकता । और भी, क्षणिकवाद में कार्य की उत्पत्ति, कारण के विनाश के समकालीन कहनी होगी (नाश और उत्पत्ति एक ही काल मे संघटित मानने होंगे); तब प्रश्न होता है कि, इस कारणविनाश का अर्थ क्या है? कारण का अभाव या उसके विनाशकारी कारणो का सान्निध्य? प्रथम विकल्प में कार्य और कारण की समकालीनता नहीं हो सकती । द्वितीय विकल्प में विनाश का कारण तब होता है जब कि विनाशयोग्य पदार्थ रहता है, अतएव (उत्पन्न--पदार्थ के पश्चात् विनाशकारणसान्निध्य होने से) कैसे उस पदार्थ को क्षणिकरूप से मान सकते हैं । उत्पत्ति और विनाश की समकालता, अनुभव-विरोध होने से, मान्य नहीं हो सकती । यदि कार्य, कारण के समकाल ही उत्पन्न हो, तो वामदक्षिणशृङ्ग की न्याई एक को अपर का कारण नहीं मान सकते । और भी, वादीसम्मत क्षणिकवाद का हेतु सङ्गत नहीं है "क्षणिकस्यापि सापेक्षस्यानपेक्षस्य वा नार्थक्रिया संभवति"। पदार्थ स्थिर होने पर ही अर्थक्रियाकारी (कार्यजनक) हो सकता है । सहकारि कारण के साथ मिलित होकर ही कारण-पदार्थ कार्य को उत्पन्न करता है । सुतरां पदार्थ का क्रमकारित्व सिद्ध है ।

बौद्धसम्मत क्षणिकात्मवाद में स्मरण की व्यवस्था नहीं हो सकती।

क्षणिकविज्ञानात्मवाद में विषय के अनुभव के पश्चात् उसका संस्कार और स्मृति के समय तक रहने वाला कोई नहीं है, सुतरां अनुभव, संस्कार और स्मृति के एक आश्रयपर न रहने से स्मृत्ति की व्यवस्था नहीं होती। संस्कार को प्राप्त करना या उनको मिलाना या उनका अनुवाद करना, इन सब क्रियाओं को करने के लिए कम से कम इन तीन क्षणों में स्थायी एक चेतन का अस्तित्व रहना चाहिए। यदि अस्तित्वक्षण (क्रियाक्षण), उत्पत्ति और नाश क्षणों के मध्य में न रहे तो उत्पत्ति और नाश दोनों ही अस्तित्ववाले और अनस्तित्ववाले होकर एक हो जायेंगे। यदि यह कहें कि सन्तान का एकत्व होता है, सुतरां कैसे अव्यवस्था होगी, तो यह भी संगत नहीं है। कारण, सन्तान का अवस्तुत्व प्रतिपादित हो चुका है। वस्तुत्व होनेपर भी प्रवृत्तिविज्ञानजनित संस्कार के चिर-नष्ट होनेपर उससे स्मृति का होना असम्भव है। और उसका स्थिरत्व होनेपर सब संस्कार क्षणिक हैं, ऐसा मत बाधित होता है तथा नष्टवस्तु से कार्योत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। और भी, आलयविज्ञान के भी क्षणिक होने पर द्रष्टा और स्मर्त्ता की एकता का होना असम्भव है। ऐसा होनेपर एक व्यक्ति के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण अपर व्यक्ति को भी हो सकेगा।

बौद्ध—कारणगत वासना का कार्य में संक्रमण होने से यह दोष नहीं होता।

समालोचक—यदि ऐसा ही हो तो माता के द्वारा दृष्ट पदार्थ का पुत्र के द्वारा स्मरण का प्रसंग होगा।

बौद्ध—यहां पर उपादान-उपादेय-भाव नियामक है (माता पुत्र का उपादान नहीं किन्तु निमित्त है)।

समालोचक—आपके मत में वह निरूपण के योग्य नहीं है। कार्याधार या कार्यानुस्यूत कारण उपादान होता है, निरन्वय और ध्वस्तपूर्व (जो पूर्व में सर्वथा ध्वंस प्राप्त हुआ ऐसा) आलय-विज्ञान का परवर्त्ती के प्रति उपादानत्व होना सम्भव नहीं है।

बौद्धकर्तृक स्मरणव्यवस्थाप्रदर्शन और उसका खण्डन ।

बौद्ध—दोनों सजातीय हैं, अतएव यहां पर सजातीयता ही नियामक है ।

समालोचक—सजातीय होने के लिए पूर्व और परवर्त्ती क्षण का सम्बन्धी होना आवश्यक है, किन्तु ऐसा मानने पर स्थायित्व हो जायगा, जो आपको सम्मत नहीं है । सबका क्षणिकत्व होने के कारण, पूर्व और परवर्त्ती अन्वयी धर्म नहीं है, सुतरां साजात्य-विषयत्व ही असंभव है ।

बौद्ध—सन्तान ही इसका नियामक है । एक सन्तान में पतित विज्ञानों के मध्य में पूर्वविज्ञान जिसका अनुभव करता है, उत्तरविज्ञान उसका स्मरण करता है । अर्थात् कारण-विज्ञान को अनुभव होने पर कार्य-विज्ञान के उसका स्मरण होना है । पूर्वविज्ञान का संस्कार उत्तरविज्ञान में संक्रान्त होता है, इसलिए पूर्वविज्ञान का अनुभूत विषय उत्तरविज्ञान स्मरण करने में समर्थ होता है ।

समालोचक—अनुगत वास्तव रहनेवाला धर्म यदि न हो तो, सन्तान की एकता भी नहीं हो सकती । अतएव यह कथन निरर्थक है कि एक के संस्कार अपर में अनुगत रहते हैं । ऐसा होने पर किसी एक व्यक्ति को घट का अनुभव होने पर उस घटानुभववाले आलयविज्ञानक्षण के नष्ट होने के पश्चात् अपर क्षण में उत्पन्न होनेवाला आलयविज्ञान यदि उसका स्मरण कर सकता हो, तो उक्त प्रथम व्यक्ति के घटानुभवविशिष्ट आलयविज्ञान के नाश के समनन्तर काल में उत्पन्न होनेवाले किसी अपर व्यक्ति के आलयविज्ञान को उस घट का स्मरण क्यों नहीं होता ? क्योंकि पूर्व विज्ञान के नाश के पश्चात् अपर विज्ञान की उत्पत्ति दोनों में समान है । आपके मत में कार्य और कारण की एकदेशता का सर्वत्र अभाव होने से "उन दोनों के देशभेद के कारण कार्यकारणभाव नहीं होता" ऐसा भी नहीं कह सकते, पूर्ववर्तिता सर्वत्र ही समान

है। अतएव बौद्धमत में स्मरण की व्यवस्था नहीं होती।*

*स्मरणज्ञान को केवल मस्तिष्क की क्रियारूप से माननेवाले वाद के द्वारा भी उक्त स्मरण का सुसंगतरूप से उपपादित होना कठिन है। "यदि ज्ञान, मस्तिष्क की क्रिया या आणविक प्रचलनमात्र हो, तो कालान्तर में तादृश एक क्रिया की पुनरुत्पत्ति ही स्मृतिज्ञान का स्वरूप होगा। किन्तु कालान्तर मे वर्तमान के अनुरूप एक क्रिया किस हेतु से पुनरुत्पन्न होगा इसको कोई निर्देश नहीं कर सकता। जिस हेतु से वर्तमान मे क्रिया उत्पन्न होती है, उसके न रहने पर भी भविष्यत् मे उसके अनुरूप क्रिया उत्पन्न होने का उदाहरण, समग्र बाह्य जड जगत् में कहीं भी देखा नहीं जाता, किन्तु फिर भी स्मृति मे वह क्रिया होती ही है। यदि यह कहा जाय कि अस्फुटित (undeveloped) 'फटोग्राफ के' समान वह मस्तिष्क में रहता है, पश्चात् चेष्टाविशेष के द्वारा उद्भूत होता है, तो प्रश्न यह होगा कि, वह अस्फुट चित्र रहता कहां है? इसका उत्तर यही होगा कि, मस्तिष्क के स्नायुकोष मे। इसपर फिर जिज्ञासा होगी कि, प्रत्येक ज्ञान का चित्र क्या पृथक् पृथक् कोष में रहता है अथवा एक ही कोषमें अनेकानेक चित्र रहते हैं? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि पृथक् २ कोषो में रहते हैं, तो इतने स्नायुकोषों की कल्पना करनी पडेगी कि जिसके लिए मस्तिष्क में इतने अवकाश का होना ही असम्भव है। किञ्च, उसमें नित्य नवीन अनुभवो के होते रहने से नित्य अनेकानेक नवीन कोषो की उत्पत्ति होती रहेगी, इसप्रकार जिसकी परमायु अधिक होगी उसके मस्तिष्क की कोषबहुलता प्रभृति नाना दोष होते हैं; (यथा, उसका मस्तिष्क, कोषो की बहुलता से वृद्धि को ही प्राप्त होता चला जायगा तथा संसार में अधिक ज्ञानी और अनुभवी की पहिचान मस्तिष्क की स्थूलता से हुआ करेगा। किन्तु यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध कल्पना है)। अतएव यदि यह कहा जाय कि, एक ही कोष में अनेकानेक स्मृतिचित्र निहित रहते हैं, तो भी इसमें अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क की क्रिया का अर्थ, जडवाद के अनुसार, यही कहना होगा कि मस्तिष्क में आणविक प्रचलन या इतस्ततः स्थान-परिवर्तन होता है। यदि प्रत्येक ज्ञान का स्वरूप ऐसा ही हो, तो एक कोष में (या कोषपुञ्ज में) ऐसे अनेकानेक आणविक क्रियाओं के होते रहने से उनका आपस में ऐसा सांकर्य संघटित होगा कि, किसी एक ज्ञान की स्मृति सर्वथा ही दुर्घट हो जायगी। एक "फटोप्लेट के" ऊपर यदि अनवरत (निरन्तर) अनेक चित्र प्रतिविम्बित किये (Exposure दिए) जांय, तब उसका फल जो होता है, इसका भी परिणाम वैसा ही होगा।"

चतुर्थ अध्याय

साधन

विगत अध्यायों में हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि, किस प्रकार भारत के विभिन्न दार्शनिक-साम्प्रदायिकलोग—अपनी अपनी युक्तियों के आधार पर जगत् के मूलतत्त्व के स्वरूप का निर्णय करते समय—विभिन्न सिद्धान्तों में पहुंचे हैं। अब हम इस अध्याय में उस मूलतत्त्व (ईश्वर या आत्मा) की प्राप्ति के साधनविषयक सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। विभिन्न मतावलम्बियों के द्वारा उस मूलतत्त्व का स्वरूप विभिन्नरूप से निर्णीत होने के कारण, उसकी प्राप्ति-विषयक साधन में भी भेद का होना स्वाभाविक ही है। साधारणतः इन साधनों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—भक्ति, योग और ज्ञान।

भक्ति-साधन

अब भक्ति-साधन के विषय पर विचार करते हैं। भक्ति-मार्गावलम्बी साधकों में भगवान के विषय में साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार की धारणायें पायी जाती हैं। भगवान को निराकार मानने वालों में भी दो भेद हैं। एक तो यह मानते हैं कि, भगवान निराकार चेतनावान पुरुष है, जो स्वर्ग में निवास करता है तथा दूसरे कहते हैं कि, वह निराकार है और सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। इसीप्रकार भगवान को साकार मानने वालों में भी मतभेद है। एक प्रकार के लोग ऐसा मानते हैं कि, भगवान स्वरूपतः निराकार और देशकालातीत है, किन्तु वह भक्त-जनों के हितार्थ विभिन्न आकार को धारण करके समय समय पर स्वयं अभिव्यक्त होता है; तथा दूसरे प्रकार के लोग यह मानते हैं कि, भगवान का विशेष आकार है, जो सनातन है। समय समय पर अभिव्यक्त होने वाले अन्य सभी आकार उसके अंशरूप अपूर्ण हैं, जो उसी का पूर्ण नियत आकार से उत्पन्न होकर फिर उसी में विलीन हो

जाते हैं। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के भक्तलोग साथ ही यह भी मानते हैं कि, उनके अपने सम्प्रदाय में भगवान जिस आकरविशेष में पूजित हो रहे हैं, वास्तव में भगवान का पूर्ण प्रकृतस्वरूप वही है: अन्य सम्प्रदायों में पूजित होने वाले भगवान के सभी आकार अपूर्ण और आंशिक मात्र हैं। इनमें से भी कतिपय भक्तलोग भगवान का देवता, अवतार या गुरु रूप से भजन करते हैं।

भक्ति-साधन की समालोचना करते समय भगवान के अस्तित्व के विषय में प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इस पर हम प्रथम ही विचार कर चुके हैं। यहां पर हम मान लेते हैं कि भगवान है और वह वैसा ही स्वरूपवाला है, जैसा कि भक्तलोग उसे मानते हैं। परन्तु यहां पर प्रश्न यह है कि, क्या भक्त के लिए यह सम्भव है कि वे भगवान का भजन करें जैसे कि वे उसको स्वरूपतः मानते हैं। कतिपय भक्तलोग भगवान को निराकार और स्वर्गवासी मानते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या ऐसा निराकार पुरुष मन में साक्षात् चित्रित हो सकता है? अथवा क्या वह हमारी भावना का विषय हो सकता है? किसी एक तत्त्व के अस्तित्व की केवल भावना करनी और उस तत्त्व को मानस चक्षु के सामने विषय रूप से साक्षात् विद्यमान समझना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। यदि वा उस निराकार तत्त्व की धारणा को हम अपने ध्यान का विषय बनाकर उसमें ऐसे निमग्न हो जांय कि अन्य किसी भावना को उदय होने का अवसर ही न मिले, तो इससे क्या यह सूचित होगा कि, वह तत्त्व स्वर्गराज्य से स्वयं नीचे उतर आता है और हमारे मन के सामने उपस्थित हो जाता है? इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि, ऐसा नहीं हो सकता। प्रथमतः, भगवान की वह धारणा भक्तों की मन की प्रकृति के अनुसार अवश्य रञ्जित और विशेषित होगी। द्वितीयतः, दूर देश में निवास करने वाले निराकार पुरुषरूप से मान्य भगवान को ध्यान का साक्षात् विषय नहीं बनाया जा सकता। तृतीयतः, भगवान और भावनाकारी का मन इन दोनों में साक्षात् सम्बन्ध

भी नहीं हो सकता । उपर्युक्त बातें उन भक्तों के साधन में भी प्रयुक्त होंगे, जो सर्वव्यापक भगवान का ध्यान करते हैं । यद्यपि सर्वव्यापक तत्त्व सत्यरूप से स्वीकृत होता है और साधारणरूप से उसकी भावना हो सकती है, तथापि उसको ध्यान का विशेष निर्दिष्ट विषय नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि ऐसे सर्वव्यापक तत्त्व को जिस समय ध्यान का विषय बनाने का प्रयत्न किया जाता है, उसी समय उसका सर्वव्यापक स्वरूप नष्ट होकर ज्ञेय और सीमाबद्ध हो जाता है तथा भावनाकारी का मन ज्ञातारूप से उससे पृथक् रह जाता है । औरभी, भक्ति-साधन में प्रेमभाव अत्यावश्यक सामग्री है । यह प्रेमभाव भी तभी हो सकता है, जबकि भक्त के आत्मा से प्रेम किए जाने वाले विषय (भगवान्) का अस्तित्व पृथक् हो, जिससे उन दोनों में परस्पर प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो सके । किन्तु भगवान को सर्वव्यापक मानने पर—एक अभिन्न तत्त्व के साथ—किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता । अतएव यदि एक सर्वव्यापक तत्त्व के ध्यान का अभ्यास किया जाय, तो उसको आपेक्षिकरूप से कितना ही अधिक महान् क्यों न कल्पना किया जाय, तथापि वह एक सीमायुक्त व्यक्ति मात्र होगा, तभी उसका भजन, भावना और प्रेम हो सकेगा । यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि, कोई पुरुष जो अनन्त और सर्वव्यापक रूप से मान्य है, वह क्या व्यक्तिरूप से भी कल्पना किया जा सकता है । यदि व्यक्तित्व का त्याग किया जाय, तो भक्ति-साधनसे हाथ धोना पडेगा और यदि अनन्तता और सर्वव्यापकता का त्याग किया जाय, तो भगवान् देशबद्ध सीमायुक्त- अतएव सादि और सान्त पुरुष हो जायगा, फलतः उसको नित्य और सर्वोत्कृष्ट पुरुषविशेष मानकर पूजनीय भी नहीं कह सकेंगे । यदि उक्त भगवद्विषयक परस्पर विरोधी दोनों धर्मों की कोई दार्शनिक उपपत्ति सम्भव भी हो, तो भी इस धारणा के अनुसार भगवान का ध्यान या भजन नहीं हो सकता ।*

*यदि भगवान सर्वव्यापक और सभी आत्माओं के आत्मा हों, तो सभी प्राणी सर्वदा भगवान के साथ मिले हुए होंगे अर्थात् भगवान सर्वदा सबको प्राप्त रहेगा,

अशरीरी भगवान आकारके द्वारा सविशेष है ऐसा मान्य होनेपर भगवानके बहुत्व का प्रसंग होगा। व्यापक भगवानकी प्राप्ति या अनुभव असंभव है।

अब शरीरधारी भगवान के निमित्त किया जाने वाला भजन समालोचनीय है। निराकार भगवान शरीर भी धारण करता है, इस सिद्धान्त का खण्डन हम पूर्व ही ब्रह्म-परिणामवाद के प्रसंग में कर आये है (देखिए पृष्ठ ४१-४९;१६३-१६८)। यहां पर केवल सशरीर भगवान की प्राप्ति-विषयक साधन पर विचार करेंगे। यदि वस्तुतः अशरीरी भगवान, विभिन्न भक्तों की विभिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न आकारों को धारण करता हो, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे विभिन्न आकार, भगवान के प्रकृत स्वरूप से पृथक् होंगे। यहां विचार्य है कि, जिस समय भक्तलोग उन विभेदयुक्त आकारों की पूजा करते हैं, उस समय भगवान को उन आकारों के अनुकूल गुणों से युक्त रूप से भी भावना करते हैं या नहीं। यदि भक्त पूजा के समय भगवान को उसी आकार के अनुरूप गुणों से युक्त रूप से भावना करता हो, तो एक भक्त का भावित भगवान अन्य भक्त के द्वारा पूजित भगवान से अवश्य ही विलक्षण और पृथक् होगा। किन्तु ऐसा निर्णय हमको भगवान के बहुत्व की

फलतः उसकी प्राप्ति के लिए साधन ही अनावश्यक होगा। यदि साधन का लक्ष्य केवल भगवत्-प्राप्ति ही हो—तो भगवान को सर्वव्यापक मानने पर—वह सभी को प्राप्त है ही, अतः इससे यह सूचित होता है कि भगवत्-प्राप्ति से भी बन्ध और दुःख की निवृत्ति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि, भगवान की अनन्तता और सर्वव्यापकता का साक्षात् परिचय होना तथा अपने आत्मा को भगवान में ओतप्रोत रूप से (भगवान मे, भगवान के लिए और भगवान से ऐसे) अपरोक्ष अनुभव करना ही साधन का लक्ष्य है तथा इसी को भगवत्-प्राप्ति कहते हैं, तो अनुभव का विषय (भगवान) और अनुभविता (साधक) के भेद से मन में भी भिन्नता की सृष्टि होगी और भगवान के सर्वव्यापकस्वरूप का अनुभव असम्भव हो जायगा। यदि उस समय मन के व्यक्तित्व को नष्ट होता हुआ माना जाय, तो अनुभव ही असम्भव होगा। यदि उस समय किसी प्रकार का अलौकिक अनुभव प्राप्त होता हो, तो इससे भी यह सूचित होता है कि, अनुभवितारूप से पृथक् मन की उपस्थिति अवश्य रहती है और ऐसे अनुभव का फल चिरस्थायी होगा, यह भी निश्चित नहीं है।

धारणा में ले जायगा, क्योंकि भक्तों की विभिन्न श्रेणी विभिन्न रूप और गुणवाले भगवान का पूजन कर रहे हैं । (वस्तुतः इसी धारणा से ही—विभिन्न नाम, मन्त्र और क्रियावाले तथा विभिन्न भगवत्स्वरूप के वर्णन और चरित्र वाले—साम्प्रदायिक शास्त्रों की रचना हुई है तथा भगवद्भक्तसमुदाय भी बहुसंख्यक साम्प्रदायिक श्रेणियों में विभक्त होकर संकीर्ण दृष्टिवाले हो गये हैं, जिससे समाज के लिए क्षतिकारक भीषण कलह की भी उत्पत्ति हो जाया करती है)। यदि पक्षान्तर में साकार भगवान की पूजा के समय ऐसी भावना की जाय कि, भगवान वास्तव में इस आकार या प्रतिमा के नाम (पितामाता के सम्बन्ध से रहित, देशकालातीत भगवान का नामकरण या व्यावहारिक संज्ञा सम्भव नहीं है) और गुणों से विशिष्ट नहीं किन्तु इनसे रहित हैं तो प्रतिमा स्थापन और उस प्रतिमा के अनुरूप गुण संकीर्त्तन पूर्वक पूजन करने का महत्त्व ही चला जायगा । उपरोक्त आक्षेप या कठिनाईयां सभी प्रकार के भगवत्पूजकों के उपर प्रयुक्त हो सकती हैं, चाहे वे देवताविशेष या अवतारविशेष या गुरुरूप से पूजन करते हो । प्रत्येक स्थल में यातो आकार को अवच्छिन्न सीमित सविशेष भगवानरूप भावना किया जायगा, नहीं तो उस आकार के द्वारा निर्विशेष निराकार भगवान की भावना होगी, इसके अतिरिक्त अन्य कोई तृतीय प्रकार नहीं है । अतएव साकार-पूजन में पूर्वोक्त दोषों के उद्धार का कोई उपाय नहीं है ।

अन्य कतिपय भक्तलोग ऐसा मानते हैं कि, भगवान का एक त्रिभुवन-कमनीय आनन्दघन नित्य देह है । वह भगवत्-शरीर सर्वैश्वर्यसम्पन्न है और उसी से जगत् की उत्पत्ति आदि क्रिया सम्पादित होती है । अब हमको इस मत के साधन पर विचार करना है कि, यदि वास्तव में ऐसा ही हो, तो उक्त भगवान के उद्देश्य से किया जाने वाला पूजन-भजन कहां तक यथार्थ हो सकता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न श्रेणी और रुचिवाले भक्तलोग, भगवान के आकार और सौन्दर्य के

विषय में विभिन्न मतवाले होंगे, क्योंकि रुचि की भिन्नता से सौन्दर्य की धारणा भी सभी मनुष्यों में समान प्रकार की नहीं पाई जाती। किसी का सौन्दर्य के ऊपर अधिक आग्रह होगा और किसी का ऐश्वर्य के ऊपर। किसी के मत में भगवान् मनुष्य की आकृतिवाला होगा तथा अन्य किसी के मत में भगवान का ऐसा आकार होगा, जो मनुष्य के लिए सम्भव ही नहीं अथवा मानव-समाज में ही अश्रुतपूर्व है। दो हाथ, चार हाथ या सहस्रशः हाथों वाले भगवान का पूजन प्रसिद्ध ही है। कोई भगवान को नराकार मानता है, तो कोई नारी-आकार। इस प्रकार से भगवान को वास्तव में सशरीर माननेवाले भक्तसमाज में, भगवान के मुख्य या आद्य शरीर के विषय में नाना प्रकार की धारणायें प्रचलित हैं। उपरोक्त धारणायें परस्पर विरुद्ध अवश्य हैं तथा किसी निष्पक्ष-विचारवाले व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि, वह यौक्तिक हेतु के बिना ही इनमें से किसी भी एक आकृतिविशेष को ग्रहण कर लेगा। भक्तों ने उपासनाबल से अपने उपास्यदेव का सशरीर दर्शन किया है, इस हेतु से भी यह निर्णय नहीं हो सकता कि अमुक शरीर ही भगवान का प्रकृत शरीर है, क्योंकि विभिन्न श्रेणी के भक्तों ने अपनी अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार के स्वरूपों का दर्शन किया है, जो उनके अपने मानसिक चित्रों का विषय रूप से अभिव्यक्ति मात्र है। अतएव भक्तों के साक्षी-प्रदान से भी भगवान्का प्रकृतस्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता।

अब यह प्रदर्शन करते हैं कि, भगवान् को किसी नित्य देह से युक्त या नित्य देहस्वरूप मानना ही विचार-राहित्य का द्योतक है। यह निर्विवाद है कि, देशयुक्त और सीमायुक्त होना देह का स्वरूपगत स्वभाव है। दैशिक सम्बन्ध के उल्लेख के बिना, देह की धारणा असंभव है। यदि भगवान किसी देशविशेष में सीमित हो और इसी कारण वह इतर जीवों से पृथक् हो, तो वह अनन्त और सर्वव्यापकरूप नहीं माना जा सकता। किञ्च, नाना अंशों का समुदाय ही देह होता है, अतएव देह शब्द से उसमें स्थित

अंश भी सूचित होते हैं, यद्यपि वे अंगांगीभाव से सम्बद्ध होंगे तथापि परस्पर विभक्त भी अवश्य होंगे। यदि भगवान को शरीरी माना जाय, तो वह देह के साथ एकीभूत या उससे भिन्न अवश्य होगा। यदि भगवान को देहरूप ही माना जाय, तो देह में अंशभेद के होने से भगवान में भी अंशभेद को अवश्य मानना होगा अर्थात् वह अंशों का समुदाय-स्वरूप होगा। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त भगवान की धारणा से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा मानने पर भगवत्शरीर भी उत्पत्ति-विनाशशील हो जायगा। यदि भगवान को देहरूप न मानकर उसको स्वेच्छानिर्मित देह का आत्मारूप माना जाय और वह जीवात्माओं से इसीलिए भिन्न हो कि वह उस दिव्य देह का अभिमानी है, तो उसको जगत् की उत्पत्ति आदि क्रिया करने के लिए देह के आधीन रहना होगा अर्थात् इतर जीवों के समान वह भी देह में बद्ध होगा और देहपरिमाण के अनुकूल ही क्रियाकारी भी होगा एवं देह की अपूर्णता के साथ २ उसको भी अपूर्ण मानना होगा। यदि भगवान के आत्मा को देह से निरपेक्ष और देह-धर्म से अतीत माना जाय, तो देह स्वरूपतः उससे सम्बद्ध नहीं होगा, अतएव उसको वस्तुतः शरीरी भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में भक्तों को जो भगवत्-शरीर का दर्शन होता है, वह उनका मानसिक चित्र है, जो ध्यान की गम्भीर अवस्था में स्थिर रूप से प्रतीत होता है। इस चित्र का स्पष्ट अनुभव ही भक्तों के द्वारा साक्षात् स्वात्मप्रकाश भगवानरूप से कल्पित होता है। अतएव भक्तों के शरीरधारी भगवान के दर्शन को भगवत्-शरीर की सिद्धि के लिए यथार्थ हेतुरूप से स्वीकार नहीं कर सकते।

अब भगवद्दर्शन समालोचनीय है। भगवान के दर्शन का अर्थ क्या यह है कि, निराकार भगवान स्वयं रूपाकार में परिणाम को प्राप्त होकर दर्शन देता है, या नित्य साकार भगवान अपने मूलरूप से आविर्भूत होता है। प्रथम पक्ष अर्थात् भगवत्-परिणाम का खण्डन ब्रह्मपरिणामवाद के प्रसङ्ग में कर चुके हैं तथा द्वितीय

पक्ष की असमीचीनता भी अभी प्रदर्शित हुई है । इस विषय में विशेष वक्तव्य यह है कि, ध्येय विषय के स्वरूप का विवेचन करने पर भी भगवद्दर्शन खण्डित होता है । यदि भगवान सर्वव्यापक हो, तो उसका वस्तुगत स्वरूप ध्यान का विषय नहीं हो सकता। ध्यान के समय ध्येय विषय के एक निर्दिष्ट चित्र को मन में स्थिर रखने का प्रयत्न करना पड़ता है, अतएव जो ध्येय चित्र है वह मानस संकल्प मात्र होने से विकारी, परिवर्त्तनशील, अनित्य और सापेक्ष भी अवश्य होता है । ऐसा होने पर ध्यान का विषयरूप भगवान, इतर पदार्थों के समान परिच्छिन्न होगा, सर्वव्यापक नहीं । मन स्वतः एक सीमित परिच्छिन्न पदार्थ है, अतः वह अपने सीमित स्वभाव का अतिक्रमण करके, उस अनन्त असीम पदार्थ को कैसे आलिङ्गन या व्याप्त कर सकता है ? पक्षान्तर में यदि भगवान को सर्वव्यापक न मानकर सीमायुक्त माना जाय, तो भी उसका अस्तित्व ध्याता से भिन्न और स्वतन्त्र होने के कारण, वह स्वरूपतः उसके मन में प्रवेश नहीं कर सकता। जबकि भगवान (अथवा कोई भी सांसारिक पदार्थ) मन से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्ववाला माना जाता है, तब यह नहीं मान सकते कि वह स्वरूपतः ध्यान-गोचर होता है । जब हम किसी पदार्थ का ध्यान करते हैं, उस समय उस पदार्थ का संस्कार हमारे मन में उद्‌बुद्ध होता रहता है, इसी प्रकार दीर्घकाल तक उस संस्कार की आवृत्ति होते रहने से उसका साक्षात्कार सा प्रतीत होता है, न कि वह पदार्थ ही मन में प्रवेश कर जाता है । अतएव उस ध्यानगोचर पदार्थ को-बाह्य सांसारिक पदार्थ के समान-स्वतन्त्र अस्तित्ववाला नहीं मान सकते, क्योंकि वह ध्याता के ध्यान के साथ ही उत्पन्न होता है तथा उस पदार्थ-विषयक संकल्प के लीन होने पर पदार्थ भी नष्ट हो जाता है । अतएव साधक ध्यान के समय मन में जिस चित्र का निर्माण या दर्शन करता है, वह भगवान के वास्तव स्वरूप से अवश्य ही भिन्न होता है । उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, भगवान जैसा है (साकार अथवा निराकार)

उसका स्वरूपतः वैसा ही ध्यान हो सकना सम्भव नहीं है। कल्पित ध्येय वस्तु का अनुभव चाहे कैसा भी गम्भीर क्यों न हो तथा उसकी सत्यता का निश्चय साधक के हृदय में कैसा भी दृढ क्यों न हो, किन्तु वह अनुभव और निश्चय वस्तुगत सत्यता का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि भावना और विषय के वास्तविक अस्तित्व में कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। यदि हम अपने व्यावहारिक साधारण अनुभव में यह पाते कि, जिस श्रुत पदार्थ के विषय में हमारी तीव्र भावना जिस प्रकार की होती है अथवा हमारा मन उसके विषय में जैसी कल्पना करने के लिए प्रेरणा करता है, वह मनोबाह्य स्वतन्त्र अस्तित्ववान श्रुत या अनुमित पदार्थ भी ठीक उसी प्रकार का हुआ करता है, तब हम अवश्य इस सिद्धान्त में उपनीत हो सकते थे कि, भगवान का स्वरूप भी वास्तव में ऐसा ही है जैसा कि हमको ध्यानावस्था में प्रतीत होता है। परन्तु मनोरथ, संमोहन, स्वप्न आदि स्थलों में हमारी विषयविषयिणी भावना अति तीव्र हुआ करती है और हम उन्हें साक्षात् रूप से अनुभव भी किया करते हैं, यद्यपि वहां पर विषयों का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता। और भी, जिस पदार्थ की भावना अस्तित्व रूप से हो सकती है, उसकी हम अनस्तित्वरूप से भी भावना कर सकते हैं। भावना के लिए यह आवश्यक नहीं कि पदार्थ अस्तित्ववान ही हो, केवल सम्भावना मात्र होने से ही भावना का उदय हो सकता ह। अतएव भावित विषय, सत्य भी हो सकता है अथवा मिथ्या भी हो सकता है या सन्दिग्ध भी हो सकता है। जबतक भावना के विषय का यथार्थ अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध नहीं होता, तब तक यह निर्णय नहीं हो सकता कि, किसी की भावना अस्तित्ववान पदार्थ लेकर हो रही है अथवा केवल सम्भावना परक ही है। जो वस्तु है उसकी भावना भी अवश्य हो सकती है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि, जिसकी केवल कल्पना मात्र हमारे अन्दर अनुभूत हो रही है, उसका अस्तित्व भी बाह्य जगत् में अवश्य होगा। अर्थात् भावपदार्थमात्र

से भावना की उत्पत्ति होती है, यह नियम है; किन्तु भावना मात्र से ही भाव पदार्थ की उत्पत्ति या अस्तित्व असम्भव है। अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि जिसका भगवद्दर्शन कहते हैं, वह मनोबाह्य किसी स्वतन्त्र तत्त्व का परिणाम या आविर्भाव नहीं है, किम्वा ध्यानजनित उसका स्वरूपदर्शन भी नहीं है, किन्तु वह भक्ति-साधकोंकी अत्यधिक भावना का फलरूप स्वकपोलकल्पित मानसिकचित्र का स्पष्ट अनुभव मात्र है।

योग-साधन

विक्षिप्त चित्त को एकाग्र या स्थिर करने के उपाय को योग कहते हैं। योगाभ्यास की प्रथम अवस्था में साधक अपने मन को इन्द्रियों के विषयचिन्तन से हटाकर अपने आप में अर्थात् मानसिक भाव में स्थिर रखने का प्रयत्न करता है, इसे प्रत्याहार कहते हैं। इस अवस्था में चित्तवृत्ति को विषयों से निवृत्त करके अपने ध्येय में एकाग्र करने का प्रयास रहता है, किन्तु साधारण अवस्था में उक्त प्रयास नहीं रहता, यही साधारण-अवस्था और प्रत्याहार-अवस्था में भेद है। प्रत्याहार का निरन्तर अभ्यास करते रहने से ध्येय में चित्त की लग्नता या धारणा होती है। धारणा और साधारण अवस्था में भेद यह है कि साधारण अवस्था में, चित्त में प्रतिक्षण घटाकार पटाकार आदि भिन्न २ विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती रहती है, परन्तु बारम्बार अभ्यास करते रहने से जब चित्त में एकही पदार्थ-विषयक वृत्ति उत्पन्न होने लगती है, तब उक्त प्रकार से किसी देशविशेष में या पदार्थविशेष में चित्त के बन्धन को धारणा कहते हैं। धारणा में शान्त और उदित प्रत्यय तुल्य स्वभाव वाले होते हैं अर्थात् जिस पदार्थाकाररूप से वृत्ति विलीन होती है उसी पदार्थाकार से पुन: उत्पन्न भी होती है, परन्तु प्रत्याहार में केवल एक विषयाकार वृत्ति को स्थिर रखने का प्रयत्न मात्र किया जाता है, यही प्रत्याहार और धारणा में भेद है। प्रत्याहार में ध्येयगोचर एकाग्रता करने का यत्न रहता है, परन्तु

चित्त उसमें लग्नताप्राप्त नहीं होती अथच धारणा में ऐसी लग्नता रहती है। दीर्घकालपर्यन्त यत्नपूर्वक धारणा का अभ्यास करते रहने से "ध्यान" (पारिभाषिक) अवस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में एकही विषयाकारवृत्ति अनेक क्षणों तक उदित रहती है। धारणा और ध्यान में भेद यह है कि, धारणावस्था में समजातीय चिन्ता की धारा उपलब्ध होती है, किन्तु ध्यानावस्था में ऐसा अनुभव होता है कि, लय और प्रादुर्भाव से रहित एकही चिन्तन या वृत्ति प्रवाहित हो रही है। धारणा में चित्त की वृत्ति जलधारा के सदृश बिन्दु २ रूप से अर्थात् एक के पश्चात् अपर इस क्रम से मध्य में भङ्ग को प्राप्त होकर प्रवाहित होती है, परन्तु ध्यानावस्था में चिन्ता की धारा—तैल या मधुधारा के समान—एक अखण्ड प्रवाह का आकार धारण कर लेती है। यदि ध्यान का भी पुनः पुनः अभ्यास किया जाय, तो वह क्रमशः प्रगाढ़ हो जाता है। इस प्रगाढ़ या परिपक्व अवस्था में एक अखण्ड ज्ञान-प्रवाह रहता है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय के एकत्र मिलन के साथ ही इनकी पृथक्ता का भी स्पष्ट अनुभव रहता है। ध्यान की प्रथमावस्था में ध्येयविषय कदाचित् अस्पष्ट रूप से भी भान होता है, किन्तु प्रगाढावस्था में गम्भीर एकतानता के होने पर ध्येय विषय का स्पष्टरूप से साक्षात्कार होता है। ध्यान की चरमावस्था का नाम समाधि है। समाधि (सविकल्प) चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है, इसकी अपेक्षा और अधिक चित्त की स्थिरता नहीं हो सकती। ध्यान-परिपाक के तारतम्य से इस समाहित अवस्था के भी दो भेद हैं, सविकल्प और निर्विकल्प। ध्यान और सविकल्पसमाधि में भेद यह है कि, ध्यान में ध्याता और ध्येय का भेद स्फुटरूप से प्रतीत होता है, किन्तु सविकल्पसमाधि में ध्यातृध्यान की प्रतीति अस्फुट हो जाती है, ध्येय वस्तु की स्फुटरूप प्रतीति रहती है। अर्थात् "मैं ध्यान करता हूं" इत्याकार ध्यानक्रिया का स्वरूप, प्रख्यात ध्येयस्वरूप में अभिभूत हो जाता है। ध्यान की गंभीरता में एकाग्रता के तारतम्य से चारप्रकार की अवस्थाओं

का अनुभव होता है। प्रथमावस्था में साधक ऐसा स्मरण कर सकता है कि, "अब मेरा चित्त इस विषय को चिन्तन कर रहा है"। द्वितीय अवस्था में उसका चित्त इतना एकाग्र होने लगता है कि उक्त प्रकार से स्मरण करने का सामर्थ्य ही उसमें नहीं रहता। इस अवस्था में चित्त ध्येय विषय से अनुरञ्जित रहता है और वह विषय अति सूक्ष्मरूप से प्रतिभात होता है। तृतीयावस्था में पहुंचने पर द्वितीय-अवस्था-में-अनुभूत अत्यल्प सूक्ष्म भेद भी प्राय: निवृत्त होते जाता तथा ध्याता और ध्येय में अभेद-सा प्रतीत होने लगता है। चतुर्थावस्था में ऐसा प्रतीत होता है, मानों केवल ध्येय विषय ही स्फुरित हो रहा।*

*उक्त रीति से समाधि (संप्रज्ञात) के चार भेद सिद्ध होते हैं, नकि योगशास्त्रोक्त रीति से। योगशास्त्र के अनुसार ध्येय के स्थूल होने पर सवितर्क, निर्वितर्क और ध्येय के सूक्ष्म होने पर सविचार–निर्विचार समापत्ति कही जाती है। परन्तु यह समीचीन नहीं है। समाधि मन की अवस्था विशेष है न कि वस्तु की। अतएव मन की अवस्थानुसार ही समाधि में भी विभाग की कल्पना होनी चाहिए। सवितर्क और निर्वितर्क आदि ध्येय वस्तु के स्वरूपगत भेद नहीं हैं, किन्तु मन के ही भावना की स्थूलता और सूक्ष्मता जनित भेद हैं। मानव-मन में ऐसा कोई सामर्थ्य है, जिससे वह आन्तरवासना जनित ज्ञान को सन्मुख प्रत्यक्ष कर सकता है, यह मनोराज्य और स्वप्नस्थल में सर्वानुभवसिद्ध है। स्वतन्त्र अस्तित्ववाला पदार्थ, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, स्वरूपतः ध्यानगोचर नहीं हो सकता, यह कहा जा चुका है। यद्यपि ऐसी कई घटनायें हो चुकी हैं जिनमें दूरवर्त्ती भी पदार्थ किसी अज्ञात रीति से मानस प्रत्यक्ष के विषय हो गये हैं और जिनका आजतक–आविष्कृत भौतिक और मानस नियम के अनुसार उपपादन नहीं हो सका है, तथापि प्रकृतस्थल में जब हम देशकालातीत तत्त्व को ध्यान का विषय बनाने जाते हैं, उस समय उसके स्वरूप का विपरीत रूप से विषयीकृत होना अनिवार्य हो जाता है (द्रष्टा–आत्मा को दृश्यरूप से ध्यान करना उसका विपरीत दर्शन ही है तथा ध्यान के लिये किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने पर वह अवश्य ही देशकालयुक्त हो जायगा)। अतएव उक्त ध्यान–प्रसून साक्षात्कार, तत्त्व का यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता। इससे यह

[३४६]

निर्विकल्पसमाधि या चित्तनिरोध का वर्णन । योगशास्त्रोक्त ऋतम्भरा-प्रज्ञा का निरास ।

अब निर्विकल्पसमाधि विषय में कहते हैं । सविकल्पसमाधि के पश्चात् ऐसी एक अवस्था होती है जिसमें पूर्वावस्था-में-अनुभूत अस्पष्ट अहं की प्रतीति और स्पष्ट अनुभव्य भी शान्त होते हैं, उस काल में चित्त की ध्येयविषयक वृत्ति भी निरुद्ध होती है: इस निरोधावस्था निर्विकल्पसमाधि है । निरोध प्रत्ययात्मक नहीं होता अर्थात् निरुद्धावस्था में नीलपीतादि ज्ञानाकारवृत्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञानाकार प्रत्ययों के विच्छेद का संस्कार मात्र निरोध कहलाता है । तात्पर्य यह कि, चित्त के दो धर्म हैं, प्रत्यय और संस्कार । प्रत्यय चित्त की प्रबुद्ध विषयाकारवृत्ति को कहते हैं और संस्कार सुप्त विषयाकारवृत्ति को । निरोधकाल में प्रत्यय तो नहीं रहता, किन्तु उस समय चित्त में व्युत्थान-संस्कार (प्रत्यय को प्रबुद्ध करने की शक्ति) की स्थिति को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है: नहीं तो समाधि भङ्ग ही नहीं होगी । यदि कोई एक घन्टा पर्यन्त निरुद्धावस्था में स्थित रहता है, तो इससे यह सूचित होता है कि, वस्तुत: उसका व्युत्थानसंस्कार (प्रत्यय के सहित) उतने समय तक अभिभूत था । जिस अवस्था में निरोध-संस्कार के द्वारा व्युत्थानसंस्कार अभिभूत होकर प्रत्यय को प्रबुद्ध नहीं करता, वह संस्कारमात्र-अवशिष्ट अवस्था ही निरुद्धावस्था है । उस समय चित्त में किसी परिणाम लक्षित न होने पर भी, उसमें परिणाम अवश्य रहता है, क्योंकि निरोध-संस्कार को वर्द्धित होता हुआ तथा भंग भी होता हुआ देखा जाता है । (निरोध-परिणाम में निरोधक्षणयुक्त चित्त ही धर्मी है, जिसमें व्युत्थान या सम्प्रज्ञात संस्काररूप चित्त-धर्म का लय और निरोध-संस्काररूप चित्तधर्म का उदय होता रहता है) । इसमें वृत्ति का सम्पूर्णरूप से अभाव नहीं होता, किन्तु तारतम्ययुक्त संस्कार की परिणाम-धारा रहती

‌ो सिद्ध होता है कि, अप्रत्यक्ष स्वतन्त्र भौतिक विषय को मानस प्रत्यक्ष का षय कराने वाली योगशास्त्रोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा भी केवल मानसिक कल्पना का यक्ष मात्र है, उससे अज्ञात-तत्त्व का प्रत्यक्षरूप से ज्ञान नहीं हो सकता ।

है । वृत्ति का सर्वथा अभाव मानने पर निरोध-संस्कार की स्थिति भी नहीं रहेगी और निरोध-संस्कार के वर्द्धित हुए बिना उक्त समाधि-काल की वृद्धि में अपर कोई नियामक भी नहीं हो सकता । सविकल्प और निर्विकल्प समाधि में भेद यह है कि, प्रथम (साधन-समाधि) में चित्तवृत्ति अन्य विषयों का परित्याग करके ध्येय में ही एकाग्र होती है (सालम्बन), परन्तु द्वितीय (साध्य-समाधि) में उक्त विषयता भी नहीं रहती (निरालम्बन)। इस अवस्था में चित्त सविकल्प समाधि के समान एकाग्र या किञ्चिद्रूप से ज्ञात नहीं रहता, किन्तु निरुद्ध या अज्ञायमान रहता है ।

अब योग के द्वारा तथाकथित आत्मदर्शन करते समय अनुभवितव्य (आत्मा) का स्वरूप वर्णन करते हैं । भक्ति-साधन में जिसप्रकार भगवान से पृथक्ता का भाव रहता है, वैसा आत्मध्यान में नहीं रहता । अपने आत्मा को ध्यान का विषय बनाते समय पृथक्त्वबोध के अवश्यम्भावी होने पर भी, उस समय ध्येय के साथ ध्याता के एकता की धारणा रहती है । ध्यान की प्रथमावस्था अर्थात् प्रत्याहार में, चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों से निवृत्त करके आभ्यन्तरदेशीय ध्येय में एकाग्र करने का प्रयास करना पड़ता है । अतएव प्रत्याहार का विषय शुद्ध व्यक्तिगत अवश्य होता है, सुतरां उसे मन से भिन्न या मन से अतीत स्वतन्त्रतत्त्व रूप नहीं मान सकते । प्रत्याहार का जो कल्पित विषय है, उसमें धारणा या चित्त को एकाग्र करते समय मन चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता, कभी मन ध्येय में लग जाता है और कभी विक्षिप्त हो जाता है, पुनः लगने लगता है, इसीप्रकार होता रहता है । अतएव इस अवस्था में ध्येय वस्तु का स्वरूप स्पष्ट रूप से भान होने नहीं पाता । जिस विषय में प्रत्याहार होता है, उसी में जब धारणा गम्भीर और चिरस्थायी होती है तब ध्यान होने लगता है, जिससे धारणावस्था की अस्पष्टता विलुप्त होकर ध्येयवस्तु का कल्पित-स्वरूप स्फुट प्रतिभात होता रहता है । इस ध्यानावस्था में जिस विषय का साक्षात्कार होता है, वह एक मानस चित्रविशेष होता

है, जो कि भावना के अनुसार परिवर्त्तित होता रहता है। ध्यानावस्था में वस्तु का स्वरूप यथार्थरूप से गृहीत नहीं होता, किन्तु साधक की उस विषय में जैसी भावना होती है, वह उसी प्रकार से प्रतीत होता रहता है। ध्यान के विषय की रचना, चित्त अपनी भावना के अनुसार करता है, जिससे उस ध्येय विषय की परिच्छिन्नता और आपेक्षिकता ज्ञात होती है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है और जो निरपेक्ष है, वह स्वरूपतः आन्तरध्यान का विषय कभी नहीं हो सकता, अन्यथा उसके स्वरूप की विच्युति होगी। यद्यपि उस समय ध्येय-विषय कालयुक्त होता है और इसके नित्यत्वादि धर्म ध्यानगोचर नहीं होते, तथापि तत्त्व के विषय में नित्यत्वादि वासना से युक्त साधक को—पूर्वसंस्कार प्रबुद्ध होकर—ऐसा प्रतीत होता है कि, मैं एक ऐसे तत्त्व का साक्षात् अनुभव कर रहा हूं जो कालरहित और नित्य है। वास्तव में साधक को नित्यत्वादि धर्मों से युक्त रूप से जो तत्त्व का अनुभव होता है, वह उसकी उक्त अनुभूति के साथ पूर्वविचार या कल्पना के मिश्रण का फलरूप है। मान लीजिये कि आत्मा वास्तव में देहादि से सम्बद्ध है, परन्तु हम यदि ऐसी भावना करें कि आत्मा देहादि के सम्बन्ध से परे है, तो वही भावना दृढ होकर ध्यानावस्था में हम ऐसा साक्षात् करेंगे कि, आत्मा वस्तुतः देहादि से अतीत है। इसीप्रकार आत्मा यदि स्वरूपतः निरवयव और निर्विशेष हो, परन्तु हम यदि ऐसी भावना करें कि, आत्मा सावयव और सविशेष है; तो वही भावना दृढ होकर ध्यानावस्था में हमको ऐसा साक्षात्कार होगा कि, आत्मा सावयव और सधर्मक है। अतएव यही प्रतिपन्न होता है कि, ध्यानजनित साक्षात्कार का स्वरूप, वस्तु के स्वरूप के उपर निर्भर नहीं करता, किन्तु साधक की भावना के आधीन होता है।

अब सविकल्प-समाधि का अनुभव विचारणीय है। सविकल्प समाधि में चित्त की पांच अवस्थायें होती हैं, यथा-चञ्चलता का अभाव, एकाग्रता, सूक्ष्म चित्तवृत्ति, ध्येयवस्तु के स्वरूप में मग्नता और

सविकल्पसमाधिजनित साक्षात्कार ध्यानप्राप्त काल्पनिक विषय को गोचरीभूत करता है।

ध्येयवस्तु की अनुभूति। इससे अपर विषयों की वासना अभिभूत होकर ध्येय का साक्षात्कार होता है। भावनाविशेषरूप उक्त समाधि के द्वारा भाव्यस्वरूप का इतना स्पष्ट अनुभव होता है कि, साधक को ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसे संशय और विपर्यय से रहित तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो रहा है। इसमें जिस विषय का साक्षात्कार होता है, वह समाधिकाल-पर्यन्त रहता है और समाधि भङ्ग होने के साथ ही विषय भी विलुप्त हो जाता है। अतएव वह विषय इन्द्रियगम्य न होने के कारण, केवल भावना जनित आभ्यन्तर विषय मात्र है। उक्त समाहित अवस्था में अनुभूत विषय की उत्पत्ति, स्थिति और विलय उसी चित्तवृत्ति के आधीन होता है, जो प्रत्याहारावस्था से क्रम से समाधिपर्यन्त प्राप्त होता है। अतएव वह विषय वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध से सर्वथा रहित और चित्त की भावना के अनुसार निर्मित होता है, सुतरां चित्त के अस्तित्व से उस विषय का अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं होता। विभिन्न साधकों की पूर्वाभ्यस्त वासनाओं के अनुसार अनुभव भी विभिन्न होते हैं। एक ही साधक भी अपनी पूर्व भावना के परिवर्त्तित होने पर या किसी अन्य संस्कार के उद्बुद्ध होने पर, विभिन्नकाल में— उसी एक तत्त्व की धारणा को— विभिन्नरूप से साक्षात् करता है। सुतरां अवलम्बन-भेद से अनुभव का भी भेद होने पर इस (सविकल्प समाधि) अनुभव के द्वारा मूलतत्त्व का अवधारण नहीं हो सकता। किसी विषय का स्वरूप-निर्द्धारण तभी हो सकता है, जबकि वह उसके प्रत्यक्ष करने वाले सभी लोगों के प्रति समान रूप से प्रतिभात होता हो। परन्तु प्रकृत में समाधिकालीन अनुभव के विषय में सभी साधकों में मतभेद प्रसिद्ध है, अतएव इस अनुभव के द्वारा विषय के स्वरूप का निश्चय हो सकना सम्भव नहीं है। सारांश यह कि, आलम्बनभेद से अनुभव में भी भेद होने के कारण, सविकल्प समाधि का अनुभव व्यक्तिगत और अस्थिर है। पदार्थ की पूर्व और परकालीन अवस्था पर विचार न करते हुए केवल ध्यान के द्वारा उसके

स्वरूप का निर्णय करना निरापद नहीं हो सकता । ध्यान और सविकल्पसमाधि में विचारशक्ति शिथिल होती है, उस समय विचारशक्ति के एक-पदार्थ-निष्ठ होने के कारण, विविध कल्पों की उपस्थिति सम्भव नहीं है, जिससे उस समय सत्य और मिथ्या का विवेक भी नहीं हो सकता । अतएव सविकल्प समाधि के अनुभव को, तत्त्व-विषयक साक्षात्कार नहीं कह सकते ।

अब निर्विकल्प समाधि का विवेचन करते हैं । इस अवस्था में सविकल्प-समाधि के समान सूक्ष्म विषय-विषयी-भाव भी नहीं रहता. अतएव विषय के बिना विषयी तथा विषयी के बिना विषय-भाव की कल्पना नहीं हो सकने से निर्विकल्प समाधि में चित्त अनभिव्यक्त या अव्यक्तभाव को प्राप्त होता है । यद्यपि इस अवस्था में चित्त का सर्वथा नाश नहीं होता. तथापि चित्त का कोई आलम्बन (ध्येय) न होने से प्रत्यय-रहित होकर समस्त चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है । जब चित्त किसी विषय का चिन्तन नहीं करती और निश्चेष्ट होकर पड़ी रहती है, उस अवस्था को निरोधावस्था कहते हैं । उस समय उस निरोधावस्था का भी ज्ञान नहीं रहता, अतएव जैसे हम जाग्रत् काल में जाग्रदवस्था को जानते हैं वैसे उस निरोधावस्था को नहीं जान सकते । साधक जब उक्त समाधि अवस्था से व्युत्थित होता है, तब उसे स्मरण होता है कि एकाग्र अवस्था में मेरी चित्तवृत्ति क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती चली गई थी । इसके पश्चात् उसको यह प्रत्यक्षरूप से विदित होता है कि, अब मैं व्युत्थित हुआ हूं । सुतरां वह यह अनुमान करता है कि, मध्य (समाहित) काल में मुझको किसी विषय का ज्ञान नहीं था । इस प्रकार की निर्विकल्प अर्थात् विकल्परहित अवस्था में कोई भी स्पष्ट या निश्चयात्मक ज्ञान नहीं रह सकता । उस समय पूर्व चिन्ता तो पहले ही नष्ट हो जाती है और अपर चिन्तन का उदय ही नहीं होने पाता, अतएव वहां पर न तो चित्त की क्रिया हो जानी जा सकती है और न अपने और पराये का बोध ही हो सकता है ।

योगशास्त्रोक्त निर्विकल्पसमाधिकालीन द्रष्टृस्वरूपावस्थान का वर्णन साम्प्रदायिक है,
न कि वस्तुतत्त्वानुसारी ।

सुतरां निर्विकल्प समाधि के अनुभव द्वारा किसी वस्तु के स्वभाव या स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता । यदि उस समय कोई विषय अनुभूत हो, तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप विकल्पों के उत्पन्न होने पर निर्विकल्प अवस्था नहीं रहेगी । सुप्तव्यक्ति को यदि यह विदित हो जाय कि, मैं सुषुप्त हूं, तो उक्त सुप्तावस्था को भंग होता हुआ मानना पड़ेगा । अतएव उक्त निर्विकल्पावस्था में स्थित होकर तत्त्व का स्वरूपविषयक परिचय नहीं प्राप्त कर सकते ।*

*इससे यही विदित होता है कि, विभिन्नवादी लोग मूलतत्त्व के विषय में जो विभिन्न धारणाओं को प्राप्त हुए हैं, उसका कारण उपरोक्त निर्विकल्प समाधि के अनुभव का अशुद्ध अनुवाद भी है । निर्विकल्प समाधि से व्युत्थित होने वाले विभिन्न साधकलोग अपनी अपनी पूर्वलब्ध धारणा के अनुसार, उक्त समाधि काल के तथाकथित तत्त्वविषयक अनुभव का वर्णन विभिन्न प्रकार से करते हैं । वास्तव में उस निर्विकल्पावस्था में किसी विषय का अनुभव ही नहीं हो सकता, उसके स्वरूप पर विचार करके किसी मत का निर्द्धारण करना तो दूर रहा । निर्विकल्प समाधि में तत्त्व का स्वरूप अनुभवगम्य न होने के कारण ही—योगदर्शन में प्रतिपादित निरोध-समाधि सर्वसम्मत होने पर भी—'उस समय द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है' यह योगियों का मत, साक्षी को न मानने वाले अनेक वादियों को सम्मत नहीं होता तथा तत्त्व-स्वरूप के विषय में भी मतभेद होता है । अतएव योगियों का, "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" यह कथन अनुभवमूलक नहीं है, किन्तु साङ्ख्यवादियों की तत्त्वविषयक धारणा के अनुसार अनुकथन मात्र है । यहां पर यह विशेष रूप से प्रणिधान के योग्य है कि, यदि उक्त समाधिकाल में साधक के सन्मुख वास्तविक स्वतन्त्र सत्तावान तत्त्व आकर उपस्थित होता और उसीमें साधक का चित्त लय रहता, तो समाधि से व्युत्थित होने वाले विभिन्न सम्प्रदाय के साधकों में तत्त्वविषयक मतभेद नहीं होता । परन्तु मत-भेद जगत्प्रसिद्ध है । और भी, मत-भेद वहां पर होता है, जहां कि युक्ति-तर्क को उपस्थित होने का अवकाश मिलता है, अर्थात् विषय किञ्चिद्रूप से ज्ञात और सम्पूर्णरूप से अज्ञात रहता है । परन्तु निरोधावस्था में तथाकथित तत्त्व को सभी साधक लोग सम्पूर्ण रूप से अनुभव करते हैं, अतएव यदि वास्तव में ऐसा ही हो अर्थात् सभी साधकों को उक्त

चक्रध्यानजनित आत्मसाक्षात्कार का खण्डन ।

कितने ही योगियों का कथन है कि, वे अपने शरीर के अन्दर नाना चक्रों में आत्मा का दर्शन या अनुभव करते हैं। अब इस पर विचार करना है कि, उक्त अनुभव, ध्यान का फल है अथवा सत्य का अनुभव ? यदि आत्मा को ऐसा माना जाय कि, वह देह के भीतर किसी एक स्थानविशेष में स्थित है और इसी भावना से उस स्थल पर मन को एकाग्र किया जाय, तो सम्भव है कि उक्त धारणा का साक्षात् अनुभव हो जाय, परन्तु उसको आत्मा का यथार्थ अनुभव नहीं कह सकते। विभिन्न ध्याताओं के तथाकथित साक्षात्कार में मत भेद को देखकर भी हम इसी सिद्धान्त में पहुंचते हैं। और भी, आत्मा को अनुभविता माना जाता है, न कि अनुभव का विषय। अतएव देह के अन्दर किसी विशेष स्थान में जो अनुभूत होता है वह आत्मा नहीं, किन्तु एकतान-ध्यानगम्य कोई कल्पित विषय है। किञ्च, इस मत के अनुसार आत्मा नित्य अनुमेय या परोक्ष है, सुतरां उसका साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकता। आत्मा का परोक्षज्ञान तो

तत्त्व सम्यक्रूप से ज्ञात होता हो, तो मतभेद नहीं होना चाहिए था। निरोधावस्था में जहां पर कि युक्तितर्क के उपस्थित होने की सम्भावना ही नहीं है तथा सविकल्पबोध का भी उत्थान नहीं है, उस समय के प्रत्यक्ष अनुभव के विषय में मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु मतभेद पाया जाता है, अतएव यही स्वीकार करना पड़ेगा कि, निर्विकल्पावस्था में तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता, नहीं तो उक्त मत भेद की उत्पत्ति नहीं होगी। किञ्च, वहां पर यदि तत्त्व का परिचय प्राप्त होता हो, तो ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान की प्रतीति होने से, निर्विकल्पावस्था नहीं रहेगी। व्युत्थित व्यक्ति का समाधिविषयक ज्ञान यदि अनुमानरूप (न कि स्मृति) हो, तो निर्विकल्प में केवल ज्ञानाभाव का ही अनुमान (व्युत्थान में) हो सकेगा और 'समाधिप्रज्ञा' का कथन निरर्थक हो जायगा। यदि वह ज्ञान स्मृतिरूप हो, तो उसको स्मरणरूप सिद्ध करने के लिए उक्त निर्विकल्पावस्था में भी सूक्ष्म ज्ञान को स्वीकार करना होगा। परन्तु वह ज्ञान निश्चयात्मक नहीं हो सकता, नहीं तो उस अवस्था से विच्युति होगी। सुतरां योगियों का उक्त द्रष्टा के स्वरूपावस्थान का कथन, अनुभवरहित और साम्प्रदायिक कल्पना मात्र है।

सभी अवस्था में सभी साधकों को है, अतएव परोक्ष-ज्ञान आत्म-दर्शन का साधन नहीं हो सकता। इस मत के अनुसार आत्मा के नित्य परोक्ष स्वभाववान होनेसे भी, योगज धर्मप्रभाव से उसका साक्षात्कार (अपरोक्ष) सम्भव नहीं है। कारण, योगज धर्म की जो अतिशय–हेतुता होती है वह पदार्थ के सामर्थ्यानुसार ही होती है अर्थात् योग-क्रिया के द्वारा इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को अतिशय मात्रा में बढाया जा सकता है, किन्तु उसमें मर्यादा का अतिक्रमण करके किसी नवीन शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकते (यथा नेत्र की दर्शन-शक्ति बढ सकती है, किन्तु उसमें श्रवणशक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती)। फलतः नित्य-परोक्ष आत्मा को अपरोक्ष नहीं किया जा सकता। ध्यान के निरन्तर अभ्यास से ध्येय वस्तु में साधक की धारणा अवश्य दृढ हो सकती है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि, वह (ध्यान) किसी सर्वथा नवीन पदार्थ को भी उत्पन्न कर सकता है अथवा नित्य-परोक्ष वस्तु को भी अपरोक्षरूप में परिणत कर सकता है। किसी अनुमित पदार्थ के कल्पित स्वरूप का ध्यान, उस पदार्थ के ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता और न ऐसे ध्यान से उसके यथार्थ स्वरूप का ही निर्णय हो सकता है। अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, योग-साधन से आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं है।

ब्रह्मज्ञान

ब्रह्म शब्द से यहां पर अखण्ड अद्वैत निर्विशेष स्वप्रकाश व्यापक चेतनतत्त्व और ज्ञान शब्द से अपरोक्षबोध या साक्षात्कार जानना चाहिए। अद्वैत–वेदान्त मत के अनुसार दृश्यमान जगत्, पूर्ण ब्रह्म में–रज्जु में सर्प के समान–अध्यस्त, अवास्तव या भ्रान्ति रूप है। भ्रान्ति स्थल में जिस (रज्जु के) इदम् अंश में अध्यास (सर्प) की प्रतीति होती है, केवल उसी अंश के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति नहीं होती; परन्तु जो अंश (रज्जुत्व) उस समय अज्ञात रहता है उसी के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होती है।

ब्रह्माकारवृत्ति और उसका प्रयोजन । महावाक्य से निधर्मक ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता ।

जिस प्रकार रज्जु के विशेषांश (रज्जुत्वांश) का ज्ञान होने पर सामान्यांश इदमंश में आरोपित सर्प-भ्रान्ति निवृत्ति होता है, उसी प्रकार ब्रह्म के विशेषस्वरूप (अखण्डता परिपूर्णता) का साक्षात्कार होने पर उसके सामान्यांश (सत् चित) में आरोपित जगद्भ्रान्ति विलीन होती है । घटादि विषयक (सविकल्प) अज्ञान की निवृत्ति के लिए जैसे घटादि को विषय करने वाली सविकल्पक मनोवृत्ति आवश्यक होती है, वैसे ही अखण्ड और परिपूर्ण चेतन विषयक अज्ञान (मूलाज्ञान) की निवृत्ति के लिए अखण्ड तत्त्व को विषय करने वाली (निर्विकल्प) मनोवृत्ति आवश्यक है । इस वृत्ति का विषय, विशेष्य-विशेषण-भाव प्राप्त न होकर, अखण्डरूप से भासमान होता है । वेदान्त शास्त्र के श्रवणादि से अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे मूलाज्ञान और उसका कार्य संसार निवृत्त होते हैं । (साक्षिज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं, क्योंकि वह उसका साधक है । विरोधी होने पर विरोध के कारण अज्ञान का अस्तित्व उस क्षण में विरुद्ध होता तथा अज्ञानरूप विषय के अविद्यमानता होने के कारण उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होना चाहिये था । अतएव यह मानना होगा कि, अज्ञान जिसको विषय करता उस शुद्ध ब्रह्म को विषय करनेवाला प्रमाण-जनित ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है)।

उक्त मत में उपरोक्त अखण्डाकार वृत्ति के उत्पादक 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्य हैं, जिनके श्रवण से अखण्ड ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है । अब यह प्रदर्शन करते हैं कि, तत्त्वमस्यादि शब्द के लक्ष्यार्थ से अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार मानने पर नाना प्रकार की विरुद्ध और क्लिष्ट कल्पनायें करनी पड़ती हैं :—यथा (१) लक्षणा से जो पदार्थ बोधित होता है, उसमें कोई न कोई अवच्छेदक धर्म अवश्य रहता है । जैसे "गङ्गायां घोषः" "सोऽयं देवदत्त." आदि पदों से तीर और देवदत्त का पिण्ड लक्षित होते हैं और उनमें तीरत्व मनुष्यत्व आदि अवच्छेदक धर्म रहते हैं; ऐसा ही "प्रकृष्टप्रकाशमय चन्द्र" स्थल में लक्ष्यतावच्छेदक चन्द्रत्व का चन्द्र में संसर्ग भासित होता है । परन्तु ब्रह्मरूप लक्ष्यार्थ में

अवच्छेदक धर्म कोई नहीं है, क्योंकि वह निधर्मक है । अतएव यहां पर ऐसी लक्षणा को ग्रहण करना पड़ता है, जो कि लक्ष्यता के अवच्छेदक को अवगाहन नहीं करता । यह अक्लिष्ट (अनिर्णीत) कल्पना है । (२) शब्द का स्वभाव ही यही है कि, वह सविकल्प पदार्थ को बोधित करता है, परन्तु शब्दजनित ब्रह्मानुभूति मानने से ऐसी कल्पना करनी होगी कि लक्षणाग्रह निर्विकल्पक की (प्रकार और विशेष्यता से रहित पदार्थ की) उपस्थिति का कारण है । (सुषुप्त व्यक्ति को जो शब्दार्थ के संसर्ग का बोध नहीं होता उसमें उस समय 'अहं' भाव की अस्पष्टता ही कारण है, परन्तु जाग्रत्कालीन मोहनिद्रा में स्फुट अहंबोध, देशकालबोध, भेदबोध विद्यमान रहते हैं, अतएव इस समय संसर्ग का ज्ञान होना अनिवार्य है)। (३) शब्द की ज्ञापनशक्ति विशिष्टार्थ (विशेषणयुक्त विषय में ही होती है, यह सर्वानुभूत है । परन्तु तादृश निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति को भी यदि शब्दजनित माना जाय, तो ऐसी असम्भव कल्पना करनी पड़ती है कि, विशिष्टार्थ-बोधक शब्द का उच्चारण निर्विशेषार्थ का भी उपस्थापक हो सकता है अर्थात् शक्तिग्रह जो कि विशिष्टार्थ को विषय-करनेवाला है वह शक्यसम्बन्धी का उपस्थापक होता है जिसमें (केवल निर्विशेष ब्रह्म में) किसी प्रकार वैशिष्ट्य नहीं है। (४) शब्दजनित ब्रह्म-साक्षात्कार को मानने से यह भी कल्पना करनी पड़ती है कि, यद्यपि शब्द से विशिष्ट की उपस्थिति होती है तथापि वह विशिष्ट में शाब्दबोध का हेतु नहीं है, किन्तु विशेष्यमात्र में शाब्दबोध का हेतु है । अथवा (५) पद से पदार्थोपस्थिति के बिना ही शाब्दहेतुत्व मानना पड़ता अर्थात् वह मानना होगा कि, वस्तु का ज्ञान सम्भव है यद्यपि यह शब्द के द्वारा बोधित नहीं है; परन्तु यह शब्दजनित ज्ञान के नियमविरुद्ध है ।

विद्वानों ने इस विषय का नानाप्रकार से समाधान करने का प्रयत्न किया है—यथा (क) 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थलों में जैसे शब्द से अपरोक्षबोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, वैसे ही 'तत्त्वमस्यादि' श्रुतिवाक्य से भी ब्रह्म का अपरोक्ष बोध होता है। (ख) प्रकृतस्थल में ब्रह्म रूप प्रमेय प्रत्यक्ष के योग्य है, अतएव तद्विषयक प्रमा का भी साक्षात्कार रूप होना ही उचित है ।

शब्दज्ञान नित्य परोक्षबोधजनक होने से मूलाज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता।

(ग) नैयायिक मत में जैसे प्रत्यक्ष के पूर्व निर्विकल्पज्ञान होता है, वैसे ही उक्त वाक्य से निर्विकल्पज्ञान उत्पन्न होकर मूलाज्ञान को निवृत्त करता है। (घ) वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही शब्दबोध भी होता है, सुतरां तत्त्वमस्यादि गुरुवचन के तात्पर्य रूप से शुद्ध ब्रह्म का ही बोध होगा, न कि विशिष्ट का।

अब उक्त समाधानों की क्रम से समालोचना करते हैं। (क) प्रथम पक्ष को समीचीन नहीं कह सकते। कारण, 'दशमस्त्वमसि' शब्द से अपरोक्ष बोध ही उत्पन्न होता है, यह सर्वसम्मत नहीं है। अतएव इसे दृष्टान्त रूप से ग्रहण भी नहीं कर सकते (दृष्टान्त, वादी और प्रतिवादी दोनों को सम्मत होना चाहिए)। कितनों के (वेदान्ताचार्य भामतीकार, वेदान्तकल्पतरु और परिमलकार आदि के) मत में केवल वाक्य के ही द्वारा साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु चक्षुरादि के द्वारा ही होता है। वहां पर भी चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा ही अपने देह का साक्षात्कार करके 'दशम: कः' इत्याकारक जिज्ञासा की निवृत्ति होती है, परन्तु वहां पर वाक्य और इन्द्रिय इन दोनों से एक साक्षात्कार नहीं होता। "शब्दं विनापि केवलेन्द्रियात् साक्षात्कारोदयेन व्यभिचाराज्जातिसंकर-प्रसङ्गाच्चेति भावः।" उक्त आचार्यों के मत में अन्धपुरुष का शब्दजनित ज्ञान केवल परोक्ष बोधजनक हो सकता है, सुतरां शब्द-अपरोक्षवाद सर्वसम्मत नहीं है। 'दशमोऽहमस्मि' इसप्रकार के अपरोक्ष ज्ञान का अन्तःकरण में हो सकना भी सम्भव नहीं है। कारण, उक्त ज्ञान यदि शरीरविषयक होगा, तो स्पर्शेन्द्रिय या चक्षुरिन्द्रिय अथवा ज्ञानान्तर के उपनय के द्वारा अन्तःकरण में परोक्षरूप से होगा। अतएव यही सिद्ध होता है कि, शब्दज्ञान नित्य परोक्षबोधजनक होता है। ऐसे परोक्षज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान का उच्छेद सम्भव नहीं है, यह वादी को भी सम्मत है। परोक्ष ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष अध्यास (अहं कर्त्ता भोक्ता इत्यादि) का उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा श्वेतत्व के अनुमान से भी शङ्ख में पीतत्व-भ्रम की निवृत्ति का प्रसङ्ग

होगा । यह सत्य है कि, रज्जु में सर्पादि का भ्रम अपरोक्ष होने पर भी आप्तवचनादि जनित परोक्षज्ञान के द्वारा निवृत्त होता है, परन्तु वे निरुपाधिक हैं और कर्तृत्वादि सोपाधिक है । दिङ्मोह, अलातचक्र, मरुमरीचिकादि स्थलों में अपरोक्ष रूप से प्रतीत होने वाले अध्यास की निवृत्ति, अपरोक्षरूप दिगादि तत्त्वों के साक्षात्कार से ही होती हुई देखी जाती है । अतएव, साक्षात्कार-विषयक भ्रान्ति को भी, विरोधी साक्षात्कारात्मक प्रत्यय के द्वारा निवृत्त होता हुआ मानना उचित है । फलतः अपरोक्ष भ्रान्ति का निवर्त्तक शब्दज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य ही परोक्षबोध-जनकरूप से सिद्ध जो शब्द-ज्ञान है, वह अपने स्वभाव का परित्याग कभी नहीं करेगा । एक जातीय सामग्री से प्रसूत कार्य में विचित्रता नहीं हो सकती, अन्यथा एक ही प्रकार की सामग्री से सर्वजातीय कार्यों की उत्पत्ति हो सकेगी और एक ही कार्य में विरुद्ध जातियों का योग हो सकेगा । अतएव शब्दज्ञान से अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि वह परोक्षविवेकरूप होने के कारण अपरोक्ष तादात्म्य भ्रम का विरोधी नहीं है । लौकिक स्थल में कहीं पर शब्दजनित प्रत्यक्षज्ञान की सम्भावना यदि हो भी सके, तो भी प्रकृतस्थल में यह सम्भव नहीं है । कारण, शब्द नियम पूर्वक सविकल्प ज्ञान का उपस्थापक होता है, किन्तु ब्रह्म निर्विकल्प है: भेद की उपस्थिति या भेद का बोध उक्त शब्द जनित ज्ञान में प्रतिबन्धक या विरोधी नहीं है, परन्तु प्रकृतस्थल में ऐसा होने पर अखण्डतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

(ख) उपर्युक्त द्वितीय विकल्प भी समीचीन नहीं है । प्रमेय के अपरोक्ष-योग्य होने के कारण ही यदि प्रमा भी साक्षात्कार रूप होगा, तो देह और आत्मा में भेद को विषय करने वाला अनुमान भी साक्षात्कार रूप (प्रत्यक्षरूप) हो जायगा अर्थात् अनुमान का अनुमानत्व ही नहीं रहेगा । जहांपर प्रमाता का प्रमेय के साथ अभेद को विषय किया जाता है, वहां पर भी यदि अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता हो, तो "ईश्वर हम से अभिन्न है क्योंकि वह हमारे

ही समान चेतनावान है" इस प्रकार के अनुमान से भी अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु ऐसा किसी को नहीं होता। इसी प्रकार "तुम सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट हो" इत्याकारक वाक्य भी अपरोक्षज्ञान जनक होता, क्योंकि इसमें प्रमेय अपरोक्ष के योग्य है और प्रमाता का उसके साथ अभेद भी विषयीकृत होता है; किन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। अतएव उक्त कल्पना संगत नहीं है। और भी, आत्म-विषयक हमको जो कुछ प्रत्यक्ष होता है, वह सब ब्रह्म के लक्षणों से विपरीतरूप ही होता है। ब्रह्म अनन्त है, किन्तु आत्मा हमको परिच्छिन्नरूप से ज्ञात होता है। ब्रह्म असंग और अकर्त्ता है, किन्तु आत्मा हमको शरीर में संसक्त और कर्त्ता-भोक्तादि रूप से प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्म अखण्ड और अद्वितीय है, किन्तु हमको आत्मा का परिचय 'इदम्' से व्यावृत्त रूप से मिलता है। फलतः यदि प्रमा अपरोक्षरूप हो, तो भी उसके (अपरोक्ष के) विपर्ययरूप होने के कारण, ब्रह्म के अखण्डाकारता की सिद्धि नहीं होगी और तज्जनक शाब्दज्ञान भी निष्फल हो जायगा।

(ग) तृतीय विकल्प भी निर्दोष नहीं है। कारण, अन्तःकरण का निर्विकल्पक परिणाम होता है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। चक्षुरिन्द्रिय के साथ विषय का सन्निकर्ष होने पर तत्काल ही सविकल्पज्ञान (विशेषणविशिष्टज्ञान) के उत्पन्न होने में हमलोग कुछ विलम्ब होने का अनुभव नहीं करते; जिससे यह कहा जा सके कि, उसके मध्य में निर्विकल्पज्ञान के आ जाने से किञ्चित् विलम्ब हो जाय करता है। नैयायिकलोग विषयेन्द्रियसंयोग के पश्चात् प्रथम निर्विकल्पज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं, पश्चात् सविकल्पज्ञान की अर्थात् विषयदर्शन के प्रथम क्षण में—विशेष्य विशेषण भाव से रहित तथा उन दोनों के सम्बन्धानुसन्धान से रहित—निर्विकल्प ज्ञान होता है तत्पश्चात् सविकल्पज्ञान। किन्तु वे लोग उक्त निर्विकल्प ज्ञान को अज्ञान का निवर्त्तक नहीं मानते। वेद को प्रमाणभूत मानते हुए भी वे लोग श्रुतिवाक्य जनित शाब्दबोध को निर्विकल्प नहीं मानते, अतएव शब्द से निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न

होने का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह अभी विवादग्रस्त है । (न्यायमत के अनुसार निर्विकल्प में भेदसत्ता है परन्तु भेदज्ञान नहीं है, यद्यपि रामानुज मत में निर्विकल्प में भी भेद का भान माना जाता है)। व्यवहारस्थल में अकस्मात् उत्कट सुखदुःख या भय के होने से निर्विकल्प ज्ञान होता है, ऐसा मानने पर भी—वह सविकल्पज्ञान का आश्रयभूत निर्विकल्प ज्ञान— किसी (अज्ञान) का विरोधी या निवर्तक रूप सिद्ध नहीं होता । निर्विकल्पज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक होता है, ऐसा अनुमान करने के लिए कोई हेतु नहीं प्राप्त होता और दृष्टान्त के न होने से कोई व्याप्ति भी नहीं मिल सकती । किञ्च, निश्चयात्मक प्रत्यय मात्र विकल्परूप होता है, अतएव विकल्प के बिना निर्विकल्प (निश्चयरहित) वृत्ति कहीं प्रमाणरूप भी नहीं हो सकती । वेदान्तीलोग सुषुप्ति में निर्विकल्प ज्ञान को मानते हैं, परन्तु उस समय उसे अज्ञाननिवर्त्तक नहीं प्रत्युत अज्ञानगोचर मानते हैं । अतएव शाब्द-बोध यदि निर्विकल्परूप हो, तो भी उससे अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी । औरभी, निर्विकल्प ज्ञान के भ्रम और प्रमा से विलक्षणरूप मान्य होने के कारण, प्रमा के सदृश वह भी अज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता । अप्रमा-विलक्षण होने के कारण यदि वह अज्ञान को निवृत्त करेगा, तो वह प्रमाविलक्षण होने के कारण अज्ञान का अनिवर्त्तक भी क्यों नहीं होगा ? सप्रकारक ज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक होता है, ऐसा व्यभिचाररहित अनुभव होने से, निष्प्रकारक ज्ञान को ब्रह्माश्रित अज्ञान के निवर्त्तक रूप से कल्पना नहीं कर सकते । और भी, निर्विकल्पज्ञान को सविकल्पज्ञान का पूर्वभावी मानने पर यह भी मानना पडेगा कि, उक्त निर्विकल्पज्ञान व्यावहारिक मिथ्या विषय को ही ग्रहण करता है । अतएव इसके आधार पर यह अनुमान करना पडेगा कि, ब्रह्म-विषयक निर्विकल्पज्ञान भी मिथ्या विषय (मिथ्या ब्रह्म) को ही ग्रहण करता है। उक्त ब्रह्मविषयक निर्विकल्पज्ञान जगद्विषयक ज्ञान का विरोधी भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह जगत् के अभाव को विषय नहीं करता (यह नियम है कि,

अभावज्ञान प्रतियोगी का सापेक्ष होने के कारण, नित्य सविकल्पक होता है ।)

(घ) चतुर्थ समाधान तो इस प्रसंग में किञ्चित् मात्र भी उपयोगी नहीं हो सकता । वक्ता के तात्पर्यानुसार ही यदि श्रोता को शाब्दबोध उत्पन्न होता हो, तो संसार में भाषा-भेद ही नहीं रहेगा अथवा प्रत्येक भाषाभाषी वक्ता के अभिप्राय को—उस भाषा के न जाननेवाले व्यक्ति भी समझने लग जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतएव यही मानना पड़ता है कि वक्ता के वचन को सुनकर श्रोता को उन शब्दों का अर्थ—अपने पूर्वज्ञात सांकेतिक शब्दार्थ के अनुसार स्मरण होता है, पश्चात् वह उसके तात्पर्य का निश्चय करता है । तथाहि, वक्ता के किसी सांकेतिक शब्द का अर्थ यदि श्रोता को पूर्व ज्ञात न हो, तो वह उसको नहीं समझ सकता और उन शब्दों के तात्पर्य को भी वह उसी प्रकार से ग्रहण कर सकता है, जैसा कि उसने उस विषय का अध्ययन वा मनन किया है । यही कारण है कि, ब्रह्म पद से द्वैतवेदान्तियों को जगत् का केवल निमित्त कारण ईश्वर का बोध होता है, द्वैताद्वैतवेदान्तियों को उस पद से जगत् से भेदाभेदयुक्त ब्रह्म का बोध होता है: अचिन्त्य भेदाभेद वादी को अचिन्त्य भेदाभेदयुक्त ब्रह्म का बोध होता है, शुद्धाद्वैतवादियों को भी इसी प्रकार का अविकृत अथच परिणामी ब्रह्म अवज्ञात होता है और विशिष्टाद्वैत वादी लोगों को उक्त पद से जगद्रूपविशेषण से युक्त (विशेष्य से सर्वथा भिन्न अथच अपृथक्-सम्बन्ध से युक्त) ब्रह्म विदित होता है । उपरोक्त सभी वादी लोग श्रुति को प्रमाणभूत मानते हैं, परन्तु श्रुति-वर्णित 'ब्रह्म' शब्द से उनको निर्विशेष ब्रह्म का बोध नहीं होता, प्रत्युत अपने अपने संस्कार के अनुसार ही—उक्त प्रत्येक वादी को—श्रुत्यर्थ का तात्पर्य विदित होता है ।*

*तत्त्वमसि—'तत् त्वम् असि' इस श्रुतिवाक्य की निम्नलिखित भिन्नभिन्न व्याख्यायें प्रसिद्ध हैं । सभी व्याख्याकारों ने उक्त वाक्य की व्याख्या करते समय श्रुतिगत अन्य वाक्यों के तात्पर्य के साथ सामञ्जस्य रखने का भी समानरूप

से प्रयत्न किया है, तथापि व्याख्या-भेद अति प्रसिद्ध है । (क) भक्तिमार्गावलम्बी कतिपय सम्प्रदायों का यह कहना है कि, इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् पद में चतुर्थ विभक्ति प्रतीत होती है । जिसके अनुसार यह अर्थ होगा कि 'तस्मै त्वम् असि (उसी के लिये तुम हो) अर्थात् उस परमात्मा की सेवा के लिये ही तुम्हारी रचना हुई है । (ख) शुद्धाद्वैतमतवादी इसी वाक्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि, तत् पद में जो प्रथमा विभक्ति है वह पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है । अतएव इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि, 'तस्मात् त्वम् असि' अर्थात् उस परमात्मा से तुम उत्पन्न हुए हो (अर्थात् जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक अभेद नहीं है) । (ग) द्वैतवादी माध्व-सम्प्रदाय की व्याख्या यह है कि, तत्पद का प्रयोग षष्ठी के अर्थ में हुआ है । अतएव इसका यह अर्थ होगा कि, 'तस्य त्वम् असि' उसके तुम हो अर्थात् वह स्वामी है और तुम उसके भृत्य हो । (घ) कतिपय अन्य द्वैतवादी लोग इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'तस्मिन् त्वम् असि' (तत् पद की प्रथमा-विभक्ति सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त हुई है) अर्थात् उस व्यापक परमात्मा में तुम निवास करते हो । (ङ) विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के मत में उक्त महावाक्यस्थ प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किसी अन्य विभक्ति के अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इससे जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक अभेद नहीं बोधित होता । महावाक्य का तात्पर्य, जीव और ब्रह्म में देह और देहीरूप अभेदभाव के बोध से है । यथा 'तुम ब्राह्मण हो' या 'तुम मनुष्य हो', इत्यादि स्थलों में 'तुम' पद के अभिमानी जीव को ब्राह्मण शरीररूप विशेषण से युक्त समझा जाता है, उसी प्रकार महावाक्य के 'त्वम्' पद का अभिमानी जीव शरीर है और उस जीवरूप शरीर का आत्मा 'तत्' अर्थात् परब्रह्म परमात्मा है । (च) नैयायिक लोग इसकी व्याख्या करते समय यह कहते हैं कि, तत्पद की प्रथमा मुख्यार्थ में ही प्रयुक्त हुई है, किन्तु उसमें अकार का लोप हुआ है (आत्मा + अतत्त्वमसि = आत्मातत्त्वमसि) अर्थात् तुम वह (परमात्मा) नहीं हो । (छ) अद्वैतवेदान्तियों के मत में, 'तत्त्वमसि' में जो तत्पद है, उससे शब्दतः नित्य शुद्धबुद्ध और मुक्त स्वभाव मायोपाधि-रहित ब्रह्म लक्षित होता है और 'त्वं' इस शब्द से देहोपाधि-रहित प्रत्यक्सिद्ध जीवात्मा लक्षित होता है । तत् और त्वम् इन दोनों पदों में एकही प्रथमा विभक्ति है, अतएव इस वाक्य के द्वारा उन दोनों का अभेद प्रकाशित होता है । सुतरां जीवात्मा भी परमात्मा के ही सदृश सदैव मुक्त और सदैव केवलरूप है ।

वादी-सम्मत सिद्धान्त के अनुसार भी शब्दजनित ज्ञान से जगद्भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती ।

सुतरां यही मानना पड़ेगा कि, जब अद्वैत-संस्कारवान श्रोता तत्त्वमस्यादि वाक्यों का श्रवण या स्मरण करता है, तब उसको स्वसंस्कारानुसार जीवत्व, जगत्त्व और ईश्वरत्व का मिथ्यात्व निश्चयपूर्वक शुद्ध ब्रह्म का बोध लक्षणा से होता है । परन्तु, निधर्मक और निर्विकल्पक असंग तत्त्व का स्वरूपतः बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता, यह पूर्व ही प्रदर्शित कर चुके हैं ।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार सभी समाधानों के असंगत और अकिञ्चित्कर सिद्ध होने पर यही कहना होगा कि, तत्त्वमस्यादि शब्दजनित ज्ञान से जगत् का बाध नहीं हो सकता । स्वयं वादी-सम्मत सिद्धान्त के अनुसार भी शाब्द ज्ञान से जगद्भ्रम का निवृत्त होना असम्भव है । इसमें निम्नलिखित कतिपय हेतु हैं, जिनका उपयुक्त समाधान वादी के पास नहीं हैं । (क) वादी के मतानुसार शब्द अज्ञानजनित है और जगत भी अज्ञान से ही अध्यस्त है, अतएव अज्ञान, अज्ञान का निवर्त्तक नहीं हो सकता । (ख) अज्ञानोत्पन्न शब्द का अर्थ भी अज्ञानरूप ही होगा, अतएव अज्ञानाकारवृत्ति से अज्ञानतत्कार्य की निवृत्ति नहीं हो सकती । (ग) उक्त शाब्दज्ञान उस प्रमाता के आश्रित है जोकि स्वयं अज्ञान-जनित है, अतएव इस कारण से भी अज्ञाननिवृत्ति की आशा नहीं हो सकती । (घ) शाब्दज्ञान के स्वकल्पित मनोवृत्ति मात्र होने से भी उसकी यथार्थता निःसन्दिग्ध नहीं है । (ङ) उक्त ज्ञान श्रवणजनित है, अतएव कल्पित यथार्थदर्शी (गुरु) का सापेक्ष है: फलतः वह परोक्षरूप है, अपरोक्ष नहीं । (च) उक्त ज्ञानाकारवृत्ति शब्दजनित है, जो शब्दार्थरूप भ्रान्ति के सहित उत्पन्न हुई है, अतएव भ्रान्तियुक्तवृत्ति जगद्भ्रान्ति को निवृत्त करने में समर्थ नहीं हो सकती; जैसे शब्दजनित ज्ञान से स्वप्न-बन्धन (भ्रान्ति) निवृत्त हो जाता है, परन्तु, जाग्रत्कालीन भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती ।

अब विचारात्मक श्रवण की आलोचना करते हैं । इस विषय में वेदान्तियों का यह कथन है कि, शब्द के श्रवण से प्रथम परोक्ष ज्ञान होता है, तत्पश्चात् प्रतिबन्ध के क्षीण होने पर

अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार उक्त शब्दजनित परोक्षज्ञान ही ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्षज्ञान का जनक होता है । परन्तु वेदान्तियों का उपर्युक्त कथन भी विचार करने पर असंगत ही सिद्ध होता है । शब्द नियतरूप से परोक्षज्ञान का ही जनक होता है, यह इसका सिद्ध स्वभाव है । अतएव सहस्रशः सहकारी कारणों के प्राप्त होने पर भी उसके स्वभाव का अपाकरण या अन्यथा-करण (स्वभाव-वैपरीत्य) नहीं हो सकता। जो धर्म आगन्तुक है वह उसका स्वभाव कभी नहीं हो सकता, नहीं तो स्वभाव-भङ्ग दोष होगा । जो प्रमाण होता है वह सापेक्ष नहीं होता । अतएव प्रकृत में शब्द की अपरोक्ष-जनकता को परोक्षज्ञान का सापेक्ष मानने पर, वह अप्रामाण्य हो जायगा । अन्य स्थलों में जो परोक्षरूप से ज्ञात पदार्थ का कालान्तर में अपरोक्ष ज्ञान होता है, वह उस पदार्थ के अपरोक्षयोग्य (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने के योग्य) होने से होता है और उस अपरोक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रिय-सन्निकर्ष ही कारण होता है, परोक्षज्ञान नहीं। परन्तु प्रकृत स्थल में ब्रह्म-आत्मा रूपादि-रहित होने के कारण, इन्द्रियग्राह्य नहीं है । अतएव यहां शब्द को प्रथम परोक्षज्ञान का कारण, और पश्चात् अपरोक्षज्ञान का कारण कहना उचित नहीं है । (स्वरविज्ञान के अभ्यासकाल में अध्यापक के द्वारा उच्चारित स्वर उसी समय शिष्य के द्वारा अपरोक्षरूप से जाना जाता है, क्योंकि शब्द का साक्षात्कार कर्ण से होता है और स्वर शब्द का धर्म है । अतएव उसका बारम्बार जो अभ्यास है, वह केवल उस स्वर के स्थिरत्व में कारण होता है । फलतः स्वरदृष्टान्त से यह नहीं सिद्ध होता कि, प्रथम परोक्षरूप से ज्ञात पदार्थ का पुनः पुनः अभ्यास करने पर वह अपरोक्षरूप से ज्ञात होने लगता है) ।

उपरोक्त विचार से यह प्रतिपादित हुआ कि, श्रवणजनित ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता । अब यह प्रदर्शन करते हैं कि, वेदान्तार्थ के मनन द्वारा भी ब्रह्मानुभूति नहीं हो सकती । मनन केवल युक्तितर्कमूलक विचारमात्र है, अतएव वह साक्षात् बोध

का जनक नहीं हो सकता। मनन से जो तत्त्व ज्ञात होता है, वह अन्वय-व्यतिरेकादि पद्धति से (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय तथा जाग्रदादि अवस्था और उनके देहादिकों का व्यतिरेक) आत्मा और अनात्मा का विवेक रूप होने के कारण, भेदज्ञान को विषय करता है, अतएव ऐसा भेदयुक्त ज्ञान तत्त्व-विषयक नहीं हो सकता, जो कि भेदरहित है। यद्यपि मननजन्य ज्ञान का पर्यवसान—अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा देहादि अनात्मवस्तु के परिहार पूर्वक—आत्मा में ही होता है, तथापि अनात्मा से भेदपूर्वक समर्पित होने के कारण तथा भेदज्ञान में अखण्डैकरसप्रत्यगात्मस्वभावत्व का अभाव होने के कारण, तद्विषयक ज्ञान—संशयविपर्ययात्मक ज्ञान के समान—आत्मा के असाधारण स्वभाव का अवगाहन नहीं करता। अतएव मनन के द्वारा यौक्तिक रीति से जगत् बाधित होने पर भी, उक्त जगद्भ्रान्ति का समूलउच्छेदक जो अपरोक्षज्ञान कहा जाता है, वह नहीं हो सकता। जिस समय अज्ञान और तन्मूलक भेद को मिथ्या रूप से अनुभव किया जाता है, उस समय अज्ञान के अस्तित्व को भी स्वीकार करना होगा, जिससे (अज्ञान संसर्ग से) वह तत्त्व का ज्ञान भी अज्ञानमूलक हो जायगा। और भी, उस समय भेद और उसकी अवधि तथा उस भेद के प्रातिभासिक होने का निश्चय होना आवश्यक है, जिससे बारम्बार भेद ही विषयीकृत होगा, फलतः भेदमात्र का निषेध कैसे हो सकेगा? अतएव, 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा मननात्मक तत्त्वज्ञान भ्रमरूप है, क्योंकि वह केवल द्वैतात्मक प्रपञ्च को विषय करता है।

अब ध्यान या निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार-विषयक सिद्धान्त पर विचार करते हैं। निदिध्यासन को तत्त्व-साक्षात्कारोत्पादक मानने वाले वादीलोगों का कहना है कि, जैसे बाह्यविषयों के यथार्थ ज्ञान (प्रत्यक्ष प्रमाण) में चक्षुरादि करण होते हैं, वैसे ही आत्मविषयक अपरोक्षानुभव में निदिध्यासनरूप प्रमाण ही स्वयं करण होता है। अब यह प्रदर्शित करते हैं कि, उक्त सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है। कारण, मन स्वतः प्रमाण नहीं है, अतएव

मन प्रमाणरूप नहीं होने से निदिध्यासनरूप मानस ज्ञान द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

मानसज्ञान को प्रामाणिक नहीं कह सकते। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति मनःसंयुक्त इन्द्रियरूप करण (प्रमाण) से होती है, अतएव प्रकाश के समान मन भी प्रमाणान्तर का सहकारी कारण है, स्वतः करण (प्रमाण) नहीं। आभ्यन्तर पदार्थों में आत्मा स्वयंप्रकाश है और सुखदुःखादि धर्म (जिनका अज्ञातत्व अप्रसिद्ध है) साक्षात् साक्षी चेतन के द्वारा जाने जाते हैं। इस संवेदन-क्रिया में इन्द्रियादि करणों का कोई व्यवधान नहीं अनुभूत होता, अतएव मन का कोई असाधारण विषय न होने से (यथा चक्षु का रूप और कर्ण का शब्द इत्यादि) उसको ज्ञान का आभ्यन्तर करण या प्रमाणरूप नहीं मान सकते। मन का ज्ञानाकार में परिणाम होता रहता है, अतएव मन प्रमादि वृत्तियों का उपादान अवश्य है, किन्तु उसको प्रमा का साधन नहीं कह सकते। फलतः मन के करणरूप सिद्ध न होने पर उसके द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। वादी के मत में प्रमाणजन्य अपरोक्ष ज्ञान से ही भ्रम निवृत्त होता है, किन्तु मन प्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता; अतएव मानस ध्यान के द्वारा तत्त्व का यथार्थज्ञान या साक्षात्कार भी स्वीकृत नहीं हो सकता। ध्यान के केवल मानस क्रियारूप भावनाविशेषमात्र होने से उसको प्रमाणज्ञानरूप नहीं मान सकते एवं अविच्छिन्न स्मृति प्रवाहरूप होने से वह अनुभवरूप भी नहीं है; यथार्थानुभव का तो कहना ही क्या है। परोक्षरूप से अभ्यस्त भावना (ध्यान) अपरोक्षज्ञान को नहीं उत्पन्न कर सकती। "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस अनुमिति ज्ञान की आवृत्ति सहस्र बार करने पर भी वह्नि का साक्षात्कार नहीं हो सकता। परोक्षरूप से अवगत वस्तु, यदि परमार्थतः सत् भी हो, तो भी वह केवल भावना के द्वारा साक्षात्काररूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि कामी-परिभावित कामिनी आदि स्थलों में ऐसा नहीं देखा जाता। ध्यान के परिपाक से उत्पन्न जो साक्षात्कार है वह भावना भिन्न स्वतन्त्र बाह्य विषय को यथार्थतः प्रकाशित नहीं करता, यह प्रथम ही निरूपण कर चुके हैं। अप्रमाणमूलक

स्मृतिसन्तति-परिपाकात्मक साक्षात्कारावभास में आत्मा प्रकाशित होता है, यह सिद्धान्त स्वीकार करने के योग्य नहीं है, क्योंकि लोकदर्शन के अनुसार कल्पना सदैव दृष्टानुसारिणी होता है। ध्यानाभ्यास के प्रचय के सामर्थ्य से जो विनष्ट पुत्रादि की अपरोक्षता अनुभूत होती है, वह भी—विनष्ट पुत्रादि का इदानींकाल में विद्यमानता असम्भव होने से—यथार्थ वस्तु का अपरोक्ष नहीं है, किन्तु जो पुरोदेश में पुत्रादि की प्रतीति होती है, वह यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित होने के योग्य होने से, अविद्यात्मक मात्र है, यथार्थ वस्तु स्वरूप नहीं। (ध्यान के क्रमिक अवस्थाओं का विवेचन पूर्वोक्त 'योग-साधन' में कर चुके हैं)।

अब वेदान्तियों के ध्यान का प्रकार और तज्जनित अनुभव का वर्णन करते हैं। वे लोग ब्रह्म-ध्यान के समय भक्तों के समान जीवत्वभाव का आलिङ्गन करते हुए अपने से भिन्न किसी सगुण चेतनविशेष (ईश्वर) के साथ प्रभु-दासादि के सम्बन्ध की कल्पना करते हुये प्रेमभाव की वृद्धि करने का प्रयत्न नहीं करते, किन्तु जीवत्वभाव का यथासम्भव तिरस्कार करते हुए एक अद्वैत निर्विशेष और असङ्ग स्वप्रकाश तत्त्व में अपने आप (अहं) को निमग्न करने का यत्न करते हैं। इस सम्प्रदाय के आत्मध्यानी साधकलोग प्रथम, अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर उक्त व्यापक चेतनतत्त्व में प्रत्याहृत करने का प्रयास करते हैं और पश्चात् अभ्यासबल से क्रमशः उस भावित तत्त्व की धारणा और ध्यानावस्था में स्थित होते हैं। प्रथम तो विषयों के चिन्तन से चित्त चञ्चल रहता है और मनोरथ भी होते रहते हैं, उसके पश्चात् अभ्यास की दृढ़ता से बाह्यविषयक भावना शिथिल हो जाती है और आन्तर भावना की प्रबलता स्पष्टरूप से अनुभूत होने लगता है, तदनन्तर उक्त बाह्य और आन्तर दोनों ही विकल्प शान्त होजाते हैं और सूक्ष्म चित्तवृत्ति से एक शून्य भाव-सा अनुभूत होने लगता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म ब्रह्माकारवृत्ति की आवृत्ति से उक्त शून्यतानुभव (आवरणभाव) के भी तिरस्कृत होने पर

वेदान्तिसम्मत अनुभव वस्तुतः अखण्ड स्वप्रकाश तत्त्वविषयक नहीं हो सकता ।

ध्यान की परिपाकावस्था में साधक को ऐसा भान होता है कि, उसका अहंभाव एक अखण्ड सत्ता से अपृथक्रूप से सम्मिलित है । इसी अहंबोध के अखण्डानुभव को अद्वैतवेदान्ती साधक लोग आत्मा या ब्रह्म का यथार्थ अनुभव कहते हैं ।

अब उक्त अनुभव की विवेचना पूर्वक समालोचना करते हैं । वेदान्तियों के उपरोक्त अनुभव को हम यथार्थरूप अवश्य स्वीकार लेते, यदि उनका उक्त कथन युक्तिसंगत भी होता । परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, प्राय सभी अन्य सम्प्रदाय वाले साधकों के समान वेदान्ती साधक लोग भी अपने समाधिकालीन अनुभव का निरूपण युक्तिसंगत रूप से नहीं करते । मेरा 'अहं' अखण्ड सत्ता से भिन्न नहीं है, ऐसे अपरोक्ष बोध के लिए यह आवश्यक है कि उक्त सत्ता और 'अहं' इन दोनों के तादात्म्य का अनुभव हो । परन्तु समाधिकाल में तथाकथित अखण्ड सत्ता के विषयरूप से प्रतिभात होने पर, वह (विषय) विषयी के द्वारा सीमायुक्त और भेदयुक्त भी अवश्य होगा तथा आन्तर विषयी के प्रकाश से प्रकाशित होने वाला होगा अर्थात् उसका अखण्डत्व और स्वप्रकाशत्व विलुप्त हो जायगा । किसी विषय को अनुभव करने के लिए चित्त का क्रियाशील रहना आवश्यक है, अतएव समाहित अवस्था में भी क्रियाशील चित्त के द्वारा उक्त अखण्ड सत्ता का अनुभव करते समय, अनुभव्य विषय चित्त की परिच्छिन्नवृत्ति से अवश्य ही अनुरञ्जित होगा, फलत: चित्तगत भावों से विच्छिद्यमान विषय का अनुभव, निरवच्छिन्न तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता; अद्वैत तत्त्व के स्वप्रकाश मान्य होने से वह मन का विषय होकर ज्ञेय रूप से प्रतीत भी नहीं हो सकता । इस समय, "मुझको अखण्ड तत्त्व का साक्षात्कार हो रहा है," ऐसा अनुभव होने का कारण यह है कि, साधक ने प्रत्याहार से लेकर समाधिपर्यन्त इसी धारणा को दृढ (स्थिर) करने का प्रयत्न किया है । उक्त धारणा की दृढतापूर्वक ध्यानाभ्यास करने का फल यही होता है कि, साधक की चित्तवृत्ति उस ध्येयाकार के सम्बन्ध में यही चिन्तन करती रहती

है कि, वह एक और अखण्ड है । उस कल्पित अखण्डतत्त्व में साधक अपने 'अहं' को लीन करने का अभ्यास करता हुआ ऐसी भावना करता रहता है कि, वह उस पूर्ण और शान्त समुद्र में लवण के पुतले के समान मग्न होकर तद्रूप हो रहा है या अखण्ड आकाश में मिलकर वह भी उसी रूप को प्राप्त हो रहा है अथवा उस अनन्त प्रकाश के साथ एक होता जा रहा है । उस अवस्था में अभ्यास की दृढ़ता से अपर किसी विरोधीवृत्ति के उत्पन्न न होने के कारण, साधक उस अभ्यस्त वृत्ति के प्रक्षिप्त आकार को अखण्ड समझता है । एकाग्रता के प्रौढ़ अभ्यास से उस समय चित्तवृत्ति ध्येयविषय के सूक्ष्म आकार में परिणत होती है तथा उक्त ध्येयाकार चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न प्रवाह, ध्याता की इच्छा या यत्न के बिना ही प्रवाहित होता रहता है । उस समय ध्येयविषय में चित्त ऐसा निमग्न होता है कि, वह विषयी को विषय से विभक्तरूप से ग्रहण नहीं कर सकता । सुतरां, यदि आत्मा को ध्यान का विषय बनाकर उसमें एकाग्रता का अभ्यास किया जाय, तो ऐसा अनुभव होगा कि विषयी ही विषय है तथा अन्दर और बाहर पूर्ण एकता का बोध होगा । इस प्रकार सविकल्प समाधि की प्रथमावस्था में साधक को ऐसा निश्चय होता है कि, उसको अखण्डतत्त्व का अनुभव हो रहा है । परन्तु जब चित्तवृत्ति की सूक्ष्मता औरभी गम्भीर होने लगती है तब उक्त निश्चय भी शिथिल हो जाता है । यहां पर 'अहं' भाव के अत्यन्त अस्पष्ट होने से उक्त निश्चयात्मिका धारणा का उत्थान नहीं हो सकता। उसके पश्चात् चित्तवृत्ति कभी निर्विकल्पावस्था में निरुद्ध होती है और कभी वहां से व्युत्थान में आती है । व्युत्थित होने पर उक्त स्पष्टभेद के अभाव को साधकलोग भेद की आत्यन्तिक निवृत्ति मानकर अपने आपको अद्वैतब्रह्म का ज्ञानी मानते हैं । उनके ऐसा मानने में पूर्वलब्ध शास्त्र-संस्कार और गुरु का उपदेश ही मूल-कारण है, जिसका निरन्तर अभ्यास करते हुए वे लोग समाधि-अवस्था में वैसा ही साक्षात्कार करते हैं । उस स्वमनःकल्पित

तत्त्व का अनुभव करके साधक लोग ऐसा विश्वास करते रहते हैं कि, उन्होंने तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का ही अनुभव किया है । इस प्रकार ध्यानाभ्यासी साधकगण, स्वानुभव, गुरु-अनुभव और शास्त्रीय सिद्धान्त की एकता को देखकर ही ऐसा विश्वास करते हैं कि, उन्होंने यथार्थ तत्त्व का ही अनुभव किया है, परन्तु उक्त तीनों का सादृश्य वस्तुतः सदृश संस्कारमूलक है, तात्त्विक नहीं। वास्तव में बात तो यह है कि, सविकल्प या निर्विकल्पावस्था से व्युत्थित वेदान्ती-साधकों को अपना वही पूर्वशिक्षा-लब्ध अद्वैत-तत्त्व-विषयक सिद्धान्त का स्मरण हो आता है और उसके साथ समाधिकालीन अनुभव की तुलना करके (स्मृतपदार्थ-विषयक धारणा-सहित उक्त समाधिकालीन सूक्ष्म भेदसहित अभेद-भावना को मिलाकर) वे यही मानते रहते हैं कि, उन्होंने ब्रह्म-तत्त्व का अनुभव किया है ।

यहां पर विद्वानों ने निम्नलिखित रीतियों से समाधान करने का यत्न किया है । (१) निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करने के अव्यवहित पूर्वक्षण में पूर्वश्रुत वेदान्त का तात्पर्य स्मृतिगोचर होकर अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार होता है । (२) निर्विकल्प समाधि में चित्तवृत्ति के सर्वथा निरुद्ध होते हुए भी जब किसी एक तत्त्व के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है, तब यही मानना उचित है कि, वहां पर ज्ञाता का तत्त्व के साथ अभेद होता है ।

अब उपरोक्त समाधानों पर विचार करते है । (१) सविकल्प समाधि में प्रवेश करते समय तक तो अहंबोध के विद्यमान होने से साधक को अनुभव होता रहता है कि, वह अमुक अमुक अवस्था में प्रवेश कर रहा है, परन्तु साधक के चित्त की सूक्ष्मता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है और सविकल्पावस्था की प्रौढ़ता घनीभूत होती जाती है त्यों त्यों साधक का अहंबोध भी शिथिल होता जाता है और उस अहंबोध के सूक्ष्मतम होकर विलीनप्रायः होने पर निर्विकल्पावस्था का आरम्भ होता है । अतएव अहंबोध की सूक्ष्मतम अवस्था ही निर्विकल्पावस्था का अव्यवहित पूर्वक्षण

उक्त प्रथम रीति का खण्डन । समाधि में अहं विद्यमान है या नहीं है इन दोनो पक्षो में वेदान्तिसम्मत अखण्डतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

है, जिसमें साधक की विचारशक्ति या अहंबोध इतना शिथिल रहता है कि उसमें स्मरण के उदय होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती । सविकल्प का अवसान और निर्विकल्प के प्रारम्भ को तथा दोनों के सम्बन्धयुक्त मध्यस्थल को विषय करने वाले 'अहंबोध' को यदि उस समय पूर्ण बलवान और पूर्वश्रुत शास्त्रसंस्कार को स्मरण करने के योग्य स्वीकार किया जाय, तो जाग्रत्कालीन. शास्त्रसंस्कार (व्युत्थान संस्कार) के प्रवुद्ध होने के कारण, यह मानना होगा कि साधक सविकल्प से व्युत्थित होकर जाग्रदवस्था में आरहा है । हम यह पूर्व ही प्रदर्शन कर चुके हैं कि, शास्त्र केवल परोक्षज्ञान का जनक होता है, अतएव उस समय शास्त्रसंस्कार के उदय होने पर ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेयात्मक वृत्ति बलवान होगी, जिससे साधक निर्विकल्पावस्था में स्थित होने के विपरीत पूर्णतः व्युत्थानावस्था में आ जायगा । जिस प्रकार स्वप्न से सुषुप्ति में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता कि, वह सुषुप्ति में प्रवेश कर रहा है (नहीं तो, अहंबोध के होने से सुषुप्ति ही भङ्ग हो जायगी), उसी प्रकार सविकल्प से निर्विकल्प में प्रवेश करते समय भी साधक का अहंबोध क्रमशः विलीन ही होता जाता है और उसको यह नहीं विदित होने पाता कि, वह एक अवस्थान्तर में प्रवेश कर रहा है (नहीं तो, अहं प्रतीत होने के कारण निर्विकल्पसमाधि की प्राप्ति नहीं हो सकेगी) । अतएव उस समय स्मरण का उदय होना ही असम्भव है । यदि वा यह मान भी लिया जाय कि उस काल में सूक्ष्म स्मृति हो सकती है, तो भी स्मृति के प्रमारूप मान्य न होने के कारण, उससे अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती और स्मृति के लिए भी पूर्वकथित अहंबोधादि की उपस्थिति आवश्यक होने से, उस समय अखण्ड तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता । जबतक 'अहं' विद्यमान है (संप्रज्ञात समाधि तक) तबतक भेद की उपस्थिति रहने से अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार असम्भव है और अहं के विलीन हो जाने पर मूलाज्ञान का निवर्त्तक कोई न रहने

के कारण, अखण्डतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा (निरोध-योग में कुछ भी ज्ञात नहीं होता; अतएव असम्प्रज्ञात समाधि में निर्विकल्प आत्मज्ञान—स्वरूपसद्बुद्धिवृत्तिरूप—नहीं हो सकता)।

अब उपरोक्त द्वितीय समाधान विचारणीय है कि, निर्विकल्प समाधि में ज्ञाता अद्वैतब्रह्मतत्त्व के साथ अभिन्न होता है। यहां पर प्रश्न यह होता है कि, निर्विकल्पावस्था से व्युत्थित पुरुष का जो तद्विषयक ज्ञान है, वह स्मृति रूप है अथवा अनुमान रूप? यदि अनुमानरूप हो (जैसा कि अनेक वादी लोग उस अवस्था के ज्ञानाभाव का अनुमान करते हैं), तो उस समय ज्ञान को मानना अनुचित होगा, परन्तु साक्षात्कार के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। इस पक्ष को न मानकर यदि यह कहा जाय कि, व्युत्थित पुरुष को उस अवस्था में अनुभूत विषय का स्मरण होता है (अनुमान नहीं), तो स्मृति की सिद्धि के लिए वहां पर ज्ञान को भी अवश्य मानना होगा, परन्तु ऐसा होने पर यह सिद्ध नहीं हो सकेगा कि, वहां पर ज्ञाता का तत्त्व के साथ अभेद होता है। इसप्रकार दोनों ही पक्षों के असंगत सिद्ध होने पर यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही उत्पन्न होती है कि, फिर उस अवस्थागत तत्त्व के स्वरूप का निर्द्धारण कैसे किया गया? क्या युक्तितर्क से अथवा समाधि-अनुभव से? जबकि तत्त्वविषयक युक्तितर्क दूषित सिद्ध होता है और समाधिकालीन अनुभव भी तत्त्वस्वरूप के निश्चय करने में असमर्थ सिद्ध होता है; तब यह सिद्धान्त भी भङ्ग हो जाता है कि समाधि में उक्त तत्त्व विषयीभूत होता है और उस अवस्था में साधक का उसके साथ अभेद होता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि उसकी तत्त्व के साथ एकता होती है, तो ऐसा होने पर उसको कुछ अनुभव ही नहीं होगा, क्योंकि तत्त्व-स्वरूप के अन्तर्गत विषय-विषयीभाव नहीं है। यदि वह भेदरहित चेतन तत्त्व का किसी प्रकार अनुभव मान भी लिया जाय, तो वह मन से असम्बद्ध होने के कारण, मन के द्वारा अज्ञेय होगा, फलतः स्मृतिगोचर भी नहीं होगा। यदि समाधि में तत्त्व-दर्शन

सम्भव होता, तो उस अवस्था से व्युत्थित प्रत्येक साधक की तत्त्वविषयक धारणा एक ही प्रकार की होती और मत-भेद का कोई कारण नहीं रह जाता । अतएव यही मानना पड़ता है कि, प्रत्येक सम्प्रदाय के साधक को अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार तत्त्वविषय की भावना का सविकल्प-समाधि-पर्यन्त दर्शन होता रहता है, निर्विकल्पावस्था में कुछ भी भान नहीं होता और पश्चात् व्युत्थित होने पर अपने अपने तत्त्वविषयक संस्कार के अनुसार उक्त समाधि के अनुभव का वर्णन करते हैं ।

अब इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए निर्विकल्पावस्था से व्युत्थान का प्रकार वर्णन करते हैं । किसी उच्च शब्द के होने से अथवा अन्य किसी बाह्य-कारण से वह अवस्था भङ्ग हो जाती है और साधक अपनी साधारण जाग्रदवस्था में लौट आता है । कभी बिना किसी बाह्यकारण के भी चित्त में सूक्ष्म मानसिक क्रिया का आरम्भ हो जाता है । उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि, अपने आप ही सूक्ष्म भावतरङ्ग उत्थित हो रहे हैं, फिर क्रमशः उन व्युत्थान-संस्कार के तरङ्गों के बलवान होने पर बाह्यचेतना जागृत हो जाती है । जब साधक निर्विकल्प से स्फुट जागदवस्था में लौट आता है, तब उसके पूर्वशिक्षालब्ध संस्कार उदित होते हैं और वह समाधिकालीन अनुभव का वर्णन इस प्रकार से करता है कि, जिससे उसके पूर्व सिद्धान्त के साथ विरोध न होवे । जब साधक निर्विकल्प से सविकल्पावस्था में आता है, उसी समय से उसकी निर्विकल्पकालीन सुप्तवासना सविकल्पकालीन भावना या संस्कार से प्रभावित होने लगती है और स्फुट जाग्रदावस्था तक पहुँचते पहुँचते वह (समाधि-अनुभव) जाग्रत्कालीन पूर्वशिक्षालब्ध संस्कार से पूर्णतया अनुरञ्जित हो जाती है । सविकल्पअवस्था पर्यन्त तो साधक स्वसंस्कारानुसार रचित मानसचित्र का ही चिन्तन या अनुभव करता रहता है, पश्चात् निर्विकल्पावस्था में स्थित होकर जब पुनः सविकल्पावस्था में लौटता है, तब भी उसको उसी स्वरचित मानसचित्र का ही साक्षात्कार होता है और

निर्विकल्पसमाधि से व्युत्थित जाग्रदवस्थाप्राप्त साधकों के तत्त्वविषयक मतभेद होने का हेतु ।

क्रमशः उसी का चिन्तन करते हुए वह जाग्रद्‌वस्था में आकर अपने अनुभव को उसी प्रकार से वर्णन करता है । यही कारण है, जो प्रत्येक मतवादी साधक अपने अपने समाधिकालीन अनुभव को स्व स्व सिद्धान्त के अनुसार ही वर्णन करते हैं । निर्विकल्पवृत्ति से किसी वस्तु का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतएव साधक यह निश्चय नहीं कर सकता कि उसने उस समय जिसका अनुभव किया था, वह स्वरूपतः कैसा था । फलतः उसका वर्णन करते समय उसको अपने जाग्रत्कालीन पूर्वश्रुत तथाकथित युक्तिसंगत सिद्धान्त की शरण लेनी पड़ती है और उसी के अनुसार वह अपना वक्तव्य भी प्रकाशित करता है । जाग्रद्‌वस्था में आकर साधक को यह स्मरण होता है कि, उक्त निर्विकल्पावस्था में चित्त की क्रिया स्फुट रूप से ज्ञात नहीं होती थी, जैसा कि अभी हो रहा है; अतएव उस अवस्था में अनुभूत विषय के स्वरूप निर्णय के लिए उसको बाध्य होकर अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ता है । इसप्रकार, यद्यपि निर्विकल्प समाधि में पसे किसी भी अनुभव के चित्त में उत्थित होने की सम्भावना नहीं है, तथापि उस अवस्था से व्युत्थित होकर साधकों के संस्कार और सिद्धान्त के भेद से उक्त अवस्था की उपपत्ति भी विभिन्न रूप से कल्पित होती है ।*

*अद्वैतवेदान्ती यह मानते हैं कि, निर्विकल्पसमाधि में चित्त का ब्रह्माकार परिणाम होता है । रामानुजीलोग अद्वैतवादियों के समान निर्विशेष ब्रह्म को नहीं मानते, किन्तु विशेषणयुक्त अद्वैत स्वरूप को मानते हैं; अतएव उनके मत में निर्विकल्पक ज्ञान भी सविकल्पक (सविशेषण) को ही विषय करता है । अद्वैत तत्त्व को न मानने वाले वादियों के भी इस विषय में विभिन्न मत हैं । सांख्य और पातञ्जलवादियों के मत में, उस अवस्था में आत्मा की स्थिति केवल साक्षीरूप से रहती है अर्थात् आत्मा जो कि बुद्धि का साक्षी है वह समाधि-अवस्था में भी अपने चेतनस्वरूप में ही रहता है, परन्तु दृश्य विषय (प्रकृति-परिणाम) का अभाव या अनभिव्यक्ति होने से उसको किसी विषय का दर्शन नहीं होता । और भी कितने ही दार्शनिक साक्षीचेतन को नहीं मानते । उनमें

निर्विकल्पसमाधि और सुषुप्ति में देशकाल की संज्ञा (बोध) न रहने पर भी तत्त्वानुभव नहीं हो सकता ।

अतएव यदि निर्विकल्पावस्थागत तत्त्व का स्वरूपनिर्णय करना हो, तो जाग्रत्कालीन उपपत्ति का ही आश्रय लेना होगा; इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। एक ही निर्विकल्पानुभव के विविध विचित्र और परस्पर-विरुद्ध उपपत्ति-सम्भावित या कल्पित मात्र होने से-तत्त्वनिर्णय में संगत या निरापद नहीं हैं। उक्त निर्विकल्प समाधि में भी मनोवृत्ति सुषुप्ति के समान संकल्परहित और देशकाल के बोध से रहित होती है, यह सर्वसम्मत होता हुआ भी केवल इतने मात्र से तत्त्व का स्वरूप-विषयक सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता (अन्यथा साधकों के मत-भेद की व्यवस्था नहीं बनेगी) तथा उस अवस्था में तत्त्व में स्थिति होती है ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते ।*

से न्याय, वैशेषिक और प्रभाकर मत में समाधि-अवस्था में सामग्री (इन्द्रियादि करण) का अभाव होने से आत्मा किसी भी विषय को नहीं जान सकता, जैसा कि सुषुप्ति और मूर्च्छा में होता है। अतएव उक्त मत में आत्मा उस समय अचेतन होता है और उसमें ज्ञानसामान्य का अभाव होता है। बौद्धलोग निर्गुण या सगुण अद्वैत तत्त्व को नहीं मानते, साक्षी आत्मा भी उनको मान्य नहीं है और न उनके मत में आत्मा गुणयुक्त ही है। वे लोग ज्ञान को निराश्रय और क्षणिक मानते हैं अर्थात् उनके मत में ज्ञान का आश्रयरूप कोई स्थिर आत्मा नहीं है। अतएव इस मत के अनुसार समाधिकाल में— ज्ञान के विषय का अभाव होने से—ज्ञान, विषयबोधशून्य क्रियाविहीन होकर—इन्धन के दग्ध होने पर अग्नि के समान—नाश को प्राप्त होता है।

*निर्विकल्प-समाधि और सुषुप्ति में क्या भेद है? इसको भी यहां पर प्रदर्शित कर देना उचित समझते हैं। बाह्य लक्षणों में भेद यह है कि, सुषुप्त पुरुष के श्वास प्रश्वास की गति तीव्र होती है; किन्तु समाधिस्थ पुरुष का श्वास निश्चल उपलब्ध होता है। सुषुप्तव्यक्ति का शरीर साधारणतः गिर जाया करता है; किन्तु समाधिस्थ शरीर स्थिर रहता है। उक्त दोनों ही अवस्थाओं से व्युत्थित होने वाले व्यक्तियों की मानसिक अवस्था में भी भेद उपलब्ध होता है। सुषुप्ति से व्युत्थित व्यक्ति की मानसिक

अवस्था में कोई भी परिवर्त्तन नहीं दिखाई देता, किन्तु समाधि से व्युत्थित व्यक्ति के मन में महान् परिवर्त्तन उपलब्ध होता है। इसका कारण यह है कि, सुषुप्ति प्राय नैसर्गिक रीति से होती है और कभी २ चिन्ता को विस्मृत करने के प्रयास से भी आ जाती है: इसमे व्युत्थान-संस्कारों का बलपूर्वक दबाते हुए एकाग्रता का अभ्यास नहीं करना पडता और न वासनाओ के साथ युद्ध करना पड़ता है। परन्तु, निर्विकल्प की प्राप्ति के लिए प्रत्याहार से लेकर एकाग्रता पर्यन्त—वासना को अभिभूत करने के लिए विरोधी प्रत्ययों के उत्थापन पूर्वक—बड़े धैर्य और कुशलता से प्रयास करते रहना पड़ता है। अतएव उक्त समाधिस्थ पुरुष वासनाभिभव के सहित व्युत्थित होता है, जिससे उसमें विलक्षण चित्त की स्वस्थता उपलब्ध होती हैं। यह अभ्यास-लब्ध मानसिक अवस्था, अभ्यास के तारतम्य से वृद्धि या न्यूनता को प्राप्त होती रहती हैं। यहा पर अद्वैतवेदान्ती यह कहते हैं कि, सुषुप्ति में चित्त अविद्या में विलीन रहता है और समाधि में अविद्या निवृत्त होने के कारण, जीव ब्रह्मरूप से स्थित होता है। परन्तु यह कथन अनुभवविरुद्ध और विचाररहित हैं। सुषुप्ति से समाधि की विलक्षणता का निर्णय, उस अवस्थागत अनुभव के द्वारा नहीं हो सकता: क्योंकि दोनों ही अवस्थाओ में ध्याता, ध्यान और ध्येय का बोध नहीं रहता। दोनों ही अवस्थाएं अहंबोध-रहित और आनन्दबोध-रहित होती हैं, अतएव 'अहंरहित' जीव को उस अवस्था में यह निश्चय नहीं हो सकता कि, वह ब्रह्म के साथ अभिन्न है। उस चित्तवृत्ति की निरुद्धावस्था को ब्रह्मावस्थिति मानने पर वह 'अवस्था' नहीं हो सकती, वहा से पुनः व्युत्थान नहीं हो सकेगा, क्योंकि उक्त मत मे ब्रह्मीभूत वस्तु का पुनरावर्त्तन (संसार) स्वीकृत नहीं होता। उस अवस्था का स्मरण होना भी असम्भव है, क्योंकि उक्त मत में ब्रह्मतत्त्व अवस्थातीत, निर्विकार और नित्य मान्य होता है। उक्त व्युत्थान के होने में वादीलोग जो केवल प्रारब्ध कर्म को ही हेतु मानकर व्यवस्था करना चाहते हैं, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि अज्ञान की उपस्थिति के बिना प्रारब्ध का अस्तित्व सम्भव नहीं है। वेदान्त मत में उपादान और उपादेय का तादात्म्य-सम्बन्ध मान्य होता है, अतएव इस मत के अनुसार उपादान के नष्ट होने पर उपादेय (अज्ञान के स्थिति-अधीन प्रारब्ध) की स्थिति क्षणमात्र नहीं हो सकती, नहीं तो नाश्य-नाशकभाव में व्यभिचार होगा। अतएव निर्विकल्पसमाधि से

ब्रह्माकार वृत्ति का त्रिविध अर्थ । प्रथम और द्वितीय प्रकार, अर्थात् वृत्ति ब्रह्माकार से आकारित होता है या ब्रह्म को विषय करता है इन दोनों पक्षों का खण्डन ।

अब ब्रह्माकारवृत्ति की समालोचना करते हैं । ब्रह्माकारवृत्ति से तीन प्रकार का अर्थ ग्रहण कर सकते हैं । (१) ब्रह्माकार से आकारित होती है, (२) ब्रह्म को विषय करता है, (३) ब्रह्मगत अज्ञान को निवृत्त करती है । इनमें से प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है । (१) वृत्ति चित्त का परिणाम है, वह कभी भी अपरिणामी ब्रह्म नहीं हो सकती । यदि उसका अपना स्वरूप विद्यमान रहे, तो वह एक परिणाम विशेष मात्र होगा और यदि वह नष्ट हो जाय, तो ब्रह्माकार को कौन धारण करेगा ? (अग्नि के सम्बन्ध से अंगार के लाल वर्ण होने का दृष्टान्त में अग्नि के परिच्छिन्न और सावयव होने से उसका संयोग सम्बन्ध और संक्रमण सम्भव है, परन्तु निरवयव और अपरिणामी ब्रह्म का संयोग या संक्रमण सम्भव नहीं है)।

(२) ब्रह्माकारवृत्ति का द्वितीय अर्थ भी संगत नहीं है । शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषयीभूत मानने का अर्थ यह होगा कि, शुद्धब्रह्म भी वृत्ति के द्वारा ज्ञेय और प्रकाश्य हो सकता है । फलतः (मनोवृत्तिरूप ज्ञानसम्बन्ध से) ब्रह्म का शुद्धत्व ही लुप्त हो जायगा और मनोवृत्ति रूप ज्ञान का विषय होने से उसके अनित्यत्व और मिथ्यात्व का भी प्रसङ्ग उपस्थित होगा । सर्वावस्था रहित असंगतत्त्व किसी भी रूप से ज्ञेय या अनुभव का विषय नहीं हो सकता । यह भी निरूपण कर चुके हैं कि, वृत्ति सविशेष पदार्थ को ही विषय कर सकती है, निर्विशेष को नहीं । अतएव जिस समय शुद्धचेतन वृत्ति से उपरक्त होगा, वह विशेषणयुक्त होने के साथ ही उस वृत्ति की उपाधि से भी युक्त (अज्ञानोपहित) होकर प्रतिभात होगा, शुद्ध स्वरूप से नहीं अर्थात् वृत्तिकाल में

व्युत्थान की उपपत्ति देने के लिए वहा पर अज्ञान की उपस्थिति को स्वीकार करना होगा, फलतः समाधि में अज्ञान की निवृत्ति और सुषुप्ति में अज्ञान की उपस्थिति मानकर जो उन दोनों में भेद माना जाता है, वह उनके विचाराहित्य का द्योतक है ।

वृत्तिरूप धर्म द्वारा चेतन उपरक्त होने से शुद्धत्व-असम्भव के कारण वृत्ति में शुद्ध का प्रकाश नहीं हो सकता । मनोवृत्ति के शुद्ध ब्रह्मविषयक न होने पर वह शुद्धब्रह्मविषयक अज्ञान को भी निवृत्त नहीं कर सकेगी, अर्थात् विशिष्ट चैतन्यगोचर वृत्ति से केवल चैतन्यगोचर अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता ।

यहां पर किसी विद्वान् ने इस प्रकार समाधान किया है कि, यद्यपि मनोवृत्ति अखण्डतत्त्व को नहीं विषय कर सकती और न अखण्ड तत्त्व ही किसी धर्मविशेष से युक्त है, जिससे कि वह मनोवृत्ति का विषय हो सके; तथापि अशेष विशेषणों के निषेध से जो वृत्ति उदित होती है, वह शुद्धब्रह्मविषयक कहलाती है । परन्तु यह पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि विशेष का अभाव होने पर सामान्य का भी अभाव हो जायगा और भेदरहित ब्रह्म सामान्याकार है भी नहीं । केवल अभावरूप निषेध से भावरूप अखण्डतत्त्व का बोध भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव शून्य का बोधक होता है, नकि भावरूप किसी पदार्थविशेष का । इस पर किसी विद्वान् का समाधान है कि, अज्ञान-निवर्तक वृत्ति का ज्ञानाकार होना आवश्यक है और ज्ञानाकारवृत्ति का विषय विशिष्ट-पदार्थ ही हुआ करता है; अतएव उक्त वृत्ति विशिष्ट-ब्रह्म के ज्ञान से अज्ञान को निवृत्त करती हुई पश्चात् शुद्धब्रह्म विषयक रूप से स्थित होती है । परन्तु यह समाधान भी समुचित नहीं है । कारण, उक्त मत में विशेषणयुक्त यावत् पदार्थ अध्यस्त हैं, अतएव विशिष्ट का ज्ञान भी भ्रमरूप होगा और भ्रमात्मक ज्ञान से यथार्थ तत्त्व का बोध नहीं हो सकता । इस पर भी किसी विद्वान का समाधान इस प्रकार है कि, मूलाज्ञान को निवृत्त करने वाला ज्ञान, शुद्ध या विशिष्ट को विषय नहीं करता, किन्तु वह उपहित ब्रह्म को विषय करता है । वह उपाधि (अध्यस्त) को विषय नहीं करता, अतएव भ्रान्तिरूप नहीं है । परन्तु यह समाधान भी समीचीन नहीं है । कारण, उपाधि को विषय न करके केवल उपहित को विषय करना सम्भव नहीं है तथा एक विषयक ज्ञान

से अन्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति अदृष्ट या अश्रुत होने के साथ ही अयुक्त भी है । विशिष्ट ज्ञान से तद्विषयक अज्ञान का नाश होने पर भी, शुद्धविषयक अज्ञान की निवृत्ति न होने से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा । यहां पर यह नहीं कह सकते कि, उपाधि को विषय न करने से उक्त उपहित विषयक ज्ञान ही शुद्धविषयक ज्ञान है । कारण, उक्त मत में ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य माना जाता है (देखिये पृष्ठ १९७) जिससे यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान अपने आपको जानता है । ज्ञान अपने आपको प्रकाशित किये बिना विषय को प्रकाशित नहीं करता, अतएव जब ज्ञान ब्रह्म को विषय करेगा, तब स्वयं भी प्रकाशित होगा । अर्थात् अज्ञान, उपहित को विषय नहीं करता (ऐसा हो तो आत्माश्रयादि दोष होंगे), वह केवल शुद्ध को ही विषय करता है और ज्ञान अपने स्वरूप (उपाधि) को ही विषय करता है, शुद्ध को नहीं । सुतरां ज्ञान और अज्ञान के भिन्न-विषयक होने से ज्ञान द्वारा मूलाज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि समानवस्तुविषयक ज्ञान और अज्ञान ही परस्पर विरोधी होते हैं । और भी, उक्त मनोवृत्ति सविकल्प या निर्विकल्प हो, (सुषुप्तिकालीन अज्ञान की ज्ञानरूपा निर्विकल्पवृत्ति अज्ञान की विरोधी नहीं; भ्रान्तिस्थलीय सविकल्प अज्ञानवृत्ति ज्ञानरूपिणी होती हुई भी अधिष्ठान के अज्ञान का विरोध नहीं करती), वह अन्तःकरण का कार्य (परिणाम) होने से अज्ञान-मूलक भी अवश्य होगी । प्रकृत स्थल में ब्रह्म को विषय करने वाला ज्ञान भी अध्यस्त जगत् के अन्तर्गत होने से, उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म के अज्ञान से ही होगी । अतएव, ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के परक्षण में वह उपादानरूप अज्ञान, जिससे कि ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, अवश्य रहेगा । इस प्रकार ब्रह्मज्ञान भी अज्ञानमूलक होने से ब्रह्म में उपस्थित अज्ञान या तत्कार्य को ही विषय करेगा, जो मिथ्या है । सुतरां वह ज्ञान अवच्छेदयुक्त ब्रह्म को (मिथ्या पदार्थ) को विषय करेगा, शुद्ध अखण्ड ब्रह्म का नहीं । अतएव ज्ञान और अज्ञान के समविषयक न होने से इन दोनों में विरोध भी नहीं

होगा, जिससे अज्ञान की निवृत्ति और ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होगी । किञ्च, परिच्छिन्नविषयक अज्ञान और परिच्छिन्न-विषयक ज्ञान में परिच्छिन्नता के अव्यभिचारी होने से उक्त तूलाज्ञान (परिच्छिन्नविषयक अज्ञान) और तद्विषयक ज्ञान में परस्पर निवर्त्य-निवर्तकरूप व्याप्ति सिद्ध होती है। जिस रूप से व्याप्ति गृहीत होती है उसी रूप से हेतु का ज्ञान अनुमिति का जनक होता है । अतएव अज्ञानरूप से और ज्ञाननिवर्त्यरूप से व्याप्तिग्रहण के न हो सकने से (परन्तु परिच्छन्न-विषयक अज्ञान परिच्छिन्न-विषयक ज्ञान से निवृत्त होता है, ऐसी व्याप्ति गृहीत होने से) मूलाज्ञान की (निरवच्छिन्न विभु चेतन विषयक अज्ञान की) निवृत्ति अनुमानसिद्ध नहीं हो सकती । फलतः ब्रह्मज्ञान भी नहीं हो सकती ।

(३) ब्रह्मगत अज्ञान को ब्रह्माकारवृत्ति निवृत्त करती है, यह तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं है । ब्रह्मज्ञान के समान ब्रह्माकार वृत्ति को भी अन्तःकरण का परिणाम और मूलाज्ञान का कार्यरूप स्वीकार करना होगा (जड का उपादान जड होता है इस नियम के अनुसार जड-अन्तःकरण का उपादान अज्ञान है; अद्वितीय-चेतन अज्ञान का सहकार लेकर जडरूप से प्रतिभात होता है ऐसा मानना समुचित नहीं है, कारण, ऐसा मानने से चेतन परिणामी या विकारवान होगा) । फलतः उक्तवृत्ति भी अपने उपादान कारण (मूलाज्ञान) को नाश नहीं कर सकती । वेदान्तमत में कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न नहीं होता, परन्तु उससे भिन्न होता हुआ भी अभिन्नसत्तावाला मान्य होता है । अभिन्नसत्ताक होने से कारण की सत्ता से ही कार्य भी सत्तावान होता है । फलतः कार्य यदि अपने कारण से पृथक् होने जायगा, तो अपने अस्तित्व का ही नाश करेगा । अतएव कार्यरूप ब्रह्माकारवृत्ति अपने उपादान कारणरूप अज्ञान से पृथक् होकर उसको नाश करने में समर्थ नहीं हो सकती । तात्पर्य यह कि, उपादान कारण से कार्य की स्वतन्त्रसत्ता नहीं रह सकती। जिस हेतु से कारण के बिना कार्य

का अस्तित्व नहीं रह सकता, उसी हेतु से निवर्त्तक प्रमाणवृत्ति के रहते हुए उसके उपादान का नाश भी नहीं हो सकता। जिसकी स्थिति जिसके ऊपर निर्भर करती है, वह उसका निवर्त्तक नहीं हो सकता। यदि कार्य अपने उपादान कारण का नाशक होगा तो उसकी स्थिति ही अनुपपन्न होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि, मूलाज्ञान का नाश सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्य का (अन्तःकरणवृत्ति का) अपने उपादान से सर्वत्र अविरोध हुआ करता है। घटादि विषयक ज्ञान से घटादि विषयक अज्ञान निवृत्त होता हुआ इसलिए देखा जाता है कि वहां पर ज्ञान और अज्ञान दोनों पृथक् सत्तावान् और विरोधी हैं तथा भ्रान्तिस्थल में भी अधिष्ठान-विषयक ज्ञान से तद्विषयक अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्ति इसलिए अनुभूत होती है कि, वहां पर ज्ञान और अज्ञान में परस्पर उपादान-उपादेय-भाव नहीं, किन्तु विरोधी भाव है। परन्तु प्रकृत स्थत में ब्रह्माकारवृत्ति और आवरणरूप अज्ञान परस्पर विरोधी और पृथक् सत्तावान् नहीं, किन्तु कार्य और कारण रूप हैं। अतएव ब्रह्माकारवृत्ति से ब्रह्मगत अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता।

यहां पर वादी-कथित दृष्टान्त (विच्छुमाता-विच्छु, काष्ठाग्नि, स्वाप्नव्याघ्र, उपान्त्य-अन्त्य शब्द, अग्नि-जल आदि) संगत नहीं, क्योंकि वे सब निमित्तकारण-स्थल में हैं, न कि उपादान में। पट-अग्निसंयोग का दृष्टान्त देकर समाधान (अर्थात् उक्त संयोग अपने आश्रयभूत पट के नाश में कारण होता है) समञ्जस नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल में आपत्ति तो की गई है वेदान्तमत के अनुसार, और समाधान किया गया है न्यायमत के अनुसार, जो कि (नैयायिकों का कार्यकारण सम्बन्ध) वेदान्तियों को कभी मान्य नहीं हो सकता। (न्यायमत में भी जो वस्त्र का ध्वंस होता है वह वस्त्र-आरम्भक अवयवों का विश्लेषजनित होता है, समवायिकारण के ध्वंसजन्य नहीं। वेदान्तमत में कार्य का ध्वंस सावधिक होता है; सुतरां उक्त दृष्टान्त के बल से उपादान का सम्पूर्णरूप से ध्वंस सिद्ध नहीं होगा)। वेदान्तमत में कार्य और उपादान-कारण का तादात्म्य

मान्य है, न कि समवाय (न्याय-मत)। वेदान्तमत में कार्य अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व कारण में अनभिव्यक्तरूप से रहता है, परन्तु संयोग एसा नहीं रहता; संयोग को वे लोग आगन्तुक सम्बन्धमात्र मानते हैं। अतएव उक्त आपत्ति के समाधान के लिए तादात्म्यस्थलीय दृष्टान्त देना चाहिए, जो उनसे कभी नहीं दिया जा सकता। कार्य और कारण में तादात्म्यसम्बन्ध, मृत्तिका-घट, सुवर्ण-कुण्डल आदि में देखा जाता है। परन्तु घट क्या मृत्तिका का नाश करता है? अथवा आभूषण से क्या सुवर्ण नष्ट हो जाता है? अतएव ज्ञान के द्वारा जगत् के कारण का नाश स्वीकार करने में लौकिक निदर्शन का अभाव होने से, वेदान्तसिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

पञ्चम अध्याय

* मुक्ति *

विगत अध्यायों में वर्णीत विभिन्न सम्प्रदायों में सिद्धान्त-भेद और साधन-भेद के साथ ही साथ उसके फलरूप मुक्ति के विषय में भी मतभेद हैं। अब इस अध्याय में हम उनके मुक्ति-विषयक सिद्धान्तों की संक्षिप्त समालोचना करते हुए यह प्रदर्शित करेंगे कि, प्रत्येक सम्प्रदायवादी की व्यक्तिगत कल्पना के आधार पर मुक्ति का स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता। मुक्ति के विषय में विभिन्न वादियों के मत इस प्रकार हैं। वैष्णवमत में मुक्ति, स्वर्ग या भगवद्धाम-प्राप्ति को कहते हैं। जैनमत में (भगवद्धाम मान्य नहीं) मुक्ति का स्वरूप अलोकाकाश-गमन है, उस समय आत्मानन्द की अभिव्यक्ति होती है (भट्टमत में भी नित्य आनन्दाभिव्यक्ति मान्य है)। अद्वैतवेदान्तमत के अनुसार मुक्ति में आत्मा स्वरूपगत आनन्द को भोग करता है ऐसा नहीं किन्तु स्वस्वरूप ब्रह्मानन्दरूप में (निरावरण स्वप्रकाश चिद्रूप आनन्द में) स्थित होता है। सांख्य और पातञ्जल मत में मुक्त-आत्मा स्वस्वरूप में (चेतन-स्वरूप में) अवस्थित होकर दुःख और आनन्द से अतीत होता है (इस मत में निर्गुण पुरुष आनन्दरूप नहीं)। न्याय, वैशेषिक और प्रभाकरमत में अचेतनस्वरूप आत्मा मुक्ति में सुखदुःखरहित होकर रहता है। बौद्धमत के अनुसार मुक्ति में आत्मा (क्षणिक ज्ञान) के स्वरूप का उच्छेद होता है या निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धमत

बौद्धमत में विज्ञान-सन्तान का उच्छेद ही मुक्ति है। परन्तु यह किसी का (क्षणिक विज्ञान या सन्तान का) पुरुषार्थ नहीं हो सकता। उक्त उच्छेद क्रमिक-विज्ञानों का पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वे अपनी उत्पत्ति के परक्षण में ही नाश को प्राप्त होते हैं

बौद्धसम्मत निर्वाणप्राप्तिरूप मुक्ति पुरुषार्थ नहीं। नैयायिकादिसम्मत मुक्ति अर्थात् आत्मा के साथ मनका संसर्गाभाव या अदृष्टाभाव मानना संगत नहीं।

(उनका उत्पत्तिक्षण ही नाशक्षण है, स्थितिक्षण उनमें नहीं है)। उक्त सन्तान का नाश स्वतः सन्तान का पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि किसी के अपने स्वरूप का नाश उसका पुरुषार्थ नहीं हो सकता। उक्त मत में आत्मा के क्षणिक होने से, जब फल (निर्वाण) उपस्थित होता है तब फल का भोक्ता नहीं रहता और जब फली है तब फल उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव बौद्धसम्मत आत्मोच्छेदरूप (प्रदीप की न्याई निर्वाण) मुक्ति पुरुषार्थप्रद नहीं है।

न्यायवैशेषिकप्रभाकरमत

न्यायवैशेषिकप्रभाकरमत के अनुसार मुक्ति में आत्मोच्छेद नहीं होता किन्तु नित्य सर्वव्यापक आत्मा का मन के साथ संसर्ग न होने के कारण, अदृष्ट के (सञ्चित, प्रारब्ध और आगामी कर्म के) अभाव से जीवात्मा ज्ञान और सुखदुःखादि से रहित होता है। अब यह पक्ष समालोचनीय है। इस मत में आत्मा के व्यापक मान्य होने से मन के साथ उसका सम्बन्धाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। और भी, संसारयात्रा के आदि से लेकर सर्वदा तद्गतरूप से अवस्थित आत्मा के अदृष्ट का उच्छेद कैसे सम्भव है? देह और मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध अदृष्टजनित होने से, उसकी समस्त चिन्ता और क्रिया आदि उस अदृष्ट द्वारा प्रभावित भी अवश्य होंगी। अतएव कोई चिन्ता या क्रिया, किसी प्रकार का आध्यात्मिक मत या यथार्थज्ञान, उस अदृष्ट को नाश करता है तथा मन को देह के साथ पुनः सम्बन्धयुक्त होने की समस्त भविष्यत् सम्भावना से उसको सर्वथा मुक्त कर देता है, ऐसी आशा नहीं कर सकते। सुतरां मुक्ति की सम्भावना सिद्ध नहीं होती। जिस काल में अदृष्ट का (प्रारब्ध का) उपभोग हो रहा है उसी काल में भोग का निमित्त (अभिलाषापूर्वक मन-वाक्-काया का व्यापार) होता रहेगा जो अपर अदृष्ट का हेतु बनता जायगा तथा कितने ही कर्म सञ्चितरूप से भरपूर हैं (कर्म के साथ ज्ञानका विरोध न होने से सञ्चित नष्ट नहीं हो सकता) तथा कामनारहित

जीव और कर्म के सम्बन्ध का विचार करते हुए कर्मबन्धन से छुट जाने का या मुक्ति का निराकरण।

अहंबुद्धिविवर्जित कर्म के असम्भव होने के कारण नवीन कर्म अवश्यम्भावी हैं (इससे क्रियमाण कर्म में निर्लिप्तता नहीं हो सकती), सुतरां कर्म का आत्यन्तिक क्षय कैसे होगा?*

*वादीलोग यह स्वीकार करते हैं कि, कर्म का आदि नहीं है किन्तु अन्त है। परन्तु यह समझ में आना कठिन है। यदि आत्मा नित्य ही कर्म की नियमनशक्ति के अधीन है अर्थात् कर्म को ऐसा माना जाय कि, वह सब व्यक्तियों के जीवन की गति को नियमित करता है, तो कर्म का नाश कैसे किया जा सकेगा? इसके लिये क्या यह कल्पना करनी होगी कि, कर्म स्वयं नष्ट होता है। किन्तु यह भी विरुद्ध है। यदि वा यह स्वीकृत हो कि यह कर्म का स्वभाव है कि निर्दिष्ट काल के पश्चात् वह स्वयं नष्ट होता है, तो इसके लिए कोई उपपत्ति प्रदान नहीं कर सकते कि क्यों विभिन्न काल में विभिन्न व्यक्तियों का कर्म स्वयं नष्ट होगा। यह भी नहीं कह सकते कि, तत्त्व का ज्ञान इसका नाश करता है और इसी से विभिन्न काल में विभिन्न स्थलों में इसका नाश उपपादित होता है; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति भी इस मत के अनुसार कर्म द्वारा नियमित होगा और इसीसे अन्ततः कर्म ही अपने ध्वंस का कारण होता है और आपत्ति दुरुत्तर रह जाती है। किञ्च, यह मानना कठिन है कि कारणरहित नित्य पदार्थ अर्थात् कर्म अन्तवाला होगा। ज्ञान की शक्ति ऐसी है कि वह कर्म का नाश करती है, यह भी सयुक्तिक सिद्ध नहीं है। ज्ञान अपने विरोधी अज्ञान और भ्रान्ति को ही केवल नाश कर सकता है, कर्म को नहीं। यदि ज्ञान को कर्म के भी नाशक रूप से माना जाय, तो कर्म को आत्माओं का अज्ञान और भ्रान्ति का फलरूप मानना होगा, और इसीसे वह अनादि नहीं होगा। किञ्च, कर्म को उत्पादन करने का सामर्थ्य अज्ञान का या भ्रान्ति में है, यह अभी प्रमाणित नहीं हुआ है। अतएव तत्त्वज्ञान द्वारा अदृष्टनाश और उससे मुक्तिप्राप्ति की कल्पना समञ्जस नहीं है। और भी, इस मत के अनुसार जीव को कर्म का आश्रय कहने पर प्रश्न यह होगा कि, वह जीव मुक्त है या बद्ध? आद्य पक्ष में मुक्त के भी कर्म अवश्य होंगे, सुतरां वादीसम्मत मुक्ति ही (कर्म बन्धन से छुट जाना) सिद्ध नहीं होगी। द्वितीय पक्ष में भी दोष होगा। बद्धजीव को भी कर्म का आश्रय कहने से अन्योन्याश्रय होता है। कर्माश्रयत्व होने से बन्धसिद्धि और बन्धसिद्धि के कारण कर्माश्रयत्व की सिद्धि होने से अन्योन्याश्रय दोष होता है।

वादीसम्मत मुक्तिकालीन दु:खाभाव विचारसिद्ध या पुरुषार्थ नहीं।

अब वादीसम्मत दुःखाभाव समालोचना करते हैं। आत्मा के दुःखाभाव का अर्थ, यातो किसी अतिरिक्त अभाष्ट गुण की प्राप्ति होगी या किसी अनभिष्ट गुण का त्याग होगा। दोनों ही पक्षों में अनित्यता और विनाशशीलता बोधित होगी, क्योंकि सभी क्रियाओं के फल (जैसे कि उत्पाद, प्राप्ति, विकार और संस्कार) नियमपूर्वक विनाशी ही होते हैं, सुतरां नित्य दुःखरहित अवस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। और भी, यदि दुःख आत्मा का सम्बन्धी हो और पश्चात् ध्वंसप्राप्त होता हो, तो आत्मा परिणाम को प्राप्त होगा। पहले यह प्रमाणित हो चुका है कि, समवायसम्बन्ध नामक कोई पदार्थ नहीं है। जब कि आत्मा और दुःख का तादात्म्य सम्बन्ध मानना होगा, तब दुःख के नाश के साथ ही साथ आत्मा का भी नाश मानना होगा। आत्मा के नष्ट होने पर मुक्ति को कौन प्राप्त करेगा? और भी, धर्मी के रहते हुए स्वाभाविक धर्म का समुच्छेद असम्भव है। घट रहते हुए तद्‌गत यावद् विशेषगुण की निवृत्ति दृष्ट नहीं होती। अतएव उक्त मत में आत्मा कर्त्ताभोक्तादिरूप होने से उसकी विमुक्ति नहीं हो सकती। सूर्य की उष्णता के समान पदार्थ का स्वभाव व्यावर्त्तित नहीं होता। अतएव धर्मी के साथ ही उक्त धर्म की निवृत्ति होगी। फलतः वादीसम्मत मुक्ति पुरुषार्थ नहीं है। किञ्च, दुःख का अत्यन्ताभाव हमारी प्राप्तव्य मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वादी के मत में अत्यन्ताभाव नित्य है और इसीसे वह साध्य नहीं हो सकता। आत्मा और दुःखाभाव के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। यह भी नहीं कह सकते कि, उनमें स्वरूपसम्बन्ध है, क्योंकि ऐसा होने पर भी वह साध्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि, जब आत्मा दुःखाभाव के साथ सम्बद्ध है, ऐसा कहा जाता है, तब वह सम्बन्ध आत्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। आत्मा का स्वरूप ही स्वतः अभाव के साथ उसका सम्बन्ध है। अर्थात् दुःखाभाव आत्मा से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, किन्तु स्वतः आत्मा से एकरूप है। अथच आत्मा सदा ही वहां है और इसीसे दुःखाभाव

जो कि उसके साथ अभिन्नरूप से रहता है, वह पहले ही सिद्ध है, सुतरां वह प्राप्तव्यरूप से पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यह पहले ही प्रमाणित हो चुका है कि, स्वरूपसम्बन्ध कोई वस्तु नहीं है। और भी, जहां पर अत्यन्ताभाव है, वहां पर ध्वंस की धारणा नहीं हो सकती। जब आत्मा में दुःख का अत्यन्ताभाव है, तब हम लोग यह कभी विवेचन नहीं कर सकते कि, वहां दुःख ध्वंस को प्राप्त होता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि, केवल दुःखध्वंस मुक्ति नहीं हो सकती।

मुक्ति में जो वादीसम्मत दुःखाभाव है वह जाना नहीं जा सकता, क्योंकि उस समय विज्ञानादि का उच्छेद होता है: उस समय आत्मा "सर्वविशेषगुणनिवृत्तिविशिष्ट" होकर विद्यमान रहता है। अतएव मुक्ति में ज्ञानाभाव के स्वीकृत होने से मूर्च्छा या मोहावस्था या शिलावस्था या शुष्ककाष्ठवदवस्था से उसकी विशेषता नहीं होगी। सुतरां मुक्तिदशा में विज्ञानाभाव के कारण, मूर्च्छावस्था की न्याईं और स्वात्मोच्छेद की न्याईं अज्ञायमान दुःखाभावरूप मुक्ति पुरुषार्थ नहीं है। अज्ञायमान का भी स्वरूपतः पुमर्थत्व होगा, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण का अभाव होने से उसका स्वरूप ही असिद्ध है। सत् होने से भी उसका आत्यन्तिक दर्शनाभाव होने से वह अभाव से विशेष नहीं है।

सांख्यपातञ्जलमत

इस मत के अनुसार आत्मा के जडस्वरूप में स्थिति मुक्ति नहीं किन्तु यह कहा जाता है कि, बन्ध का कारण प्रकृति (जड़शक्ति) और पुरुष का (चेतनस्वरूप आत्मा का) संयोग है; प्रकृति उस जीव को बन्धन करने में विरत होती है, जिसने यह तत्त्वतः जान लिया कि, आत्मा प्रकृति से वस्तुतः भिन्न है। परन्तु यह युक्तिसंगत कथन नहीं है। जब कि प्रकृति और आत्मा दोनों ही सत्य और नित्य पदार्थरूप से मान्य होते हैं और जबकि उनमें दैशिक या कालिक व्यवधान नहीं है, तब वे परस्पर नित्यसंयुक्त

रहेंगे। और जब कि यह संयोग बन्ध के कारणरूप से मान्य होता है, तब मुक्ति कैसे हो सकती है? ज्ञान, संयोग के अधीन और संयोग के साथ रहता है। अतएव जबतक ज्ञान उपस्थित है, तबतक मुक्ति नहीं होगी, और ज्ञान के अनुपस्थित होने पर अविवेक उपस्थित हो जायगा, फलतः दोनों ही स्थलों में मुक्ति असम्भव है। और भी, आत्मा और प्रकृति के अविवेक का कार्य बुद्धि है; सुतरां उनका अविवेक और सम्बन्ध तथा आत्मा का प्रातीतिक बन्ध, बुद्धि के विवेकज्ञान के न होने से उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि उक्त अविवेक के समय बुद्धि की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। अतएव बुद्धि द्वारा विवेकज्ञान की प्राप्ति उसकी उत्पत्ति से पूर्व में होने वाले अविवेक और सम्बन्ध के नाश का कारण नहीं हो सकती, फलतः विवेकज्ञान को आत्मा की मुक्ति का कारण भी नहीं मान सकते।

अब प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का विचार कर मुक्ति को असम्भव प्रतिपादन करते हैं। वादी के मत में दर्शन की योग्यता आत्मा में है और दृश्य होने की योग्यता प्रकृति में है। परन्तु ऐसा मान्य होने से मुक्ति में भी संसार की अवस्थिति रहेगी, क्योंकि द्रष्टा और दृश्य अपनी अपनी योग्यता को नहीं त्यागेंगे और जबतक उनमें यह स्वभाव है तबतक उनकी मुक्ति नहीं होगी। यह कहा जाता है कि उक्त योग्यता केवल संसारावस्था में ही क्रियाशील होती है, न कि मुक्ति में। परन्तु योग्यता नाम से प्रकृति के स्वरूप से पृथक् अन्य कुछ नहीं है। यदि किसी आत्मा की मुक्ति-अवस्था में प्रकृति अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से विरहित होगी, तो प्रकृति का एकत्व होने के कारण, उसकी योग्यता का एक भी अंश वहां नहीं रहेगा और इस रीति से एक आत्मा की मुक्ति से सभी आत्मा मुक्त होंगे। पुरुष के निरतिशय होने से उसमें अतिशय का प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव पुरुष में प्रकृतिगत विशेषता नहीं होगी। सुतरां व्यवस्था अर्थात् एक पुरुष के प्रति प्रकृतिगत योग्यता का अपाय (निवृत्ति) होता

है, किन्तु अन्य के प्रति अनपाय होता है, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती । जब कि सभी आत्मा वस्तुतः समस्वभाव वाले हैं (शुद्ध निर्विकार चेतन स्वरूप) और जब प्रकृति भी वस्तुतः एकही है, तब इसमें कोई हेतु नहीं है जिससे यह माना जाय कि, एक आत्मा-सम्बन्धी योग्यता अपर आत्मा-सम्बन्धी योग्यता से भिन्न होगा । अतएव इसका उपपादन नहीं हो सकता कि, किस प्रकार एक आत्मा के साथ प्रकृति का सम्बन्ध विराम को प्राप्त हो सकता है अथच अपर के साथ उसका सम्बन्ध वैसा ही रहता है । और भी, प्रकृति के अचेतन होने से, वह आत्मा में अपने धर्म को आरोपित नहीं कर सकती और बन्ध और मुक्ति के विभाग को न जाननेवाली प्रकृति आत्मा की मुक्ति के लिए क्रियाशील भी नहीं हो सकती । प्रकृति की पुरुषविशेष में भोगार्थ प्रवृत्ति और अन्यत्र मोक्षार्थ प्रवृत्ति ऐसी व्यवस्था भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि सभी पुरुष निर्विशेष हैं । और भी, जब प्रत्येक आत्मा सर्वथा निष्क्रिय मान्य होता है, और जबकि उसकी उपस्थिति में प्रकृति की क्रिया को आत्मा के प्रातीतिक बन्ध का एकमात्र कारणरूप मान्य होता है, तब यह कल्पना नहीं हो सकती कि, कैसे प्रकृति का क्रियाकारित्व पुनः उसी की मुक्ति का कारण हो सकता है अथवा अचेतन प्रकृति अपने क्रियाकारित्व के प्रकार को अकस्मात् कैसे परिवर्त्तन कर लेती है । अर्थात् किसी एक व्यक्ति के प्रति अपने स्वभाव को स्वतः ऐसा परिवर्त्तन करले कि जिससे उसकी मुक्ति हो सके । और भी, जब कि प्रकृति आत्माओं की उपस्थिति में ही केवल क्रियाशील हो सकती है, तब उसकी क्रियाशीलता भी प्रत्येक प्रकार से आत्मा के साथ अपने सम्बन्ध को सूचित करेगी । अतएव इसकी कोई क्रिया किसी आत्मा के प्रति अपने सम्बन्ध का नाश कैसे कर सकती है? सारसंक्षेप यह कि, जब कि प्रकृति में दृश्य होने का सामर्थ्य है और आत्मा में द्रष्टा (भोक्तृभाव) होने का सामर्थ्य नित्य है, तब नित्य-परिणामप्राप्त प्रकृति का द्रष्टारूप आत्मा नित्य बन्धनयुक्त होगा। फलतः प्रकृति से कैवल्य प्राप्ति की आशा पूर्ण नहीं हो सकती।

अद्वैतवेदान्तमत

वेदान्तीलोग यह मानते हैं कि, मुक्ति में जीवात्मा सुख-दुःख-रहित केवल चेतन स्वरूप में स्थित नहीं होता किन्तु ब्रह्मानन्द स्वरूप होता है। परन्तु यह विचारसंगत नहीं है। यदि आत्मा का आनन्द रूप स्वसंवेद्य हो, तो वह संसारावस्था में भी वेद्य हो जायगा और इसी से मुक्ति के लिए प्रयास करना निष्फल होगा। यदि यह कहा जाय कि, संसारावस्था में अनादि मल से अवगुण्ठित (आवृत) आत्मा का स्वरूप वेद्य नहीं होता, जैसे पट द्वारा अन्तरित घट में घटबुद्धि नहीं होती, इसी प्रकार मललिप्त आत्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती; तो यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विषमता होती है। पटान्तरित घटमें घटबुद्धि इसलिए नहीं होती कि, पटसे व्यवधानयुक्त घटके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होने पाता: इसी कारण, घट में इन्द्रियजनित विज्ञान सम्पादित नहीं होता। परन्तु प्रकृत स्थलमें मलरूप अवगुण्ठन (आवरण) किसका व्यवधान है? वेद्य और वेत्ता यदि परस्पर पृथक् हो, तभी उनमें वस्त्वन्तरका व्यवधान हो सकता है। परन्तु प्रकृतस्थलमें वेद्य और वेदक दोनों ही आत्मस्वरूप हैं, आत्मा का स्वसंवेद्यस्वरूप मल के सद्भाव में भी वेद्य होता है और उसके असद्भाव में भी वेद्य होता है। अतएव मल अकिञ्चित्कर है क्योंकि आत्मा के अर्थान्तर (भेद) रूपसे अवस्थान होता है। यदि तादात्म्य (अभेद) रूपसे मल स्थित हो, तो मल के दूर होने का अर्थ यह होगा कि आत्मा ही दूर होता है और इसीसे मुक्ति-अभाव हो जायगा।

और भी, यहां पर प्रश्न यह है कि, मुक्ति में उक्त आनन्द अनुभूत होता या नहीं? यदि अनुभूत न होता हो, तो उसकी उस आनन्दावस्था में स्थिति का होना और न होना बराबर होगा, क्योंकि वह उपभोग के योग्य नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि अपरोक्षता होने के कारण ही आनन्द पुरुषार्थ है (न कि

भोग्य होने से), तब किसी के प्रति आनन्द का साक्षात् अभिव्यक्त होते ही वह सबका पुरुषार्थ हो जाता (परन्तु ऐसा नहीं होता)। सुतरां यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, किसी व्यक्ति-सम्बन्धी आनन्द जब उसके द्वारा अनुभवगोचर होता है, तभी पुरुषार्थ होता है (न कि केवल अपरोक्षतासे)। अतएव जब मुक्तात्मा आनन्द के अनुभव से रहित है, तब वह उसका पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यहांपर सुषुप्ति और समाधि का दृष्टान्त संगत नहीं। यदि हमको यह ज्ञान हो जाय कि हम इस घोर निद्रा से कभी नहीं उठ सकेंगे, तो हमारे में से कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो ऐसी अनन्त निद्रा में प्रवेश करने को इच्छा करे। अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रा की इच्छा विश्राम की अभिलाषा मात्र है। इसी प्रकार हमलोग यह आशा करते हैं कि, निर्विकल्पसमाधि से उठने पर हमारी वासनाएं अभिभूत होंगी, जिससे हमारा चित्त शान्ति लाभ करेगा, इसी लिए हम उसे चाहते भी हैं। परन्तु मुक्ति में व्युत्थान के पश्चात् पुरुषार्थताबुद्धि के सम्भव न होने से उसे पुरुषार्थ नहीं मान सकते, सुतरां वह निरर्थक है। कोई भी ऐसी धारणा को लेकर मुक्ति को प्राप्त करनेका यत्न नहीं करेगा कि, यदि मैं नष्ट भी हो जाऊँ, तो भी मेरे से भिन्न अपर कोई चेतन रहेगा। मुक्तावस्था में चाहे आनन्द का पर्वत या समुद्र क्यों न हो, परन्तु यदि हम उसको भोगने के लिए न रहें, तो हमारे लिए वह व्यर्थ है। केवल आनन्द यदि कल्पना के योग्य भी हो, तो वह पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु उसका भोग ही पुरुषार्थ है। अब यदि यह कहा जाय कि आनन्द अनुभूत होता है, तब अनुभव के कारण का निर्देश करना चाहिए। परन्तु वादी ऐसा नहीं कर सकते। मुक्तावस्था में शरीर और इन्द्रियादि का वियोग होने से आनन्दोत्पत्ति का कोई कारण दिखाई नहीं देता। अन्तःकरण भी कार्य (अनित्य) होने से अवश्य विनाशी है। अतएव वेदान्तिसम्मत मुक्ति में आनन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं है, और इसी

आत्मा की आनन्दस्वरूपता प्रमाणसिद्ध नहीं। "बाह्यपदार्थ प्रिय है" इस प्रतीति से आनन्दस्वरूप की व्यापकता सिद्ध नहीं हो सकती।

हेतु से यह पुरुषार्थ भी नहीं है।*

*यहां पर आत्मा को आनन्द स्वरूप मानकर ऐसा कहा गया है। परन्तु इस विषय में प्रमाण नहीं है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है। वेदान्ती लोग आत्मा को (अहं को नहीं) आनन्द स्वरूप सिद्ध करने के लिए नाना हेतु देते हैं यथा (१) आत्मा में निरुपाधिक प्रेम, (२) घटादि में प्रियताबोध, (३) सुप्तोत्थित को आनन्द का स्मरण, (४) समाधि में आनन्दानुभव। परन्तु इससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। (१) अनौपाधिक प्रेम का विषय होने से, आत्मा आनन्द स्वरूप है, ऐसा कहने पर प्रष्टव्य यह है कि, अनौपाधिक शब्द से क्या अभिमत है? यदि इसका अर्थ यह हो कि, वह अपर किसी विषय की इच्छा का सापेक्ष नहीं; तो वह निरपेक्षता अहं में होगी, नकि अहं-अतीत अपर किसी विषय में। इसका यदि यह अर्थ हो कि, उक्त प्रेम अपर किसी पदार्थ के सम्बन्ध का सापेक्ष नहीं है, तो आत्मा (चेतन) के विषय में ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि चेतन के साथ ऐसा प्रेम अहं के सम्बन्ध से सदैव उत्पन्न होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन द्वारा अवच्छिन्न चेतन के विषय में तथा अपने आत्म-सम्बन्धी आनन्द में ऐसी अनौपाधिक इच्छा होती है कि "मुझको आनन्द हो"। और भी, कोई पदार्थ यदि आनन्द देता हो, तो इससे हम लोग यह सिद्धान्त नहीं कर सकते कि वह स्वतः ही आनन्दरूप है। "आत्मा प्रिय है" ऐसी धारणा यह नहीं प्रमाणित करता कि, आनन्द अद्वैत अविभक्त निर्विशेषस्वरूप है, क्योंकि यह विपरीतरूप से (भेदयुक्त सविशेष) अनुभूत होता है। (२) "बाह्यपदार्थ प्रिय है" ऐसी प्रतीति यह नहीं प्रमाणित करती कि, वह आनन्दस्वरूप अखण्ड और अद्वैत भी है। उनके साथ सम्बन्ध से उत्पन्न अनुकूल भावनाओं के विभिन्न तारतम्य के अनुसार, बाह्यपदार्थ विभिन्न व्यक्ति को प्रिय प्रतीत होता है, और ऐसी भावना के पूर्व और पश्चात् उनमें आनन्द स्वरूपतः रहता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। बहिःपदार्थ की सामयिक व्यक्तिगत प्रियता देखकर प्रियस्वरूप आत्मा वहां व्यापक है, ऐसा सिद्धान्त नहीं कर सकते। और भी, उक्त प्रियता, ज्ञान के विषयरूप से प्रतीत होती है, अतः उसे निर्विशेष और अखण्ड मानना प्रत्यय-अनुसारी नहीं होगा; संवेदन और संवेद्य कभी भी एक नहीं हो सकता। और भी, जहां प्रियता प्रतीत होती है वहां अन्तःकरण क वृत्ति की व्याप्ति

सुषुप्ति और समाधि में आनन्द का अनुभव मानकर भी यह निर्णय नहीं कर सकते कि वह आनन्द आत्मस्वरूप है ।

मान्य होती है, सुतरां वह प्रियता क्या अन्तःकरणगत प्रियतामूलक है या जड-उपादानमूलक (अज्ञानगत सत्त्वगुण) है या उससे अतीत सविशेष या निर्विशेष चेतनयुक्त है, सो निर्द्धारण नहीं हो सकता ।

(३) अब सुषुप्तिकालीन आनन्द के विषय में आलोचना करते हैं । सुषुप्ति से व्युत्थित के "मैं सुख से सोया था" ऐसा ज्ञान सर्वसम्मत नहीं । कभी ऐसा भी स्मरण होता है कि "मैं दु:ख से सोया था" और ऐसा भी हो सकता है कि उक्त ज्ञान स्मरणरूप न होकर अनुमानरूप हो; सो भी प्रति-उत्थान में होता है, ऐसा नहीं, किन्तु कभी कभी अंग-लाघव और मनःप्रसाद जनित होता है । व्युत्थान में आनन्दविशिष्ट अहं के अनुभवगोचर होने से सुषुप्ति, अनुमान का विषय हो सकता है । "मैं सुख से सोया था" इस कथन का तात्पर्य ऐसा भी हो सकता है कि, व्युत्थान के पूर्वकाल (सुषुप्ति) में चञ्चलता और दुख के अस्मरण के साथ ही साथ वर्त्तमानकालसम्बन्धी प्रसन्नता का जो अनुभव है, वही आनन्द रुप से समझा जाता है । सुतरां वह विषयाकार परिणामरहित मनोवृत्ति का अनुमान रुप हो सकता है । अतएव "मैं सुख से सोया था" यह स्मृति का विषय न हो सके किन्तु वर्तमान कल्पना का विषय हो सके। ऐसा मानकर कि यह स्मरणस्थल है, यह निर्णय कभी नहीं कर सकते कि, यह आनन्द किस में है—वह सूक्ष्म मनोपरिणामजनित है अथवा अज्ञानपरिणामकृत है किम्वा उन से मिलित या उनसे पृथक् कोई चेतनजनित है । वह आनन्द परिणामावस्था हो सकता है क्योंकि वादी लोग ऐसा मानते हैं कि इस परिणाम में सत्त्वगुण है । (४) निर्विकल्प समाधि से व्युत्थित होकर कितने ही दार्शनिक उस अवस्था को ज्ञानरहित और सुखबोधरहित मानते हैं; वहा पर आनन्दका अस्तित्व माननेवाले में से भी कोई उसे निरुद्ध चित्तगत अचेतन मानते हैं तथा अपर उसे सविशेष आत्मा का धर्म तथा अन्य उसे निर्विशेष चेतन स्वरुप मानते हैं । ये सब पक्ष उनके आत्म-विषयक सिद्धान्त के अनुसारी हैं, जो पहले ही खण्डित हो चुके हैं । उक्त समाधि-अवस्था की प्रतीति उसका भंग, वहांसे उत्थान तथा उसका स्मरण—इनसे यह विदित होता है कि वहां का बोध वृत्तिगत धर्म से युक्त है तथा निर्विकल्प अवस्था से व्युत्थित साधकों में तत्त्वविषयक मतभेद होने से यह विदित होता है कि वहांपर तत्त्व का परिचय नहीं मिलता । सविकल्प समाधि के अनुभव से आनन्द के

स्वकल्पित मुक्ति के लिए अद्वैतवेदान्तियों को कैसे कैसे विचारविरुद्ध कल्पना करने पड़ते हैं उसका उल्लेख।

अब मुक्ति के लिए उक्त वेदान्तियों को कैसे कैसे विचारविरुद्ध कल्पना करने पड़ते हैं, सो संक्षेपतः प्रदर्शन करते हैं। प्रथमतः, परमार्थतत्त्व ब्रह्म शुद्ध चेतनरूप है, परन्तु वह स्वतः चेतनावान नहीं है, वह स्वतःप्रकाश है, अथच अपने स्वरूप को आप प्रकाशित नहीं कर सकता। द्वितीयतः, स्वप्रकाश सत्‌चिद् रूप से ब्रह्म अज्ञान का आश्रय तथा साक्षी है, परन्तु अपने प्रकृत स्वरूप के साथ परिचय न होने से वह उक्त अज्ञानजनित अपने स्वरूपविषयक भ्रान्ति के वशीभूत होता है और अपने को द्वैतप्रपञ्च से परिवेष्टित नाना परिच्छिन्न जीवरूप में देखता है। तृतीयतः, स्वप्रकाश चेतन अपने अस्तित्व को अज्ञान (मिथ्यावस्तु) से प्रभावित होकर जानता है, जिससे अपने आपको सीमाबद्ध और दुःखित अनुभव करता है। चतुर्थतः, परमार्थतत्त्व ब्रह्म यद्यपि अपने लिए स्वयं अज्ञात रहता है, तथापि वह परिच्छिन्न जीव के प्रति ज्ञान का विषय हो सकता है अर्थात् वह अपने प्रति तभी ज्ञात होता है जब कि वह अज्ञान के प्रभाव के वशीभूत होकर एक परिच्छिन्न व्यक्तिविशेष के रूप में प्रतीत होने लगता है। पञ्चमतः, आत्मा भी जो कि ब्रह्म के साथ अभिन्न है, अपने को या ब्रह्म को अपनी स्वयंप्रकाशता से नहीं जानता, परन्तु मन की वृत्ति से जानता है, जोकि अज्ञान का एक परिणाम है। षष्ठतः, अज्ञान जोकि ब्रह्म या आत्मा के स्वतःप्रकाशता से ध्वंस को प्राप्त नहीं होता प्रत्युत उससे साधित होता है, वह मनोवृत्तिरूप ज्ञान द्वारा ध्वंस होने को योग्य है अर्थात् वह किसी ऐसे विशेष मनोवृत्ति से ध्वस्त होता है, जिस का अस्तित्व अज्ञान के ही अधीन है। सप्तमतः, उक्त मत के अनुसार आत्मा की मुक्ति के लिए अज्ञान का नाश होना आवश्यक

मूल स्वरूप का निर्णय नहीं होता। इसीसे किसीने उसे जड़-आत्मा का गुण, किसीने आत्माका परिणाम, किसीने चित्तगत अचेतन पदार्थ, (सत्त्वगुण) और किसीने मनोतीत चैतन्य स्वरूप माना है। सविकल्पमें आनन्दका अनुभव, उसके अखण्ड निर्विशेषत्व का साधक नहीं है, वरं उसका बाधक है। अतएव आनन्दस्वरूप आत्मा सिद्ध नहीं होता।

है तथा अज्ञान नाश के लिए ब्रह्माकार वृत्ति होनी चाहिए। अतः मुक्ति के लिए ब्रह्म को ज्ञानका विषयभूत होना पड़ेगा तथा साथ ही ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को उसका ज्ञाता बनाना पड़ेगा। इसी प्रकार ज्ञानाकार वृत्ति के कारणरूप से मन और ब्रह्म-जीवमें भेदके साधकरूप से अज्ञानका भी रहना आवश्यक होगा, तभी वेदान्तिओं को मुक्ति की प्राप्ति होगीः क्योंकि इनमें से किसी एकका भी अभाव होने पर परिच्छिन्न आत्मा के लिए ब्रह्म के साथ अभेद का ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। पक्षान्तर में यदि अज्ञान इस मुक्तिप्रद ज्ञान के साथ एकत्र रहे, तो उनमें कोई विरोध न होगा और इसीलिए यह कल्पना हमारे लिए कठिन है कि, कैसे एक अन्य को नाश करेगा? अष्टमतः, वादी के मत में एक ही ब्रह्म विभिन्न जीवरूप से प्रतिभात हो रहा है, सुतरां सभी जीव वस्तुतः एक हो हैं तथा एक ही अज्ञान जीवसम्बन्धी अनेक मन रूप से परिणत होता है। यदि कोई जीव एक मनके यथार्थ परिणाम से अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करे, तो यह मानना होगा कि, मूलाज्ञान ध्वंस को प्राप्त हो गया, जगत् भी बाधित हो गया और प्रातिभासिक विभिन्न जीव भी सभी मुक्ति को प्राप्त हो गए। परन्तु उक्त मत के अनुसार यह कल्पना करना पड़ेगा कि, यद्यपि एक ही अज्ञान (निरंश और सर्वसाधारण उपादान) नाश को प्राप्त होता है, तथापि वह नष्ट नहीं होता, तथा एकहा जीव यद्यपि मुक्ति को प्राप्त होता है, तथापि सभी जीव मुक्त नहीं होता। नवमतः, ज्ञात आनन्द पुरुषार्थ होता है, परन्तु मुक्ति में आनन्द ज्ञात नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म ब्रह्म को नहीं जान सकता (अन्यथा ब्रह्म जड़ और परिणामी होगा) तथा जीव भी ब्रह्म को नहीं जान सकते (क्योंकि जीव की त्रिविध उपाधि विलय प्राप्त होती है)। दशमतः, चेतनावान आत्मा मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः अचेतनवान शुद्ध स्वरूप (ब्रह्म) होता है, सुतरां पुनः अज्ञान द्वारा विशेषित होने और बन्ध प्राप्त होने के योग्य होता है।

जैनमत

अब जैनसम्मत अलोक-आकाश-गमन और आनन्दाभिव्यक्ति (अभेदरूप से आनन्दैक्य नहीं) की समालोचना करते हैं। सततोर्द्धगमन और अलोकाकाशावस्थान क्रियारूप होने के कारण विनाशी होने से—अपुनरावृत्तिलक्षणवाली मुक्ति की कामना वाले मुमुक्षुओं के लिए वह पुरुषार्थरूप नहीं है। आकाश के एक होने से, उसका द्वैविध्य (लोकाकाश और अलोकाकाश) भी सम्भव नहीं है, तथा सतत उर्द्धगमन भी क्लेशरूप होने के कारण, अपुरुषार्थ ही है। और भी, यहां पर प्रश्न होता है कि, अलोकाकाश क्या हमारा परिचित आकाश है? अथवा उससे अतीत कोई प्रदेश है? किम्वा वह देश नहीं, किन्तु आत्मा की जगदतीत अवस्था है? प्रथम अर्थ के अनुसार वह व्यावहारिक जगत् का अंश और ध्वंसशील होगा, तथा उसके निवासी (तथाकथित मुक्तात्मा) भी कर्म द्वारा नियमित होंगे और विकारी अवस्था को प्राप्त होने वाले होंगे और इसीसे यह भी मानना होगा कि, वहां नित्य शान्ति और सुख सम्भव नहीं है। यदि अलोक-आकाश को हमारे परिचित आकाश से अतीत कोई विशेष प्रदेशरूप कल्पना किया जाय, तो ऐसी कल्पना विरुद्ध या पारिभाषिक होगी। आकाश के विषय में सर्वसम्मत धारणा यह है कि, वह सर्वव्यापक है, तथा गति की धारणा भी आकाश की धारणा के अन्तर्भूत होती है। अतएव हम किसी ऐसे प्रदेशविशेष की कल्पना कर ही नहीं सकते, जोकि इस आकाश से भी अतीत हो और जिसमें आत्मा (शरीर-सहित या शरीररहित) इस आकाश से गमन कर सकता हो। यदि उक्त आकाश शब्द का तात्पर्य, आत्मा की जगदतीत अवस्था से हो, तो मुख्यार्थ के अनुसार उसके एक प्रदेश से अपर प्रदेश में जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऐसा होने पर मुक्ति का अर्थ, आत्मा से लब्ध नित्य आनन्द रूप एक विलक्षण अवस्था की प्राप्ति होगी। परन्तु ऐसी कोई अवस्था, आत्मा के शरीरी या अशरीरि दशा में प्राप्त होना क्या सम्भव है? यदि उक्त अवस्था

सम्भव भी हो, तोभी उसका व्यक्तित्व क्या वहां पर सुरक्षित रह सकता है, जहां कि वह उस अवस्था में निवास करता है और क्या वह अवस्था नित्य है, ऐसे अनेक प्रश्न इस प्रसंग में उत्पन्न होंगे जिनका—वादीसम्मत आत्मा की कल्पना का (देहपरिमाण) सामञ्जस्य रखते हुए—कोई सदुत्तर नहीं हो सकता ।

वादी के मत में मुक्तपुरुष को नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् आत्मा में नित्यसुख सर्वदा विद्यमान रहता है, मुक्तिकाल में उसकी स्पष्ट अनुभूति होती है। परन्तु इसकी सिद्धि में किसी प्रमाण के न होने से उक्त मत उपपन्न नहीं होता है । उक्त आनन्द और उसकी अभिव्यक्ति को यदि नित्य तथा आत्मस्वरूप मानें, तो ऐसा स्वीकार करना पडता है कि, सभी जीवात्माओं में सर्वदा ही उस नित्य सुख की अनुभूति रहती है । ऐसा होनेपर संसार और मुक्ति में भेद नहीं रहेगा, संसारावस्था का ही अभाव हो जायगा और आत्माके प्रति बन्ध से मुक्ति होने की कोई सार्थकता नहीं रहेगी । यदि यह कहा जाय कि, यद्यपि आनन्द नित्य ही आत्मस्वरूप में है तथापि वह उसकी चेतना में नित्य अभिव्यक्त नहीं होता और उसकी अभिव्यक्ति साधनबल से मुक्तिकाल में होती है, तो इससे यह बोधित होगा कि आत्मा के स्वरूपानन्द का उपभोग, मन और मानस परिणामों के सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है । अर्थात् मुक्ति का अर्थ आत्मा का मन के साथ एक प्रकार का सम्बन्ध है जोकि उसके बन्धन का भी कारण है । और भी, प्रत्येक उत्पत्तिमान पदार्थके विनाश होने के कारण, आत्मामें आनन्द की अभिव्यक्ति भी नाश को प्राप्त होगी और मुक्तात्मा पुनः दुःख (सुख-असंवेदन) को और बन्ध को प्राप्त होगा । भावरूप जन्यपदार्थ अवश्य ही नाश को प्राप्त होते हैं, सुतरां उस आनन्द की अभिव्यक्ति के नाश से मुक्ति का भी नाश होगा । अशरीर मुक्ति अवस्था में मन रहता है ऐसा मान्य न होने से, मन की सहायता से उत्पन्न आत्मानन्द की अभिव्यक्ति भी वहां नहीं रह सकती । अतएव यह प्रतिपन्न होता है कि, उस नित्यसुख की अनुभूति को जब नित्य भी नहीं कहा

जा सकता तथा अनित्य भी नहीं कहा जा सकता, तब वह प्रमाणसिद्ध भी नहीं हो सकता। (इससे भट्टसम्मत मुक्ति—अर्थात् व्यापक आत्मगत नित्यानन्द की अभिव्यक्ति—भी खण्डित होती है)।*

*जैन लोग यह मानते हैं कि, स्वरूपलाभरूप मुक्ति, स्वरूपावरणीय कर्म के क्षय से होती है, वह कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है, वह आत्मज्ञान ध्यान से साध्य है। इनमें से ध्यानसाध्य आत्मज्ञान पहले आलोचना किए हैं; अब कर्मावरण-विषय में विवेचना करते हैं। कर्म में ऐसी कोई आवरणशक्ति है, यह अनुभवसिद्ध नहीं है। कर्म का प्रभाव प्रसुप्त संस्कार रूप से विद्यमान रहता है, ऐसा मानना होगा। किन्तु हम लोग यह अनुभव करते हैं कि, यद्यपि सर्पविषयक पूर्वकालीन भ्रान्ति का संस्कार मन में उपस्थित है, तथापि रज्जु का यथार्थज्ञान होता है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि, संस्कार में आवरण करने की शक्ति नहीं है। और भी, आवरण उसको कहते हैं, जो साक्षात् हो, परन्तु कर्म एक ऐसा पदार्थ है जो क्रिया-फल के उपपादन के लिए अनुमित होता है। सुतरां वह प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकता, सुतरां इसे आवरण रूप भी नहीं कह सकते। और भी, चेतन को आवरणयुक्तरूप से प्रतिपादन नहीं कर सकते। यहांपर आवरण शब्द से यातो आत्मस्वरूप चेतन का आवरण कहना होगा अथवा ज्ञानस्वरूप चेतन का। प्रथम पक्ष संगत नहीं है, क्योंकि, आत्मस्वरूप चेतन सदैव विद्यमान है। अतएव आवरण का अर्थ नतो चेतन का प्रागभाव, न अत्यन्ताभाव और न प्रध्वंसाभाव ही हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। उक्त ज्ञानस्वरूप यदि नित्य चेतन हो, तो उसका आवरण नहीं हो सकता। जब विषय नित्यचेतन के साथ सम्बद्ध होगा, तो वह उसके द्वारा प्रकाशित होगा, और जब पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं होगी, तब वह चेतन के साथ सम्बद्ध ही नहीं होगा, और इसीलिए प्रकाशित भी नहीं होगा। अतएव नित्यचेतन-पक्ष में आवरण की कल्पना का अवसर ही नहीं रह जाता। यदि चेतन अनित्य हो, तो वह विषय के साथ सम्बन्धजनित उत्पन्न होगा, सुतरां वह केवल उसीसे ही संघटित होगा, इसप्रकार इस स्थल में भी आवरण मानने को कोई अवसर नहीं मिलता।

और भी, यदि आत्मा वस्तुतः पूर्ण हो, तो कर्म उसके साथ कैसे सम्बद्ध होकर उसके प्रकृत स्वरूप को आवृत कर सकता है? कर्म के कहने के लिए

वैष्णवमत

उपासक सम्प्रदायों में भगवद्भजन के फलरूप से मृत्यु के पश्चात् नित्य भगवद्धाम या स्वर्गराज्य की प्राप्ति माना जाता है। अब यह मत समालोचनीय है। यदि भगवद्धाम को किसी देशविशेष में स्थित एक प्रदेशरूप माना जाय और भगवान को उसमें नित्य निवास करने वाला समझा जाय, तो इसके साथही भगवान को अनन्त और सर्वव्यापक नहीं मान सकते। ऐसा होने पर

देह और मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध मानना पडता है, और इस सम्बन्ध को मानने के लिए पुनः कर्म को स्वीकार करना पडता है। अतएव इसमें अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि कर्म और देहसम्बन्ध के अनादित्व की शरण लें, तो इससे यह बोधित होगा कि, आत्मा की सांसारिक अवस्था अनादि है, तब आत्मा की वस्तुगत पूर्णता कैसे प्रमाणित हो सकेगी ? पक्षान्तर में, यदि हम पूर्णता को मान भी लिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि, कर्म आत्मा को पूर्णता की अवस्था से बन्धावस्था में गिराते हैं। ऐसा होने पर साधन द्वारा प्राप्तव्य पूर्ण-अवस्था में स्थिरता नहीं हो सकेगी, क्योंकि कर्म उसको इस संसार में पुनः गिरा सकते हैं। यदि फिरभी आत्मा को अनादि काल से कर्मराज्य के अन्तर्भूत माना जाय, तब यह कैसे आशा कर सकते हैं कि, वह कर्मबन्धन से मुक्ति को प्राप्त होगा ? उसके समस्त ज्ञान, भाव, इच्छा, और क्रिया कर्म के द्वारा नियन्त्रित होंगे, और उनमें से कोई भी उसको उस नित्यबन्धन से मुक्त कर सकता है, ऐसी आशा नहीं कर सकते। यदि तथाकथित पूर्णता को स्वतः कर्म का सर्वोच्च फलरूप माना जाय, तो वह पूर्णता अविनाशी है, ऐसी आशा नहीं कर सकते। अतएव सभी प्रकार के बन्धन और अपूर्णता से आत्यन्तिक मुक्ति की आशा नहीं हो सकती। और भी, जो (अदृष्ट) देहमन के सम्बन्ध का कारण है, वही पुनः उसके उच्छेद का कारण नहीं हो सकता। और भी, जैनमत में देहारम्भक अदृष्ट पुद्गल (परमाणु) का गुणरूप मान्य होने से मुक्ति के पश्चात् भी देह के उत्पत्ति की सम्भावना रहेगी, क्योंकि पुद्गल का धर्म सदा ही विद्यमान है (निदान के उच्छेद के बिना निदानियों का उच्छेद नहीं हो सकता)।

भगवान के साथ हमारे अनुभव के जगत् का सम्बन्ध भी केवल एक बाह्य सम्बन्ध मात्र होगा, जैसा कि किसी देशविशेष के राजा के साथ उसके राज्य का सम्बन्ध होता है । सुतरां भगवान एक परिच्छिन्न व्यक्ति और जगत् के एक विशेष प्रदेश में निवास करने वाला मात्र होगा । ऐसा भगवान सीमाबद्ध भी अवश्य होगा और उसको एक देहयुक्त व्यक्तिविशेष रूप से मानना होगा । परन्तु ऐसा सीमायुक्त देह विकारशील और तदनुसार नाशशील भी अवश्य होगा, वह नित्य, आनन्दमय, व्यापक और पूर्ण नहीं हो सकता ।

और भी, जब कोई आत्मा उपयुक्त साधन के बल से इस जगत् और शरीर के बन्धन से मुक्त होकर भगवद्धाम को प्राप्त होता है, तब वह वहां पर देहरहित होकर रहता है, या किसी विशेष देह के सहित? यदि वह भगवत्सन्निधि में देहसहित रहता हो, तो यह भी अवश्य मानना होगा कि, उस राज्य में उसके लिए एक नवीन देह सृष्ट या उत्पन्न होता है । परन्तु जबकि यह नियम कि, जो उत्पन्न होता है वह ध्वंसशील भी अवश्य होता है, सार्वजनीनरूप से स्वीकृत होता है, तब मुक्तात्मा का वह देह भी ध्वंसशील होगा, और उस शरीर में वहां पर निवास और आनन्द का उपभोग नित्य नहीं कर सकेगा । अतएव यातो ऐसा होगा कि मुक्ति के आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होने के लिए उस प्रदेश में आत्मा के लिए सर्वदा नवीन देह सृष्ट होता रहेगा: अथवा ऐसा होगा कि वह उस देह से विरहित होकर स्वर्गीय आनन्द से विच्युत होगा और स्वभावतः ही इस दुःखबहुल बन्धनमय जगत् में पुनः पतित होगा । और भी, जब भी कोई देह आत्मा के लिए सृष्ट होता है, तब यह माना जाता है कि वह आत्मा के कर्म से जनित और कर्म–नियम द्वारा नियमित है । सुतरां उस भगवद्राज्य में भी मुक्त आत्मा को कर्मनियम के आधीन होकर रहना पड़ेगा । परन्तु जब तक जीव को कर्म के आधीन होकर चलना पड़ता है,

तब तक उसको मुक्त (प्राकृतिक नियम से अतीत) नहीं कहना उचित है । यह भी नहीं कह सकते कि, जागतिक देहगत पूर्णतम साधन के फलरूप से नित्य आनन्द को उपभोग करने में समर्थ एक नित्य देह स्वर्गराज्य में उत्पन्न होता है, क्योंकि साधन का फल चाहे कैसा भी चिरस्थायी और उच्च क्यों न हो, किन्तु वह नित्य नहीं हो सकता । कोई भी क्रिया नित्य फल को उत्पादन नहीं कर सकती । और भी, कर्म की आधीनता अज्ञान को तथा आत्मा और ईश्वर के प्रकृतस्वरूप के आवरण को सूचित करती है, जो कि मुक्ति की धारणा के साथ सर्वथा असमञ्जस है । यह भी नहीं कह सकते कि, अत्यधिक भक्तिसाधना अज्ञान को नाश करती है और कर्म के राज्य से आत्मा का उद्धार करती है, तदनन्तर भगवान अपनी कृपा से उसको भगवद्धाम में ले लेते हैं । क्योंकि कर्म और अज्ञान इन दोनों के नष्ट हो जाने पर भी यदि भगवान् उस मुक्त जीव का अपर एक स्वर्गीय देह के साथ बलपूर्वक संयुक्त कर दे, तो उसकी इस निरंकुशता और स्वेच्छाचार को एक दीन-हीन जीव के ऊपर अत्याचार कहना होगा, चाहे वह उस जीव के अविच्छिन्न आनन्दोपभोग के लिए ही क्यों न करता हो । और भी, संयोग मात्र ही वियोगान्त होता है, अतएव जीव का स्वर्गराज्य के साथ संयोग के कारण का उच्छेद होने पर उसका पुनः उससे वियोग होगा अर्थात् पुनः बन्धन को प्राप्त होगा । सुतरां उक्त वादीसम्मत मुक्ति नित्य नहीं होगी । अक्षय शरीर का लाभ भी अयुक्त है, शरीर के कार्यरूप होने से वह अस्मदादि शरीर के सदृश क्षयशील भी अवश्य होगा ।

पूर्वोक्त रीति से मुक्त जीव के देहधारण पक्ष में दोषों को देख कर, अब क्या यह मान लिया जाय कि, आत्मा देह से सर्वथा रहित होकर भगवद्धाम में नित्य निवास करता है और भगवद्-आनन्द का अनुभव करता है । ऐसा मानने का तात्पर्य यह होगा कि, अविच्छिन्न अणुरूप आत्मा भगवद्धाम में आनन्द को उपभोग करने के सामर्थ्य से युक्त होता है । इस उपभोग का अर्थ क्या

है ? वह आनन्द का उपभोग क्या इसके अपने प्रकृति स्वरूप में अनुगत है या भगवद्धाम के उपभोग्य विषयों के साथ उसके सम्बन्ध का फल है अथवा भगवान के साथ उसके ज्ञात सम्बन्ध से उत्पादित होता है । जहां तक हम अपने अनुभव के अनुसार कल्पना कर सकते हैं, हमलोग ऐसा कोई हेतु नहीं पाते जिससे कि, हम यह विश्वास कर सकें कि, शुद्ध जगदतीत आत्मा, देह और मन के बिना ही आनन्द का अनुभव करता है । गम्भीर निद्रा और ध्यान में उपभोग को मानने पर भी मन और देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध वहां पर भी रहता ही है । तब हम लोग यह कैसे अनुमान कर सकते हैं कि आत्मा, व्यावहारिक देह और व्यावहारिक ज्ञान के साथ सम्बन्ध के सम्पूर्ण विरामावस्था में आनन्द का उपभोग कर सकता है ! हम युक्तिसंगत रूप से यह अनुमान भी नहीं कर सकते कि, आत्मा किसी प्रदेश में सर्वथा देहरहित और मनोरहित अवस्था में रह सकता है । और भी, यदि वा हमलोग आत्मा के शुद्ध देहरहित और मनरहित अस्तित्व की कल्पना कर भी लें, तो भी यह कैसे मान सकते हैं कि वह इस व्यवहारिक जगत् में देह और मन से विमुक्त होकर भगवद्धाम में गमन करता है । गति शब्द से किसी देश विशेष में स्थान परिवर्त्तन की धारणा उत्पन्न होती हैं, यह धारणा क्या शुद्ध देहरहित और कर्म के समस्त प्रभावों से रहित आत्मा की धारणा से समञ्जस है ? जब कि मुक्त-आत्मा का देश में सीमाबद्ध कोई देह नहीं है और जबकि उसको गतिमान करने वाला उसका कोई कर्म नहीं है, तब यह नहीं मान सकते कि वह किसी प्रकार के दैहिक या आध्यात्मिक सम्बन्ध के विना ही एक देश से अपर देश (भगवद्धाम) में गमन करता है ।

यदि वा ऐसी कल्पना को स्वीकार भी कर लिया जाय, तोभी प्रश्न यह होगा कि, वह वहां पर आनन्दमय धाम में आकर वहां के विषयों का उपभोग कैसे करता है ? यदि उसको वहां के भोग्य विषयों का उपभोग करना हो, तो उसको प्राप्त करने और भोगने

के लिए उसको विशेष अङ्ग और यन्त्र की आवश्यकता अवश्य होगी और उस भोग के योग्य यन्त्र की उपस्थिति उसके शरीर धारण को सूचित करेगा, चाहे वह इस लौकिक शरीर से कैसा ही विलक्षण क्यों न हो। और भी, विषयों के उपभोग की बहुलता से भी यह अवश्य बोधित होगा कि, उन विषयों के साथ आत्मा का सम्बन्ध, उसमें विशेष प्रकार परिणाम को उत्पन्न करता है। अब प्रश्न यह है कि, ऐसे अणुरूप आत्मा के स्वरूप में इसप्रकार का परिणाम इन वादियों को क्या स्वीकृत हो सकता है? यह स्पष्ट है कि, यदि वे विचारवान व्यक्ति हों, तो उनको उक्त सिद्धान्त कदापि स्वीकृत नहीं हो सकता। अदृश्य आत्मा के अस्तित्व को मानने का हेतु यह है कि, यदि ऐसा न माना जाय, तो दृश्य ज्ञानरूप परिणाम उपपादित नहीं हो सकता। यदि आत्मा शुद्ध और मुक्तावस्था में भी अपने प्रकृत स्वरूप में परिणाम या विकार को प्राप्त हो, तो भी एक दृश्य व्यक्ति मानना होगा और इसीसे उस आत्मा के परे उसका साक्षीरूप अपर एक निर्विकार आत्मा को मानना आवश्यक होगा। और भी, भगवद्धाम में भोग्य वस्तु के बहुत्व का अस्तित्व मानने पर वह धाम भी हमलोगों के जगत् के समान एक दृश्य जगत् में परिणत होगा, चाहे वह कैसा ही उच्च कोटि का क्यों न हो। उस धाम के निवासी भी अपूर्णता का भोग करेंगे और सम्भवतः स्वार्थविरोध तथा आशा और निराशा को भी भोगेंगे। ऐसे धाम में विश्वास करने वाले और उनके द्वारा माने गए हुए शास्त्र वहां के भोग्य सामग्रियों का विचित्र लोभनीय वर्णन प्रदान करते हैं, परन्तु प्रत्येक विचारवान को यही विदित होगा कि वह उन विषयों की कल्पना मात्र है जो इस जगत् में वासना और काम के वशीभूत होकर लोग चाहते हैं और अनुसन्धान करते हैं।

और भी, आत्मा को यदि अपने स्वरूपगत आनन्द का उपभोग करने वाला माना जाय, तो उस प्रकृत स्वरूप में विषय और विषयी, भोक्ता और भोग्य का विभाग मानना पड़ेगा,

जिससे आत्मस्वरूप में विश्लेष बोधित होगा और वह एक दृश्य पदार्थ तथा विकारवान स्वरूप वाला हो जायगा। फलतः तथाकथित मुक्ति का नित्यत्व भी भग होगा।

तब क्या मुक्तात्मा द्वारा आनन्द के उपभोग को भगवान के नित्य आनन्दमय स्वरूप के साथ उसके ज्ञात-सम्बन्ध का फल रूप मानना पडेगा। क्योंकि उक्त मत में यह कहा जाता है कि, प्रत्येक आत्मा वस्तुतः भगवान का अंश या स्फुलिंग या व्यक्तित्वप्राप्त स्वात्म-अभिव्यक्ति है और इसी कारण वह वस्तुतः उनसे अभिन्न है। भगवान के साथ भेदाभेद रूप यह नित्य और प्रकृत सम्बन्ध, अनादिकालीन अज्ञान से आत्मा के द्वारा विस्मृत होता है और इसी से आत्मा स्वतः जीवदेह के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर नाना प्रकार की अपूर्णता और दुःखों के आधीन होता रहता है। जब भगवान के प्रति भक्ति और प्रेम के अभ्यास से, वह भगवान के साथ अपने स्वरूपगत सम्बन्ध का अनुभव करता है, तब वह अपनी जागतिक अपूर्णता और दुःख से मुक्त होकर भगवान के आनन्दस्वरूप को ज्ञात रूप से भोग करता है और भगवद्धाम में इस आनन्द का नित्य उपभोग किया करता है। अब, यहांपर प्रश्न यह होता है कि, आत्मा भगवान के साथ अपने नित्य और स्वरूपगत सम्बन्ध को कैसे भूल सकता है ? और वह अज्ञान भी भगवान के स्व-अभिव्यक्तिरूप वस्तुतः भगवद्-ज्ञानवाले स्वरूप में कैसे उदित हो सकता है ? तथा वादीसम्मत भगवान के पूर्ण और आनन्दमय तथा प्रेममय स्वरूप की धारणा के साथ समञ्जस रख कर भगवद्-इच्छा को, आत्माओं के सकल दुःख का मूलरूप इस अज्ञान का सृष्टिकर्त्ता कैसे माना जा सकता है ? यदि अज्ञान को कारणरहित और नित्य माना जाय, तो कोई आत्मा उसको अपने स्वरूप से कैसे निवृत्त करके भगवान के साथ अपनी वास्तव एकता का अनुभव करता है और नित्य मुक्ति प्राप्त करता है ? यदि तथाकथित आत्मअज्ञान को ऐसा माना जाय कि, वह अनादिकाल से आत्मा का

स्वरूपगत है, तो अज्ञान को उसके स्वरूप के प्रति वस्तुगत मानना होगा, फलतः जिसे मुक्ति कहते हैं वह असम्भव हो जायगा। यदि अज्ञान उसके स्वरूप में वस्तुगत और नित्यरूप से नहीं रहता, तो उसके स्वरूप के साथ उसकी उत्पत्ति और संग का कोई कारण अवश्य होगा। जबकि अज्ञान के पूर्व आत्मा में कोई कर्म नहीं मान सकते, तब कर्म इसका कारण नहीं हो सकता। यदि आत्मा के इस स्वात्म-अज्ञान का कारण भगवदिच्छा को माना जाय, तब भगवान ही इसके समस्त बन्धन और दुःखों के लिए उत्तरदायी होंगे। फलतः ऐसा भगवान प्रेममय और कृपालु नहीं माना जा सकता और इस रूप से पूजित भी नहीं हो सकता। यह भी नहीं कह सकते कि, जीव का भक्ति-पूजन और साधन ही भगवत्-स्वरूप में प्रेम और दया के भाव का कारण है, क्योंकि ऐसा कोई कार्यकारणसम्बन्ध सयुक्तिक सिद्ध नहीं हो सकता। यदि ऐसा कोई सम्बन्ध सिद्ध हो सके, तो भगवत्-स्वरूप को जीवों के कर्म द्वारा परिणाम प्राप्त और विकृत मानना होगा। और भी, यह इस सिद्धान्त में पहुंचायगा कि भगवत्स्वरूप, असंख्य जीवों के अज्ञान और दुःखों का मूल कारण होनेसे वस्तुतः निर्दय है, और किसी एक जीव की भक्ति इस स्वभाव को परिवर्तन करने में तथा उस में अनन्त प्रेम और दया का उत्पादन करने में समर्थ होता है, जिससे कि भगवान की स्वाभाविक निर्दयता अभिभूत होती है और जीव की क्रिया से उसमें उत्पन्न प्रेम और दया के बल से वह व्यर्थ हो जाती है। और भी, इसकी कोई सयुक्तिक उपपत्ति भी नहीं प्राप्त होती कि, स्वात्म-अज्ञानवान आत्मा संसार-चक्र में भ्रमता हुआ कैसे अचानक भगवान के प्रति प्रेमासक्त होता है और उसकी जगत् के प्रति प्रवृत्ति अकस्मात् बाधा को प्राप्त होकर भगवान के या उसके अपने अज्ञात वास्तव स्वरूप के प्रति उन्मुखी होती है। अतएव मुक्ति-विषय में वादीसम्मत सभी सिद्धान्त—यथा अपने वास्तव स्वरूप के विषय में आत्मा का अज्ञान, इस अज्ञान से मुक्त होने के लिए उसकी इच्छा,

वादीसम्मत मुक्ति (अर्थात् भगवद्-अंशरूप जीव के भगवत्स्वरूपगत आनन्द का अनुभव) विचारसंगत नहीं । भेदाभेदवादी त्रिदण्डी सम्मत सिद्धान्त और मुक्ति का खण्डन ।

भगवान के प्रति उसकी भक्ति और प्रेम का भाव, आत्मा के प्रति भगवान का प्रेम और दया इत्यादि—सयुक्तिक सिद्ध नहीं हो सकता। और भी, आत्मा और भगवान में अंश और पूर्णरूप सम्बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसा सम्बन्ध (व्याप्ति और परिमाण) केवल भौतिक पदार्थों में ही अनुभवगोचर होता है। अग्नि और स्फुलिङ्ग की उपमा भी इस स्थल में प्रयुक्त नहीं हो सकती। यदि इसको स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी कोई अंश (जीव) उसे कैसे अनुभव कर सकता है जोकि पूर्ण के स्वरूपगत है? तृषा को निवारण या शीलतारूप कार्य को उत्पादन करना, यह जल का धर्म हो सकता है; किन्तु इससे क्या यह बोधित होता है कि, प्रत्येक जलपरमाणु में भी वही शक्ति है?*

*भ्रम के निरास से जीव की कारणात्मक ब्रह्म प्राप्तिरूप मुक्ति होती है, ऐसा भेदाभेदवादी त्रिदण्डी मत भी समीचीन नहीं है । भेद का अभेदाभावात्मत्व होने से उभय का एकत्र विरोध होने के कारण, उक्त पक्ष (भेदाभेदवाद) असम्भव है; और भेद के अभेदाविरुद्ध वस्त्वन्तर होने से भेदग्रहण के कारण, कहीं पर भी अभेद-भ्रम का निरास नहीं होगा, क्योंकि वह उसका अविरोधी होता है । और भी, उक्त मतमें ब्रह्म और ब्रह्मांश जीव का स्वरूपतः भेद और स्वरूपतः ही अभेद माना जाता है । परन्तु यह समीचीन नहीं है । यदि जीव और ईश्वर का स्वरूपतः ही अभेद हो, तो ईश्वर भी आंशिक सुखदुःख का भागी और जीव भी जगत् का कर्त्ता आदि होगा । जीव के स्वाभाविक ही ब्रह्म से भिन्न होने से एवं निरंश ब्रह्म के स्वाभाविक ही अंशांशि-भाव से रहित होने के कारण, उससे भिन्न जीव, घटादि के समान ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता । और भी, जीवकी ब्रह्मप्राप्ति भी समीचीन कल्पना नहीं है । ब्रह्म के साथ संयोग या तादात्म्य को ब्रह्मप्राप्तिरूप मे कहा जा सकता है । ब्रह्मचेतन के सर्वगत होने से उसके साथ संयोग सम्भव नहीं है, तथा अन्य का तादात्म्य अन्य के साथ होना असम्भव होने से, तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । अर्थात् ब्रह्म में जाकर भी यदि जीवभाव बना रहे अथवा जीवत्व का सर्वथा नाश हो जाय, तो दोनों पक्षों में ही तादात्म्य नहीं हो सकता ।

भगवत्-स्वरूपगत आनन्द का विवेचन और मुक्ति का निषेध।

इसी प्रकार भगवान के स्वरूप के विषय में भी प्रश्न होता है कि, उसका स्वरूप आनन्दमय कैसे है ? वह क्या आनन्द का उपभोग करता है या उपभोग का सर्वश्रेष्ठ और पूर्णतम विषय है अथवा वह स्वयं आनन्द रूप है ? यदि वह आनन्द का उपभोग करने वाला हो, तो उसके उपभोग का विषय भी अवश्य रहेगा। उसके अध्यात्मिक धाम में क्या ऐसे उपभोग्य विषय हो सकते हैं ? उस धाम में क्या उपभोग्य विषयों का सर्वापेक्षा अधिक बाहुल्य है ? उनको उपभोग करने के लिए क्या भगवान के विभिन्न अंग हैं ? किन्तु ऐसा होने पर विषयों की विभिन्नतायुक्त दृश्य जगत में दृश्य देह के सहित भगवान भी एक दृश्य व्यक्ति होंगे। ऐसा भगवान और ऐसे जगत के उपपादन के लिए एक उससे भी उत्कृष्ट और अदृश्य भगवान आवश्यक होगा (जैसा कि चेतन जीव और उनके अनुभव्य जगत् के उपपादन के लिए भगवान कल्पित होता है)। स्वप्रकाश चैतन्य रूप से भगवान अपर किसी ज्ञाता के प्रति उपभोग का विषय नहीं हो सकता। यदि वह शुद्ध आनन्दरूप हो, तो वह केवल एक शुद्ध गुणरूप होगा नकि व्यक्तिरूप। यदि आनन्दपना से यह बोधित होता हो कि भगवान में कोई अपूर्णता, अभाव या वासना नहीं है, तो यह एक शुद्ध अभावरूप धारणा होगी और ऐसा होने पर उसके साथ एकता की अनुभूति, किसी उपभोग को नहीं सूचित करेगी, किन्तु इससे केवल दुःखरहित (अभावरूप) अवस्था ही विदित होगी।

अतएव यह प्रतिपन्न हुआ कि भगवद्धाम (वैदिक राज्य या आध्यात्मिक धाम या भगवद्रूप) में पूर्णानन्दप्राप्तिरूप मुक्ति के विषय में हमलोग कोई सयुक्तिक सामञ्जस्यपूर्ण धारणा नहीं कर सकते।

तत्त्वविषयक अन्तिम निर्णय

प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने अपने शास्त्रों को ही मुख्य प्रमाणभूत मानकर मूलतत्त्व का स्वरूप निर्णय करते हैं और उसी के अनुसार अपने जीवन का उद्देश्य और मुख्य कर्त्तव्य का निर्द्धारण करते हुए उसके फलरूप पारलौकिक गति की आशा रखते हैं। (यही धर्म का मूल सिद्धान्त है)। इन सम्प्रदायों में मतविरोध को देखकर प्रत्येक पक्षपातरहित विचारवान व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि, इनमें कौनसा यथार्थ है? अतएव उनका विवेचन और परीक्षण होना भी आवश्यक है। समालोचना द्वारा पाठकों को यह विदित हो चुका है कि, शास्त्र को प्रमाणभूत मानने में कोई उपयुक्त हेतु नहीं है और ऐसा मानना श्रद्धाजडतामूलक संकीर्णता का परिचय देना है। उक्त साम्प्रदायिकों ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए जो कुछ भी युक्तितर्कों का संग्रह किया है, वे सभी विचारदृष्टि से हेय मालूम होते हैं। फलतः हम इस सिद्धान्त में पहुंचते हैं कि, तत्त्व के विषय में आजतक जो कुछ निर्वाच्य रूप से वर्णित हुआ है, वह सभी वास्तव में अनिर्वाच्य ही है; अप्रमाण ही प्रमाणरूप से कथित हुआ है। अतएव निर्वचनकर्तृत्वाभिमान को त्यागकर हमको यह निर्णय करना होगा कि, सर्वस्व अनिर्वचनीय है (जगत् के मूल तत्त्व का विशेष स्वरूप निर्द्धारण न करते हुए)। इससे समीक्षक (ग्रन्थकार) को मूल तत्त्व (ईश्वर और आत्मा) के विषय में किस निर्णय पर पहुंचना पड़ता है, सो यहां पर स्पष्टतः प्रदर्शित करते हैं।

ईश्वर

प्रत्येक घटना के मूल में, हमको किसी न किसी कारण की उपलब्धि अवश्य होती है। अतएव, कार्य-कारण भाव से पूर्ण जगत् का अवलोकन कर, हमारी बुद्धि, इस कार्यरूप जगत् के

मूलकारण के साथ परिचित होने के लिए इस मौलिक धारणा को लेकर अग्रसर होती है कि, इसका कोई कारण अवश्य होगा। किन्तु, जिस समय बुद्धि मूल कारण के स्वरूप का निश्चय करने लगती है, उस समय प्रश्न उपस्थित होते हैं कि, वह एक है वा अनेक? चेतन है अथवा जड़? एक अद्वितीय निर्विभाग तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति हुई है अथवा परस्पर सहकारी स्वतःसिद्ध अनेक तत्त्वों के संमिश्रण से? वह तत्त्व अनन्त है या सान्त? रूपादि गुणयुक्त है वा इनसे रहित? जगत् की उत्पत्ति से वह (मूलतत्त्व) विकृत भी होता है अथवा निर्विकार ही रहता है? इत्यादि नाना विकल्पों से चकित होकर हमारी बुद्धि किसी एक युक्तिसंगत सिद्धान्त का अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझती है। किन्तु, जिस सिद्धान्त को भी यह ग्रहण करती है, उसमें स्वयं उत्थापित किए हुए आपत्तियों का सन्तोषप्रद रूप से समाधान कर सकने में, यह अपने आपको असमर्थ पाती है। फलतः यह अपने स्थान को परिवर्त्तित करती है, एक सिद्धान्त से अपर में चली जाती है, किन्तु प्रत्येक स्थल में इसी प्रकार के अनिवार्य आपत्ति उत्पन्न होते रहते हैं।

इसी प्रकार जब मानवबुद्धि, इस विशाल जगत्प्रपञ्च की अद्भुत रचना, अस्खलित क्रम तथा विभिन्न विभाग के सुनियमित नियमों की विवेचना करने लगती है, उस समय इतनी प्रभावित होती है कि यह माने विना नहीं रह सकती कि, जगत् किसी विशेष उद्देश्य को लेकर रचित है तथा नियमित है। इस उद्देश्य की धारणा, हमें उस उद्देश्यकारी की ओर ले आती है जो अवश्य ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होगा। परन्तु, यहांपर भी इसी प्रकार की यौक्तिक कठिनाइयां उत्प होती हैं, जिनका समाधान और विजय प्राप्त करने में मानवबुद्धि का प्रयत्न कुण्ठित हो जाता है। अतएव यह नतो इस धारणा को त्याग सकती है कि, दृश्यमान जगत् का कारण और नियामक अवश्य होगा, और न यह (बुद्धि) किसी निर्दिष्ट धारणा को लेकर सन्तुष्ट हो सकती है जो (धारणा)

महान् जगत्प्रपञ्च का कारण और नियामक के अनुरूप सुदृढ़ सिद्धान्तों से गठित हो तथा विरोधी आपत्तियों से दूषित न हो। मानवबुद्धि इसी प्रकार अग्रसर होती रहती है, किन्तु गन्तव्यस्थल में नहीं पहुंचती। यही कारण है, जो आज मानवसमाज में हमारे सन्मुख विभिन्न दार्शनिक विचार प्रस्तुत हैं, तथा भविष्य में भी हमारी बुद्धि, इसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार करती रहेगी। यद्यपि मानवबुद्धि को जगत् में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, तथापि यह दृश्यमान प्रपञ्च का एक अंशमात्र है; जो इसीके रहस्यपूर्ण नियमों से नियमित है। अतएव इसके द्वारा अखिल विश्व के आमूल रहस्योद्घाटन की आशा, दुराशा मात्र है।*

*पहले 'ईश्वर' अध्याय में यह सिद्ध हो चुका कि, ईश्वर प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। इसपर कोई (वेदान्ती लोग) कहते हैं कि, ईश्वर के प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि, उसका अस्तित्व ही नहीं है। दूसरे कितने ही लोग (पूर्वमीमांसक, सांख्य, जैन, बौद्ध और चार्वाक) कहते हैं कि, ईश्वर को सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण न होने से यह मानना होगा कि, ईश्वर नहीं है। इसपर यदि एक निष्पक्ष समालोचक की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह निर्णय करना होगा कि, किसी वस्तु का अस्तित्व चाहे हो या न हो, परन्तु बिना प्रमाण के उसके स्वरूप और स्वभाव का निश्चय करके उसके विषय में किसी सिद्धान्त का स्थापन करना सर्वथा अनुचित है। जो लोग इस सिद्धान्त में पहुंचे कि, ईश्वर नहीं है, वे लोग भी इस जगत् की निर्दोष व्यवस्था नहीं कर सके (निष्कारणवाद, क्षणिकवाद, कर्म सहित पुद्गल या परमाणुवाद और प्रकृतिवाद का खण्डन प्रदर्शित हुआ है)। जब हम इन दोनों ही पक्षों में दोष पाते हैं, और तीसरा कोई निर्दोष पक्ष नहीं बता सकते, तब मुझको (ग्रन्थकार को) इस विषय में जिस सिद्धान्त पर पहुंचना पड़ा है, उसको अब मैं स्पष्ट करता हूं। वस्तुस्थिति के अनुसार (objectively) विचार करने पर केवल दो ही विकल्प हो सकते हैं (तीसरा नहीं), यातो ईश्वर है या नहीं है। परन्तु अपनी विचारबुद्धि के सामर्थ्य के अनुसार (subjectively) एक और तीसरा विकल्प हो सकता है; वह यह कि, ईश्वर है या नहीं, इसको निर्णय करने का कोई उपाय नहीं है।

आत्मा

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में बाल्यादि अवस्थाओं के परिवर्त्तन होते रहते हैं, परन्तु इन परिवर्त्तनों के मध्य में कोई ऐसी अपरिवर्त्तनशील वस्तु बनी रहती है, जिसे देखते ही हम पहिचान लेते हैं कि, यह वही मनुष्य है, यद्यपि समय के प्रभाव ने इसमें बहुत रूपान्तर कर दिया है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने मानसिक परिवर्त्तनों के मध्य में भी अपनी सत्ता को अपरिवर्तित रूप से अनुभव करता रहता है और दूसरे व्यक्तियों में भी ऐसे अपरिवर्त्तनशील सत्ता को निःसन्दिग्ध होकर स्वीकार किया करता है। हमारी विचारबुद्धि इस विषय का अनुसन्धान करती रहती है कि, वह कौनसा ऐसा पदार्थ होगा तथा वह कौनसी ऐसी रीति होगी, जिसके सहारे वह स्वयं निर्विकार रहता हुआ इन शारीरिक और मानसिक विकारों को अपने अन्तर्गत बनाये रखता है? विचारबुद्धि इन अस्थिर अवस्थाओं के मध्य में एक स्थिर आत्मा को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकती, जो इन सब परिवर्त्तनशील पदार्थों को एकत्र रखकर उनमें एकता बनाये रखता है तथा बुद्धि को यह मानने के लिये विवश करता है कि, ये परिवर्त्तन किसी नवीन पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु ये सब उसी एक पदार्थ के अन्तर्गत हैं। परन्तु जब हम इस आत्मा के स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब हमको नाना प्रकार की यौक्तिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और हम किसी निश्चित धारणा में नहीं पहुंच सकते। आत्मा चेतनरूप है या चेतनावान अथवा वह निर्विकार है या सविकार किम्वा वह एक है या अनेक अथवा वह परिछिन्न है या अपरिछिन्न इत्यादिरूप से आत्मा के स्वरूप, धर्म, संख्या और व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता यह प्रतिपादित हुआ है। अतएव इस आत्मा का स्वरूप चाहे कुछ भी हो अथवा हमारे शारीरिक और मानसिक परिवर्त्तनों में एकता को सुरक्षित रखने वाली रीति चाहे कैसी भी क्यों न हो, परन्तु

हमारी ससीम मानवबुद्धि इस समस्या का समाधान करने में समर्थ नहीं होती । इसी प्रकार मूलतत्त्व-विषयक प्रत्येक समस्या स्थल में मानवबुद्धि की ऐसी दशा उपलब्ध होती है ।

अन्त में हमको इसी निर्णय पर पहुंचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि, हमारी ये दार्शनिक समस्यायें इसी प्रकार रहस्यमय और समाधान के अयोग्य बनी रहेंगी । मानव-बुद्धि की अवश्यम्भावी गति यही देखने में आती है कि, वह अपने इस रहस्यमय अनुभवराज्य के रहस्यों का पता लगाने लिए स्वाभाविक ही प्रवृत्त होती रहेगी तथा इस प्रयत्न में वह ज्यों ज्यों अग्रसर होती जायगी त्यों त्यों अधिक से अधिक गम्भीर रहस्य और रहस्य के अन्दर रहस्यों से परिचित होती चली जायगी । उसका यह परिचय उसको और भी अधिक उत्साह पूर्वक अनुसन्धान के लिए प्रवृत्त करेगा और अन्त में चकित होकर मानवबुद्धि को यह निर्णय करने के लिए विवश होना पड़ेगा कि, जगद्-रहस्य समाधान के अयोग्य रहस्य है । ॥ इति ॥

उपसंहार

हमारा कर्तव्य

इस मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके समाधान के लिए अति प्राचीन काल से संसार के सभी विद्वान् और बुद्धिमान् लगे हुए हैं तथा अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भरसक सभी लोगों ने इसका उचित उत्तर देने का प्रयत्न भी किया है, परन्तु फिर भी मनुष्य-समाज आज तक इस विषय में एक मत नहीं हो सका। इसका कारण क्या है, इस पर विचार करने से अर्थात् सभी विद्वानों के पृथक् पृथक् मतों का भली प्रकार अध्ययन करने से हम यह पाते हैं कि, प्रायः सभी विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पना के अनुसार जगत् के मूल तत्त्व को मान लिया है और उसी के अनुसार वे हमें ऐसे कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हैं, जो उनके अपने कल्पित स्वरूप वाले मूल तत्त्व का कल्पित स्वभाव के अनुकूल हो। परन्तु मूलतत्त्व के सम्बन्ध में आज-तक जितने भी सिद्धान्त स्थापित हुए हैं या हो सकते हैं, उनकी परीक्षा करने पर हम उनमें से एक को भी निर्दोष नहीं कह सकते, यह मैंने अपने "प्राच्यदर्शनसमीक्षा" नामक ग्रन्थ में (जिसका यह उपसंहार-भाग है) भलीप्रकार प्रदर्शित किया है। ऐसे असिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर किसी 'कर्तव्य' का निर्देश करने से, वह सर्ववादी-सम्मत और मनुष्य मात्र का 'कर्तव्य' नहीं हो सकेगा, अतएव हम यहां पर उन प्रमाणरहित कल्पनामूलक विरोधी सिद्धान्तों की केवल अयथार्थता को ही दिखाते हुए, कर्तव्य विषयक स्वतन्त्र और निर्विवाद विचार प्रकट करेंगे।

यहां हम तीन दृष्टियों से विचार कर सकते हैं:— तत्त्वदृष्टि से, देशसेवा की दृष्टि से और अपने व्यक्तिगत सुख और शान्ति की दृष्टि से।

तत्त्वदृष्टि से कर्तव्य का विचार

तत्त्वदृष्टि से यदि कर्तव्य का निर्णय करना हो, तो मैं कौन हूं, इस जगत् के मूल कारण का स्वरूप क्या है, उसके साथ मेरा सम्बन्ध क्या है, किन नियमों के आधार पर मुझको अपने कर्मों के फल मिल रहे हैं, मेरा बन्धन कैसे हुआ और मुक्ति कैसे होगी, इत्यादि प्रश्नों का निर्णय कर लेने के पश्चात् उसके अनुकूल अपने कर्तव्य का स्वरूप निर्द्धारित करना होगा। परन्तु इन सब प्रश्नों का समाधान न हुआ है और न होगा, यह हम पिछले प्रसंग में भली प्रकार प्रदर्शन कर चुके हैं। अतएव तत्त्वदृष्टि से कर्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता।

अब हम यहां पर क्रमसे विद्वानों की कर्तव्य विषयक मुख्य २ युक्तियों पर विचार करते हैं। जो कर्म (१) भगवद्-उद्देश्य से या (२) आत्मदर्शन के लिए या (३) ब्रह्मज्ञान के लिए या (४) मुक्ति की प्राप्ति के लिए या (५) शास्त्र के विधानानुसार या (६) शुभ उद्देश्य से या (७) शुभ फल के लिए या (८) विवेकबुद्धि की वाणी के अनुसार या (९) कामनारहित होकर किया जाता है वही कर्तव्य है ऐसा निर्णय नहीं कर सकते सो संक्षेप से प्रदर्शन करते हैं। (१) (२) (३) विचारसंगत नहीं, क्योंकि साधन का मूल तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है यह प्रतिपादित हो चुका है। (देखिए 'साधन' अध्याय)। (४) (५) अमुक कर्म हमारी मुक्ति का कारण है और अमुक कर्म हमको मुक्ति से दूर ले जायगा, इसको अलग २ पहचाने के लिए हमारे पास कोई निश्चित उपाय नहीं है। मुक्ति के स्वरूप के विषय में मत-भेद होने से उसकी प्राप्ति के लिए हमारे 'कर्तव्य' में भी मत-भेद उपस्थित होगा और हम किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच सकेंगे। एक मत की दृष्टि से विचार करने पर जो कर्तव्यरूप समझा जाता है, दूसरे की दृष्टि से वही अकर्तव्य हो जाता है। जब कि हमारे इस मनुष्य-समाज का कोई ऐसा अन्तिम गन्तव्यस्थल प्रमाण

द्वारा सिद्ध नहीं होता, जिसके विषय में सभी विवादरहित होकर एक मत हों, तब उसकी प्राप्ति के लिए बताया गया हुआ कोई भी साधन हमारा निश्चित 'कर्तव्य' नहीं हो सकता (मुक्ति ही सिद्ध नहीं होती, देखिए 'मुक्ति' अध्याय)। अतएव शास्त्रविहित कर्मों को भी हम अपना 'कर्तव्य' नहीं मान सकते। कई लोग शास्त्र को स्वतःप्रमाण मानकर उस पर विवाद करना पसन्द नहीं करते। उनके ऐसा मानने में कारण यह है कि, वे लोग शास्त्र को अपौरुषेय, या ईश्वर द्वारा रचित या सर्वज्ञ जीव द्वारा रचित अथवा तत्ववेत्ता पुरुष द्वारा रचित मानते हैं। परन्तु इनमें से कोई एक भी पक्ष विचार द्वारा सिद्ध नहीं होता (शास्त्र भ्रमप्रमादपूर्ण लेखक द्वारा रचित हैं) यह हम विस्तार पूर्वक प्रदर्शन कर चुके हैं। (देखिए 'शास्त्रप्रमाण' अध्याय।) (६) किसी का उद्देश्य शुभ है या अशुभ, यह उसके कर्मों से जाना जाता है। इसलिए पहले यह निर्णय कर लेना होगा कि, उसका वह कर्म शुभ है, तभी उसका उद्देश्य भी शुभरूप सिद्ध हो सकेगा। उक्त लक्षण के अनुसार कर्म को शुभ रूप निर्णय किए बिना उद्देश्य का शुभत्व नहीं सिद्ध होता और उद्देश्य के शुद्ध सिद्ध हुए बिना कर्म का शुभत्व निर्णीत नहीं होता; अतएव ऐसे (अन्योन्याश्रय दोष से दूषित) लक्षणों से भी कर्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता। किसी कर्म को हमारे शुभरूप समझ लेने से वह वास्तव में ही शुभ है ऐसा निर्णय नहीं हो सकता अर्थात् कर्म का स्वभाव, मन के भाव के अनुसारी होगा ऐसा नहीं कह सकते। (७) फल के द्वारा भी 'कर्तव्य' की पहिचान नहीं हो सकती। जिस कर्म से कुछ व्यक्तियों का उपकार होता है, वही उसी समय अन्य व्यक्तियों के लिए अपकार का भी कारण बन जाता है। यह उपकार और अपकार की धारणा भी देश के अनुसार, स्वभाव के अनुसार, अवस्था के अनुसार और मानसिक उन्नति आदि के अनुसार बदलती रहती है। अतएव ऐसे परिवर्तनशील सुखदुःख रूप मानसिक-भाव और उपकार-अपकार की परिणामशील धारणा से विषयगत शुभ और अशुभ

की पहिचान नहीं हो सकती । किञ्च, हम यह भी नहीं निर्द्धारण कर सकते कि, हमारे कर्म कब, कहां, कैसे और कितने फल देंगे । यद्यपि हम लोग कभी २ अपने कर्म का फल अनुभव करते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि उस फल के उत्पन्न होने में कितने कारण सहायक हुए हैं । हमको यह भी नहीं मालूम कि, एकही कर्म एक जगह फलदायक होता हुआ भी अन्यत्र क्यों नहीं फल देता । फल को देखकर कर्म के स्वरूप का अनुमान करना भी उचित नहीं हो सकता, क्योंकि हम प्रायः यह अनुभव करते हैं कि, पुण्यरूप से मान्य कर्मों को न करने वाला व्यक्ति भी उसके फलरूप सुख से युक्त होता है और पुण्यात्मा कहलाने वाला व्यक्ति भी दुःखी देखा जाता है । कोई एक कर्म सदैव उसी निश्चित फल को उत्पन्न करता हुआ भी नहीं देखा जाता, क्योंकि सभी व्यक्ति किसी एकही उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकही प्रकार का कर्म करते हुए देखे जाते हैं, परन्तु सभी उससे समान रूप से लाभ नहीं उठाते । अतएव फलको देखकर हम कर्म के स्वरूप (शुभ या अशुभ) का निर्णय नहीं कर सकते । (८) सभी मनुष्यों को विवेकबुद्धि एकरूप नहीं पाई जाती; यह केवल मनको एक अवस्था है, जो शिक्षा और परस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । (९) कर्म का मूल वासना है और वासना को पूर्ण करना ही सदैव बुद्धिपूर्वक कर्म का उद्देश्य है । जबतक आत्मा का बोध है तबतक आत्मरक्षा, आत्मोन्नति और आत्मोपभोग की वासना भी अवश्य रहेगी । जिस वस्तु से हम सर्वदा उदासीन हैं, राग-द्वेष कोई नहीं है, उसके प्रति हमारी क्रिया-पूर्वक प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती । अभाव (रागद्वेषाभाव) व्यवहार का प्रवर्तक नहीं है; अभाव स्वतः निर्विशेष होने से वह भिन्न भिन्न विशेष व्यवहार का प्रयोजक नहीं हो सकता । इसलिए सर्वथा वासना-रहित होकर कोई भी कर्म करना सम्भव नहीं है । अतएव ऐसे असम्भव निष्काम कर्म की सम्भावना करके उसे शुभ या कर्तव्य रूप से कल्पना करनी व्यर्थ है ।

नैतिक नियम (Moral Law) के अनुसार सम्पादित कर्म ही पुण्य या शुभ या कर्तव्य है इस सिद्धान्त की समालोचना।

कितने ही विद्वानों ने हरएक मनुष्य में स्वभाव से ही पाए जाने वाले पाप और पुण्य के विचार से ही कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय किया है; उनके मत में हरएक समाज में पाए जाने वाले जो नीति के नियम हैं; वही 'कर्तव्य' हैं। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें यह मान लिया गया है कि, पाप और पुण्य का ज्ञान सभी मनुष्यों में स्वभाव से ही उपस्थित है। यद्यपि उचित और अनुचित की धारणा प्रायः सभी मनुष्यों में सर्वत्र पाई जाती है, परन्तु हम लोग "क्या करना उचित है" और "क्या करना अनुचित है" इस विषय में कोई ऐसा साधारण नियम नहीं पाते जिससे हम यह अनुमान कर सकें कि, ये नैतिक-नियम जगत् के उन प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत है, जिनसे कि यह जड़जगत् नियमित और सुव्यवस्थित हो रहा है। यदि ये नैतिक नियम भी तर्कशास्त्र के मूल नियमों के समान संसार भर में सर्वत्र और समान रूप से सभी विद्वानों को सम्मत होते अथवा हम गणित के नियमों के समान इन नीतियों के भी मूल नियमों का अविष्कार कर सकते, तभी हम संदेहरहित होकर नैतिक नियमों के आधार पर यह सिद्ध कर सकते कि, अमुक कर्म पुण्य ही है पाप नहीं तथा अमुक पाप ही है, पुण्य नहीं। परन्तु हमारा साक्षात् अनुभव इसके बिलकुल विपरीत है। मनुष्य के विभिन्न समाजों में पाए जाने वाले नीति और पुण्य के नियमों में ऐसा विरोध देखा जाता है कि, हम उनके प्राकृतिक और स्वाभाविक होने में विश्वास करने का कोई कारण नहीं पाते। विभिन्न देश के विभिन्न समाज अपनी अपनी सुविधा के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के नैतिक-नियमों को बनाते हुए देखे जाते हैं। समाज के भिन्न २ स्वभाव वाले व्यक्तियों में एकता और सङ्गठन बनाए रखने के लिए, मनुष्यों के विभिन्न और विरुद्ध स्वार्थों में समता रखने के लिए और उनके विचित्र कर्मों को एक ही लक्ष्यके प्रति अग्रसर करने के लिए प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा अथवा उनके समुदाय के द्वारा समाज में शुभ

और अशुभ की धारणा प्रचलित की जाती है। इसीलिए समाज-संगठन के लिए प्रचलित जो नियम होते हैं, वे समय और राजनैतिक हेर फेर के अनुसार अथवा समाज की रुचि, आर्थिक अवस्था और शिक्षा-प्रणाली के अनुसार बदलते ही रहते हैं। कुछ तो मनुष्य जाति के उद्देश्य में सदृशता और कुछ मानव-प्रकृति में समता होनेके कारण, कोई २ कर्म संसार के सभी समाजों में शुभ या अशुभ एक ही रूप से समझे जाते हैं। अतएव ऐसे परिवर्तनशील नैतिक-नियमों के आधार पर मनुष्य मात्र के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता।

उपरोक्त विचार से हमको इस निर्णय पर पहुंचना पड़ता है कि, तत्त्व-दृष्टि से हम अपने 'कर्तव्य' का निश्चय नहीं कर सकते। यद्यपि हमारे कितने ही भौतिक कर्मों का असर कालान्तर में भी बाह्य जगत् में पड़ता हुआ देखा जाता है (जैसे गन्दगी से बीमारी का फैलना आदि), परन्तु इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि, हमारे केवल अपनी कल्पनानुसार माने हुये पुण्य और पाप, उपकार और अपकार रूप मानसिक कर्मों का प्रभाव भी इस जगत्-प्रपञ्च के उन नियमों पर पड़ता है, जिससे कि यह जगत् सुरक्षित और सञ्चालित होता है। हमारा साक्षात् अनुभव तो यह है कि, हमारा प्रत्येक कर्म किसी भौतिक और मानसिक फल को उत्पन्न करता है अर्थात् प्रत्येक कर्म बाह्य जगत् में कुछ विकार और हमारे अन्दर मन में भी किसी विकार को उत्पन्न करता है। परन्तु केवल इतने ही मात्र से हम यह नहीं प्रमाणित कर सकते कि, इसका असर जगत् के मूलकारण पर भी पड़ता है। हमको अव्यक्त जगत् के नियमों का कुछ भी पता नहीं और न यही मालूम है कि, हमारे भौतिक अथवा मानसिक कर्मों का सम्बन्ध इस जगत् के मूल तत्त्व से भी है, या अमुक कर्मों से हम उसको प्राप्त हो सकते हैं। फिर हम तत्त्व-दृष्टि से अपने कर्तव्य का निर्णय कैसे कर सकते हैं ? अतएव तत्त्वदृष्टि से कर्तव्य-निर्णय की आशा छोड़कर हमको अपनी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार अपने 'कर्तव्य' पर विचार करना होगा।

देशसेवा की दृष्टि से स्वाधीनता प्राप्ति ही मुख्य कर्तव्य है । दो प्रधान समस्याएं– धार्मिक कलह और इहलोकद्रोह ।

अतएव तत्त्वदृष्टि के बाद अब हम देश–सेवा की दृष्टि से अपने 'कर्तव्य' का विचार करते हैं । इस देशसेवा के कार्य में—समाज-संगठन, देशोन्नति की दृष्टि से अथवा अपने व्यक्तिगत शान्ति और सुख की दृष्टि से— कुछ कर्म ग्राह्य होंगे और कुछ त्याज्य भी होंगे, परन्तु यह ग्रहण और त्याग तत्त्वदृष्टि से उसे पुण्य या पाप मानकर अथवा कर्म–नियम को मानकर नहीं होगा, किन्तु देश, काल, पात्र और अवस्था के भेद से अपनी आवश्यकता के अनुसार उन कर्मों का त्याग और ग्रहण होगा ।

देशसेवा की दृष्टि से कर्तव्य का विचार

अब हम देश की वर्तमान अवस्था के अनुसार अपने 'कर्तव्य' का विचार करते हैं । इस समय पराधीन जाति का एक मात्र कर्तव्य स्वाधीनता को प्राप्त करना है । दासता के जंजीर में जकडे हुये हमारे देश का भाग्य दूसरों के आधीन हो रहा है । सब परस्पर संघटित होकर इस बन्धन को तोड फोड डालना ही इस समय हमारा मुख्य कर्तव्य है । इस बन्धन से मुक्त होने के लिए भजन, ध्यान और ज्ञान की आवश्यकता नहीं, किन्तु संघटन, स्वाधीनता की शिक्षा और उसकी प्राप्ति के लिए प्राणपन प्रयत्न करना ही इसका एकमात्र साधन है ।

आज देश में दो प्रधान समस्याएं हैं. एक तो धार्मिक कलह और दूसरी इस लोक से विमुखता । नाना प्रकार के धर्म मानने वाले अपने अपने धर्मों में कट्टर अन्धविश्वास रखते हुये आपस में झगडे और फसाद करते रहते हैं और इस प्रकार अपने देश की स्वाधीनता में बाधक बनते हैं; ऐसा ही अपनी कल्पना से रचे हुये परलोक के लोभ से लोग इस लोक से विमुख होकर देश–सेवा से उदासीन हो रहे हैं । देश में राष्ट्रीयभाव (National spirit) की जागृति और संघटन के लिए यह आवश्यक है कि, इस प्रकार के इहलोकद्रोही धार्मिक शिक्षाओं की प्रबलता कमी की जाय, क्योंकि यह केवल स्वार्थसिद्धि और परलोकसम्बन्धी

कल्पनाओं के ऊपर प्रतिष्ठित है । स्वर्गप्राप्ति मोक्षप्राप्ति आदि विचाररहित आलसी कल्पनाओं के वशीभूत होकर लोग इस लोक की उन्नति से उदासीन और परलोक के लोभी बनते हैं । प्रायः लोग परलोक के लोभ से ही भगवद्-भजन, आत्म-ध्यान और ब्रह्म-विचार करते हैं, जिसका कुफल आज हमको प्रत्यक्ष भोगना पड रहा है । त्याग और वैराग्य के उपदेश ने हमको उत्साहरहित और आलसी बना दिया है, भक्ति के उपदेश ने वीरता को हटाकर शृङ्गार (भावुकता)-प्रिय बना दिया है और ज्ञान के उपदेश ने हमारे जीव-प्रेम और देश-प्रेम को सुला कर हमें हृदयहीन और पूर्ण स्वार्थी बना डाला है । ऐसे कट्टर धर्मान्धता से हमने सिवाय हानि के आजतक कुछ भी लाभ नहीं उठाया, अपने भाइयों को ही अपना शत्रु बना लिया और अपने घर में ही आज हम दूसरों के दास बने हुए हैं । अब इन कल्पना-मूलक धर्म के प्रलोभनों की चिन्ता में अपने इसलोक को व्यर्थ न गंवाकर, देश-सेवा के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए और निरर्थक धार्मिक कलह को त्यागकर आपस में संगठन करके अपने 'कर्तव्य' (देश को स्वाधीन बनाने) में जुट जाना चाहिए ।

अब उक्त दोनों समस्याओं पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए यह प्रदर्शन करते हैं कि, सभी धार्मिक सिद्धान्त निर्मूल और कल्पित हैं तथा इनकी रक्षा के लिए आपस में लड़कर इस लोक को बिगडना सरासर भूल है । सभी धार्मिक सिद्धान्त ईश्वर और कर्म-नियम को मानकर ही स्थापित किये जाते हैं । अब हम यह प्रदर्शन करते हैं कि, इन मतों में से किसी के पास भी कोई ऐसा युक्तिसंगत प्रमाण नहीं पाया जाता, जिसके आधार पर हम किसी निश्चित सिद्धान्त में पहुंच सकें । सर्वप्रथम हम ईश्वरवाद को लेते हैं । किसी पदार्थ के स्वरूप विषयक सिद्धान्त में पहुंचने के पहले विचारकों के हृदय में यह प्रश्न उदित होना चाहिए कि, वह पदार्थ है और वह इस स्वरूप का है यह हम जाना कैसे ? इसके मानने में हेतु क्या है ?

ईश्वरवाद

हमारे ईश्वर के अस्तित्व को मानने में केवल चार ही हेतु हो सकते हैं, यानो हमको उसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ हो या हमारे बाहर और भीतर अनुभव में आने वाले जगत् के कारण रूप से उसका अनुमान होता हो, या शास्त्रप्रमाण से उसका ज्ञान हुआ हो, या हमको अपने सांसारिक व्यवहार में किसी ऐसे सर्वसमर्थ और न्यायकारी पुरुषविशेष की आवश्यकता प्रतीत होती हो, जिसकी दया के ऊपर भरोसा रखकर हम अपने दुःख और संकटपूर्ण जीवन को निर्भय और शान्तिमय बना सकें। प्रथम तीन प्रकार के प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ हैं और विचारवान लोग उसको ग्रहण भी नहीं कर सकते, यह कहा जा चुका है। (देखिए 'ईश्वर' अध्याय)।* अतएव अब हमको

*वेद आदि शास्त्रों के द्वारा भी जगत् का कर्ता नित्य ईश्वर निर्विवाद से सिद्ध नहीं होता। यदि हो सकता, तो सांख्य और मीमांसक सम्प्रदाय के लोग वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों में पूर्ण विश्वास रखते हुए भी जगत्कर्ता नित्यसर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व के विषय में क्यों विवाद करते? वेदवेदाङ्ग के पारंगत कुमारिल भट्ट के "श्लोकवार्तिक" में जगत्कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अपूर्व तीव्र प्रतिवाद क्यों किया जाता? ("सांख्यादयो हीशस्याभावमापादयन्ति यत्नेन"—बृहदारण्यकवार्तिक)। उन लोगों ने वेद को ही मुख्य प्रमाण माना है, परन्तु उसके तात्पर्य की व्याख्या करते समय वे किसी और ही सिद्धान्त में जा पहुंचे हैं। वेद के ऊपर अनेक प्रकार के भाष्य और टीकाएं पाई जाती हैं, जो सभी एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न सिद्धान्त को स्थापन करने का प्रयत्न करते हैं। उनमें से एक विशेष भाष्य या शास्त्र ही प्रमाण के योग्य है और दूसरे सब अप्रामाण्य हैं, यदि यह सिद्ध करना हो, तो हमें अपने युक्तितर्क के ऊपर भरोसा रखकर निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होना होगा। उसका फल जो कुछ होता है, उसी को दिखाने के लिए इस ग्रन्थ (**प्राच्यदर्शनसमीक्षा**) की रचना हुई है। अपने अपने शास्त्र को प्रमाण मानकर उसी के आधार पर ईश्वर और जगत्-नियम को सिद्ध करने की चेष्टा करना केवल अन्ध साम्प्रदायिकता का परिचय देना है, विचारवान् इसे स्वीकार नहीं कर सकते।

केवल चतुर्थ कल्प स्वीकार करना होगा । इस पक्ष के अनुसार अपनी आवश्यकता के अनुकूल एक विशेष प्रकार के ईश्वर की भावना करके उस पर अभ्यास करने से चित्त को थोड़ी देर के लिए धैर्य और शान्ति अवश्य मिल सकती है (यद्यपि यह उपाय नियमपूर्वक सर्वत्र लाभ-दायक नहीं होता), परन्तु इससे स्वतन्त्र ईश्वर का बाहर और भीतर व्यापक अस्तित्व नहीं प्रमाणित होता।* ऐसा ईश्वर केवल मन की कल्पना मात्र होगा और उससे हम अपने मन के दिलबहलावा के अतिरिक्त और कुछ आशा (इस लोक में उन्नति की अथवा परलोक में उत्तम गति आदि की)

*केवल ईश्वर विषयक भावना से ही ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। भावना (Idea) तीन प्रकार की पाई जाती है । जिस समय हम पुस्तक को प्रत्यक्ष करते हैं, उस समय हमारे मन में पुस्तक की भावना होती है और जब हम किसी कार्य को प्रत्यक्ष देखकर या सुनकर उसके निश्चित कारण का अनुमान करते हैं, (जैसे पुत्र को देखकर पिता का), उस समय उस पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसकी भावना हमारे मन में उत्पन्न होती है । इन दोनो प्रकार की भावनाओ का मूल प्रत्यक्ष होने से उस भावना से उस वस्तु की सिद्धि या वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध हो सकता है । एक और तीसरे प्रकार की भावना होती है, जो न तो प्रत्यक्ष पदार्थ विषयक होती है और न प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखने वाले अनुमेय पदार्थ की । वह चित्त में एक प्रकार की धारणा मात्र होती है (जैसे बालक की भूत भावना) उससे किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती । यह मन का एक विशेष सामर्थ्य है कि वह न देखे हुए और न सुने हुए पदार्थ की भी भावना कर लेता है । यहां पर ईश्वर-विषयक भावना भी उक्त तीसरे प्रकार की है क्योंकि न तो वह (ईश्वर) प्रत्यक्ष-सिद्ध है और न अनुमान का ही विषय है । जब कि जगत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, तब उसकी भावना को उक्त तृतीय प्रकार की भावना के ही अन्तर्गत मानना होगा । जो प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष के आधार पर होनेवाले अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं है उसके सम्बन्ध में हम अपने ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकते । अतएव इस भावना से किसी स्वतन्त्र वस्तु का अस्तित्व सिद्ध न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।

नहीं कर सकते । अतएव वह एक विश्वास का विषय मात्र रह जाता है, न कि ज्ञान का । इसके अनुसार उसके प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उद्योग करने वालों को निराश ही होना पड़ेगा । परन्तु जब कि इस प्रत्यक्ष-सिद्ध जगत् को देखकर इसके कारण को जानने की अभिलाषा हमारे मन में स्वाभाविक है और जब कि विचार द्वारा हमारा मन इन बातों को स्वीकार करने को उद्यत नहीं है कि, जगत् कारण-रहित है, या जगत् की अनन्त कारण-परम्परा है, या इसके कारण-परम्परा का अन्त किसी जड़ तत्त्व में जाकर होता है, इत्यादि, तथा जब कि ईश्वर से भिन्न और कोई उपयुक्त कारण (दृश्य या अदृश्य) जगत् में नहीं पाया जाता है; तब यह विश्वास किया जाता है कि, हमारी भावना और विश्वास का ईश्वर ही इस जगत् का कारण है । यद्यपि उसके प्रमाणित होने में अनेक कठिनाइयां हैं (क्योंकि वह देशकालयुक्त या देशकालातीत रूप से निर्णीत नहीं हो सकता, देखिए पृष्ठ ९५-१००), तथापि अपनी उक्त श्रद्धा और विश्वास का बनाया हुवा ही तात्त्विक ईश्वर है, ऐसा मान लिया जाता है ।

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर हम इस निर्णय में पहुंचते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा वस्तु नहीं है, जिसके ऊपर हम एकान्त विश्वास रखकर केवल ईश्वर-परायण जीवन व्यतीत करना ही अपना 'कर्तव्य' मान लें और इस लोक की उन्नति (स्वाधीनता) से सर्वदा विमुख होकर दूसरों के आधीन और गुलाम बने रहें ।

ईश्वर की धारणा के बाद एक कर्म-नियम की धारणा भी लोगों में पाई जाती है । कर्म-नियम का आशय यह है कि, प्रत्येक जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसने अपने प्रारब्ध को आप बनाया है और इसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है; सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि उसके अपने कर्मों के फल हैं, किसी दूसरे पर (ईश्वर या जगत्-नियम पर) इसका दोष नहीं दिया जा सकता ।

कर्मनियम

अब हम कर्म-नियम पर विचार करते हैं। इस नियम पर निश्चय करने के लिए हमको पहिले घटनाओं की भली प्रकार परीक्षा करनी होगी। यदि हम किसी विशेष प्रकार की घटना को सर्वत्र समान रूप से होती हुई पांय और इसमें कोई व्यभिचार न हो, तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इनके घटित होने में भी कोई नियम है। केवल फल (घटना) में समानता देखकर ही इनके नियम का भी अनुमान होता है (न कि प्रत्यक्ष)। इस लिए सर्वप्रथम हम इन घटनाओं पर विचार करते हैं। यदि शुभ कर्म करने वाले नियम-पूर्वक सुख भोगते हुए और अशुभ कर्म करने वाले नियम-पूर्वक दुःख भोगते हुए पाये जांय तथा अशुभ कर्म करने वाले सुख-रहित और शुभ कर्म करने वाले दुःख-रहित हों, तब हम शुभ कर्म और सुख तथा अशुभ कर्म और दुःख में कार्य-कारण-भाव को सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं पाया जाता। कितने ही पुण्यवान भी दुःखी और कितने ही पापी भी सुखी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, कर्म-नियम के अनुसार केवल उस कर्म के कर्ता को ही उसका फल मिलना चाहिए, अन्य को नहीं। परन्तु ऐसा भी अनुभव करते हैं कि, एक या अनेक पापीयों के दुष्ट कर्म का फल अनेक पुण्यवानों को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार पुण्यवानों के उपकार का फल अनेक पापी लोग भोगते हुए देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त, भूकम्प, अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदिकों का फल ऐसे लोग भी भोगते हुए देखे जाते हैं, जिसके लिये वे कभी उत्तरदायी नहीं हो सकते। हमारे जीवन में प्रायः ऐसे अवसर आते हैं, जिसमें यदि हम पुण्य का प्रयोग करें तो प्रत्यक्ष दुःख का भागी होना पड़ता है और पाप करने पर उससे हमको प्रत्यक्ष सुख मिलता है। इस प्रकार कर्म-नियम को सिद्ध करने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, उनमें से एक को भी

हम नियम-पूर्वक होता हुआ नहीं पाते। अतएव हम कर्म-नियम को मानकर किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं कर सकते ।

यहां पर प्रारब्ध-कर्म को मानकर व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होता है, कर्म-नियम को मानकर प्रारब्ध माना जाता है और प्रारब्ध को मान कर कर्म-नियम सिद्ध होता है। पहले कर्म-नियम के सिद्ध हुए बिना प्रारब्ध नहीं माना जा सकता, कर्म-नियम ही मूल है, जिसके आधार पर प्रारब्ध की कल्पना होती है। यदि हमारा अधिकांश अनुभव इस प्रकार का होता कि, पुण्य से सुख और पाप से दुख ही हुआ करता है, तब हम इसको नियम मान लेते और जहां पर यह नियम भंग होता हुआ देखा जाता वहां पर हम किसी अज्ञात कारण या प्रतिबन्ध अर्थात् प्रारब्ध की कल्पना कर लेते जिससे हमको इस नियम की सत्यता पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रह जाता। परन्तु कर्म-नियम स्वतन्त्र रीति से सिद्ध नहीं होता, अतएव प्रारब्ध को मान करके भी इसकी व्यवस्था नहीं हो सकती। पुण्य-पाप और सुख-दुख में कार्यकारण-भाव को मान लेने पर भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि, जिन व्यक्तियों ने उक्त कर्म को किया है वे ही उसका फल भोगेंगे। एक स्वार्थी राजा अन्याय (पाप) के बल से सुख भोग करके मर जाता है, परन्तु उसका फल (दुःख) बिचारी प्रजा कई पीढ़ियों तक भोगती रहती है। इसी प्रकार सेनापति की गलती सेना और पिता के अपराध का फल पुत्र भोगता हुआ देखा जाता है। अतएव जब कि पुण्यपाप और सुखदुःख में कार्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं होता और न उसके कर्ता का उसके फल से ही कोई सम्बन्ध सिद्ध होता है, तब कर्म-नियम को मानकर प्रारब्ध को मानना व्यर्थ है। जब कि हम अपने अनुभव-जगत् में इस कर्म-नियम का प्रायः उल्लङ्घन होता हुआ पाते हैं और अनेक स्थलों में साक्षात् अन्यायपूर्ण घटनाओं को देखते रहते हैं तथा सुख के अधिकारी को दुःखी और दुख के योग्य पुरुष को सुखी देखते हैं

पुण्य और पाप का निर्णय नहीं होने से उसके आधार पर कर्म-नियम सिद्ध नहीं हो सकता।

और जब कि इस देह द्वारा किए हुए कर्मों के फल में अव्यवस्था पाते हैं, तब हम निश्चयपूर्वक यह अनुमान नहीं कर सकते कि, कर्म-नियम से ही समस्त जीव नियमित हो रहे हैं। हमारे कितने ही कर्म जगत् के अज्ञात नियमों से प्रभावित होकर होते हैं कितने ही मूलतत्त्व के (नैसर्गिक) स्वभाव से प्रेरित होकर होते हैं और कितने हो अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर होते हैं, जिनके ऊपर हमारा (कर्ता का) कोई अधिकार नहीं है और न हम उनके लिये जिम्मेवार हो सकते हैं। इस सृष्टि के विकाश का क्रम हमको किस ओर प्रेरणा करता है और किस ओर जाने से रोकता है तथा हमारे कौन से स्वाभाविक कर्म हैं और कौन से बनावटी ? इत्यादि के सम्बन्ध में हमको कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसलिए हम क्या पुण्य है और क्या पाप है, कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते। हम अज्ञात नियमों से उत्पन्न होते हैं, अज्ञात नियमों से परिवर्द्धित हो रहे हैं, और अज्ञात नियमों के प्रभाव से ही मर जायेंगे। अतएव अपने जीवन-काल में हमको जो कुछ शुभ और अशुभ की कल्पनाएं होती हैं, उन कल्पनाओं को करने में हम स्वतन्त्र हैं या नहीं, यह भी नहीं जान सकते, पुण्य और पाप को निर्णय करने की तो आशा ही कहां है ?

उपरोक्त प्रसङ्ग में पुण्य और पाप को मान कर यह दिखाया गया है कि, कर्म-नियम सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु पहले पुण्य और पाप का हो निर्णय नहीं होता, जिसके आधार पर कर्म-नियम सिद्ध किया जाता है। हमारे पास कोई ऐसी कसौटी नहीं है, जिसके ऊपर हम पुण्य और पाप की रेखा को पृथक् पृथक् पहिचान सकें। पुण्य और पाप के स्वरूप को निर्णय करने के लिए सभी प्रयत्न यौक्तिक और व्यावहारिक दोषों से ग्रस्त हैं, यह हम पहले ही भली प्रकार प्रदर्शन कर आए हैं। अतएव जब पुण्य और पाप का शुभत्व और अशुभत्व निर्णय के योग्य नहीं है और जबकि वह मनुष्य-समाज की सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति के अनुसार और देश-काल-पात्र के भेद

पहले कर्म पश्चात् जीव या पहले जीव पश्चात् कर्म मानने से कर्म-नियम सिद्ध नहीं हो सकता ।

से परिवर्तनशील पाया जाता है, तब हम इस पुण्य और पाप की धारणा के आधार पर कर्म-नियम को प्राकृतिक ध्रुवनियम नहीं सिद्ध कर सकते ।

अब यदि पुण्य और पाप को मान भी लिया जाय, तो भी कर्म-नियम को सिद्ध करने के लिए पहले जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध सिद्ध करना होगा। जीव और कर्म के सम्बन्ध में विचार करने पर चार प्रकार के विकल्प उपस्थित होंगे, यातो (क) पहले कर्म और पश्चात् जीव को मानना होगा; या (ख) पहले जीव और उसके पश्चात् कर्म होगा; अथवा (ग) कर्म और जीव दोनों एक ही साथ उत्पन्न होंगे; या (घ) कर्म और जीव दोनों ही अनादि होंगे । परन्तु विचार करने पर इनमें से कोई भी पक्ष कर्म-नियम को सिद्ध नहीं कर सकेगी ।

(क) यदि पहले कर्म को मानकर उसके बाद में जीव को उत्पन्न होता हुआ माना जाय, तो प्रश्न यह होगा कि, जीव की उत्पत्ति के पहले उस कर्म को किसने किया (उन कर्मों में विचित्रता कैसे हो गई)? यदि कर्म को बिना किये ही जीव उसका फल भोग कर सकता हो, तो कर्म-नियम को मानना ही व्यर्थ है । (ख) द्वितीय कल्प के अनुसार यदि यह माना जाय कि, पहिले जीव हुए और पश्चात् उन्होंने कर्म किया, तो इस पक्ष में भी जीवों में भेद की सिद्धि के लिये कर्म-नियम को मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी । जब बिना कर्मों के ही विचित्र स्वभाव और भोग वाले जीव हो सकेंगे, तब इस समय भी जो विचित्र जीव उत्पन्न होते हैं और उनके भोगों में विचित्रता पाई जाती है, इसका कारण उनका अपना पूर्व कर्म नहीं माना जा सकता । जब आदि सृष्टि के समय बिना कर्म के ही जगत् का नियमन हो सकता है, तब इस समय भी बिना कर्म-नियम के ही जगत् नियमित हो सकेगा अर्थात् कर्म-नियम को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । (ग) अब यदि यह माना जाय कि, जीव और कर्म दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, तो देह के साथ जीवात्मा के बन्धन

का कारण कर्म नहीं होगा और इसीलिए विचित्र देहों की प्राप्ति और उनके विचित्र भोगों की सिद्धि के लिए कर्म-नियम को मानना व्यर्थ होगा। इसके अतिरिक्त, जीव और कर्म के सृष्टिकर्ता (ईश्वर) को इस निर्दयता और पक्षपात रूप दोष का भागी होना पड़ेगा।

ईश्वर को इस दोष से मुक्त करने के लिए किसी ग्रन्थकार ने यह माना है कि, ईश्वर ने सर्वप्रथम केवल जीवों को ही उत्पन्न किया और उनको कर्म करने में स्वतन्त्र बनाया। पश्चात् जीवों ने भिन्न भिन्न कर्मों को किया और विचित्र फलों को भोगने लगे ("पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः"):* इस प्रकार सृष्टि में विचित्रता स्थापित हो गई। परन्तु यह मत भी माननीय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रश्न यह होता है कि, सृष्टि के आरम्भ में जब कि जीवों में किसी प्रकार की वासना या अपने पूर्व कर्मों से उपार्जित किसी विशेष प्रकार का स्वभाव नहीं था, तब उनकी प्रवृत्ति और संकल्प में भिन्नता कैसे हुई? यदि जीवों की बुद्धि को स्वभाव से ही भिन्न भिन्न प्रवृत्तिवाली स्वीकार किया जाय, तो प्रश्न यह होगा कि, उस प्रवृत्ति की विलक्षणता का कोई कारण है या नहीं? यदि है, तो स्वयं बुद्धि ही इसका कारण है, या ईश्वर? अन्तिम कल्प मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जीव ईश्वराधीन हो जायगा और अपने किए हुए पुण्य और पाप के लिए उत्तरदायी नहीं रहेगा। ईश्वर ही अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार किसी को पुण्य कर्म के प्रति और किसी को पाप के प्रति प्रवृत्ति वाला उत्पन्न करेगा और इस प्रकार वह खामखाह किसी को सुख और किसी को दुःख का भागी बनाकर स्वयं भी पक्षपात और निर्दयता रूप दोष का भागी होगा। यदि ईश्वर जान बूझ कर किसी को अच्छे और किसी को बुरे

*यह मत योगवाशिष्ठ में पाया जाता है। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस मत में कर्म को अनादि नहीं माना जा रहा है। (योगवाशिष्ठ का मुख्य सिद्धान्त-दृष्टिसृष्टिवाद—सर्वथा अनुभव-विरुद्ध और विचार-शून्य, यह अन्यत्र प्रदर्शन कर चुके हैं, देखिए पृष्ठ २५९-२६६)।

कर्मों के प्रति प्रेरणा न करता हो, किन्तु अकस्मात् ही ऐसा हो जाता हो, तो यह मानना पड़ेगा कि, ईश्वर ने सोच विचार कर सृष्टि नहीं की, इससे उसकी सर्वज्ञता और ईश्वरत्व की हानि होगी। यदि इस भिन्न भिन्न प्रवृत्ति का कोई कारण न माना जाय या स्वयं बुद्धि को ही इसका कारण माना जाय, तो जगत् के कारण रूप से ईश्वर को मानने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, बुद्धि में विचित्रता का कोई कारण नहीं मिलेगा तथा जीवों में विचित्रता की सिद्धि के लिए कर्म-नियम को मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अब यदि यह कहा जाय कि, ईश्वर किसी अन्य शक्ति के द्वारा प्रेरित होकर जीवों को भिन्न भिन्न कर्मों के प्रति प्रेरणा करने के लिए लाचार हुआ, तो इसका अर्थ यह होगा कि, ईश्वर सृष्टि करने में पराधीन है, अतएव वह इस जगत् का एक मात्र कारण नहीं रह जायगा। सारांश यह कि, इस जीव को यदि आदि वाला माना जाय, तो इसमें पाई जाने वाली विषमता की व्यवस्था के लिए कोई उपयुक्त कारण नहीं मिलता।

(घ) अब यदि कर्म और जीव दोनों को ही अनादि मान लिया जाय, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्म नियम-पूर्वक कर्ता के ही आधीन होता है, इसलिए कर्ता के अस्तित्व को कर्म के पूर्व ही मानना पड़ेगा। यदि कर्ता (जीवात्मा) को स्वरूप से ही कर्म के अधीन मान लिया जाय अर्थात् कर्म को करने के लिए किसी कर्ता या क्रिया की आवश्यकता न हो (यद्यपि यह विचार-विरुद्ध और व्यवहारविरुद्ध है) और ऐसा कर्म प्रत्येक जीवात्मा के साथ नित्य सम्बद्ध रहकर उसको क्रिया के लिए प्रेरणा करता हो, तो जीव कर्म करने में सर्वथा पराधीन होगा और अपने पुण्य और पाप के लिए किसी भी अंश में जिम्मेवार नहीं रहेगा। परन्तु यह कर्म-नियम के विरुद्ध है। कर्मों को अनादि मान लेने पर जीव-प्रयत्न के द्वारा कर्म की उत्पत्ति नहीं होगी, जिसका अर्थ यह होगा कि, जीवों की निष्क्रिय-अवस्थारूप निर्विशेष (समान) कारण से असमान फल अर्थात् विभिन्न

प्रकार के विषम फलों की प्राप्ति होती है, जोकि कर्म-नियम के विरुद्ध है । किञ्च, यदि सभी समान प्रकार के कर्मों का समान प्रकार के जीवों के साथ सम्बन्ध होता हो, तो जीवों की प्रकृति में और उनके सुखदुःख-भोग या जीवन-यापन करने की विधि में कोई भी भेद नहीं रहेगा और उनके आगामी कर्म भी समान प्रकार के ही होंगे । यदि कर्मों में पहले से ही भेद माना जाय, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, अनेक स्वतःसिद्ध कर्म हैं जो विना क्रिया और कर्ता के सम्बन्ध से, स्वभाव से ही विचित्र हैं, या जो प्रयत्नरहित जीवों के साथ स्वयं आकर संयुक्त होते हैं, तब कर्म-नियम को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । इसके अतिरिक्त एक बात और है कि, जो लोग कर्म-नियम को मानते हैं, वे लोग आत्मा को भी देह से पृथक् मानते हैं । शरीरयुक्त होने पर ही आत्मा कर्ता हो सकता है, शरीर के बिना वह धर्माधर्म का कर्ता नहीं हो सकता (नहीं तो आत्मा विकारी होगा, कर्म का स्थिर आश्रयरूप कोई एक आत्मा नहीं रहेगा), अतएव देह-सम्बन्ध का कारण धर्माधर्म नहीं हो सकता । देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध और कर्म के साथ देह का सम्बन्ध ये दोनों को अनादि मानने पर उनमें वास्तविक कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं रहेगा और उन दोनों को परस्पर स्वतन्त्ररूप से रहने वाले मानना होगा । फलतः यह नहीं कहा जा सकेगा कि, वे एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न होते हैं । कर्म को देह-सम्बन्ध का कारण मानकर उसकी सिद्धि के लिए बीज-वृक्ष का दृष्टान्त नहीं दे सकते । बीज और वृक्ष में परस्पर कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है, इसलिए यहां पर यह अनुमान हो सकता है कि, इसके पूर्व में भी ऐसा ही होगा । जहां पर दो पदार्थों में कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है (जैसे बीज और अंकुर में) वहां पर अन्योन्याश्रयदोष की निवृत्ति के लिए अनादि प्रवाह की कल्पना की जाती है और वह कल्पना प्रत्यक्ष के आधार पर प्रतिष्ठित होने से प्रामाण्य समझी जाती है । परन्तु यहां पर

कर्म और जीव के सम्बन्ध को अनादि-प्रवाहरूप मानना अन्धपरंपरान्याय है; बीज-वृक्ष न्याय के प्रयोग की असमीचीनता ।

कर्म-नियम को सिद्ध करते समय, कर्म और शरीर में परस्पर कार्यकारणभाव प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है अर्थात् देह के बिना कर्म तो नहीं हो सकता, किन्तु कर्म के बिना भी देह नहीं हो सकता, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है. जीव के अपने किये हुए कर्म ही उसके स्वभाव में और भोगों में विचित्रता को उत्पन्न करते हैं, इसका हमको कोई अनुभव नहीं है । अतएव प्रमाणरहित केवल कल्पना के आधार पर किसी सिद्धान्त (कर्म-नियम) का स्थापन नहीं किया जा सकता । अतएव यहां पर बिना किसी प्रमाण के ही किसी कारण के प्रवाह को अनादि मान लेना साक्षात् अन्धपरम्परान्याय होगा । किञ्च, विवेचना करने पर यह सिद्ध होता कि, बीज और वृक्ष का दृष्टान्त भी यहां पर विषम है, क्योंकि बीज-वृक्ष में जो कार्य होता है वही कारण नहीं बन जाता अर्थात् सम्पूर्ण वृक्ष ही बीजरूप नहीं बन जाता, किन्तु उसमें जो एक धर्मी होता है वही कार्य और कारणरूप में बदलता रहता है; जैसे पिण्ड ही घट नहीं बन जाता, किन्तु उसमें जो धर्मी मृत्तिका है, वही घट और पिण्डरूप में परिवर्तित होता रहता है, परन्तु कर्म और शरीर में ऐसा नहीं माना जाता, यहां पर कर्म ही शरीर बन जाता है । किञ्च, यदि सर्वप्रथम पृथ्वी, पश्चात् उसके शीतल हो जाने पर पर्वत, वनस्पति, फिर सर्पाकार जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और फिर मनुष्य इस प्रकार स्वाभाविक क्रम से सृष्टि न मानी जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि, सृष्टि के आरम्भ में ही किसी अमूलमूल शक्ति के प्रभाव से पहले बीज हुआ था पहले वृक्ष हुआ । परन्तु यहां पर कर्म-प्रसंग में ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, नहीं तो सृष्टि को बिना कर्मरूप कारण के ही मानना होगा (प्रवृत्तिशील प्रकृति स्वयं ही धर्माधर्मरूप निमित्त की अपेक्षा न कर अपने विकार को उत्पन्न करेगी) और कर्म-नियम का मूल भंग हो जायगा । अर्थात् जीवों के विचित्र भोगों को (कार्य को) देख कर उनके विचित्र कर्मों का (कारण का) अनुमान किया जाता है, यदि एक ही कारण से समस्त विचित्र कार्य

उत्पन्न हो सकते हों, तो कर्म-नियम को सिद्ध करने के लिए तर्क को अवसर नहीं मिलेगा। उक्त पक्ष में कर्म के लिए जीवों का उत्तरदायित्व भी नहीं रहेगा।

उपरोक्त विचार द्वारा कर्म के अनादित्व सिद्ध न होने पर उसे सादि मानना होगा, अतएव वह (कर्म) चाहे जीवकृत हो या ईश्वरसृष्ट अथवा प्रकृति से उत्पन्न हो या आकस्मिक, प्रत्येक पक्ष में कर्म-नियम असिद्ध होगा। (इसी प्रकार अनादि वासना का पक्ष भी खण्डित होता है, क्योंकि कर्म के संस्कार से ही वासना होती है, कर्म के बिना वासना नहीं हो सकती। परन्तु वासना के मूल कर्म-नियम के ही सिद्ध न होने से अकृताभ्यागम और कृतविप्रनाश के द्वारा अनादि वासना की सिद्धि नहीं हो सकती)।*

*यहां पर कई लोग यह कहते हैं कि, कर्म-नियम को माने बिना जीवों में विषमता की सिद्धि नहीं होती अर्थात् अन्यथा-अनुपपत्ति होने से कर्म-नियम को मानना पड़ता है। परन्तु यह कथन भी समीचीन नहीं है। हम यह दिखा चुके हैं कि, कर्म-नियम को मानने के लिए विचित्र प्रवृत्ति वाले जीवों को पहले से ही मानना पड़ता है, जिनकी विचित्रता में कर्म को ही कारण नहीं कह सकते। अन्यथा-अनुपपत्ति कहकर भी किसी मनमाने कारण की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि इसके लिए भी व्याप्ति-ज्ञान की आवश्यकता होती है। (देखिए पृष्ठ १९८)। प्रकृतस्थल में व्याप्तिज्ञान के न होने से (पूर्वोक्त रीति से) अन्यथा-अनुपपत्ति कह कर कर्म-नियम को सिद्धान्तरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। जबकि, जीवों में विषमता की सिद्धि के लिए अन्य अनेक कारण (ईश्वर, प्रकृति, माया, पुद्गल-परमाणु) भी प्रसिद्ध हैं, तो प्रमाणपूर्वक सिद्ध हुए बिना किसी विशेष व्यक्ति का कोई विशेषरूप से अभिमत सिद्धान्त माननीय नहीं हो सकता। जब कि जीव-वैषम्य में अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं, तब कर्म-नियम के बिना अन्यथा-अनुपपत्ति का कथन निरर्थक है। जगत् के सभी विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान हुए बिना किसी को यह कहने का अधिकार नहीं है कि, इसका यही एकमात्र उपपत्ति है, अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती। सम्भव है इसकी और भी कोई उपपत्ति हो सकती हो, जिसमें विवाद के लिए अवकाश न हो। अतएव इस विषय में अन्यथा-अनुपपत्ति कहकर किसी भी सिद्धान्त को स्थापित करना दुराग्रह मात्र है।

तत्त्वविषयक धार्मिक सिद्धान्त (ईश्वरवाद और कर्म-नियम) के खण्डन का उपयोग प्रदर्शन।

उल्लिखित विवेचन से (ईश्वरवाद और कर्मवाद के खण्डन से) यह सिद्ध होता है कि, धार्मिक-सिद्धान्तवादी मूलतत्त्व और जगत् की ठिक ठिक व्यवस्था नहीं कर सकता। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि, इस जगत् के मूलकारण पर बहस करना व्यर्थ है। उस मूलकारण का क्या स्वरूप है ? वह एक है या अनेक ? जड है या चेतन ? उसने इस जगत् की रचना क्यों की ? उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध भी है या नहीं ? हम किसी साधनबल से उससे कुछ लाभ भी उठा सकते हैं या नहीं ? अथवा उसकी प्राप्ति का क्या उपाय हो सकता है ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करके हम किसी भी निश्चित सिद्धान्त में नहीं पहुंच सकते और न हम इस अनुभवसिद्ध जगत् की व्यवस्था के सम्बन्ध में ही कोई अनुकूल तर्क कर सकते हैं। इसलिए हमें उसे 'बे-अन्त' या रहस्य कहना पडता है और यह हमारे लिए सदैव रहस्यरूप ही रहेगा।

अब हम पूर्वोक्त प्रथम समस्या (धार्मिक कलह) का समाधान प्रदान करते हैं। कोई भी धर्म या सम्प्रदाय अनादि नहीं है। सभी धर्म-सिद्धान्त किसी विशेष काल और देश में किसी विशेष जिज्ञासु की खोज या अनुभव के फलरूप हैं। धार्मिक कलह का मूलकारण है—केवल अपने ही सिद्धान्त को यथार्थ और अन्य सिद्धान्तों को अयथार्थ या भ्रान्त समझना। इस यथार्थता और अयथार्थता के पहिचान की कसौटी है—अपने अपने आचार्यों के अनुभव और उसके अनुकूल युक्तितर्क। हरएक धर्म के अनुयायी लोग ऐसा मानते हैं कि, उनके आचार्य किसी एक ऐसी अवस्था में पहुंचे हैं, जहां पर उन्होंने तत्त्व का साक्षात् अनुभव किया है। आचार्य लोग भी यह प्रचार करते रहते हैं कि, मैंने भगवान को पा लिया है अथवा तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है; उनके इस साक्षात्कार का अन्य लोगों के साथ मेल न होने से भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर विवाद होता रहता है। जब कि कोई भी धार्मिक सिद्धान्त युक्तितर्क द्वारा यथार्थरूप प्रमाणित

नहीं हो सकता और न परस्पर विरोधी अनेक आचार्यों के अनुभवों में से कोई एक अनुभव सत्य या यथार्थरूप प्रमाणित हो सकता है, तब हमारा सिद्धान्त यथार्थ है और अन्य सब भ्रान्त हैं, ऐसी धारणा को लेकर जो धार्मिक सम्प्रदायों में प्रायः कलह हुआ करते हैं, उनका कोई कारण नहीं रह जाता। जब विचार द्वारा विदित हुआ कि, उक्त साक्षात्कार वास्तव में अपनी कल्पित भावना का ही होता है, स्वतन्त्र तत्त्व का नहीं, तब उनमें से किसी एक का उच्च और दूसरे का नीच रूप से विभाग नहीं किया जा सकता (देखिए पृष्ठ ६०-६४)। जब कि उन अनुभवों के वास्तव-स्वरूप को निर्णय करने का कोई उपाय नहीं है, तब उनमें से किसी के अनुभव को आंशिक अनुभव मान कर उसके द्वारा अन्तिम गन्तव्य स्थल की प्राप्ति को न मानना और किसी के अनुभव को पूर्ण मान कर उससे अन्तिम मूलतत्त्व की प्राप्ति मानना, दोनों ही अनुचित हैं। इसलिए भिन्न भिन्न धार्मिक मतों के मानने वालों में आपस में कलह का कोई कारण नहीं रह जाता, क्योंकि उन सबका मूल लक्ष्य एक ऐसा तत्त्व है, जिसका निर्णय न कभी हुआ और न कभी हो सकेगा।

अब द्वितीय समस्या (इहलोक-द्रोह) का समाधान प्रदान करते हैं। प्रायः हम लोग जो इहलोक की उन्नति की अपेक्षा पारलौकिक फल को अधिक मूल्यवान समझ कर उसमें परायण रहते हैं, इसका कारण यह है कि, (१)एक तो, आत्मा का स्वरूप हमको जैसा समझाया जाता है, हम वैसा ही समझ लेते हैं; (२) दूसरे, हमारी साधना तत्त्व-विषयक होती है ऐसा मान लेते हैं; (३) तीसरे, हम कर्मवाद को मान कर ऐसा विश्वास कर लेते हैं कि, कर्म बन्धरूप है और हम इस कर्म-बन्धन से छुट सकेंगे; तथा (४) चौथे, हम शास्त्र को ईश्वर-रचित (या प्रेरित) अथवा सर्वज्ञ जीव-रचित (या कथित) मानकर उसके वाक्यों में विश्वास करते हुए पारलौकिक फल की आशा रखते हैं। परन्तु इनमें से कोई एक भी सिद्धान्त न्यायसंगत नहीं है।

आत्मा के स्वरूप और साधन के विवेचन से परलोक–लोभ निर्हेतुक सिद्ध होता है. आत्मा के साथ कर्म के सम्बन्ध का विवेचन ।

(१) आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि, आत्मविषयक कोई भी सिद्धान्त विचार द्वारा मानने के योग्य नहीं है (देखिए 'आत्मा' अध्याय)। (२) साधन की परीक्षा करने पर हम इस सिद्धान्त में पहुंचे कि, कोई भी स्वतन्त्र-सत्तावान वस्तु, वस्तुत: हमारे ध्यान का विषय नहीं हो सकता: अतएव अपने कल्पित चिन्तन (भावना) के अनुसार परलोक में उसका फल प्राप्त होता है ऐसी आशा निर्मूल है।

(३) कर्मवाद को मानने वालों से पहले यह प्रश्न होता है कि, क्या कर्म और देह नित्य आत्मा के स्वरूप के अन्तर्गत हैं, अथवा वास्तव में भिन्न होते हुए केवल सम्बन्धयुक्त हो रहे हैं? द्वितीय पक्ष में कर्म और देह दोनों एक साथ ही आत्मा के साथ नित्य सम्बन्धयुक्त हैं अथवा इन दोनों में से कोई एक पूर्व में रहता है और उसके द्वारा पश्चात् दूसरा उत्पन्न होता है? यदि कर्म और देह दोनों ही आत्मा के स्वरूप हों, तो नित्य आत्मा के शरीरधारी और क्रियाशील होने से, वह इस देह और क्रिया के सम्बन्ध से रहित कभी नहीं हो सकेगा अर्थात् धर्म-कर्म का मुख्य उद्देश्य जो मुक्ति है, वही असम्भव होगी। यदि देह और कर्म को आत्मा से भिन्न माना जाय, तो इनका आत्मा के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ? अकस्मात् हो नहीं सकता (नहीं तो कर्मवाद भङ्ग हो जायगा), इसमें कोई न कोई कारण अवश्य मानना पड़ेगा। इस कारण को अज्ञान या अविवेक कुछ भी कहा जाय, वह भी आत्मा से भिन्न होने से, उसके साथ आत्मा के सम्बन्धयुक्त होने में भी कोई कारण अवश्य होगा अर्थात् इसप्रकार अनवस्था होगी। अब यदि द्वितीय प्रश्न के उत्तर में कर्म को नित्य आत्मगत मानकर पश्चात् देह का सम्बन्ध माना जाय, तब देह-रहित आत्मा को भी नित्य क्रियाशील और धर्माधर्मयुक्त (कर्मयुक्त) मानना होगा। परन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा एक व्यावहारिक पदार्थ मात्र होगा, जो क्रियाशील होने से विकारी और परिणामी होगा (इसकी मुक्ति असम्भव होगी)।

वादीसम्मत आत्मा का निर्लेप शुद्ध स्वरूप ऐसा नहीं हो सकता; क्रिया या विकार का आश्रय देह ही हो सकता है, देह से व्यतिरिक्त आत्मा नहीं । अब यदि यह कहा जाय कि, आत्मा पहले देहयुक्त था और पश्चात् कर्म हुआ. तो देह और आत्मा के सम्बन्धयुक्त होने में कर्म को कारण नहीं माना जा सकेगा । अब यदि देह को कर्म का फल न माना जाय, तो यह मानना होगा कि, देह आत्मा के साथ नित्य सम्बद्ध है । किन्तु ऐसा होने पर आत्मा की धारणा को बदलना पड़ेगा और उसको नित्य शरीरवान पुरुष मानना होगा । यदि यह भी स्वीकृत हो, तो देह और आत्मा का सम्बन्ध नित्य होने से कर्म भी नित्य ही होते रहेंगे, फलतः मुक्ति असम्भव होगी । यदि इस पक्ष को भी दूषित जानकर तृतीय विकल्प को स्वीकार किया जाय, आत्मा को नित्य शरीरी और नित्य क्रियाशील माना जाय, तो आत्मा की धारणा देह-धारणा के तुल्य हो जायगी, आत्मा देह की सीमा के अन्दर रहने वाला और नित्य कर्मबन्धन वाला होगा. जिससे उसकी मुक्ति असम्भव होगी । ऐसा मानने पर कर्म और देह दोनों ही स्वतन्त्र सत्ता वाले हो जायेंगे और आपस में कार्य-कारण-भाव के न रहने से, कर्म-नियम को ही त्याग करना होगा ।

(४) अब केवल एक शास्त्र-प्रमाण ही रह जाता है, जिसको ईश्वर-रचित या सर्वज्ञ जीव रचित कहकर उसमें वर्णित सिद्धान्तों पर अन्ध-विश्वास रखते हुए परलोक की आशा कर सकते हैं । परन्तु परीक्षा करने पर शास्त्र भी प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता, अब यह प्रदर्शन करते हैं ।

प्रथम तो ईश्वर का अस्तित्व ही प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता (देखिए 'ईश्वर' अध्याय की समालोचना); यदि ईश्वर मान भी लें, तो भी शास्त्र को ईश्वर-रचित नहीं मान सकते, क्योंकि ईश्वर का शास्त्र के साथ कोई भी सम्बन्ध प्रमाण द्वारा (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और अर्थापत्ति द्वारा) नहीं जाना जाता (देखिए पृष्ठ ३२-३८) । निराकार ईश्वर न तो स्वयं शास्त्र की रचना कर

सकता है और न किसी के मस्तिष्क में ज्ञानरूप से प्रेरणा कर सकता है। ईश्वर (मूल कारण) का साकार रूप में परिणाम (आंशिक या सम्पूर्णरूप से) होना असम्भव है। परिणाम और परिणामी में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु निराकार और साकार में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। दो विरुद्ध धर्म एक ही वस्तु के स्वरूपभूत नहीं हो सकते। जो वस्तु स्वरूपतः निराकार है वह स्वरूपतः साकार कभी नहीं हो सकता। शास्त्र को ईश्वर-रचित मान लेने पर भी वह निर्दोष अतएव प्रमाणरूप सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर द्वारा रचित रूप से माना गया हुआ यह जगत् भी अनेक प्रकार के दोष और प्रमाद से खाली नहीं है। (विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ ३२-५०)।

अब शास्त्र सर्वज्ञ जीव रचित है, इस पक्ष की आलोचना करते हुए यह प्रदर्शन करते है कि, सर्वज्ञता सम्भव नहीं है। (सर्वज्ञता का खण्डन पहले भी किया है, देखिए पृष्ठ ५०-५९)। जीव सर्वज्ञ भी हो सकता है या नहीं, इसका निर्णय करने के लिए पहले यह विचार करना आवश्यक है कि, जीवात्मा का स्वरूप क्या है और उसके ज्ञान का समस्त जगत्-प्रपञ्च तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल के साथ सम्बन्धयुक्त हो सकना कहां तक सम्भव है। क्षणिक आत्मवाद के अनुसार दूर देश और समय में रहने वाले पदार्थों की समीपता (सन्निकर्ष) सम्भव न होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, अतएव सर्वज्ञता की प्राप्ति भी नहीं होगी। स्थिरात्मवाद में आत्मा को अणु और मध्यम-परिमाण मानने वाले पक्ष में सम्पूर्ण आत्मा ही भौतिक देह में सीमाबद्ध होकर रहने के कारण अतीत, भविष्यत् और दूरवर्ती घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, जिससे सर्व पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। ज्ञानगुणयुक्त व्यापक आत्म-पक्ष में भी सर्व विषयों के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि गुण या क्रिया अपने आश्रय को (देहावच्छिन्न आत्मा को) छोड़कर अन्यत्र क्रिया करते हुए कहीं नहीं देखे जाते;

अमूर्त ज्ञान का बहिर्गमन भी असम्भव है । ज्ञानपरिणामवाला व्यापक आत्म-पक्ष में ज्ञान यदि देहगत आत्मा का परिणाम हो तो उक्त रीति से सर्वज्ञता नहीं होगी, ज्ञान यदि व्यापक आत्मा का परिणाम हो तो सभी व्यक्तियों के आत्मा नित्य व्यापक होने से सबके प्रति सबका प्रकाश हो जायगा । (आत्मा का परिणाम चाहे आंशिक हो या सम्पूर्णरूप से हो, दोनों ही पक्ष में वह नित्य नहीं रह सकेगा) । ज्ञानस्वरूप आत्म-पक्ष में अन्तःकरण के बिना आत्मा को विषयों का भान न होने से तथा अन्तःकरण के नित्य ही परिच्छिन्न होने से, जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता ।

अब यदि अन्तःकरण को व्यापक मान लिया जाय, तो इस पक्ष के अनुसार सर्वव्यापक अन्तःकरण का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सदैव समानरूप से सम्बन्ध बना रहेगा और सभी इन्द्रियों के विषयास्वादन को मन एक साथ ही अनुभव करने लगेगा, फलतः अनुभवसिद्ध जो हमारा क्रमिक-ज्ञान (घट के पश्चात् पट का ज्ञान) है, वह भी असिद्ध हो जायगा । इसी प्रकार व्यापक होने के कारण क्रियारहित होने से अन्तःकरण का इन्द्रियों के साथ क्रमिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकेगा, जिससे क्रमिक ज्ञान सिद्ध हो । यदि अन्तःकरण के व्यापक अर्थात् सर्वदा सर्व पदार्थों के साथ सम्बन्धवान होने से ही सर्वज्ञता होती हो, तो सभी अन्तःकरण सर्वज्ञ बन जायेंगे, अनुमान के विषय भी प्रत्यक्ष विषय हो जायगा तथा सबके अन्तःकरण सर्वत्र व्यापक होने से एक दूसरे के ज्ञान की व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी । यदि यह कहा जाय कि, समाधि के अभ्यास से जिसके अन्तःकरण के मल (तमोगुण) कम होगए हैं और सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है, केवल वही सर्वज्ञ हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं । समाधि दो प्रकार की हैं, उनमें से सविकल्प समाधि में सूक्ष्म देहाभिमान के रहने से तथा चित्त के केवल एक ही विषय में एकाग्र रहने से सभी पदार्थों के साथ अन्तःकरण का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है तथा निर्विकल्प

सत्त्वगुण की वृद्धि से सर्वज्ञता-प्राप्ति का निषेध। परचित्तज्ञता के दृष्टान्त से सर्वज्ञता मान्य नहीं हो सकती। दूरदर्शनादि (Telepathy) का विवेचन।

समाधि में जानने की क्रिया करने वाला जो 'अहं' भाव है, उसके ही क्षीण होजाने से सर्वज्ञता नहीं हो सकती (देखिए पृष्ठ ५६-५७)। अतएव मल के दूर होने से सर्वज्ञता-प्राप्ति की धारणा अनुभव-विरुद्ध और कल्पना मात्र है। त्रिगुण नामवाला (प्रकृति) कोई भी पदार्थ सम्भव नहीं है, यह प्रदर्शित हो चुका है (देखिए पृष्ठ १४३-१५९)। अतएव तमोगुण की कमी और सत्त्वगुण की वृद्धि से सर्वज्ञता की कल्पना निरर्थक है।*

*कभी कभी दूसरे के चित्त का ज्ञान, दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि घटनायें (Telepathy) होती हुई पाई जाती हैं (किन्तु सर्वज्ञता कोई लौकिक घटना नहीं है, वह अलौकिक और विवाद का विषय है), परन्तु यह कैसे और क्यों हो जाती है, इसका उत्तर किसी धार्मिक या दार्शनिक से पाने की आशा नहीं कर सकते (इससे उनकी आत्म-सम्बन्धी धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है)। वर्तमान उन्नत शारीरिक-विज्ञान की दृष्टि से भी इसकी व्यवस्था होनी कठिन है। जिस समय मनुष्य किसी वस्तु का चिन्तन करने लगता है, उस समय उसके मस्तिष्क में से बिजली के समान कोई धारा-विशेष चारों तरफ बिखरने लगती है। यह चिन्ता-धारा किसी विशेष प्रकार के मस्तिष्क द्वारा आकर्षित होती है। परन्तु पर पुरुष के चित्त का ज्ञान होते समय ऐसा पाया जाता है कि, वर्तमान चिन्ता के ही समान प्रायः भूतकालीन चिन्ता का भी ज्ञान होने लगता है। ऐसा भी होता है कि, जो घटना बहुत दिनों पहले व्यतीत हो चुकी है और जिसकी स्मृति भी अब नहीं रह गई तथा वर्तमान काल में जिसके चिन्तन की सम्भावना भी नहीं है, प्रायः ऐसी घटनाओं को परचित्तज्ञ व्यक्ति जान सकते हैं। इसप्रकार भूतकालीन चिन्ता का ज्ञान, वर्तमान काल में मस्तिष्क के मस्तिष्क का सम्मेलन होने से नहीं हो सकता। यदि ऐसी घटना को किसी भौतिक सूक्ष्म शक्ति का परिणाम माना जाय, तो थोड़े दिनों की और बहुत दिनों की या दूर और अति दूर में होने वाली घटना के ज्ञान में कोई अन्तर न पाया जाने से, इसे मस्तिष्क-तरङ्ग से उत्पन्न होने वाला अनुमान नहीं कर सकते और ऐसा कोई मस्तिष्क-तरङ्ग है, यह आज तक आविष्कृत भी नहीं हो सका है। जैसे 'ईथर' (ether) तरङ्ग का स्पन्दन जब हमारे चक्षु में आघात पहुंचाता है या जैसे बेतार का समाचार किसी सर्वानुस्यूत पदार्थ (ether) को

दूरश्रवणादि की नानाप्रकार उपपत्ति और उनमें दोषदर्शन ।

विद्युत-तरङ्ग के समान दोनों तरफ से हटाता हुआ दूर देश में गमन करता है, उसी प्रकार सूक्ष्म राज्य या मनोराज्य में भी कोई तरङ्ग होता है और उसका स्पन्दन हमारे मन में आघात पहुंचाता है इसप्रकार की प्रमाणरहित कल्पनाएं केवल उक्त राज्य की उपमा के आधार पर की जाती हैं, जिनका कोई यथार्थ अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक लोग भी आज तक ऐसी घटनाओं की कोई युक्तिपूर्ण व्यवस्था नहीं बता सके, जो विचारवानों के लिए सन्तोषप्रद हो सके । इस विषय में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक समाज (Psychical Research Society) के एक सभ्य विशेषज्ञ के कथन उद्धृत करते हैं ।

Telepathy— "Even if the difficulty about the limits of hyperæsthesia is not raised, and if it is admitted that the possibilities of communication through the senses may be taken as fairly completely explored, we are impelled to develop such a definition in one of two directions. We may imagine some unknown sort of vibration, radiation, or 'brain-wave', as a physical explanation of the phenomena alleged, undeterred by the facts that no positive support has yet been found for any such agency, and that, unlike physical forces, it would appear to be indifferent to distance; or else we may conceive telepathy as essentially psychic in its nature, and shall then tend to exalt it into a fundamental 'law' of spiritual being, as Myers himself subsequently inclined to do But, so conceived, it is manifestly a challenge to further exploration of the spiritual world of which it claims to be a law ... If any living mind can 'tap' any other, and if knowledge can 'leak' subconsciously from any mind to any other, and still more if we entertain the somewhat fanciful but not unsupported hypothesis that all knowledge may be pooled in a vast 'cosmic reservoir' before it bubbles up in individual minds, the telepathic hypothesis can evidently be used to discredit all the *prima facie* evidence in favour of 'spirit communication"

(Schiller's 'Telepathy' in Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol XII)

देश-सेवा की दृष्टि से कर्तव्य के विचार का उपसंहार ।

सारांश यह कि, सर्वज्ञता हो नहीं सकती और ईश्वर भी शास्त्र का रचयिता या प्रेरक नहीं हो सकता, यह सिद्ध हो चुका है। अतएव शास्त्रों को अल्पज्ञ जीवरचित ही मानना होगा। वेद और शास्त्रों का अध्ययन करने से भी यह विदित होता है कि, इस के रचयिता लोग कई विषयों से सर्वथा अनभिज्ञ थे (जैसा कि उनके भौगोलिक वर्णन से पता चलता है) (देखिए पृष्ठ ६५ टि)। हम प्रत्येक सम्प्रदाय के शास्त्रों को अलौकिक वर्णन से भरा हुआ पाते हैं तथा परलोक के सम्बन्ध में उनका आपस में विरोध देखते हैं, अतएव उन शास्त्र-वाक्यों को विशेषज्ञों का अनुभव नहीं मान सकते, (देखिए पृष्ठ २८ २९)। उपरोक्त विचार द्वारा यह सिद्ध होने पर कि, शास्त्र प्रमाणरूप नहीं है, फिर शास्त्रों के आधार पर परलोक का निर्णय करना अन्धविश्वास और श्रद्धाजडता मात्र है। यह हमारी साम्प्रदायिक कुशिक्षा का फल है, जो हम लोग किसी पारलौकिक गति की कल्पना करके अपने कल्पित साधन में परायण रहते हैं और अपने सन्मुख ही स्वदेश को पराधीन और प्रतिदिन हीनता को प्राप्त होते हुए देखकर भी उनके दुःखों को दूर करने के लिए उत्साहवान नहीं होते। अब ऐसी जघन्य शिक्षा नहीं चाहिए; कल्पित सिद्धान्तों के आधार पर कल्पित साधनाओं में प्रवृत्त होकर कल्पित परलोक के लोभ से स्वार्थमय जीवन व्यतीत न करके उदार देश-सेवा में परायण होना चाहिए। हमारा कर्तव्य—साम्प्रदायिकता नहीं किन्तु देश-सेवा है, प्रार्थना नहीं किन्तु पुरुषार्थ है, ध्यान नहीं किन्तु कर्म है और शरणागति नहीं किन्तु वीरता है।

क्रोड़पत्र

गीता-समालोचना

अब हम यहां पर गीताशास्त्र की संक्षेप से समालोचना करते हैं। गीता में आत्मा, ईश्वर और जगत् के स्वरूप का प्रमाण पूर्वक कुछ भी विचार न करके सीधे ही यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, आत्मा नित्य और भगवान का अंश है। ईश्वर एक अद्वितीय चेतन तत्त्व है, जो जगत् का एक मात्र कर्ता, धर्ता और हर्ता है। जगत् ईश्वर के आधीन रहने वाली प्रकृति का कार्य है। इस प्रकार से मूलतत्त्वों का स्वरूप मान लेने के पश्चात् उसके अनुसार कर्तव्य या साधन का विधान किया है और उसके फलरूप से परलोक-सम्बन्धी गति का भी उल्लेख किया है। अब हम इन सिद्धान्तों की समालोचना करते हैं।

गीता में किसी भी विषय को युक्तिपूर्वक सिद्ध नहीं किया गया है। दृष्टान्त के लिए, पहले आत्मा का स्वरूप प्रमाणित करके फिर उसके नित्यत्वादि धर्मों का उल्लेख करना चाहिए था। परन्तु गीता में आत्मा का स्वरूप कैसा है, वह पञ्चमहाभूतों का कार्य है या नहीं? यदि न हो, तो भी वह स्वयं ज्ञानस्वरूप या ज्ञान का आश्रय? यदि ज्ञानस्वरूप हो, तो भी वह क्षणिक है या नित्य (साक्षी एक या अनेक)? यदि ज्ञानाश्रय हो, तो भी वह स्वरूपतः जड़ होकर ज्ञानरूप गुण से युक्त है या वह ज्ञानरूप परिणाम से युक्त अथवा ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उसके परिणाम हैं या वह ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञानधर्मयुक्त है? आत्मा का आकार भी कैसा है, अणु या देह के समान अथवा व्यापक (एक या अनेक)? इन सब अति आवश्यक विषयों का गीता में कुछ भी वर्णन नहीं है। जीवात्मा को केवल ईश्वर का अंश कहकर छोड़ दिया है, परन्तु यह नहीं स्पष्ट किया कि, देश और काल से अतीत जो मूल तत्त्व (ईश्वर) है, उसका 'अंश' कहने से क्या अभिप्राय है? इस 'अंश'

शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, जो कि अणु-वादी ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं (देखिए पृष्ठ ३, १६९ टिप्पणी); अणु-वादी के विरोधी अन्य वादियों ने भी इसके कई अर्थ किये हैं। इन सब विषयों का स्पष्टीकरण किये बिना ही केवल "ममैवांशो" कह देने से जीवात्मा का कोई स्वरूप समझ में नहीं आता। आत्मा को नित्यत्व-धर्मवाला कह देने से ही उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उपरोक्त दो प्रकार के ज्ञानस्वरूप आत्मा और तीन प्रकार के ज्ञानाश्रय आत्मा तथा ज्ञानस्वरूप-ज्ञानधर्मयुक्त आत्मा भी नित्य हो सकते हैं (देखिए पृष्ठ २५४-२५६)। इन छः प्रकार के परस्पर विरुद्ध आत्माओं में से गीताकार का कौनसा आत्मा सम्मत है, यह गीता पाठ से नहीं पता चलता।

इसी प्रकार गीता में इस जगत् के मूलतत्त्व को—बिना कार्यकारणभाव का निर्णय किये ही एक विशेष प्रकार का—(ईश्वराधीन प्रकृति) मान लिया है। इस जगत् में पाये जाने वाले कार्यपदार्थ का स्वरूप सत् है ('सत्कार्यवाद') या असत् है ('असत्कार्यवाद') अथवा सदसत् है या सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है इत्यादि कुछ भी निर्णय नहीं किया है, जिससे हम इस कार्यरूप जगत् के मूलकारण को किसी निश्चित प्रकार का अनुमान कर सकें (देखिए पृष्ठ ४-७)। यदि इस जगत् के कारण को चार जातीय क्षणिक परमाणुओं का समूह मानें, जो कि अपने कार्यरूप इस जगत् से अभिन्न हैं, अथवा चार जातीय स्थिर परमाणुओं को मानें, जिनका संयोगजनित आरम्भ ही यह जगत् है और जो अपने कार्य-जगत् से अत्यन्त भिन्न हैं, अथवा पुद्गल का अवस्थान्तर (असंयुक्त एकरूप या एकजातीय परम अणु द्रव्य का परिणामरूप) मानें, जिनसे यह जगत् भिन्नाभिन्न है, तो गीता में कहे हुए प्रकृति को नहीं मान सकेंगे (उक्त मतों के अनुसार प्रकृति या त्रिगुण अलीक है)। उक्त प्रकार के परमाणुवाद के मानने में क्या दोष होता है, इसका कारण बताना तो दूर रहा, गीता में इन विषयों का उल्लेख तक नहीं है। गीता में प्रकृतिवाद ही क्यों मान लिया

गया तथा स्वतन्त्र प्रकृति को मानने से क्या दोष होते हैं और अनेक साक्षी पुरुष को मानने में क्या हानि है (ऐसा मान लेने पर ईश्वर की अपेक्षा नहीं रहेगी, देखिये पृष्ठ २३-२४ टि) इत्यादि विषयों का कोई भी कारण न बताते हुए केवल दूसरे मतों का सर्वथा निषेध कर दिया गया है। गीतासम्मत प्रकृति ईश्वर से भिन्न और उसके द्वारा नियमित अथवा वह अद्वितीय चेतन की शक्ति या परिणाम या गुण या विलास अथवा निर्विशेष चेतन में अध्यस्त, क्या है? इसका कुछ भी निर्णय नहीं किया है। ईश्वर को न मानने वाले अनेक सुप्रसिद्ध सम्प्रदायों के विद्यमान होते हुए भी, ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का संग्रह नहीं किया गया है। ईश्वर को मानने वाले सम्प्रदायों में भी परस्पर अनेक विरोधी मत हैं (देखिए पृष्ठ ७१-७५, १६२-१६३ टि), उनमें से गीताकार को कौनसा मान्य है, और अन्य क्यों माननीय नहीं, इत्यादि अत्यन्त आवश्यक विषयों का प्रतिपादन ७०० श्लोक वाली गीता में कहीं नहीं पाया जाता। "प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर" उसका केवल निमित्त कारण है या वास्तव अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है (अनेक प्रकार देखिए पृष्ठ ६७-६८) अथवा अवास्तव अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है (इस वाद में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद और एकजीववाद आदि गौण भेद हैं), इसका भी कुछ निर्णय नहीं है। प्रकृति का ईश्वर के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है, संयोग, समवाय, स्वरूप या तादात्म्य? इत्यादि आवश्यक विषयों का कोई वर्णन नहीं है। यदि गीता के भगवान का गीता-उपदेश से यह अभिप्राय मानना हो कि, इससे संसार के सभी मनुष्य धर्म के यथार्थ रहस्य को समझकर उसके अनुकूल आचरण करें, तो साथ ही यह प्रदर्शन करना भी आवश्यक होगा कि, एकमात्र गीता-सम्मत सिद्धान्त ही क्यों माननीय है और अन्य विरुद्ध मतों में क्या दोष हैं। जब तक कि परस्पर विरोधी अनेक मतों में किसी एक को ग्रहण करते समय, अपने मत के अनुकूल और अन्य मतों के प्रतिकूल प्रमाणों का प्रदर्शन नहीं किया जाता,

तब तक केवल अपने सिद्धान्त के कथन मात्र से ही विचारवानों को सन्तोष नहीं हो सकता ।

अब गीतोक्त साधन समालोचना करते हैं। देशकालातीत तत्त्व का स्वरूपतः ध्यान नहीं हो सकता । चित्त के विषय का बाह्य स्वतन्त्र विषय के साथ कोई सम्बन्ध न होने से भी हमारा ध्यान व्यक्तिगत कल्पना मात्र होगा; ध्यानजनित जो कुछ भी अनुभव होता है वह अपनी भावनाओं का मूर्त स्वरूप मात्र होता है । (ईश्वर का परिणाम पहले खण्डित हुआ है) । जिसको तत्त्व कहा जाता है, वह चित्त की अहं-वृत्ति से संयुक्त होकर ही भान हो सकता है । चित्तवृत्ति किसी भी पदार्थ के स्वरूप को रूपादि गुण पूर्वक ही ग्रहण कर सकती है, बिना गुण के वह नहीं जान सकती, अतएव यह भी मानना होगा कि, तत्त्व यदि वास्तव में एकाग्र चित्त के अनुभव का विषय होता होगा, तो वह भी किसी न किसी विशेषण (रूप या गुण) से युक्त अवश्य होगा । अहंवृत्ति यदि अपने विशिष्ट स्वभाव को त्याग देगी, तो यह क्रियारहित होकर अपने कारण-स्वरूप में लीन हो जायगी और उसके अस्तित्व का भान नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में किसी वस्तु का अनुभव नहीं हो सकता । (जैसे कि निर्विकल्प-समाधि में होता है) । इसलिए यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि, तत्त्व का अनुभव करते समय चित्तवृत्ति अपनी पूर्व-शिक्षा और संस्कारों के दृष्टिकोण से ही उसको ग्रहण करेगी अर्थात् उसको जो कुछ भी अनुभव होगा, वह चित्त की तत्त्व-विषयक वासना के असर से खाली नहीं होगा । अतएव अपनी शिक्षा और संस्कार के अनुसार वह तत्त्व के स्वरूप को जैसी कल्पना कर लेता है, प्रथम से लेकर सविकल्प-समाधि पर्यन्त वह उसीका अनुभव करता रहता है । (देखिए 'प्रस्तावना") । अतएव साधना को तत्त्वविषयक मानकर जो गीता में नाना प्रकार से उसका फल का वर्णन किया है, वह सरासर विचार-विरुद्ध और अनुभव-विरुद्ध कल्पना है । उस साधना के

साथ पारलौकिक फल के कार्यकारण सम्बन्ध का निर्णय न करते हुए, गीता में सीधे ही विचाररहित मुक्ति की कल्पना पाई जाती है। जब कि हमारी मानसिक भावना का उस भावित विषय के साथ कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, तब मृत्यु के पश्चात् भावनाबल से अपने भावित विषय (ईश्वर) की प्राप्ति का सिद्धान्त भी सर्वथा विचार-विरुद्ध और कल्पना मात्र है। इसी प्रकार गीता में कर्म-नियम पर निश्चय करने का कोई भी कारण न दिखाते हुए उसके सम्बन्ध में केवल नाना प्रकार की कल्पनाएं की गई हैं। बिना प्रमाण और बिना विचार के ही 'कर्म-नियम' को मानकर उसको गहन कहने की अपेक्षा—ऐसा कहना अधिक सरलता का सूचक है कि, जगत् में पाई जाने वाली इस विचित्रता का निर्णय नहीं कर सकते। इससे न तो विचारविरुद्ध नाना प्रकार के गतियों की (स्वर्ग मुक्ति आदि की) कल्पना करनी पड़ती है, और न देश में श्रद्धान्धतामूलक साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न होकर कलह और अशान्ति को फैलाने का अवसर मिलता है। सारांश यह कि, गीता में आत्मा, ईश्वर, प्रकृति, इन दोनों का आपस में सम्बन्ध, साधना का मूलतत्त्व से सम्बन्ध और उसके फलरूप मुक्ति आदि विषयों को प्रमाण द्वारा सिद्ध न करके केवल घोषणा मात्र किया गया है। अतएव गीता में वर्णित विषयों के प्रमाणपूर्वक स्थापित न होने से, उनको सिद्धान्त न कहकर केवल कल्पना मात्र कहना होगा।

गीता के मत को प्रमाणभूत मानकर उसे युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिये दार्शनिक विद्वानों ने भरसक प्रयत्न भी किया है। परन्तु वे इस प्रयत्न में सर्वत्र असफल रहे हैं, यह मैं पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक प्रदर्शन कर चुका हूं।*

*गीता में वर्णित सिद्धान्तों में से शास्त्र-प्रमाण का खण्डन २८-६६ पृष्ठ में है; अवतारवाद का खण्डन ४१-४९ पृष्ठ में है; निमित्तकारण ईश्वरवाद का खण्डन १०५-१३१ पृष्ठ में है; वास्तव अभिन्ननिमित्तोपादान ईश्वरवाद का खण्डन १६३-१७६ पृष्ठ में है; अवास्तव अभिन्ननिमित्तोपादान ईश्वरवाद का

व्यक्तिगत सुख और शान्ति की दृष्टि से कर्तव्य का विचार

अब व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिए हमारा क्या 'कर्तव्य' होना चाहिए ? इस पर विचार करते हैं। यहां पर पहले यह प्रश्न होगा कि, हमारी अशान्ति और दुःख का मूल कारण क्या है ? इसका उत्तर भिन्न २ शास्त्रकारों ने भिन्न २ प्रकार से दिया है। (उपासक सम्प्रदाय के लोग ईश्वर में भक्ति के न होने को ही दुःख का मूलकारण बताते हैं; प्रकृति-पुरुषवादी सांख्य और पातञ्जलमत में आत्मा और अनात्मा का पृथक् २ पहिचान न होना ही दुःख का मूलकारण है एवं वेदान्ती लोग ब्रह्म के अज्ञान को ही दुःख का कारण मानते हैं)। इस प्रकार सभी शास्त्रकारों ने अपने २ कल्पित तत्त्वविषयक सिद्धान्त के अनुसार दुःख के मूल कारण का निर्णय किया है। परन्तु जब कि उनके तत्त्वविषयक सभी सिद्धान्त स्वकपोलकल्पित और प्रमाणरहित सिद्ध होते हैं, तब तत्त्व को मानकर किया जाने वाला उनका कोई भी निर्णय हमारे लिए माननीय नहीं हो सकता। पहले जब जान लिया गया कि, मूलतत्त्व का स्वरूप ही निर्णय के योग्य नहीं है, तथा उसका ध्यान या भजन कुछ भी हो सकना सम्भव नहीं है, तब फिर उन्हीं सिद्धान्तों को मानकर उसकी प्राप्ति या दुःखनिवृत्ति की (अत्यन्त निवृत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि मनरूप धर्मी के रहते हुए धर्म का अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता) साधना में प्रवृत्त होना एक सरल हृदय वाले साधक के लिए कठिन है। खासकर जब हम यह जानते हैं कि, ऐसे दूसरे भी साधन हो सकते हैं. जिनमें हमको किसी विचार-विरुद्ध कल्पना का आश्रय नहीं लेने पड़ता

खण्डन १८७-२५० पृष्ठ में है; आत्मवाद का खण्डन २६७-३२४ पृष्ठ में है, कर्मवाद का खण्डन ४२३-४३१ पृष्ठ में है; साधना (भक्ति, योग, ज्ञान) तत्त्वविषयक होता है इसका खण्डन ३३५-३८१ पृष्ठ में है और साधना के फलरूप ब्रह्मनिर्वाण या भगवद्धाम की प्राप्ति का खण्डन ३८९-३९४, ३९८-४०६ पृष्ठ में है।

और न कपटपूर्ण भाव को ही पुष्टि करनी पड़ती है । इसी प्रकार नैतिक नियम (moral-law) या सार्वभौम (universal) कर्म-नियम के भी सप्रमाण सिद्ध न होने से, उससे पारलौकिक फल की आशा रखकर साधना में परायण नहीं हो सकते । अतएव परलोक की आशा छोड़कर, जिन साधनों का फल हमारे अनुभवराज्य के अन्दर ही प्रत्यक्ष देखने में आता है उन्ही के आधार पर जहांतक हो सके निर्दोष और निर्विवाद साधना (कर्तव्य) को प्रथित किया जाय (जिसमें हमारी विचारबुद्धि को सन्देह करने का कभी अवसर न मिले तथा जिसका अभ्यास भी सभी प्रकार के लोग सरलतापूर्वक कर सकें) ।*

*यहां पर साधना के विषय में मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर देना उचित समझता हूं कि, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हुए भी एक सरल हृदय का साधक मूर्ति–पूजा या ईश्वर–प्रार्थना आदि द्वारा लाभ क्यों नहीं उठा सकता । यदि साधक अपने अन्धपरम्परा से प्राप्त विश्वास को त्याग कर सरल हृदय से निष्पक्ष होकर विचार करने लगें, तो मूर्ति में ऐसा कोई भी गुण या धर्म नहीं दिखाई देगा जिसके आधार पर वह उसे ईश्वर रूप से विश्वास कर सकें । इसी प्रकार यदि ईश्वर में विश्वास रखकर प्रार्थना किया जाय, तो भी वह प्रार्थना स्वरूपतः ईश्वर की प्रार्थना नहीं हो सकती । प्रार्थना चाहे उच्च स्वर से की जाय अथवा मन में ही अपने भावों को प्रकट किया जाय, दोनों ही स्थलों में ऐसा माना जाता है कि, भगवान इन्द्रियों के सामने विराजमान है और हमारी प्रार्थना को सुन रहा है । परन्तु भगवान वास्तव में जैसा है (यद्यपि उसका स्वरूप और अस्तित्व निर्णीत नहीं हो सकता) उसके अनुसार वह एक दृश्य पदार्थ के रूप में किसी देशविशेष में स्थित नहीं हो सकता । भगवान देश–काल से अतीत तत्त्व माना जाता है, जिसको हम इस दृश्यमान जगत् का मूलकारण समझते हैं । जब हमारी विचारबुद्धि उसको सर्वव्यापक और अचिन्त्य निश्चय करती है, तब प्रार्थना के समय जो दृश्य पदार्थ के रूप में हमारी चिन्ता का विषय होता है, उसको भगवान नहीं कह सकते । वह भगवान की प्रार्थना नहीं, किन्तु उसके विरोधी स्वरूप की अथवा अपने 'प्राइवेट' भगवान की प्रार्थना है, जिसका यथार्थ भगवान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । भगवान का नाम हमारे समाज में एक कल्पित संकेत मात्र है; माता-पिता-भाई-बन्धु से रहित

संयम और सदाचार पालन कर्तव्य है । नीति के उपदेश का उद्देश्य और प्रयोजनीता ।

भगवान का नामकरण सम्भव नहीं है, देशकाल से रहित वस्तु की व्यावहारिक संज्ञा भी सम्भव नहीं हैं, जो कुछ उसके नाम की कल्पना की जाती है उसका भगवान के साथ कोई वास्तव सम्बन्ध नहीं है । मेरा भगवद्-विषयक ध्यान, आत्मविषयक विवेक और ब्रह्मविषयक निदिध्यासन का तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह मेरी अपनी कल्पना का अभ्यास मात्र है, ऐसा जान लेने पर भी एक सरल हृदय वाला साधक ऐसी साधना में कैसे लगा रह सकता है? अतएव निष्कपट विचारशील हृदय वाले साधक के लिए ईश्वर की प्रार्थना, ध्यान, भजन सम्भव न होने से वह ईश्वर-भावना द्वारा अपने दुःख की निवृत्ति (तिरस्कार) नहीं कर सकता ।

ईश्वर-भजन और कर्म-नियम के 'कर्तव्य' रूप से सिद्ध न होने पर भी, इससे साधक के संयम और सदाचार-पालन में कोई विरोध नहीं होता । परन्तु इनको मृत्यु के पश्चात् किसी फल की प्राप्ति के लोभ से अथवा जगत् के रक्षक नैतिक-नियम रूप से ग्रहण नहीं कर सकते । समाज की सुव्यवस्था के लिए और लोगों की मानसिक स्वस्थता के लिए अशिक्षित लोगों में जब इन नीतियों का प्रचार किया जाता है, तब उनको इस मार्ग में परायण करने के लिए भय (तर्क) और प्रलोभन (स्वर्ग) दिया जाता है । परन्तु इससे जो हानि होती है, वह किसी से छिपी नहीं है । स्वर्ग के लोभ में आकर लोग प्रायः इस लोक की उन्नति से विमुख हो जाते हैं, जिससे देश पराधीन हो जाता है, और उसका फल (दुःख दरिद्रता) सारे देश को भोगना पड़ता है । दुःखी और दरिद्र व्यक्ति में चित्त की स्वस्थता, प्रयत्न करने पर भी बहुत कम मात्रा में उत्पन्न हो सकती है, इस लिए भय और प्रलोभन पूर्वक उपदेश करने से, वही नीति जो कि शारीरिक और मानसिक स्वस्थता को स्थापन करने वाली है, उलटी नाशक बन जाती है । अतएव नीति के उपदेश को परलोक के लोभ से नहीं पालन करना चाहिए, और न साधना का अभ्यास ही मुक्ति प्राप्ति के लिए होना चाहिए । नीति के नियमों को विश्व-नियम मानने से जो भय उत्पन्न होता है कि, 'मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, इसलिए अब मैं अधोगति को प्राप्त हूंगा'' अथवा ''मैंने ध्यानाभ्यास नहीं किया, इसलिए, जन्म-मरण के चक्कर से मेरा छुटकारा नहीं होगा'' इत्यादि उन भयदायक कल्पनाओं को बिलकुल त्याग कर सामाजिक व्यवस्था और अपनी स्वस्थता की दृष्टि से इनका पालन करना चाहिए ।

दुःख का तीन कारण । व्यक्तिगत दुःख का कारण दुर्बलता है ।

प्राचीन रीति से (तत्त्वदृष्टि से) दुःख के मूल कारण का निर्णय न करके अपने अनुभव के अनुसार दुःख का विवेचन करने पर हम यह पाते हैं कि, हमारे दुःखों के केवल तीन ही कारण हैं (१) प्रकृति का नियम (२) राजनीतिक नियम और (३) हमारी अज्ञानता या हृदय की दुर्बलता । इनमें से प्रथम प्राकृतिक नियमों का हमको ज्ञान नहीं है; हमारे कर्मों का उन पर कोई प्रभाव पड़ता है या नहीं, यह भी मालूम नहीं । यदि प्रभाव पड़ता भी हो, तो कौन से हमारे कर्म प्रकृति के अनुकूल हैं और कौन से प्रतिकूल, इसके निर्णय करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है तथा वे प्रकृति-दत्त दुःख (भूकम्प, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, शीतोष्ण आदि) निवृत्त हो भी सकते हैं या नहीं, इत्यादि विषयों में हम बिलकुल अनजान हैं । अतएव प्राकृतिक दुःखों को दूर करने के लिए हम किसी प्रकार की साधना का विधान नहीं कर सकते, यह हमने अपने कर्तव्य विषयक प्रथम प्रकरण (तत्त्वदृष्टि) में भली प्रकार प्रदर्शन किया है । (२) द्वितीय राजनीतिक-नियमों से यदि हम दुःखी हो रहे हों, तो सभी देशवासी संगठित होकर उसको अपने अनुकूल या स्वाधीन बनाने का प्रयत्न करें तथा इस मार्ग में जो बाधाएं (धार्मिक कलह आदि) हैं उनको दूर करते हुए राजनीतिक-नियमों के दुःख (दरिद्रता पराधीनता आदि) से मुक्त हों, इत्यादि द्वितीय प्रकरण में प्रदर्शन कर चुके हैं । अब दुःख का तृतीय कारण और उसके दूर करने का उपाय बताते हैं । ।

(३) विचार करने पर हम यह पाते हैं कि, जब हमारे हृदय में दुर्बलता आती है, तभी हम अपने आपको दुःखी अनुभव करते हैं । व्यवहार में अपने अनुकूल परिस्थिति को उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करते हुए भी अनेक प्रतिकूल घटनाओं का सामना करना पड़ता है । कितने ही प्राकृतिक घटनाएं उपस्थित होकर हृदय में दुर्बलता को उत्पन्न कर दुःख देती है । बाह्य घटनाओं के होने और न होने में हमारा कोई अधिकार नहीं है, हम केवल

अपने मन के स्वामी हैं, जिसकी दुर्बलता ही हमको दुःख देती है। अतएव अब हम अपने मन को समझा कर इस दुर्बलता को दूर करने की रीति प्रदर्शन करते हैं। दुःख के आने से पहले ही मनमें इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि, अब भविष्य में चाहे जैसी भी विकट परिस्थिति का सामना क्यों न करना पड़े, परन्तु मैं अपने मनकी स्थिरता से भी चलायमान नहीं हूंगा। बाह्य घटनाएं मेरा कुछ नहीं बिगाड सकती, इनका प्रभाव केवल शरीर तक ही है, उसको देखकर दुःखी होना और न होना यह मेरी अपनी इच्छा पर निर्भर है। जब फिर कभी कोई ऐसी घटना हो जाय, जिसमें प्रतिकूल बुद्धि करके मन दुःखी होने लगे, तब मनको पुनः प्रबोध देना चाहिए कि, हे मन! व्यर्थ क्यों दुःख का आलिङ्गन करते हो, मनमें दुर्बलता आई इसीसे दुःखी हुए हो, दुर्बलता का त्याग करो—इस प्रकार विचार करते हुए पुनः स्वस्थचित्त होने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। उस दुःख को बारम्बार स्मरण करते हुए उसे पर्वत के समान समझने के बजाय, उससे लापरवाह होकर भूलजाने का प्रयत्न करना चाहिए। भूल जाना ही इसका एकमात्र सफल उपाय हो सकता है और लापरवाह होकर किसी अन्य कार्य में लग जाने से भूलने में बडी सहायता मिलती है। यद्यपि स्वाभाविक दुर्बलता या पुरानी आदत होने के कारण, इस प्रकार का अभ्यास कष्टसाध्य अवश्य है, परन्तु सर्वथा असाध्य नहीं।

जब मन अत्यन्त चञ्चल होकर दुःखी होने लगता है, उस समय यथाशक्ति धैर्यधारण करना चाहिए और जहां तक हो सके उसे प्रबोध देते रहना चाहिए कि, चञ्चलता कोई दुःखदायक वस्तु नहीं, किन्तु उसमें दुःखबुद्धि का आरोप करना ही दुःखदायी होता है। देखो! बालक सर्वदा अत्यन्त चञ्चल रहता है, परन्तु वह इस चञ्चलता में दुःखबुद्धि नहीं करता, इसीसे वह अपने आपको दुःखी भी नहीं मानता। मैं भी मनोबल का उपार्जन करके जहां तक हो

मलिनता के स्वरूप का विवेचन । शून्यध्यान के प्रकार, उपयोगिता और हानि का वर्णन ।

सके इसमें दुःखबुद्धि नहीं करूंगा ।*

कितने ही लोग मन की मलिनता के कारण दुःखी होते रहते हैं, यहां पर उनको विचार करना चाहिए कि, मलिनता किसको कहते हैं । जब कि विचार करने पर मलिनता की धारणा देश-काल-पात्र और अवस्था के भेद से परिवर्तनशील पाया जाता है, तब मलिनता किसी पदार्थ का निश्चित स्वरूप नहीं हो सकता। जिसको बालकपन से जैसी शिक्षा मिलती है, वह उसीके अनुसार किसी क्रिया या वासना को मलिन और किसी को शुद्ध मानकर

*जिनके लिए मूलतत्त्व (ब्रह्म, ईश्वर या आत्मा) के किसी निश्चित स्वरूप में विश्वास करना कठिन है अथवा विश्वास करते हुए भी जो विचार द्वारा इस सिद्धान्त में पहुंचे हैं कि, तत्त्व का ध्यान किसी प्रकार भी हो सकना सम्भव नहीं है, किन्तु फिर भी जो अपने जीवन में मन के विक्षेपों से उत्पन्न होने वाले दुःखों को दूर करने के लिए ध्यानाभ्यास में रुचि रखते हैं, उनके लिए शून्यध्यान उपयोगी है । (शून्यध्यान अर्थात् निरालम्बन ध्यान । सालम्बन ध्यान के समय चित्त में दो प्रकार के प्रयत्न होते हैं, एक तो ध्येय में मन लगाना और दूसरे अन्य विषयों के चिन्ता को हटाते रहना; परन्तु शून्यध्यान में केवल दूसरे प्रकार का ही प्रयत्न रहता है अर्थात् चित्त को निर्विषय बनाने का प्रयत्न करते हुए शान्त और शून्य भाव में स्थिर रहने का अभ्यास किया जाता है । इससे चित्त क्रमशः सूक्ष्म और अति सूक्ष्म होता जाता है तथा अन्त में विषयों में भागने की शक्ति सर्वथा नष्ट होकर केवल शून्यभाव का सूक्ष्म अनुभव रहता है; इसके बाद निर्विकल्प समाधि होती है) । परन्तु इससे जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको अस्वीकार नहीं कर सकते । एक तो इसके योग्य अधिकारी कोई बिरला ही होता है, यदि हो, तो भी उसके लिए यह (शून्यध्यान) असाध्य नहीं, तो कष्टसाध्य अवश्य है; इससे अकर्मण्यता और आलस्य की भी वृद्धि होती है । उक्त भावना केवल कल्पना के अतिरिक्त वस्तुतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखती; अतएव ऐसी भावना का कोई फल (निर्वाण) मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होगा ऐसा अनुमान नहीं कर सकते, अतएव ऐसे कल्पित फल की प्राप्ति के लोभ से देश-सेवा और लोकोपकार में उदासीन न होना चाहिए ।

सुखी-दुःखी होता रहता है । जब कि हम कर्म के स्वरूप का विचार करके पाप या पुण्य को सिद्ध नहीं कर सकते, सामाजिक रीति-नीति के अनुसार पाप पुण्य की धारणा को मनुष्य द्वारा कल्पित पाते हैं; तब उसको प्राकृतिक और स्वभावसिद्ध मानकर उसमें पापबुद्धि का आरोपण करके अपने आपको व्यर्थ ही मलिन नहीं मानना चाहिए । यद्यपि यह सत्य है कि, समाज में रहकर सामाजिक नियमों का (पाप-पुण्य विचार का) उल्लंघन करने से नानाप्रकार की असुविधायें होती हैं, जिससे समाजतन्त्र को अवश्य मानना पड़ता है, परन्तु यहां पर सामाजिक दृष्टि से कथन नहीं कर रहे हैं । हमारा इससे अभिप्राय केवल उस व्यक्ति के मानसिक अशान्ति को दूर करने से है, जो अपने आप को व्यर्थ ही पापी मानकर दुःखी होता है । कितने ही लोग जो अपनी किसी क्रिया को या मन में किसी प्रकार के स्मरण को पाप मानकर दुःखी होते हैं, उनके दुःख उक्त प्रकार से मन को प्रबोध देने से निवृत्त हो सकते हैं । इस संस्कार के दृढ होने का फल यह होगा कि, जीवन भर में कभी कोई कुचिन्ता नहीं हो सकेगी अर्थात् चाहे कैसी भी चिन्ता क्यों न हो, हम उसमें 'कु' ऐसी बुद्धि अपनी तरफ से कभी नहीं लगायेंगे । इसी प्रकार अपने कर्मों में 'कु' ऐसी बुद्धि ऊपर से लगाकर (कुकर्म) उसके पारलौकिक कुफल से भी भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि किसी विशेष कर्म का ऐसे फल के साथ कोई सम्बन्ध निर्णीत नहीं हो सकता, अतएव वृथा भय करने का कोई कारण नहीं है । सारांश यह कि, धार्मिक विचार वाले लोग जो प्रायः अपने आप को भक्तिहीन पुण्य-हीन आदि हीनता की कल्पना करके नानाप्रकार के मानसिक सन्तापों से व्यर्थ दुःखी होते रहते हैं, उक्त रीति से विचार करने पर उनके हीनताजनित दुःख दूर हो सकते हैं ।*

*मेरे बताये हुए उक्त साधन के अनुसार अभ्यास करने वालों को न तो किसी विचारविरुद्ध सिद्धान्त को आलिङ्गन करना पड़ता है, न इसका साधन ही इतना कठिन है और न अनुष्ठान करने में असमर्थ होनेपर दुःख की वृद्धि

संयम और सदाचार की उपयोगिता । धर्मसम्प्रदाय और ग्रन्थकर्ता के निर्णय में भेद ।

उपरोक्त प्रसङ्ग में अधर्म की कल्पना से उत्पन्न होने वाले जो मानसिक क्लेश हैं, उनकी निवृत्ति का उपाय दिखाया गया। परन्तु इस संसार में ऐसे और भी अनेक स्थल आते हैं जहां पर कि मनुष्य अपने क्लेश का कारण स्वयं बनता है। ऐसे स्थलों में उनका कारण ढूंढ कर उसकी प्रतिक्रिया करनी चाहिए। प्रायः जो लोग असंयमी और दुराचारी होते हैं वे ही शारीरिक और मानसिक रोगों के शिकार बने हुए पाये जाते हैं। ऐसे स्थलों में संयम और सदाचार से काम लेना चाहिए। मनोबल की वृद्धि के लिए संयम का होना आवश्यक है, असंयमी पुरुष को सर्वत्र परिस्थिति का दास बनना पड़ता है। प्रत्येक प्रतिकूल घटना को देख कर उसकी छाया मन में अवश्य पड़ती है और मन दुःखाकार को धारण कर लेता है। ऐसे स्थल में यदि संयम (जितेन्द्रियता) का अभ्यास पहले से ही हो, तो मन धैर्य धारण करने में समर्थ होता है और इस धीरता के विचार को ही मनोबल कहते हैं, जिससे प्रबोध पाकर मन अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र शान्त हो सकता है। कहीं कहीं पर प्रतिपक्ष-भावना (विरोधी भावना) से भी काम लेना पड़ता है, जैसे क्षमा के संस्कार से क्रोध का प्रभाव क्षीण होता है; द्वेष और हिंसा के भाव, ही होती है, जैसे कि धार्मिक साधनों में पाया जाता है। जो साधना मन को किसी हद तक विश्राम या संतोष देने के लिए एक कल्पित साधन मात्र है, उसे यथार्थ वस्तु मानकर अपना कर्तव्य मान लेना और पीछे से मनुष्य मात्र की स्वाभाविक दुर्बलता या प्रमाद के कारण, उसके पालन करने में असमर्थ होने पर उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना सर्वथा अनुचित होने पर भी सभी धार्मिक सम्प्रदायों में प्रायः ऐसा ही प्रचलित पाया जाता है। मैंने अपने इस ग्रन्थ में यह प्रदर्शन किया है कि, मूलतत्त्व का स्वरूप क्या है, यह हम निर्णय नहीं कर सकते। उसका स्वरूप चाहे जो कुछ भी हो, परन्तु इतना निर्णय अवश्य कर सकते हैं कि, हमारे ध्यान या भजन का उस तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अतएव साधना का पालन न हो सकने पर उसके लिए शोक करना भी उचित नहीं है।

विश्वप्रेम और सहानुभूति से दब जाते हैं; ईर्ष्या और स्वार्थ-विरोध के भाव, उदारता और स्वार्थ-समानता से दूर होते हैं तथा मन के क्लेशयुक्त विक्षिप्त स्वभाव, स्थिरता और धीरता के द्वारा शान्त किया जा सकता है। किसी व्यक्ति में अत्यन्त आसक्ति होनेपर भी उसका बारम्बार स्मरण होना अनिवार्य है, इसके लिए भी दीर्घ काल तक प्रतिपक्ष-भावना आवश्यक है।

उक्त प्रकार से मन को शिक्षित न करके यदि केवल अवस्था का दास बनकर जीवन व्यतीत करना हो, तो मन की स्वस्थता होनी सम्भव नहीं है। दुःखरूप रोग के निदान (कारण) को पहिचान कर उसकी उक्तप्रकार से चिकित्सा न करके, अन्य साधनाओं में प्रवृत्त होने से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। अपने दुःख के अनुभवसिद्ध कारण पर विचार न करके लोग व्यर्थ इधर उधर भटकते रहते हैं और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के स्वार्थान्ध व्यक्तियों की कुशिक्षा में अन्धविश्वास रखते हुए नाना प्रकार की कल्पनामूलक क्रियाकाण्डों में अपना समय खोते हैं, जिससे दुःखों का निवृत्त होना तो दूर रहा, उलटे उस क्रिया के कल्पित फल की आशा में इस लोक के पुरुषार्थ और उन्नति से विमुख होकर अपने दुःखों की और भी वृद्धि कर लेते हैं। ईश्वर और परलोक को मानकर धार्मिक साधना (प्रार्थनादि) में प्रवृत्त होने से कुछ देर के लिए दुःख की निवृत्ति अवश्य ही हो सकती है, परन्तु विरोधी भावना का अभ्यास बलवान न होने से थोड़ी देर के बाद फिर वही दुःख आकर घेर लेते हैं और मन को दीन एवं दुःखी बना देता है। जिस समय प्रार्थना की जाती है, उस समय ईश्वर का ऐश्वर्य और उसकी दया आदि भाव आकर साधक के हृदय में घर कर लेते हैं, जिससे वह अन्य प्रतिकूल भावों से कुछ देर के लिए रहित होकर अपने आपको शान्त और सुखी अनुभव करता है। परन्तु उस समय मन की दुर्बलता को दूर करने के लिए किसी विरोधी भावना के संस्कार को दृढ होने का अवसर नहीं मिलता, जिसका फल यह होता है

कि, जब तक प्रार्थना में मन लगा रहता है, तब तक तो स्वस्थता बनी रहती है, परन्तु बाद में वहां से हटने पर मन में उस स्वस्थता की स्मृति के अतिरिक्त और किसी विशेष परिवर्तन का अनुभव नहीं होता। इससे यह होता है कि, जब फिर कोई दुःख आकर हृदय में अधिकार कर लेता है, तब उसको कम करना या दबाना सम्भव नहीं होता। अतएव प्रार्थना में मनोबल की वृद्धि के उपयोगी विचार के लिए अवकाश न होने से, मन की दुर्बलता जैसी की तैसी बनी रहती है और दासता, भावुकता तथा दूसरे के भरोसे पडे रहने की आदत को बढने का अवसर मिलता है। इससे स्वावलम्बन और पुरुषार्थ की हानि होकर हृदय की दुर्बलता अधिक बढ जाती है और अधिक दुःख का भागी होना पडता है। अतएव यदि प्रार्थना को त्यागकर केवल मन को ही बारबार प्रबोध दिया जाय, तो मन धैर्य और उपेक्षा (लापरवाही) आदि से सम्पन्न होकर क्रमशः अधिकाधिक सहनशील बनता जाता है। इस प्रकार मनोबल की वृद्धि का अभ्यास करते रहने से दुःख की तीव्रता का अनुभव कम होता जाता है और पहली बार की अपेक्षा दूसरी बार, दूसरी की अपेक्षा तीसरी बार बल की वृद्धि और दुर्बलता के कम होते जाने से धैर्य और उपेक्षाभाव मन के स्वाभाविक धर्म की तरह बन जाते हैं। मन की यह चिकित्सा केवल अपने ही भरोसे की जाती है, इसमें गुरु की आवश्यकता नहीं रहती और न किसी एक धर्म-सम्प्रदाय में अनुराग ही रखना पडता है जिससे अन्य सम्प्रदायों का विराग रखना पडे और झगडा उठ खडा हो।*

*किसी व्यक्ति को गुरु इसलिए माना जाता है कि, उसने तत्त्व का साक्षात्कार किया है अतएव वह हमको तत्त्व का उपदेश करेंगे। परन्तु तत्त्व के विषय में विचार करने पर हम लोग यह पाते हैं कि, तत्त्व का स्वरूप विचार द्वारा निर्णय के योग्य नहीं है तथा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। जो कुछ भी तत्त्व के नाम पर साक्षात्कार किया जाता है वह केवल अपनी भावना होती है, जिसका तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतएव गुरु महोदय

साधना के फल रूप से मृत्युपश्चात्कालीन गति का निर्णय नहीं हो सकता ।

इस प्रकार बारबार मन को प्रबोध देते रहने से मन की स्वस्थता स्थिर होती है और जीवन के अधिकांश दुःख निवृत्त हो जाते हैं। यही इस जीवन का पुरुषार्थ या सारसर्वस्व है। आगे मृत्यु के पश्चात् क्या होगा, यह प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात न होने से, अपने जीवन के किसी कर्म के फलरूप से उसका अनुमान नहीं कर सकते । कर्म-नियम के अनुसार गति होगी, यह भी सामान्यतः अनुमान नहीं कर सकते । हम इस व्यक्त जगत् के ज्ञात नियमों के आधार पर अव्यक्त नियमों का अनुमान नहीं कर सकते । हम केवल इतना ही जानते हैं कि, किसी कार्य के संघटित होने में कुछ दृश्य कारण होते हैं और कुछ अदृश्य । प्रत्येक कार्य के संघटित होने में कितने कारण सहायक होते हैं और वे किन नियमों से नियमित होते हैं इत्यादि विषयों के ज्ञान के विना हम किसी व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण (पुण्य या पाप रूप से) निर्णय नहीं कर सकते । अतएव हम कहां से आये, क्यों आये और कहां जायेंगे, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हम नहीं जानते; केवल इतना ही जानते हैं कि, एक ऐसे जगत् में आये हैं जिसका मूल स्वरूप, हमारा वास्तव स्वरूप

तत्त्व के विषय में जो कुछ भी कहेंगे, वह विचार-रहित तथा अपने साम्प्रदायिक संस्कार के अनुसार तत्त्व का कल्पित स्वरूप मात्र होगा । फलतः गुरु की गुरुआई ही नहीं रहती । यदि गुरुमहोदय संमोहन-विद्या (Hypnotism, Mesmerism) में कुशल हो, तो वह संमोहक सूचना (Hypnotic Suggestion) द्वारा शिष्य को थोडी देर के लिए भुला सकता है, परन्तु इससे शिष्य का कोई उपकार नहीं होता, प्रत्युत उसकी हानि ही होती है । स्वाभाविक रीति से धीरे धीरे स्वयं मन को प्रबोध देते हुए चित्त को धैर्यशील और शान्त बनाने का प्रयत्न न करके अकस्मात् किसी प्रयोग का चित्त पर प्रभाव डालने से हृदय अधिक दुर्बल हो जाता है, जिससे मनुष्य की स्वावलम्बन की शक्ति जाती रहती है । किंच, मूलतत्त्व निरूपण के योग्य नहीं है, अतएव तत्त्व को मान कर जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित होते हैं, वे सभी अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा के फल हैं ।

और इन दोनों का सम्बन्ध, हमारे इस जीवन का उद्देश्य और अन्तिम गति आदि विषयों का कुछ भी ज्ञान नहीं है, केवल इतना ही ज्ञान है कि, हमको सुख-दुःख का अनुभव होता है और यदि इसको निवृत्त करना हो, तो एकमात्र मनोबल के शरण में जाना होगा । मन को बार बार प्रबोध देकर धैर्य और समयानुसार उपेक्षाभाव का भी अभ्यास करना होगा । जगत् में जब नाचना ही पड़ता है, तब जहां तक हो सके सुख से नाचें,* वृथा दुःख का आलिंगन क्यों करें ।

*यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि, निर्विघ्न होकर सुखपूर्वक तभी नाचा जा सकता है, जब कि हमारा व्यावहारिक जीवन इसके अनुकूल हो । देश स्वाधीन हो, समाज भी अनुकूल हो, शारीरिक स्वास्थ्य और पारिवारिक जीवन सभी सुव्यवस्थित हों । यदि देश पराधीन हो और हमारे आचरण समाज के प्रतिकूल (दुराचारपूर्ण) हों, तो सुखपूर्वक नाचने में बाधा होती है । अतएव देश के प्रति जो अपना कर्तव्य है और समाज के प्रति भी जो कर्तव्य (सदाचार) है, उनका पालन करते हुए सुखपूर्वक नाचने का प्रयत्न करना चाहिए

❀ अनुक्रमणिका ❀